प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर

अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष १९७२

प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर

लेखक

प्रोफेसर डॉ० वासुदेव उपाध्याय

(पटना विश्वविद्यालय)

मंगलाप्रसाद पारितोषिक, जोधसिंह पुरस्कार, बंगाल हिंदी मंडल पुरस्कार, हीरालाल स्वर्णपदक एवं गुलेरी पदक विजेता।

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना-३

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदी-भाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकारों द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं मे समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर' डॉ० वासुदेव उपाध्याय की मौलिक कृति है, जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इस ग्रंथ से विद्यार्थी और विद्वज्जन लाभान्वित होंगे, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों मे स्वागत किया जायगा।

पटना-३
दिनांक २३-५-७२

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

अध्यक्ष, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
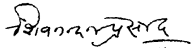
प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ 'प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर' डॉ० वासुदेव उपाध्याय की मौलिक रचना है। डॉ० उपाध्याय पटना विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व विभाग में वर्षों प्राध्यापक रहे हैं एवं अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं। उनके प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा, आशा की जाती है, भारतीय संस्कृति के संबंध में पाठकों को नया प्रकाश मिलेगा।

इस ग्रंथ का मुद्रण-कार्य वाल्मीकि प्रेस, पटना—४ ने किया है। आवरण-शिल्पी श्री श्यामलानंद हैं और प्रूफ-संशोधन का कार्य श्री हिमांशु श्रीवास्तव ने किया है। ये सभी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

पटना-३
दिनांक २१-५-७२

शिवनन्दन प्रसाद

निदेशक, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

समर्पण

जिन्होंने
मेरे जीवन की धारा बदल कर
इतिहास तथा संस्कृति के प्रति
हृदय मे नैसर्गिक प्रेम
एवं अनुराग पैदा किया,
जिनकी अनुकंपा से
मैं साहित्य-सेवा में रत हुआ,
उन्ही पितृतुल्य ज्येष्ठ भ्राता श्रद्धाभाजन

आचार्य पं० बलदेव जी उपाध्याय,

भूतपूर्व निदेशक, अनुसंधान संस्थान,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
के
करकमलों मे यह कृति
सादर समर्पित ।

—वासुदेव

भूमिका

ऐरावत समारूढ़ं नानामणि विभूषितम्
चतुः षष्टिकलाविद्या निपुणं वदनोज्वलं,
भुजद्वये सुगर्मां च अपरे मानधारकम्
वदे विष्णु महातेजो विश्वकर्मन नमोस्तुते ।

कला मानव-संस्कृति की उपज है। मानव के द्वारा कला की प्रतिष्ठा हुई और उसके द्वारा वह आत्मचैतन्य एवं आत्मगौरव प्राप्त करता रहा। कला का उद्‌गम सौंदर्य की मूलभूत प्रेरणा से हुआ है। सौंदर्य को अभिरुचि मनुष्य की अनुकरण-प्रवृत्ति द्वारा प्रमाणित होती है। मानव की सर्वोपरि चेतना प्रकृति के अनुकरण में निहित है। भारतीय कला में प्रत्यक्ष की अपेक्षा अप्रत्यक्ष तथा सत्य की अपेक्षा कल्पना को ही अधिक महत्त्व दिया गया है; क्योंकि कल्पना के द्वारा मनुष्य में नव चैतन्य का जन्म होता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की भावनाओ तथा विचारों का प्रत्यक्षीकरण कला के द्वारा हो जाता है। प्रत्येक प्रकार की कलात्मक प्रक्रिया का ध्येय है—सौंदर्य तथा आनंद की अभिव्यक्ति।

किसी देश की कला एक व्यक्तिविशेष के उत्साह का फल नहीं है, बल्कि कलाकारो की शताब्दियों की मनोरम कल्पना का परिणाम है तथा आंतरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है। कलाकृतियाँ समान रूप से समाज के सभी अंगों को प्रभावित करती है। भारतीय कला-दर्शन पर विचार करने के पश्चात् शिल्प को 'मूक काव्य' कहना सर्वथा उचित होगा।

भारतीय कला का विस्तार ऋग्वेद के समय से ही हुआ, अतएव शिल्पियो की परंपरा वैदिक युग से आरभ मानते है [ऋ० वे० १०/७०/६]। इसमे अधिकांश मात्रा में कला धर्म से संबधित है। यदि कलात्मक उदाहरणों का गंभीर अध्ययन किया जाए, तो कला की लोक-मंगल कामना और उसके स्थायीभाव का गुण सर्वत्र प्रतिध्वनित होता है। इस कारण समाज में शिल्पशिक्षा के निमित्त श्रेणियाँ कार्य करती रही। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन में कला का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा तथा शिल्पी कल्पना के सहारे समाज को अपरिमित सुख पहुँचाते रहे।

वास्तुकला का इतिहास अत्यंत पुराना है। यह शब्द 'वस' धातु से बना है; जिसका अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। अर्थशास्त्र (अध्याय ६१) में गृह, सेतु, क्षेत्र आदि इमारतों के भाव में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। अतएव, वास्तुकला का प्रतिपाद्य विषय है—मानवगृह, देवमंदिर या अन्य प्रकार के भवन। किसी भी विषय के वैज्ञानिक सिद्धांत के सुव्यवस्थित रूप को प्रतिपादित करने के लिए आधारभूत मौलिक पदार्थों की स्थिति आवश्यक होती है। वैदिक साहित्य मे कई प्रकार की वास्तु कृतियों का वर्णन मिलता है। परंतु, उनकी रचना किस प्रकार हुई, इस विषय पर प्रकाश नही पड़ सका है। बौद्धग्रंथ भी वास्तुकला की कृतियों के विवरण से परिपूर्ण हैं तथा उनके भग्नावशेष भी मिलते हैं। चाणक्य-युग में वास्तुविज्ञान अत्यंत प्रसिद्ध था। पौराणिक साहित्य भी इस प्रकार के विवरण से भरे पड़े हैं। विष्णु धर्मोत्तर में मानव तथा देवगृहों (देवालय) की रचना का निरूपण पृथक्-पृथक् किया गया है। भारतीय वास्तुकला-संबधी साहित्य की तिथियाँ अंधकारमय हैं। केवल भोजकृत 'समणांगण सूत्रधार' (ई० स० १०१८) तथा मंडन मिश्र के शिल्पशास्त्र की तिथियाँ (१५ वीं सदी) ज्ञात हैं। असाधारण स्थिति में भी भारत के प्राचीन शासकों द्वारा निर्मित भवनों और देवालयो की तिथियाँ अभिलेखो के आधार पर स्थिर की जाती हैं तथा निर्धारित की गई है।

धार्मिक परंपरा से संबद्ध जितनी इमारतें उपलब्ध हुई हैं, उनका विश्लेषण समसामयिक इतिहास के सहारे हो चुका है और उनके मूलभूत सिद्धांतों का भी दिग्दर्शन कुछ अंश तक किया गया है। मानव-निवासगृह की सामग्री मे लकड़ी का अधिक प्रयोग होता रहा और इस प्रकार के विचारों के विकास में भी लकड़ी ही सर्वाधिक उपादान सामग्री थी। उसकी सहायता एवं प्रयोग से ही प्रासाद तथा देवालय निर्मित हुए। यहाँ स्तूपो की वेदिका तथा चैत्य मंडप के मेहराब की पसलियो (शहतीरो) मे लकड़ी का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। समाज मे यह विश्वास था कि अष्ट दिक्पालों के शक्तियो के रूप मे सभी आकार शरीर धारण करते हैं—

अष्टानां लोकपालनां वपुः धारयेत नृपः

यही कारण है कि दक्षिण भारत के गोपुरम् पर आठ दिक्पालों की आकृतियाँ भी मिलती हैं।

भारतीय कला के इतिहास का अध्ययन तथा अध्यापन करते समय यह धारणा निश्चित हो गई कि स्थापत्य कला का जो विवरण उपस्थित किया गया

है, उसमें पाश्चात्य विद्वान भारतीय आत्मा को देखने मे असमर्थ रहे। कलाकारों की कल्पना एवं कलादर्शन मे तथा भारतीय समाज की झांकियाँ स्थापत्य-संबंधी उदाहरणों मे मिलती है। वास्तुकला के विभिन्न पहलुओं पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने से भारत की सांस्कृतिक चेतना भी प्रकाश मे आ जाती है। तत्पश्चात् वृहत्तर भारत में भी उन विचारों के प्रवाह तथा भावनाओं के प्रवेश की जानकारी हो जाती है। राजनैतिक कारणों ने स्थापत्य के परिवर्तन में योग दिया, जिस कारण उनका समसामयिक विकास हुआ। यों तो विषय को व्यापक बनाने के लिए पुस्तक को तीन खंडों में विभक्त किया गया है, परंतु सूक्ष्म विचार मे सर्वत्र भारतीय आत्मा की पुकार सुनायी पड़ रही है। स्तूप के वेष्टनी या तोरण पर जिस रूप मे सामाजिक विचार, धार्मिक भावना तथा अन्य प्रमुख विषयों को उत्कीर्ण किया गया; गुहा के भित्तिचित्र अथवा दीवार पर खुदाई उसी भाव को प्रतिध्वनित करती है। जिन सासारिक विषयों को गुहा-अलंकरण में स्थान दिया गया है, मंदिरो की दीवारो पर उन्हे ही प्रदर्शित देखते है। भरहुत, सांची तथा अमरावती (यानी संपूर्ण भारत) की वेष्टनी पर उत्कीर्ण विषयो की समरूपता के अतिरिक्त भावो की अभिव्यंजना समान है। वस्त्राभूषण की अभिव्यक्ति मे नारी का शृंगार प्रेम तथा उनकी प्रकृति का भावात्मक चित्रण गुहा या मंदिरों की दीवारो पर दृष्टिगत होते है। अमरावती की यक्षिणी स्त्रियों के आतरिक प्रणयी भाव को व्यक्त करती है। अजंता के भित्तिचित्र या लिंगराज एवं कोणार्क मंदिर अथवा कंदरिया महादेव की उत्कीर्ण दीवारें नारियो की विषयवासनाओ की ओर अभिरुचि प्रकट करती हैं। अजंता के चित्रो मे मनुष्य का चित्रण यह संकेत करता है कि कलाकार मानव-प्रकृति का अध्ययन कर चुके थे। उनके अवलोकन तथा परीक्षण से पशु-जीवन की एक-रूपता ज्ञात हो जाती है। गुहा-स्तंभों पर उत्कीर्ण दंपति तथा मिथुन आकृतियाँ गार्हस्थ्य जीवन पर प्रकाश डालती है। मंदिरो के संबंध मे भी ऐसी बाते अत्युक्तिपूर्ण तथा असंगत न होगी। मंदिरो में आध्यात्म चिंतन के पवित्र स्थल पर प्रणय-संबंधी चित्रण दर्शको को आश्चर्य मे डाल देता है। इसी प्रसंग मे जातक प्रदर्शनो की एकरूपता पर दो शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा। स्तूपो की वेष्टनी या तोरण पर उत्कीर्ण जातक प्रदर्शन अजंता के भित्तिचित्र के मूल स्रोत है। उदाहरण के लिए महाकपि तथा षड्दंत जातको और सांची तोरण पर मारविजय का प्रदर्शन काल्पनिक होते हुए भी भारतीय समाज का चित्र उपस्थित करते हैं। वह साहित्यिक वर्णन से निम्न स्तर का

नही है। बोधगया मे तपस्वी गौतम पर मार (विषयवासनाओं) का आक्रमण, मार की सेना की पराजय तथा भगदड़ भारत की दार्शनिक भावना को प्रतिध्वनित करती है। इस प्रकार कल्पना तथा सच्ची घटना का सुंदर प्रदर्शन बौद्ध शिल्पकारो ने अत्यंत कुशलता के साथ किया है।

इस स्थान पर दार्शनिक वादविवाद में न जाकर यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि बोधिसत्व की कल्पना हीनयान मत में निहित थी। महायान से इसका संबंध अतिम रूप से जोड़ा नही जा सकता। जातक प्रदर्शनो का अध्ययन इसी निष्कर्ष पर ले जाता है।

भारतीय इमारतो का परीक्षण यह प्रकट करता है कि ब्राह्मण तथा जैन मतावलंबियो ने बौद्ध इमारतों का अनुकरण अवश्य किया, किंतु उसके विचार मे कोई परिवर्तन नही किया गया। सर्वत्र एकरूपता व्याप्त रही। धर्म के मूल सिद्धांतो तथा दार्शनिक भावनाओं में समानता देखकर ही किसी ने इमारतों मे आमूल परिवर्तन नही किया। इस विषय के सागोपाग वर्णन के साथ विचारों के प्रवाह के अध्ययन से स्थापत्य की कल्पना एवं सृजनात्मक शक्ति का आभास मिलता है। इन सभी पृष्ठो में भारतीय संस्कृति के स्वरूप को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक प्रतिपादित विषय (स्तूप, गुहा एवं मंदिर) पर पृथक्-पृथक् पुस्तकें लिखी जा सकती है, परंतु लेखक का मुख्य उद्देश्य उनके सिद्धात, विकास, प्रसार तथा अनुकरण को सामने रखना है। पारस्परिक धार्मिक प्रभाव के कारण इमारतो की विविधता मे एकता है। प्राचीन भारत की इमारतो का क्रमिक विकास तथा समाज मे उनके स्वागत का विवरण भी उपस्थित करना लेखक का उद्देश्य है।

वास्तुकला-संबधी नाना विषयो के स्पष्टीकरण को ध्यान मे रख कर प्रस्तुत ग्रंथ मे सामाजिक तथा धार्मिक पहलुओं पर विचार किया गया है। इस ग्रंथ मे तीन खंड हैं। प्रथम खड मे स्तूप-सबंधी विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण है। वैदिक युग से ही चक्रवर्ती राजाओ की राख पर स्मारक बनाया जाता रहा, जिसका वर्णन महापरिनिब्बान सुत्त मे किया गया है। बौद्ध युग मे उसी परपरा को अपनाया गया और बुद्ध की राख को भस्मपात्र मे रख कर स्तूप बनाए गए। यह कहना प्रामाणिक है कि स्तूप सर्वथा बौद्ध मत की देन नही है। यह भी सत्य है कि कल्पना के स्थान पर बौद्ध शिल्पियो ने वास्तविकता पर जोर दिया, किंतु वे दार्शनिक विचारों से प्रभावित रहे। स्तूप के दार्शनिक पहलू तथा वेष्टनी या तोरण पर खुदाई के आदर्शवादी विचारों से अछूते न रहे। शुंग-

काल में बौद्धमत के ह्रास का वातावरण था, किंतु स्थापत्य की ओर उदासीनता न थी। भरहुत एवं बोधगया से सांची तोरण की खुदाई उच्चतम स्थान पर पहुँच गई। उन सभी मौर्ययुगी नकारात्मक कला प्रवृत्तियों का फल था कि बौद्ध स्थापत्य को प्रोत्साहन मिलता रहा।

द्वितीय खंड में गुहा के वास्तविक प्रयोजन, गुहा का इतिहास तथा उनके अलंकार का गंभीर रूप में विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के उन अभिलेखों का निरूपण है, जिनमें गुहा-दान का उल्लेख है। प्रारंभ में गुहा के दो विभेद थे—१. विहार तथा २. चैत्य। दोनों की पृथक्-पृथक् स्थिति अधिक समय तक रुचिकर न रही और असुविधा को हटाने के लिए विहार तथा चैत्य मंडप का संमिश्रण कर दिया गया। इस विषय का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। स्तूप परंपरा को चैत्य मंडपों मे भी प्रमुखता दी गई थी। इस कारण दोनों की स्थापत्य-पद्धति में विभेद रहा। पर्वत के माथे को देख कर ही दूर से दर्शक विहार या चैत्य का अनुमान कर लेता था। परंतु, महायान के उदय के कारण उस शैली में परिवर्तन आ गया। हीनयान चैत्य के माथा (भाजा पितलखोरा, कोनदने आदि) पर चैत्य वातायन (Chaitya Window) की प्रमुखता थी, जिसे महायान कलाकारों ने बुद्धप्रतिमा से विभूषित किया। तात्पर्य यह है कि धार्मिक भावना की प्रगति देख कर शिल्पियों ने सामाजिक परिवर्तन ला कर कलाकृतियों को नया रूप दिया। बौद्ध चैत्य ही ब्राह्मणमत के मंदिरों का मूल स्रोत था। विहार मिश्रित चैत्य कक्ष (बुद्धप्रतिमा का स्थान) को गर्भगृह या देवन का नाम दिया गया, जहाँ भगवान् शिव या विष्णु की प्रतिमाएँ स्थापित होने लगी। एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर एवं एलिफेंटा की गुफा इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। साची का गुहा मंदिर उसी का परिचायक है।

तृतीय खड मे भारत के मंदिरो के उद्गम तथा विकास पर बल दिया गया है। उत्तरी भारत के आर्य शिखरयुक्त मंदिरो के निर्माण की चरम सीमा खजुराहो के कंदरिया महादेव मंदिर में दीख पडती है। खजुराहो शैली का समाज में इतना गहरा प्रभाव रहा कि आज भी उत्तरी भारत के मंदिर उसी शैली मे ऊरुशृंग सहित बनते हैं। समाज की बढती हुई आवश्यकताओं तथा पूजा-विधान मे सुविधा के लिए चार कक्षों (गर्भगृह, सभामंडप, भोगमंडप तथा नटमंडप) का निर्माण किया गया। भगवान के समुख संगीत एवं

कीर्तन निमित्त नटमंडप का मुख्य मंदिर के क्रम में जोड़ना जनता की अभियाचना का फल था। स्थापत्य कार्य मे आवश्यकतावश परिवर्तन होता गया। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के मंदिरों में कोई मूलभूत सैद्धांतिक विभेद न होने पर भी स्थानीय भेद दीख पड़ता है। जिस गर्भगृह मे देवता की स्थापना की गई है, उस मंदिर का स्वरूप भी मानवदेही है। इस प्रकार के विषयो का निरूपण करने के पश्चात् आर्य शैली तथा द्राविड शैली के मंदिरों का कालक्रमानुसार वर्णन किया गया है।

परिशिष्ट में बुद्ध के शरिर (भस्म) संबंधी लेख, वेष्टनी एवं तोरण पर अंकित लेखों की चर्चा इस ग्रंथ की विशेषता है। बृहत्तर भारत में भी भारतीय संस्कृति के साथ स्तूप, गुहा एवं मंदिर की परपरा के विस्तार का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन पृष्ठों मे संघ की आर्थिक स्थिति तथा भिक्षावृत्ति को निर्मूल करने के मार्ग और साधन का निर्देश मिलेगा। प्राचीन भारत के मंदिरों से संबद्ध प्रमुख संस्था सत्र की कल्पना वर्तमान परिस्थिति मे नहीं की जा सकती। परंतु वह कल्पना नही, वास्तविकता थी। परिशिष्ट के अंत में पाठकों की सुविधा के लिए इमारतो की तालिका तथा पारिभाषिक शब्दावली को भी स्थान दिया गया है, जिससे विषय के समझने मे कठिनाई न हो।

वर्तमान भारतीय साहित्य मे ऐसे ग्रंथ का अभाव-सा है, जिसमे समाज, धर्म एवं दर्शन का स्थापत्यकला से सबंध निर्धारित किया गया हो। इस अविद्यमानता को दूर करने के लिए प्रस्तुत ग्रंथ की योजना तैयार की गई। आशा है, इससे उस अभाव की पूर्ति होगी।

इस कथन को समाप्त करने से पूर्व मैं बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के पदाधिकारियो का आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी तत्परता से यह ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित हो सका।

निवेदन है—सर्पवद्दोषमुत्सृज्य, गुणं गृह्णन्ति साधवः।

पाटलिपुत्र
कर्क संक्रांति
१३ अप्रिल ७२

वासुदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खंड

अध्याय ६

अध्याय ७

द्वितीय खंड

तृतीय खंड

अध्याय ६ :

अध्याय ७ :

अध्याय ८ :

परिशिष्ट

●

चित्र-सूची

मानचित्र :

●

प्रथम खंड

स्तूप

भारत के प्राचीन नगर
तक्षशिला
मोहनजोड़ो
मथुरा
अहिच्छत्तर
कन्नौज
श्रावस्ती
लौरीया
नन्दन गढ
वैसाली
भीतर गाँव
पाटलीपुत्र
कौसंबी
सारनाथ
पहाड़पुर
खजुराहो
राजगिर
भरहुत
बोध गया
सांची
पीटलखोरा
उदयगिरि
भुवनेश्वर
खण्डगिरि
जौगढ़
कोनार्क
सालीहुनदम
अरब
सागर
अमरावती
नागार्जुन कुंड
ब्रह्मगिरि
बंगाल
की
खाड़ी
महाबलीपुरम
तंजौर
लंका
हिन्द महासागर

प्रथम अध्याय

स्तूप का अर्थ एवं उद्गम

भारतीय धर्म की परिधि अतिशय विशाल रही है। धर्म के आदर्श विचार से समाज की वस्तुएँ भी सहमबद्ध रही। भारतीय कला के विकास मे धार्मिक प्रवृत्तियाँ अधिक बलवती सिद्ध हुई है। पौराणिक युग मे मानवता के सर्वश्रेष्ठ गुणो को धर्म का आवश्यक अग माना गया था। मनुष्य के जीवन-दर्शन की अतिम सीढी मोक्ष की प्राप्ति है (धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ) अतएव, लक्ष्य की प्राप्ति (मोक्ष) के निमित्त मानव प्रयत्नशील रहता है। सभी धार्मिक कार्यो का उद्देश्य एक ही है, जिसका विवेचन भारत के दार्शनिकों ने किया है। कार्यों से आध्यात्मिक तथा सासारिक वैभव को प्रकट करते है। मनुष्य का धार्मिक दृष्टिकोण उसे ऐसे कार्य करने की प्रेरणा देता है, जिससे वह लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके। तीर्थयात्रा, पूजा-पाठ के अतिरिक्त दान को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मानव जीवन को प्रेरणा देने के निमित्त धार्मिक भवनो का निर्माण करता है, जो समाज मे दृष्टात उपस्थित कर सके। उनका विश्वास है कि ऐसे कार्यो मे धार्मिक भावना की अभिवृद्धि होगी। यही कारण है कि भारतीय कला के नमूने धार्मिक विचार से ओत-प्रोत है। यदा कदा मनुष्य सासारिक वैभव के कारण भी ऐसा कार्य सपन्न करता है, जो मानसिक विचारधारा को प्रकट करता तथा उस व्यक्ति के वैभव का परिचायक हो जाता है। मानव ऐसे कार्यो द्वारा अपने आतरिक सुख अथवा आत्मगौरव का अनुभव कर जीवन-दर्शन को साक्षात्कार करने की कल्पना भी कर बैठता है।

धर्म के अभाव मे प्रकृति-चित्रण भी कलात्मक कार्यों की विशेषता प्रकट करता है। प्राकृतिक सृष्टि ही शिल्प का सर्वप्रथम रूप है। प्राकृतिक सुदरता का आकर्षण तथा छटा की भव्यता का प्रदर्शन मनुष्य को सामाजिक कार्यों के लिए बाध्य करता है, जो जनजीवन के लिए लाभप्रद होते है तथा समाज-कल्याण के कारण बन जाते है। भारतीय कला का इतिहास यह बतलाता है कि आध्यात्मिक या सासारिक वैभव को व्यक्त करने वाले उन कार्यों द्वारा मनुष्य के सद्गुणो तथा भावनाओ का अभिव्यजन होता है। मानव ऐसा प्राणी है, जिसने

प्रकृति द्वारा नियोजित सभी वास्तुशिल्पो को अपना लिया है और वह आग बढ़ने की भी होड करता है।

सस्कृति के आदिकाल से ही मानव ने शिल्पों की रचना की है, प्रारंभिक दशा मे निर्मित वस्तुए मिट गई। पुरातत्व की खुदाई तथा अन्वेषण से प्राचीन वास्तुकला के अवशेष प्रकाश में आए है, जिनमे अधिकाश बौद्धमत से सबधित है, किंतु इनकी वैदिक परपरा है। स्तूप के संबंध मे भी यही दीख पडता है। यह कहना यथार्थ होगा कि वैदिक सस्कृति मे इसका उद्गम प्रकटित होता है। यही कालातर में बौद्धमत का प्रधान स्मारक (समाधि) बन गया। धार्मिक प्रवृत्तियो के सशक्त प्रवाह के कारण स्तूप का विविध स्वरुप सामने आने लगा। इससे सबद्ध जनजीवन के कार्यों को कम महत्त्व नही दिया जा सकता।

स्तूप या चैत्य

भारतीय वास्तुकला के प्राचीन उदाहरणो मे स्तूप प्राचीनतम माने गए है। स्तूप—सस्कृत—स्तूप: अथवा प्राकृत थूप 'स्तुप' धातु से बना है, जिसका अर्थ है एकत्रित करना, ढेर लगाना आदि। अतएव, मिट्टी के ऊँचे टीले के लिए स्तूप शब्द का प्रयोग होने लगा। अमरकोश (३/५।१९) मे 'राशिकृत मृतिकादि' उसी कथन को पुष्ट करता है। साधारणतया स्तूप का सबध बौद्धमत से प्रकट होता है, इसीलिए बौद्ध साहित्य दीघनिकाय (२।१४२) : अगुत्तर (१/१७७) तथा मझिमनिकाय (२/२४४) मे थूप शब्द का अधिकतर प्रयोग किया गया है।

कसपस्य भगवतो द्वादस योजनिकान् कनक थूपिका (मझिम २।२४४)

जातको (३/१५६, ५/३९, ६/११६;) मे भी थूप या थूपिका किसी ऊँचे टीले या स्मारक के लिए प्रयुक्त मिलता है। तक्षशिला के एक अभिलेख मे स्तूप स्थापना का विवरण है—

मंरिखेन सम्यकेन थूवो प्रतिस्तवितो (का० इ० इ० भा० २ सं० २)

विद्वान स्तूप शब्द को योरोपीय (Indo-European) शब्द टुम्ब (अग्रेजी टुम = Tomb) से विकसित मानते है। इसमे विभेद यही है कि कब्र मे शव जमीन में गाड़ दिया जाता है, किंतु स्तूप एक पुण्य स्थान है, जिसमे भस्म प्रतिष्ठापित किया जाता है। अंग्रेजी शब्द से स्तूप का विकास स्वाभाविक नही प्रतीत होता। कब्र के अंदर कब्र हो सकती है। मिट्टी के टीले मे बौद्ध-स्तूप की भावना सर्वथा भिन्न है। स्तूप के स्थान मे पवित्रता की भावना तथा अशुद्ध से रक्षा करने की इच्छा निहित है। भस्मपात्र के निचले भाग को

धातु (शरीर = राख) गर्भ कहते है। इस शब्द से (धातुगर्भ) सिंहाली भाषा का डागबा शब्द (Dagoba) निकला। इसी गर्भ के ऊपर निर्मित भवन की परिपाटी लंका में भी पहुँच गई, जिस कारण शब्दों का निर्माण हुआ।

स्तूप के लिए 'चैत्य' शब्द का भी प्रयोग साहित्य में मिलता है। चैत्य शब्द 'चि' चयने धातु से निकला है, क्योंकि इसमें प्रस्तर या ईंट चिन कर (चुन कर) भवन निर्माण किया जाता है (चीयते पाषाणादिना इति चैत्यम्)। साथ ही यज्ञ के अंत में भस्मादि पवित्र पदार्थों को बटोरने की क्रिया चयन कहलाती है। अतएव, 'चैत्य' से उस प्रदेश का संकेत होता है जहाँ चयन—क्रिया सपन्न की जाती है। चैत्य शब्द 'चित्' तथा 'चिता' से भी संबद्ध है। चिता की राख को (अवशेष) एक पात्र मे रख, स्मारक बनाया जाता है, जिसे स्तूप कहते है। रामायण मे श्मशान को चैत्य से तुलना की गई है। श्मशान चैत्य प्रतिम ५/२२/२३) जहाँ श्मशानभूमि पर दिवंगत महापुरुषो या नृपतियो की स्मृति में चैत्य नाम से स्मारक तैयार किए जाते थे। इसलिए स्तूप एवं चैत्य का तुलनात्मक विवेचन तथा उल्लेख यत्रतत्र मिलता है। अवशेष से सबंधित भवन प्रत्यक्ष रूप से स्तूप कहलाया। उस भावना का स्वरूप चैत्य भी माना जा सकता है, किंतु चैत्य में अवशेष की कल्पना है और स्तूप मे वह प्रत्यक्ष दीख पडता है। इसी कारण अमरावती के लेखो मे स्तूप को चेतिय या महा चेतिय कहा गया है—

भगवतो महाचेतिय पदमले अपनो।
धम्मथान दिव खम्भो पतिथापितो॥

[महाचेतिय यानी स्तूप के मूलभाग मे दीप-स्तभ की स्थापना की गई है]

महाचेतिय चेति कियाना निकास परि नहे अपरधारे धमचकम् देधम्म थापित (धर्मचक्र की स्थापना भगवान् के चैत्य समीप दान के फलस्वरूप की गई है) साराश यह है कि अवशेष मे चैत्य का सीधा सबध है। अतएव स्तूप को चैत्य का पर्यायवाची शब्द भी माना जा सकता है। दोनों मे केवल अंतर यह था कि 'चैत्य' पर्वत गुफाओं मे (तैयार किया) खोदा जाता, जिसमे स्तूप का आकार वर्तमान रहता था। उसमे अवशेष रखने का प्रश्न नही उठता। वह बौद्धमत का प्रतीक था, अतएव चैत्य शब्द का प्रयोग बौद्धो ने किया है। किन्तु स्तूप के भीतरी भाग मे पात्र मे अवशेष स्थापित कर भवन निर्मित किया जाता। इसकी स्थापना पर्वतो से पृथक् समतल भूमि मे की गई थी और ईंट-प्रस्तर जोड कर स्तूप तैयार किए जाते। साधारण गुहा मे स्तूपाकार की स्थिति के कारण ही उसको 'चैत्य' नाम से पुकारा जाता था।

बौद्धकाल से पूर्व युग मे स्तूप अथवा चैत्य का वर्णन मिलता है। उसकी ऐतिहासिक परंपरा वैदिक युग तक चली जाती है। ऋग्वेद मे अग्निदग्ध (अग्नि से जलाना) तथा अनग्निदग्ध (१०, १५, १४) शव को गाडने का विवरण प्रस्तुत करता है। अन्यत्र अनग्निदग्धा· (ऋ० १०/१८/८) स्मारक के लिए प्रयुक्त किया गया है. यहाँ अग्नि द्वारा जलाए जाने का भाव नही है। शव को पूर्ण रीति से वस्त्रसहित जमीन मे गाडा जाता। सभवत· भूमिगृह (पृथ्वी मे घर) शब्द (ऋ० ७/८९/१, अथर्व० ५/३/१४) शव को पृथ्वी मे रखने का द्योतक है। मृत शरीर की उपलब्धि के लिए भूमिगृह मे सभी वस्तुएँ रखी जाती थी। उसके हाथ मे धनुष रखने का भी उल्लेख है। (वैदिक इडेक्स भा० १, पृ० ८)। वैदिक काल मे मनुष्य के शव को गाड कर उसकी समाधि पर तूदाकार इमारत भी बनाया करते थे। यजुर्वेद (इम जीवेम्य: परिधि दधामि मैषानु गादपुरो अर्थमेतम्, मंत्र ३५/१५) मे इस तरह की चर्चा आई है कि समाधि को परिधि द्वारा घेर लिया जाता, ताकि उस घेरे से शव की पवित्र भूमि को ससार के अपवित्र वातावरण मे पृथक् रखा जा सके। कालातर मे परिधि को वेदिका नाम से पुकारने लगे। वाजसनेयी सहिता (१८/१/३) मे शव के गाड़ने का मत्र उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण (१३/८/३/११) मे वर्णन आता है कि चारो वर्णो के लिए विभिन्न आकार का शव टीला (कब्र) बनाना चाहिए। तैतरीय ब्राह्मण (३/१/१/७) मे भी भूमिगृह का विवरण मिलता है। अतएव, वैदिक परपरा मे शव को गाडने तथा जलाने की क्रिया काम मे लाई जाती रही। सूत्रकाल मे जलाने के कार्य का विशेष रूप से उल्लेख है। आश्वलायन गृहसूत्र (४/५) मे अस्थिकुभ (Urn) मे शव की जली अस्थि या राख को रखकर पृथ्वी मे गाड देने तथा ऊँचा टीला निर्माण करने का विवरण आया है। तात्पर्य यह है कि शव को जला कर अवशेष को पात्र मे रख कर गाडने की प्रथा प्रचलित थी। क्रमश· अस्थिकुभ (अवशेष पात्र = Urn) पर स्तूप (टीला) का आकार तैयार करने की परिपाटी भी ज्ञात होती है। भारत की इस वैदिक परपरा का अनुकरण विदेशो मे भी होता रहा। बेविलान के निपुर स्थान मे एक विशाल समाधिस्थान मिला, जिसमे अनेक भस्मघट गाडे हुए पाए गए है। कुछ भस्मघट ईसा पूर्व ३००० वर्ष के बतलाए जाते हैं। यूनान मे जलाने की प्रथा थी, जिसका वर्णन आदिकवि होमर ने अपने काव्यो मे किया है। वह कहता है कि दूरस्थ देशो मे मारे गए योद्धाओ का शव घर में लाना

संभव न था, अतएव उन्हे जला कर भस्म घरो मे लाया जाय। इससे प्रकट होता है कि यूनान मे शव को जलाने की प्रथा बाद मे चालू हुई। योरप मे ईसाई मत के प्रचार से दाह-सस्कार-प्रथा का अत हो गया। दक्षिण-पूर्व एशियाई देशो मे भारत से सदा सपर्क बना रहा। इस कारण वहाँ जलाने की प्रथा भी प्रचलित रही। जलाने से पूर्व कुछ दिनो तक शव को ममाले मे सुरक्षित रखते है। थाइलैंड में राजाओ के शव छह मास तक सुरक्षित रखते थे और बाद में दाह होता था। गरीब लोग भी एक या दो दिन ऐसा करते थे। बर्मा मे फुगी (बौद्ध भिक्षु) के शव को एक सप्ताह मधु मे सुरक्षित कर दाह किया जाता है। भस्म घड़े मे रख कर गाड़ी जाती और उस पर समाधि बनती है।

प्राचीन भारत मे यजुर्वेद मे वर्णित शव टीला की परिपाटी चल पडी। रामायण (५/२२/२९) के वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महापुरुषो या नृपतियों की स्मृति में चैत्य (स्तूप) बनते थे। दीघनिकाय मे तथागत का थूप (स्तूप), प्रत्येक बुद्ध तथा चक्रवर्ती नरेशों के स्तूपो का विवरण पाया जाता है। जातको मे थूप का प्रयोग स्मारको के लिए किया गया है। इस प्रथा के अनुसार भारत मे चैत्यो तथा स्तूपों का निर्माण बौद्ध युग मे हुआ। इसकी बाहुल्यता के कारण मध्ययुगीन टीकाकार चैत्य का अर्थ बौद्धायतन ही करने लगे। सायण ने (१६ वी सदी) श्मशान की परिधि पर व्याख्या करते हुए प्रस्तर की वेदिका का वर्णन किया है। मध्ययुग मे वैदिक टीले की कल्पना सभव न थी, जिसका स्वरूप स्तूप ने ले लिया। स्तूप का इतिहास भी यही बतलाता है कि बौद्ध युग से पूर्व स्मारक-स्तूप निर्मित होते रहे।

डॉ० काणे का मत है कि मृत शरीर का दाह-सस्कार चार चरणो में पूर्ण किया जाता था—

१. शव को जलाना,

२. राख का सग्रह,

३. भस्मकलश (Urn) मे रखना और

४. स्मारक बनाना।

इस प्रकार स्तूप (स्मारक) बनाने का कार्य उस वैदिक सिद्धात का बौद्धकालीन स्वरूप था।

(धर्मशास्त्र का इतिहास भा० ४, पृ० २५५)

बौद्ध युग से पूर्व स्मारक-स्तूप

भारत मे वैदिक स्तूपों की परपरा थी। यद्यपि उनके भग्नावशेष कम संख्या मे उपलब्ध हुए है, तो भी उस परिपाटी के क्रम को नगण्य नही माना जा सकता। वैदिक साहित्य मे स्तूप के वर्णन के अतिरिक्त हिरण्य स्तूप का विवरण पाया जाता है। अग्नि-ज्वाला की दीप्ति का वह महान पुंज है, जिसमे विश्व की उत्पत्ति हुई। उसका प्रतीक सूर्य है। उसका संबंध सदा महापुरुषो मे ही रहता है। लोरिया नदनगढ का स्तूप भी उसका एक उदाहरण है। यह स्मारक स्तूप समझा जाता है, जिसे वैदिक यज्ञ की यादगार मे निर्मित किया गया था (Vedic Mound)। यह चौरासी फीट ऊँचा तथा काफी विस्तृत क्षेत्र मे फैला है। खुदाई मे मातृदेवी की आकृति माने के पत्तर पर खुदी मिली है। नीलकठ शास्त्री ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्राचीन युग मे चैत्य (वनचैत्य = पवित्र वृक्ष) के पश्चात् स्तूप की पूजा धार्मिक जगत मे आरम्भ हुई। महाभारत (आदि पर्व १५०/३३) में देववृक्ष मे चैत्य का उल्लेख किया गया है; क्योंकि देवता पवित्र वृक्षो पर निवास करते थे। वैशाली मे भी स्तूप (चैत्य) बने थे, जिनका संबंध महान् व्यक्तियों से था। संघ के लोग उनका सम्मान करते थे।

महापरिनिब्बान सुत्त में वर्णन आता है कि बुद्ध ने आनंद को बतलाया था कि चक्रवर्ती राजाओ की समाधि पर स्तूप बनाए जाते है। उसी प्रकार का स्तूप उनकी (बुद्ध) समाधि पर निर्मित होना चाहिए, जो चौराहे पर स्थित हो—

चातु महापथे रज्जो चक्कवतिस्स थूप करोति।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उत्तर वैदिक युग की प्रथा को बौद्ध लोगों ने अपनाया। बुद्ध के अवशेष पर अनेक स्तूप बनाए गए, जो उनकी मान्यता एवं लोकप्रियता को प्रकट करता है। अभिलेखों मे इसे शरीर या धातुगर्भ कहा गया है। अवशेष पर हजारो स्तूप निर्मित हुए, जो पूजा का विषय बन गया।

धातुगर्भ और स्तूप

भारतीय अभिलेख इस दिशा में अमूल्य सहायता करते है। उनके वर्णन से विदित होता है कि अमुक राजा ने बुद्ध के अवशेष (शरीर) पर स्मारक तैयार किया। इस प्रसंग मे यह तर्क करना कठिन है कि उन नरेशों ने अवशेष कहाँ से प्राप्त किए। यहाँ विश्वास से ही काम लिया जा सकता है। उत्तर

प्रदेश के बस्ती जिले मे पीपरावा नामक स्थान पर एक स्तूप स्थित है, जो ईसा पूर्व चौथी सदी का है। उसकी खुदाई से धातुपात्र (Relic Casket) प्रकाश में आया है, जिस पर प्राकृत भाषा में निम्न लेख खुदा है—

इदं शरीरं निधानं बुद्धस्य भगवतः शाक्यानाम् ।

पश्चिमोत्तर प्रदेश के समीप बिजौर रियासत के शिनकोट स्थान से अवशेष सदूक (Casket) के ऊपरी तथा भीतरी भाग पर लेख अंकित है, जो यूनानी राजा मिलिंद के समय (ईसा पूर्व दूसरी शती) का है। संदूक के ढक्कन के भीतरी भाग पर निम्न लेख है—

भगवतु सकि मुणिस सम सबुधस शरीर ।

इस लेख मे बुद्ध के अवशेष को प्राणमहित कहा गया है। इसका तात्पर्य यह था कि स्तूप (शरीरसहित) की पूजा करने पर आश्चर्यजनक फल मिलता है। लोगो को विश्वास था कि अवशेष की पूजा से चमत्कार प्रकट होता है। ईसा पूर्व पहली सदी में स्वात नदी की घाटी मे स्थित एक ग्राम से अवशेष-पात्र मिला है, जिसके निचले भाग पर लेख खुदा है—

इमे शरीर शक मुणिस भगवतो बहुजण हितिए ।

वहाँ के एक यूनानी शासक ने भगवान् का अवशेष जनकल्याण के लिए स्थापित किया था। मथुरा के राजा रंजुबल (पहली सदी) के सिंह-स्तंभ पर इसी प्रकार का लेख खुदा है। वहाँ स्तूप मे अवशेष स्थापित करने की चर्चा है—

श्रे निसिमें शरिरप्रत्रिठवित्तो मक्रवत्रो शक मुनिस बुधस ।

तक्षशिला के शासक पटिक के ताम्रपत्र लेख मे अवशेष स्थापना की चर्चा है—

पतिको अप्रतिठवित भगवत शक मुनिस शरीर प्रतिथवेति ।

कलवान ताम्रपत्र मे भी निम्न प्रकार का वर्णन आता है—

वूढ शिलए शरिर प्रइस्तवेति गह थूबमि ।

(स्तूप मे शरीर अवशेष की स्थापना)

पेशावर के समीप कुर्रम से ताम्र पात्र मिला है, जिसके ऊपरी भाग पर अवशेष-स्थापना की बात उल्लिखित है—

थूबंमि भगवतस शक्य मुनिस शरिर प्रविठवेदि ।

स्तूप मे भगवान् बुद्ध के अवशेष को स्थापित किया।

अफगानिस्तान से एक स्तूप के भग्नावशेष से कांस्यपात्र मिला है, जिसके निचले भाग पर लेख खुदा है। वग्रमरेग नामक बिहार के समीप स्तूप में भगवान् बुद्ध का अवशेष स्थापित किया गया—

वग्रमारेग्र विहरम्नि थूस्तिमि भगवद शक्य मुणे शरिर परिठवेति।

स्टेन कोनाक ने अनेक लेखो का उद्धरण दिया है, जिनमे धातु (शरिर = अवशेष) की स्थापना का (स्तूप मे) वर्णन है—

शिरे भगवतो धातु प्रथविते बिहार स्वामिश्र प्रतिथवितो टुबो (स्तूप) नवबिहारेम्मि अचरयन सर्वास्थि वादिन परिग्रहं थुबम्मि (स्तूप) भगवतो सक मुसिस शरीर। (का० इ० इ० भा० २, पृ० ११५। १२८)

इस प्रकार अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्ध के अवशेष को स्तूप मे प्रतिस्थापित करने की परिपाटी सर्वत्र थी। स्तूप की स्थापना धर्म का कार्य था। उसकी पूजा से पुण्यलाभ होता, ऐसा जनसाधारण मे विश्वास था।

●

द्वितीय अध्याय

स्तूप का प्रयोजन, आकार तथा दार्शनिक विश्लेषण

वैदिक काल से समाज मे पितृमेध का प्रचार था। श्मशान से राख या अस्थिकण को एकत्रित कर भस्मपात्र (Urn) मे रखते थे। उसी के ऊपर एक स्मारक तैयार किया जाता, जो साहित्य मे स्तूप के नाम से उल्लिखित मिलता है। उसका तात्पर्य यह है कि महापुरुषो (श्रेष्ठजन) के स्मारक-निर्माण की परिपाटी अत्यंत प्राचीन है। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से भी विदित होता है कि बुद्ध को इस प्रथा का ज्ञान था। इसी कारण आनंद से उन्होने महापुरुषो के शरीर-अवशेष पर स्तूप बनाने की चर्चा की थी, जिसका उल्लेख महापरिनिब्बान सुत्त मे किया गया है। शव के अवशेष पर स्तूप-निर्माण की चर्चा महावश मे भी की गई है। भारतीय कला मे स्तूप का जितना प्रदर्शन है, सर्वत्र उसकी पूजा का क्रम दिखलाया गया है। पूजा की परपरा सभवतः अशोक के शासन से प्रारभ हुई। उसका कारण यह था कि भगवान् बुद्ध के चार प्रधान प्रतीक थे, जिनसे उनके जीवन की घटनाओ को व्यक्त किया जाता था।

१. जन्म का प्रतीक हाथी (द्वारा प्रदर्शित),

२. ज्ञान का प्रतीक बोधिवृक्ष (द्वारा प्रदर्शित),

३ धर्मचक्र का प्रतीक चक्र (द्वारा प्रदर्शित) और

४. परिनिर्वाण का प्रतीक स्तूप (द्वारा प्रदर्शित)।

स्तूप का परिनिर्वाण (मृत्यु) से सबध अत्यत स्वाभाविक था। दाह-संस्कार के पश्चात् शव की राख को भस्मपात्र मे रख कर स्तूप बनाए जाते थे। आरंभ मे बौद्धमत की प्रथम शाखा हीनयान मे प्रतीक का समादर ही सर्वश्रेष्ठ पूजा समझा गया, जिसका प्रदर्शन भारत की प्राचीन कला मे दीख पडता है। अशोक के शासन मे बौद्धमत राजकीय धर्म था, अतएव भगवान् बुद्ध के प्रतीको को अशोक ने अपनाया। अशोक से पूर्व निर्मित स्तूपो की क्या दशा थी, यह वास्तविक रूप से कहना संभव नही है, किंतु कलात्मक उदाहरणों से यह कहना सही होगा कि बुद्ध के अवशेष पर स्तूप बने थे। अशोक ने उन निर्मित स्तूपो से राख का कुछ अंश निकाल कर नए स्तूपो का निर्माण किया। ह्वेनसाग ने ऐसा विवरण दिया है। महावंश (परि० ५/१७६)

में अशोक द्वारा निर्मित चौरासी हजार स्तूपो का उल्लेख पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि अशोक ने स्तूप-पूजा का प्रचार किया और साम्राज्य के विभिन्न स्थानों पर स्तूप-स्थापना की बाते उसे चरितार्थ करती है। चारों प्रतीकों मे स्तूप का निर्माण सरल कार्य था, सम्भवतः इस को ध्यान मे रख कर अशोक ने स्तूप बनवाए। चौरासी हजार स्तूपो की पूजा से धर्म का प्रसार होगा, यह भी भावना कार्य करती होगी। धर्म-प्रचार के विभिन्न उपकरणो मे स्तूप-निर्माण का विशेष महत्त्व था। स्तूप-पूजा का प्रचार तथा प्रसार उत्तरोत्तर होता गया। यही कारण था कि उत्तर-अशोक युग में (Post-Asokan Period) संपूर्ण भारत के कलात्मक उदाहरणो मे स्तूप-पूजा की प्रधानता है। भरहुत, बोधगया और अमरावती की वेदिकाओ पर उत्कीर्ण प्रदर्शनो मे स्तूप-पूजा दृष्टिगोचर होती है। साँची के तोरणो पर पशु-पक्षी तथा मानव एव देवतागण स्तूप की पूजा करते दीख पडते है। सार्वभौम रूप मे स्तूप की पूजा अपनी विशेषता रखती है। ऐसा कोई जीव नहीं, जिसकी निष्ठा तथा श्रद्धा स्तूप पर आधारित न हो। गुहा मे स्तूप की सरल खुदाई से वह स्थान (जिसे चैत्य कहा जाने लगा) पूजा-गृह हो गया। भाजा, पितलखोरा तथा नासिक मे (महाराष्ट्र) ऐसे स्तूप गुहाओ मे स्थित है। समीपस्थ विहार मे निवास करने वाले भिक्षुगण चैत्य में स्तूप की पूजा करते थे। उपासकगण भी एक द्वार से चैत्य मे प्रवेश कर तथा स्तूप की प्रदक्षिणा कर दूसरे द्वार से बाहर चले जाते थे। स्तूप के स्थान ने ही कालांतर मे गर्भगृह का रूप धारण कर लिया, जिस स्थान पर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की जाती थी।

अवशेष के विभाजन की कथा

जैसा कहा गया है कि अशोक ने स्तूपों मे अवशेष का अंश लेकर ही चौरासी हजार स्तूप बनवाए थे। इस घटना की पूर्व पीठिका मे भगवान् बुद्ध के अवशेष के विभाजन की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है। साँची-तोरण के दक्षिणी तथा पश्चिमी तोरण द्वार की बडेरियो पर दृश्य खुदे है, जिसमे आठ हाथियो के सिरे पर भस्मपात्र (Casket) रखा है तथा पीछे महावन बैठा है। इस प्रदर्शन का इतिहास बौद्ध-साहित्य मे निहित है। भगवान् बुद्ध को परिनिर्वाण मल्लों की राजधानी कुशीनगर (वर्तमान कसिया, देवरिया जिला, उत्तर प्रदेश) मे हुआ। शव के दाह-संस्कार के अंतर मल्लों ने बुद्ध की धातु (राख) पर अधिकार कर लिया। अन्य राजाओ ने भी उस धातु का अंश लेना चाहा। इस प्रकार पारस्परिक युद्ध की आशंका उपस्थित हो गई। उन व्यक्तियों के नाम निम्न प्रकार है—

१. अजातशत्रु—राजगृह

२. शाक्य—कपिलवस्तु

३. बुली—अल्पकप्प

४. कोलिय—रामग्राम

५. मल्ल—पावा

६. लिच्छवि—वैशाली

७. ब्राह्मण—वेठद्वीप

८. मल्ल—कुशीनगर

मल्ल लागों ने तथागत के परिनिर्वाण की भूमि कुशीनगर में ही स्तूप-निर्माण को सर्वश्रेष्ठ बतलाया और अन्य व्यक्तियो की माँग को ठुकरा दिया। युद्ध के भय के कारण द्रोण नामक ब्राह्मण ने धातु को आठ भागो मे विभक्त करने का प्रस्ताव रक्खा। अपना-अपना भाग लेकर आठो घर लौट गए तथा धातु के ऊपर स्तूप बनाया। इस प्रकार आठ धातुगर्भ स्तूप अस्तित्व मे आए। यही कारण था कि तोरणों की बड़ेरियो पर युद्ध का प्रदर्शन है। पश्चात् आठ हाथियो के सिरे पर धातु-पात्र उस कथानक को पुष्ट करता है कि भगवान् का अवशेष आठ हिस्सों मे विभक्त कर दिया गया।

उस युद्ध का विवरण महापरिनिब्बान सुत्त मे कही नही पाया जाता, परतु साची के दक्षिण तोरण-द्वार पर वस्तुत. खुदा दीख पडता है पुरातत्व के अनुसंधान-प्रसग मे वैशाली के स्तूप का पता लगा है, जिसे अशोक ने खोल कर धातु का अश निकाल लिया था। उसका पुनः निर्माण भी हुआ था। अवशेष के अंश भी प्रकाश मे आए हैं। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि अशोक से पूर्व स्तूप निर्मित हो चुके थे। अधिक संख्या में स्तूप का निर्माण पूजा-निमित्त हुआ होगा, यह निर्विवाद है। ईसा पूर्व चौथी सदी में निर्मित पीपरावा स्तूप प्रकाश मे आया, यद्यपि ईसापूर्व द्वितीय शती मे साची-तोरण बने थे। किंतु दक्षिण तोरण-द्वार पर प्रदर्शित युद्ध-दृश्य उस प्राचीन वार्ता को पुष्ट करता है, जिसके फलस्वरूप आठ स्तूप निर्मित किए गए थे। यदि अशोक को यह विषय ज्ञात न होता, तो धातु के अंश को निकालना असंभव था। इस विवरण का सारांश यह है कि स्तूप का प्रधान प्रयोजन पूजा प्रकार था, कला मे जिसका प्रदर्शन है तथा साहित्य में उल्लेख। स्तूप का निम्न प्रकार से वर्गीकरण करते हैं, जिनका पृथक्-पृथक् प्रयोजन समझते थे—

(अ) **शारीरिक**—जिस स्तूप को बुद्ध के अवशेष (भस्मपात्र मे) पर बनाया गया था।

(ब) **उद्देशिक**—उद्देश्यसहित यानी किसी विशेष प्रयोजन को लेकर। साची स्थित सारिपुत्र का स्तूप इसका उदाहरण है।

(स) **पारिभोगिक**—तथागत के दैनिक जीवन मे काम आने वाली वस्तुओं पर निर्मित स्तूप।

(न) **व्रतानुष्ठित**—ऐसा स्तूप जो मन्नत का चढावा हो। उसमे किसी प्रकार के धातु या वस्तु के रखने का प्रयोजन निहित नही है। किसी के मन्नत मान लेने पर या इच्छा की पूर्ति होने पर उपासक बड़े स्तूप के चारों ओर मिट्टी के छोटे स्तूप बनाया करता था। तक्षशिला, सारनाथ या नालंदा के प्रधान स्तूप के चारो तरफ मन्नत वाले स्तूप (Votive Stupa) दीख पडते है।

स्तूप अर्थ टीला के रूप मे प्रयुक्त है, यानी ऊँचा टीला, जो मिट्टी से बनाया जाए। वैदिक युग मे पितृमेध से इसका गहरा सबध था। इस कारण अर्द्ध-गोलाकार टीले को स्तूप की सज्ञा दी गई है। ऊँचे

स्तूप का आकार

चबूतरे पर स्तूप का आकार अर्द्धचद्राकार दिखलायी पडता है। बौद्ध युग मे वैदिक परपरा को निंदित समझ कर स्तूप को ईंट-प्रस्तर के सहारे तैयार करने लगे। उस अर्द्धगोलाकार स्तूप के सिरे पर चौकोर घेरा तैयार दीख पडता है, जिसे हरमिका का नाम देते है। उसी मे धातुगर्भ स्थित किया जाता है। उसी हरमिका के केंद्र मे छत्र-यष्टि स्थिर की जाती है और यष्टि के सिरे पर तीन छत्र (एक के बाद दूसरा एव तीसरा) निर्मित रहते है।

चबूतरे के ऊपरी भाग मे स्तूप के चारो तरफ प्रदक्षिणा के लिए मार्ग सुरक्षित रहता है तथा किनारे पर वेदिका को स्थान दिया गया है। भिक्षुगण उस मार्ग से स्तूप की पूजा कर प्रदक्षिणा करते थे। उसे मेधी या मेध कहते हैं। ग्रामीण जनता अन्न को भूसा से पृथक् करते समय बैलो को एक स्तंभ (मेह) के चारो तरफ घुमाती है। वही कार्य मेधी से लिया जाता है। स्तूप का आकार सर्वत्र एक-सा नही मिलता। वैशाली का स्तूप छोटे आकार का है, जिसमे मेधी तथा हरमिका के लिए स्थान नही है। पीपरावा स्तूप भी उसी से मिलता-जुलता है। ये स्तूप प्रारंभिक दशा को व्यक्त करते हैं, जिस समय

कला विकसित न थी। हीनयान युग में भारतीय वास्तुकला मे नई धारणाएँ आई। स्तूप पूजा का पात्र बन गया। अशोक ने हजारों स्तूप निर्मित किए, किंतु उनके वास्तविक आकार का पता नहीं चलता। धर्मराजिका स्तूप के भग्नावशेष मिले है। संभवतः उनमे हरमिका तथा छत्र का अभाव था। भगवान् बुद्ध को महापुरुष मान कर कालांतर में आकार-प्रकार जोड़े गए। सांची स्तूप की आरंभिक अवस्था टीले के रूप मे थी, जिस पर शुंगकाल में प्रस्तर बिछाए गए। अर्द्धगोलाकार भाग को अंड का नाम देते हैं। यानी अंड पर प्रस्तर लगाया गया, ताकि वह चिरस्थायी हो सके। साँची मे अशोक स्तंभ की प्राप्ति से स्तूप की तिथि निश्चित हो जाती है। ईसा पूर्व द्वितीय शती मे हीनयान मतानुयायियो ने स्तूप का विस्तार किया होगा, जिसके फलस्वरूप साँची का मुख्य स्तूप आज भी खड़ा है। दक्षिण भारत के स्तूपों का आकार उत्तरी भारत के स्तूपो से कुछ भिन्न दीख पड़ता है। चबूतरे तथा अंड की बनावट मे भिन्नता है, जिसका वर्णन अगले पृष्ठों मे किया जाएगा। दक्षिण भारत मे अमरावती के अंड पर नाना प्रकार की कारीगरी दीख पड़ती है। अंड संगमरमर के प्रस्तर से ढका है और प्रत्येक टुकड़े पर बौद्ध धर्म के प्रतीक या कथानको का प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है। भारतीय स्तूपों में अमरावती के चित्रित (अलंकृत) अंड को छोड़ कर सर्वत्र स्तूप का अर्द्धगोलाकार भाग (अंड) अनलंकृत है। अमरावती की इस विशेषता का परिचय अन्यत्र दिया जाएगा।

मौर्य-युग मे स्तूप की पवित्रता को बचाने के लिए स्तूप के चारों तरफ गोलाई मे तीन या चार फीट की दूरी पर एक वेदिका बनायी गई थी, जो बाँस की बनी हुई थी। ग्रामीण जीवन मे पशुओं के लिए बाँस से घिरा बेड़ा बनाया जाता है, ताकि बाहर से कोई आसानी से प्रवेश न कर सके या पशु बाहर निकल न जाएँ। इसी बाँस का बेड़ा (परिधि) का अनुकरण बेदिका मे किया गया। उस बेदिका के भीतर सर्वसाधारण का प्रवेश वर्जित था। बाहरी अपवित्र संसार से स्तूप की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए बेदिका की कल्पना उपस्थित की गई। यजुर्वेद मे भी ऐसा ही वर्णन आता है कि समाधि के चारो तरफ मिट्टी की घिराव (ऊँची भूमि) तैयार करते, जिससे समाधि की पवित्रता बनी रहे या सुरक्षा हो सके। इसी वैदिक प्रथा का पालन स्तूप की वेदिका से किया गया। अंड तथा वेदिका के मध्य प्रदक्षिणापथ रहता है, जिसका प्रयोग उपासक करते रहे।

पशु बेड़ा की कल्पना का सुंदर रूप बौद्धकला मे दीख पडता है। अशोक ने लकड़ी की ही वेदिका तैयार की थी, जिसे शुंगकाल मे प्रस्तर से बदल दिया गया। सांची या भरहुत की वेदिकाओ के प्रस्तरो पर अभिलेख खुदे हैं, जिससे प्रकट होता है कि शुंगकाल मे तैयार हुई थी। विदिसा के श्रेष्ठियों के भी नाम खुदे है। वेदिका पर हाथी-दांत के कारीगरो के नाम अंकित हैं। उन सभी अभिलेखो के अध्ययन से पता चलता है कि ईसा पूर्व द्वितीय शती में प्रस्तर की वेदिका तैयार की गई।

समाधि (स्तूप) को पवित्र रखने के अतिरिक्त वेदिका का उद्देश्य बहुत महत्त्वपूर्ण था। भरहुत, बोधगया एवं अमरावती की वेदिकाएँ अतीव सुंदर रीति मे खुदी है। इस अलंकरण का मुख्य प्रयोजन आकर्षण था कि चित्रित एवं भव्य वेदिका को देखने के निमित्त जनता आवेगी। उसके अलंकरणो तथा कथानको या ऐतिहासिक विषयो का प्रदर्शन देखकर बौद्धमत की ओर आकर्षित होगी। इस प्रकार वेदिका बौद्ध धर्म के प्रचार का माध्यम भी समझी जा सकती है। बौद्धमत के प्रतीको तथा भगवान् के महान् चमत्कारो को देख कर जन-साधारण को प्रभावित करना भी वेदिका-निर्माण का उद्देश्य था। उन उद्देश्यों की पूर्ति वेदिकाओ द्वारा हुई भी। भरहुत की वेदिका पर साधारण व्यक्तियो की जानकारी के लिए लेख भी अंकित है। परंतु, क्रमशः इसे समाप्त कर दिया गया। बोधगया तथा अमरावती मे अभिलेखों के लिए स्थान नही था। सांची की वेदिका अनलंकृत है। सुंदर चिकने प्रस्तरो से बनी है। कारीगरो या दान-कर्त्ताओं के नाम खुदे है। वेदिका के एक भाग पर गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय का लेख भी खुदा है।

वेदिका के चार भाग है-

(१) आलबन,	(२) स्तंभ,
(३) सूची,	(४) उष्णीस।

आलंबन का कार्य स्तंभ को सीधा रखना है, अतएव वह पृथ्वी के नीचे स्थित रहता, जिसे देख नही सकते थे। अन्य तीनो भाग पूर्ण रूप से अलंकृत है (सांची को छोड कर)।

स्तूप से संबंधित वेदिका की चारो दिशाओ मे तोरण (तोर = जाना) बने है, जिनमे दो स्तंभ ऊपरी भाग मे बंडेरियों से बँधे हैं। भरहुत में तोरण का आरंभ अवश्य हो गया था, परंतु बौद्ध कला मे सांची के तोरण सर्वप्रसिद्ध है, जो वेदिका के साथ-साथ निर्मित नही हुए थे। समय के पश्चात् इन्हें जोड़

दिया गया। तोरण में ऐसा कोई स्थल नही, जो अनलंकृत हो। उन पर हीनयान कला, बुद्ध के प्रतीक, जातक प्रदर्शन तथा चमत्कारो को दर्शाया गया है। सांची तोरण की कला सर्वोत्तम मानी जाती है।

सांची-तोरणो के परीक्षण से पता चलता है कि तोरण विभिन्न काल में तैयार किए गए थे। एक साथ सब का निर्माण नहीं हुआ। वैदिक परंपरा को मान कर दक्षिण का तोरण सर्वप्रथम निर्मित हुआ, जिसकी बंडेरी पर सातवाहन नरेश सातकर्णि का नामोल्लेख है। ब्राह्मण ज्योतिष में उत्तरायन तथा दक्षिणायन से सूर्य की अवस्था बतलाई जाती है। दक्षिण राक्षसो तथा यमराज की दिशा है। अतएव, मकान का दक्षिण भाग पहले ऊँचा बनाया जाता है। साची का दक्षिण तोरण सबसे पहले तैयार किया गया, जिससे असुर तथा बुरी प्रवृत्तियाँ बाहर चली जाएँ। उसके पश्चात उत्तरी तोरण बना। पूर्वी तथा पश्चिमी तोरण का क्रम उसके अनतर आया। तोरणों पर खुदे कलात्मक दृष्टातों का अनुशीलन अगले पृष्ठों मे किया जाएगा, पर इतना तो कहना पर्याप्त होगा कि साची-तोरण का सौष्ठव, श्रेष्ठता एव भव्यता का मूल्याकन करना कठिन है। सक्षेप मे स्तूप के आकार-प्रकार में चबूतरा, मेधी अड, हरमिका, छत्र की प्रधानता है। यो तो वेदिका का भी अपना स्थान तथा महत्त्व है। तोरण (विशेषतया साची) स्तूप की सुंदरता की अभिवृद्धि मे हाथ बँटाते है। अधिकतर स्तूपो के गुंबज पर हरमिका या छत्र भी नष्ट हो गए हैं। परतु, स्तूप के आकार मे सभी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चैत्यगृहों में पर्वतों को काट कर जो स्तूप बने है (कार्ले या अजंता गुहा), उनमे स्तूप के प्रत्येक अंग सुरक्षित है। किसी चैत्य मे छत्रयष्टि तथा तेहरा मुकुट काष्ट के बने है। इस प्रकार वास्तविक स्तूप के आकार में कालातर मे समयानुकूल परिवर्तन किए गए।

चैत्य में स्तूप

समतल भूमि या पहाडी पर निर्मित स्तूपों का विवरण उपस्थित करते समय, पहाडो की गुफाओ में चट्टानों को काट कर स्तूप के आकार की ओर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। यह पहले कहा जा चुका है कि स्तूप तथा चैत्य पर्यायवाची शब्द हैं। इस कारण जिस गुहा में पहाड़ काट कर स्तूप बना है, उसे चैत्य का नाम दिया गया है। स्तूप की उपस्थिति से उसके नाम में विभेद हो गया। हीनयान युग में स्तूप-पूजा का प्रचार हो गया था। अशोक के पश्चात् भी यह पूजाक्रम चलता रहा। शुंगकाल मे पहाड़ खोद कर भिक्षुगण के निवास

के लिए स्थान (विहार) तथा समीप मे पूजाहेतु स्थल यानी चैत्य उत्कीर्ण किए गए। उन चैत्यो को घोडे के नालनुमा आकार में तैयार किया जाता था। नाल की बाहरी सीमा पर गुहा मे तीन द्वार खोदे जाते थे और नाल के भीतरी भाग (गोलाई) के समीप स्तूप का आकार कलाकार प्रस्तर काट कर प्रस्तुत करते थे। चैत्य में दीवार की ओर दोनो तरफ गलियारे छोड़ते हुए स्तभों की पक्तियाँ हैं। इनके सिरे से लगी काठ की पट्टिया अडाकर छत को छादन करती हैं। स्तूप के सामने का भाग पूजा-स्थान मानते है। चैत्य की दीवारो तथा स्तंभों के मध्य मे रिक्त स्थान उपासको के लिए सुरक्षित था। एक द्वार से जाकर स्तूप के पीछे से होकर उपासक दूसरी ओर पहुँच जाता है तथा विपरीत द्वार से बाहर चला आता है। निचले भाग मे द्वार तथा उसके ऊपर चद्रशाला वातायन बनाया गया है। ताकि स्तूप पर सूर्य का प्रकाश पड सके और पूजा मे उससे सहायता मिल सके। चूँकि चैत्य मे स्तूप पर्वत को काट कर बनाए गए है, अत उनमे मेघी (अड के समीपस्थ प्रदक्षिणा-स्थान) का अभाव है, किंतु चबूतरे पर स्तूप तथा सबद्ध वेदिकानुमा कटाव दीख पडता है। गुहा मे चैत्य का निर्माण स्तूप उत्कीर्ण कर हुआ है, अतएव समतल भूमि की वेदिका का अभाव है, उपासक गलियारे से होकर प्रदक्षिणा कर लेते है। अड के ऊपरी भाग मे हरमिका निर्मित है, जिसकी बनावट यज्ञवेदी के सदृश है। हरमिका मे छत्रमय यष्टि स्थापित है यानी पर्वत खोद कर समतल भूमि पर निर्मित स्तूप सदृश सपूर्ण आकार दृष्टिगोचर होता है।

स्तूप का दार्शनिक विश्लेषण

स्तूप के आकार के सबध मे जो कुछ भी बाह्य रूप से ज्ञात होता है उसकी पृष्ठभूमि मे दार्शनिक विचारधारा काम करती रही। यह सर्वसम्मति से मान लिया गया है कि वैदिक परपरा का बौद्ध मत मे पालन किया गया था, किंतु समयानुकूल एवं परिस्थित के अनुसार बौद्ध कलाकारों ने प्राचीन वास्तुकला मे परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन किया था। स्तूप के आकार का विश्लेषण यह प्रकट करता है कि प्रत्येक भाग का निर्माण किसी विशेष उद्देश्य से किया गया था। यहाँ उसी दार्शनिक पहलू पर विचार करना युक्तिसंगत होगा। ब्राह्मण मत में क्षितिज से मिलता हुआ आकाश तथा उसके ऊपर देवलोक की कल्पना करते है। यही भारतीय परपराओ मे आकाश स्वर्ग का परिचायक है, यही ब्रह्मांड है, जिसके विषय मे ऋषियो ने विचार-विमर्श किया है। उसी सिद्धांत की अभिव्यंजना स्तूप से की जाती है। ऊँचे चबूतरे

(जिसे संसार मानते है) पर अर्द्धगोलाकर स्तूप है, जिसे अंड कहते है। अर्द्धवृत्त का आकार होने के कारण स्तूप को अंतरिक्ष के सदृश मानते हैं। उसी अड के ऊपरी भाग में हरमिका को स्थान दिया गया है। वह देवलोक है। उस स्थान पर भस्मपात्र को रखते थे। यानी वह बुद्ध की राख के निमित्त निर्मित है या इसे बुद्ध (भस्म के रूप में धातु शरीर) का कल्पित निवासस्थान मानते हैं। उसी भाग से छत्रयष्टि निकलती दीख पड़ती है। प्राचीन काल में छत्र राजत्व का प्रतीक समझा जाता था। यही कारण है कि बुद्ध को राजसी प्रतिष्ठा देने के लिए छत्र का निर्माण किया गया। जिस स्थान पर स्तूप पर छत्र दीख पड़ता है, उसी भावना का द्योतक है। कई स्थानो पर उसका अभाव है, किंतु उसकी स्थिति को भुलाया नही जा सकता। चैत्यगृहो मे भी छत्र वर्त्तमान है। जातक प्रदर्शनो मे जिस रूप में बुद्ध का प्रकटीकरण किया गया है, उस स्थान पर छत्र दृष्टिगोचर होता है। सांची के तोरण पर हाथियो के मस्तक पर स्थित भस्मपात्र (Urn) के ऊपर छत्र दिखलाया गया है। षड्दन्त जातक मे छह दांत वाला हाथी बुद्ध का प्रतीक है, उसी सिरे पर भी छत्र दीख पडता है। इस देवलोक (हरमिका) में निवास करने वाले महान् देव (बुद्ध) के सिरे पर छत्र रखना नितात समुचित है। हरमिका के ऊपर सृष्टि के लोको की सख्या छत्र के द्वारा व्यक्त की जाती है।

तीन छत्र की तीन भुवन मे समता करते है। किसी स्थान पर सात छत्र दीख पडते है, जो सप्तलोक के परिचायक हैं। बौद्ध स्तूप के छत्र की संख्या इससे अधिक नही मिलती, किंतु भाजा गुहा में चौदह स्तूपो का निर्माण एक साथ दिखलाई पड़ता है। विद्वानो का मत है कि इनसे चौदह भुवनो का बोध होता है। ब्राह्मणमत की परपरा को बौद्धमत मे साक्षात्कार किया गया। वायुपुराण मे (५०, ७७) निम्न पक्तियाँ मिलती है—

उपर्युक्त परिलोकाना छत्रवत् परिमण्डलम्। लोकमंडल एक दूसरे के छत्र की तरह है। स्तूप के भीतर ज्योतिर्मय ब्रह्म के रूप में बुद्ध विराजमान है। वर्त्तमान समय में भी राजपुताने के रजवाड़ो की सवारी निकलने पर सिरोभाग मे छत्र धारण किए परिचारक रहते हैं।

मेधी का वैदिक स्वरूप है, अतः स्तूप के समीपस्थ चबूतरे पर प्रदक्षिणा-मार्ग बना है। समतल भूमि पर भी वेदिका तथा स्तूप के मध्य चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ है, जो वैदिक प्रणाली की याद दिलाता है। यजुर्वेद में समाधि को पवित्र समझ कर संसार की अशुद्धियों से पृथक् करने के लिए मेड़ के निर्माण का वर्णन

आता है। उसी विचार को स्थायी रूप देने के निमित्त छोटे बाघ को प्रस्तर की वेदिका के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया। उपासक मेघी का प्रयोग न कर निचले प्रदक्षिणा-मार्ग पर परिभ्रमण करते थे। वेदिका अलकरण करने का कार्य ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे आरंभ हुआ, जब काष्ट की वेदिका को प्रस्तर द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। साधारण जनता को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करने का यह भी साधन था। उसी प्रकार कालातर मे तोरण निर्मित हुए और उन्हें भी नाना प्रकार के प्रदर्शनों (खुदाई) से अलंकृत किया गया।

●

तृतीय अध्याय

स्तूप-निर्माण की परंपरा

भारतवर्ष मे स्तूप-निर्माण के इतिहास का गंभीर अनुशीलन किया जाए और वैदिक परंपरा का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट विदित होता है कि वैदिक युग से मध्यकाल (१२ वीं सदी) तक स्तूप-निर्माण की परंपरा भारत में वर्तमान थी। पिछले पृष्ठो मे इस बात पर बल दिया गया है कि स्तूप का उद्गम वेदों के समकालीन माना जा सकता है। जिस उद्देश्य को लेकर बौद्ध-काल मे स्तूप निर्मित हुए, उनके मूल स्वरूप एव विचार को वेदों मे निहित पाते है। शुक्ल यजुर्वेद (३५/१५) को निम्न मंत्र मे यह आदेश दिया गया है कि समाधि के चारों तरफ मिट्टी का ऊँचा टीला बनाया जाए—

इयं जीवेभ्यः परिधि दधामि मैषां नु गादपुरो अथर्वमेतम् ।

महीधरभाष्य की टीका मे भी इसी को स्पष्ट किया गया है—

स्व निवास ग्रामस्य श्मशानस्य च मध्ये मार्यादलोष्ट महत्तर मत्खण्ड-मध्वयुंरेव निदधाति ।

इसका तात्पर्य यह है कि श्मशान को पवित्रता रखने के लिए ग्राम तथा समाधि के मध्य में टीला तैयार किया जाए। यानी समाधि (स्तूप) तैयार करने का कार्य वैदिक युग मे प्रारंभ हो गया था। शतपथ ब्राह्मण (१३। ८। १। ५) में श्मशान को किसी आकार (गोल या चौकोर) मे निर्मित करने का विवरण मिलता है—

तेऽदिक्काः परामव स्तस्माद्या देव्यः प्रजाश्चतु स्रक्तीनि ताः श्मशानानि कुर्वतऽथ। या आसुर्य : प्राच्यास्त्वद्ये त्वा रिमण्डलानो ।

इस प्रकार के अन्त्येष्ठि टीले का भग्नावशेष लौरिया नंदन (जिला चंपारन, बिहार) मे मिला है। यह स्तूप ८२ फोट ऊँचा है और इसका निर्माण तीन पक्तियो मे हुआ है। उस स्थान की खुदाई से सोने की पत्तर की बनी देवी आकृति सहित उपलब्ध हुई है। इसे मातृदेवी से तुलना करते हैं। तात्पर्य यह है कि लौरिया का टीला अत्यंत प्राचीन है। इस स्थान पर

यूप तथा स्तूप के दोनो आकार प्रकाश मे आए है। वैदिक यूप का ही रूप बौद्धो ने स्तूप में भावात्मक अनुकरण किया। अत, वैदिक परंपरा का स्वरूप लोरिया नंदन स्तूप में विद्यमान है।

ईसापूर्व छठी या सातवी सदी के वैशाली में निर्मित स्तूप का विवरण दीघनिकाय मे पाया जाता है। भगवान् बुद्ध ने लिच्छवियो के स्तूप का उल्लेख किया था। महापरिनिब्बान सुत्त मे वर्णन किया गया है कि वृज्जिसघ में भीतर तथा बाहर चैत्यो (स्तूप) का मान करते थे तथा उनकी पूजा भी होती थी—

वज्जि चेतयानि अब्भंतरानि चब।

भगवान् बुद्ध ने स्वय वृज्जिसंघ की प्रशंसा की थी। उनका कथन था, महापुरुषो की (चक्रवर्ती) राख (अवशेष) पर समाधि बनायी जाए। सभवत. वैशाली मे ऐसे स्तूप (चक्रवर्ती की समाधि) का निर्माण हो चुका था। आनद तथा बुद्ध के वार्तालाप से सारी बाते स्पष्ट हो जाती है (महापरिनिर्वाण सुत्त)

आनंद—कथ मय भन्ते तथागतस्स सरीरे परिपज्जामानि।

बुद्ध—अव्यावटा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीर पूजाय

आनंद—कथपन भन्ते तथागतस्स सरीरे परिपाज्जितब्ब ?

बुद्ध—यथा खो आनन्द रञ्जो चक्कवत्तिस्स सरीरे परिपज्जन्ति, एव तथागतस्स सरीरे पटिपज्जितब्बति

आनद—कथंपन भन्ते रञ्जा चक्कवत्तिस्स सरीरे पटिपज्जन्तीति ?

बुद्ध—चातुम्महापथे रञ्जो चक्कवत्तिस्स थूप करोन्ति। एव चातुम्महापथं तथागतस्स थूपो कातब्बो।

इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि बुद्ध को चक्रवर्ती राजाओं की समाधि का परिज्ञान था। उसी को ध्यान मे रखकर आनद से चौराहे पर स्तूप बनाने का आदेश दिया था।

इस प्रकार स्तूप-निर्माण का कार्य चक्रवर्ती राजाओ की समाधि के रूप मे होता रहा। बुद्धनिर्वाण के पश्चात् उनका अवशेष आठ भागों मे विभक्त कर दिया गया, जिसका वर्णन पिछले पृष्ठ मे किया गया है। आठ अवशेषों पर आठ स्तूप बनाए गए। वैशाली के लिच्छवि तथा अजातशत्रु द्वारा निर्मित चैत्यों (स्तूपो) की जानकारी है। महावश (५। १७६) में वर्णन मिलता है कि अशोक ने धर्म को चिरस्थायी करने के निमित्त राजगृह तथा अन्य स्तूपो से भगवान् के अवशेष (धातुओ) को निकाल कर उन पर चौरासी

हजार स्तूप बनवाए। स्तूप-निर्माण के संबंध मे चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी उल्लेख किया है। इस प्रसंग मे यह कहना उचित प्रतीत होता है कि मौर्य से पूर्व निर्मित स्तूपो मे पिपरावा (बस्ती, उत्तर प्रदेश) को प्रधान मान सकते है। उसके भस्मपात्र पर लेख खुदा है, जिसमे शरीर-स्थापना का वर्णन है तथा उस लेख के अक्षरों से अशोक ब्राह्मी से पहले की लिपि प्रकट होती है। अतएव, वैदिक युग से अशोककाल तक स्तूप की परंपरा उत्तरोत्तर बलवती होती गई। अशोक के द्वारा निर्मित हजारो स्तूपो मे तक्षशिला तथा सारनाथ का धर्मराजिका स्तूप विशेष उल्लेखनीय है, जिनके भग्नावशेष प्राप्त हुए है। धमेक स्तूप (सारनाथ) तथा नालंदा के ईटे के स्तूप आज भी खडे दिखलाई पडते है। अन्य स्तूपों के बारे मे विशेष रूप से कुछ कहा नही जा सकता। निग्लीव सागर स्तंभ लेख में अशोक द्वारा कनकमुनि (पाँचवे मानुषी बुद्ध) के स्तूप की द्वितीय बार मरम्मत कराने का वर्णन है—

देवानं पियेन पियदसिन लाजिन चौदह वसा [भिसी] तेन बुधस कोनाक-मनसथुवे (स्तूप) दुतिय वढ़िते।

इतना ही नही, साची-तोरण पर एक दृश्य खुदा है, जिसमें अशोक रामग्राम के स्तूप-पूजा निमित्त हाथी पर सवार प्रदर्शित किया गया है। इससे यह विदित होता है कि स्तूप-पूजा का प्रचार मौर्य-युग मे हो गया था। साहित्य तथा पुरातत्त्व की सामग्रियों के आधार पर उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है तथा अशोक द्वारा स्तूप-निर्माण की बातें प्रमाणित हो जाती है।

अशोक के उत्तराधिकारी शुंग नरेशो ने भी स्तूप-निर्माण का प्रोत्साहित किया। यद्यपि वे बौद्ध मतानुयायी न थे, परंतु उत्तरी भारत मे भरहुत तथा बोधगया मे अनेक स्तूप शुंगकाल मे तैयार किए गए। भरहुत की वेदिका पर एक लेख खुदा है, जिसमे वर्णन आता है कि शुंग राजा के शासनकाल मे यह स्तूप तैयार किया गया। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि बोधगया तथा भरहुत की वेदिकाओं पर हीनयान संबंधी प्रतीक या कथानक खुदे हैं। ईसा पूर्व सदियो मे हीनयान मत की प्रधानता थी, इस कारण तत्संबंधी जितने कलात्मक नमूने उपलब्ध हैं, सभी शुंगकालीन माने जाते हैं। मौर्य लोगों के दक्षिण भारत के उत्तराधिकारी सातवाहन नरेशों ने भी अमरावती तथा उसके समीपस्थ अन्य स्तूपो के निर्माण मे सहायता की थी। अमरावती के अधिक कलात्मक नमूने हीनयान मत से संबंधित है, जिनको सातवाहन राजा शातकर्णि के शासनकाल मे तैयार किया गया। सांची-तोरण के संबंध मे भी

ऐसी बातें कही जा सकती है। दक्षिण द्वार के तोरण पर स्तूप के प्रतीक पर एक छोटा लेख खुदा है, जिसमें वर्णन आया है कि शातकर्णि के समय में वह तोरण निर्मित हुआ था। साची के मुख्य स्तूप को प्रस्तर-खंडों से ढँकने का कार्य शुंग काल में ही हुआ था।

अतएव, यह कहना यथार्थ होगा कि अशोक द्वारा स्थापित स्तूप-पूजा की परंपरा तथा गोलाकार स्तूप का निर्माण शुंगकाल में निर्विघ्न रूप से चलता रहा।

शुंगकाल (ईसवी पूर्व दूसरी एवं पहली सदी) में स्तूप की वेदिकाओं को स्थायित्व दिया गया। इस काल से पूर्व लकड़ी की वेदिकाएँ थी, जो ग्राम के पशु-देड़ा के अनुकरण पर तैयार की गई थी। बॉस या काष्ट की वेदिकाओ को हटा कर प्रस्तर को स्थान दिया गया। इसका प्रमाण यह है कि भरहुत एवं सांची की वेदिकाओं के स्तंभ या उष्णीस पर उन दानकर्त्ताओ के नाम खुदे हैं, जिन्होने उस अश के तैयार करने का बोझा उठाया था अथवा उसे तैयार करने का पूरा धन दान दिया था। यही कारण है कि वेदिकाओं पर खुदे लघु लेख मे अंतिम शब्द 'दानं' अंकित है। यह कार्य सामूहिक रूप में जनजागृति का द्योतक है।

ईसवी सन् के आरभ से कुषाण वंश का शासन प्रारंभ हुआ। उस वश के प्रतापी नरेश कनिष्क के विषय मे अधिक बातें ज्ञात हैं कि वह बौद्धमत का प्रबल समर्थक था।

उसने चौथी बौद्ध सगीति बुलाई थी तथा उसी काल से महायान मत का शुभारंभ हुआ। गाधार के भूभाग मे अनगिनत बौद्ध-प्रतिमाएँ तैयार की गई। कनिष्क के शासनकाल मे अनेक स्तूप उत्तर-पश्चिम भारत मे निर्मित हुए थे। बीमरान के स्तूप के भस्मपात्र पर बुद्ध की प्रतिमा बनी है। कुरम का स्तूप अपनी प्रमुखता रखता है। गाधार से यह परपरा अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया मे पहुँच गई, जिसका श्रेय कनिष्क का है।

कुषाण-युग के पश्चात् स्तूप-निर्माण का कार्य क्षीण होता गया। इसका यह अर्थ नही है कि यह परंपरा अवरुद्ध हो गई, पर उस कार्य को कालातर मे राजकीय प्रश्रय अथवा सहायता न मिल पायी। बौद्ध उपासक या उपासिका उस कार्य मे संलग्न थे, पर विशाल स्तूप की योजना उनके संमुख न थी। गुप्तकाल तक पूजा के निमित्त मनौती स्तूप का आकार (Votive Stupa) मुख्य स्तूप की चारो दिशाओं में निर्मित होते रहे। उनके स्वरूप सारनाथ के

धर्मराजिका स्तूप तथा नालंदा स्तूप के चारों ओर आज भी देखे जा सकते हैं। उत्तर गुप्त-युग मे हर्षवर्द्धन बौद्ध मतानुयायी माना जाता है। परंतु, प्रभाकर वर्धन की समाधि के अतिरिक्त अन्य किसी स्तूप-निर्माण का श्रेय उसे नही मिला।

राजनैतिक कारणो से स्तूप-निर्माण का कार्य रूक-सा गया था, किंतु धार्मिक जनता मे बड़े स्तूप के निर्माण की कल्पना न रही। संभवतः बुद्ध के अवशेष के अभाव मे पूर्वकालीन स्तूपो का अनुकरण सामयिक न प्रतीत हुआ, अतः मनौती स्तूप ही बनते रहे। पहली शती के पश्चात् भगवान् बुद्ध के धातु-शरीर संबंधी लेख अप्राप्य है। बौद्ध मतानुयायी अन्य धार्मिक कृत्यों से अपनी धार्मिक पिपासा संतुष्ट करते रहे। गुप्त युग (चौथी शती ई० स०) से ही विहार-निर्माण के कार्य को बल मिला और समतल भूमि पर ईंट-प्रस्तर के सहारे बिहार (भिक्षु संघ के निवास निमित्त) बनने लगे। मध्य युग के प्रधान बौद्ध शासक पाल नरेश भी सहिष्णु थे। धर्मपाल ने विष्णु मंदिर (नर• नारायण) को दान दिया तथा नारायण पाल ने अनेक शैव मंदिर बनवाए। नालंदा के स्तूप की मरम्मत तथा नए विहार का निर्माण पाल-युग मे हुआ था। अंतिचक, भागलपुर (विक्रमशिला) की खुदाई से जो स्तूप निकला है, वह संभवतः पाल-युग मे तैयार किया गया था।

स्तूप की परंपरा को भुलाया नहीं जा सकता था, अत जितनी प्रतिमाएँ (Statue) मगध मे तैयार हुई थी, उनके पृष्ठ प्रस्तर पर दोनो तरफ स्तूप की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। मुख्य प्रतिमा के सिरोभाग के पार्श्व मे स्तूप का आकार उस प्राचीन परंपरा की याद दिलाता है कि स्तूप की पूजा समाज मे प्रचलित थी। इतना ही नही, प्रस्तर तथा धातु के लघु स्तूप बना कर घरो मे उपासक पूजा करते थे। उनमे चबूतरा, अंड, हरमिका तथा छत्र स्पष्टतया दिखलाए गए है। उनके अनेक नमूने मगध प्रदेश से प्राप्त हुए है। कहने का सारांश यह है कि वैदिक प्रणाली को बौद्ध लोगों ने अपना कर स्तूप को विशाल रूप दिया। वही क्रम कई सदियों तक चलता रहा।

पूर्व मध्य युग से पौराणिक विचारधाराओं का प्रभाव समाज पर बढ़ता गया। नए धार्मिक आकार-प्रकार के निर्माण के अतिरिक्त पुराने क्षतिग्रस्त भवनों, मंदिरों तथा स्तूपो का संस्कार भी उतना ही पुण्य कार्य समझा गया। यही कारण है कि विभिन्न राजवंशों के अभिलेखो मे "खंड स्फुट प्रति संस्कार" वाक्य का प्रयोग मिलता है। लेखो मे दान का जिस रूप में वर्णन

है, उसमे संस्कार (मरम्मत) का भी उल्लेख है। पालवंशी नरेश बौद्ध होकर ब्राह्मण मंदिरो के तथा अबौद्ध शासक बिहार या स्तूप की मरम्मत के लिए दान देते रहे। नालदा के मुख्य स्तूप का निरीक्षण किया जाए, तो स्पष्ट विदित होता है कि पालनरेशो ने भी उसका सस्कार किया था। इस प्रकार ध्वस स्तूप को चार या पाँच बार विशिष्ट स्तूप का आकार दिया गया। मध्य युग की विचारधाराओं का अनुशीलन यह बतलाता है कि नए स्तूप के निर्माण का प्रयोजन समाप्त हो गया था। नवनिर्माण की बाते गौण पड गई थी। ठोस प्रस्तर खड का मनौती (Votive Stupa) स्तूप बना कर पूजा करने लगे। साराश यह है कि तेरहवीं सदी तक भारतीत समाज मे स्तूप की परपरा को स्थान प्राप्त था।

चतुर्थ अध्याय

स्तूप अलंकरण के आधार

भारतीय कला में स्तूप बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध स्मारक है। परन्तु, इसकी परंपरा वैदिक काल से चली आई है। ऋग्वेद में हिरण्यस्तूप का उल्लेख है, जिससे विश्व की उत्पत्ति मानी गई है। सम्यक् संबुद्ध की पूजा स्तूप के माध्यम से होती रही। इसके द्वारा बुद्ध को चक्रवर्ती के रूप में अभिव्यक्त करते हैं तथा धर्मोपदेश एवं वर्षावास के समय योगी के स्वरूप में देखते है। स्तूप के ऊपरी भाग में हरमिका से संबद्ध छत्र चक्रवर्ती बुद्ध की बातें उपस्थित करता है। स्तूप के अलंकरण में जहाँ भी बुद्ध का प्रतीक उत्कीर्ण है, उसके ऊपरी भाग में छत्र अवश्यमेव दीख पड़ता है। इस प्रकार स्तूप सम्यक् संबुद्ध के एक अंश (चक्रवर्ती रूप) को व्यक्त करता है। स्तूप की परंपरा तथा उसके दार्शनिक पहलू पर विचार किया गया है। अधुना अलंकरण के विभिन्न आधार के विषय में कुछ कहना युक्तियुक्त मालूम पड़ता है।

स्तूप एक ऐसा स्मारक है, जिसे भस्मकलश के ऊपर निर्मित किया जाता था। अशोक काल से जो स्तूप भारत में निर्मित हुए, उनकी बनावट में मूलतः समानता है। ऊँचे चबूतरे पर अर्द्धगोलाकार मिट्टी का टीला तैयार किया गया, जिसे कच्ची ईंट से ढँक देते, ताकि वह कुछ समय तक स्थिर रह सके। उस प्रकार के स्तूप के चारों ओर काष्ठ की वेष्टनी तैयार की गई। अशोक के शासनकाल से चुनार-प्रस्तर का प्रयोग आरंभ हो गया था। पाटलिपुत्र के अस्सी स्तंभ वाले विशाल भवन मे चुनार-प्रस्तर के खंभे लगाए गए थे। अशोक के स्तंभ (सारनाथ, कौशाबी, साची, चंपारन आदि) भी उसी प्रस्तर से निर्मित किए गए थे। अतएव, स्तूप एवं वेदिका के लिए भी प्रस्तर का प्रयोग आरंभ हो गया। भरहुत के स्तूप के भग्नावशेष मिले है, जिससे विदित होता है कि स्तूप का ऊपरी भाग प्रस्तर का बना था। साची-स्तूप के अंड को (अर्द्धगोलाकार स्मारक) देखने से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि प्रस्तर द्वारा आच्छादन-कार्य बाद का है। इस प्रकार अंड का ऊपरी अंश स्थायी हो गया। भरहुत तथा सांची-स्तूप के अंड सादे प्रस्तर के है। उन पर किसी प्रकार की

खुदाई नहीं है। किंतु, अमरावती के स्तूप आच्छादित भाग (अंड) तो बौद्ध प्रतीक या प्रतिमाओं सहित खुदे हैं। ऐसा उत्कीर्ण भाग अन्यत्र दीख नही पडता। अमरावती की इस विशेषता (अंड का अलंकरण) से बौद्धकला में सजीवता आ गई तथा कलाविदों की सौंदर्य-कल्पना तथा कलात्मक विचार का सर्वोत्कृष्ट नमूना उपस्थित हो गया। अमरावती के कलाकार समीप या दूरी के कलात्मक सापेक्ष महत्त्व को समझते थे। इस कारण रूपचित्रों के आकार-प्रकार मे भेद उपस्थित किया था। अंड का अलकरण अमरावती की निजी विशेषता है। स्तूप के इस ऊपरी भाग को छोड कर चबूतरे पर भी खुदाई की गई। चौकोर चबूतरे के एक अंश पर पाँच स्तभ (आयक स्तंभ) खड़े किए गए हैं। अमरावती मे ही केवल आयक स्तभ की स्थिति दीख पडती है। इन पाँच आयक स्तभो का क्या प्रयोजन था, यह कहना कठिन है। किंतु, उस परिस्थिति के कारण दर्शक की आँखे स्तूप को स्पष्ट देख नही सकती। इस प्रकार स्तूप के अधिक भाग पर अमरावती के अतिरिक्त भरहुत या साची मे कोई अलंकरण नही मिलता। चबूतरे की निचली सतह के चारों तरफ छह फीट चौडा मार्ग है, जिसे प्रदक्षिणा-पथ कहते है। उपासक स्तूप के समीप आकर उस स्मारक की परिक्रमा कर लेता था।

स्तूप के समीप आने के लिए तोरण बने थे, जिन्हे देखने मे विदित होता है कि तोरण को वेदिका से पृथक् तैयार किया गया था। साची के तोरण तो स्पष्टतया पृथक् स्थिति रखते है। तोरण मे दो स्तंभ होते है, जिनको जोड़ने के लिए बडेरी रहती है, जिसे सस्कृत मे पादांग कहते है। बडेरी एक प्रस्तर का लबा टुकडा है, जो दो स्तंभों के ऊपर रखा जाता है। परतु, स्तंभ के सिरे पर छोटा चौकोर प्रस्तर (False Capital) रख कर बंडेरी (Architrave) तैयार की जाती थी। इसे एक प्रकार दरवाजे का ऊपरी चौखट समझ सकते है। उसी क्रम को दोहराते हैं। इस प्रकार तीन बडेरियाँ (Architra) एक के ऊपर दूसरी तथा तीसरी दीख पडती है। दो बंडेरियों में अतर लाने के लिए प्रस्तर के चौकोर टुकडा यानी मिथ्या स्तंभ-शीर्ष (False Capi'al) रखना अत्यत आवश्यक हो जाता है। भरहुत तथा साची के तोरण तीन बडेरियो सहित निर्मित है। अलंकरण के निमित्त तोरण का कोई भी भाग

(१) स्तभ

(२) अंतराल स्थित चौकोर-प्रस्तर (मिथ्या स्तंभ-शीर्ष) तथा

(३) बडेरियाँ

अछूता नहीं रहा हैं। स्तंभ के लंबे भाग को कलाकारों ने कई चौकोर भाग में विभक्त कर खुदाई का कार्य संपन्न किया है। इस चार भुजा वाले भाग में हीनमान के बौद्ध प्रतीकों (वृक्ष स्तूप या चक्र) की पूजा का दृश्य दिखलाया गया है। सांची के तोरण-स्तभ पर अधिकतर लोकप्रिय पूजा का दृश्य है। बुद्ध प्रतीक के रूप में सभी जीव-जंतुओं, मनुष्यों या देवताओं द्वारा पूजित हो रहे हैं। भरहुत मे स्तभ पर यक्ष-यक्षिणी के रूपचित्र बने हैं। यक्ष विशाल-काय वस्त्राभूषण से सुसज्जित स्तंभ के सहारे खडे दीख पड़ते हैं। सांची-तोरण पर यक्ष की आकृति कम सख्या में मिलती है। इसके अतिरिक्त जातक कथाओं का प्रदर्शन मिलता है। भरहुत के तोरणों पर जो प्रदर्शन हैं, उनका नामोल्लेख ब्राह्मी में किया गया है। स्तंभ पर जो खुदाई है, वह दो प्रकार की है—

(अ) उभरा हुआ (H gh relief)

(ब) सतह से नीचे कटी हुई गहराई (Low relief)

यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ उभरी हुई है तथा साची-तोरण पर चौकोर खुदाई गहराई मे दीख पडती है। छोटे आकार के कारण मिथ्या स्तभ-शीर्ष पर बड़े रूपचित्रों का अभाव है। बुद्ध के प्रतीक या जन्मकथा-संबंधी पुष्प (कमल) या गजलक्ष्मी की आकृतियाँ खोदी गई है। सांची-तोरण में स्तंभ-शीर्ष अधिक सुंदरता के साथ उत्कीर्ण है।

तोरण की बंडेरियो (पादाग) पर विस्तृत रूप से जातक का प्रदर्शन है तथा ऐतिहासिक घटनाएँ भी खोदी गई है। साची के कलाकार कला के सापेक्ष महत्त्व (परिप्रेक्ष्य) को समझते थे और उन्होंने प्रदर्शनो को गतिशील बनाया था। इस कारण विस्तारपूर्वक जातक को उत्कीर्ण किया गया है। जातक के मुख्य अभिनेता की आकृतियाँ कुछ दूरी पर बार-बार प्रदर्शित कर कथानक के प्रवाह को दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। खुदाई मे पात्र को कई बार उपस्थित करना, उसकी गति को दर्शाया जाना, जिससे दर्शक पूरे कथानक को जान सके। उसकी विभिन्न पहलू या स्थिति से अवगत हो सकें। साची-कला की यही विशेषता है। परिदृश्य का ज्ञान, प्रदर्शनों की गतिशीलता तथा कथानक की सजीवता साची के कलाविदों की दक्षता एवं कुशलता का परिचायक है। उदाहरण के लिए षड्दंत जातक। हाथी का पानी से निकलना बाहर चलना तथा थोड़ी दूर पेड के नीचे जाकर खड़ा हो जाना, हाथी के गति (सचलन) का द्योतक है। इसी प्रकार बेसंतर कथानक मे राजा परिवार सहित रथ पर सवार महल के फाटक से निकल रहा है। रथ जाकर जंगल के किनारे ठहरता

है। बेसंत्तर जंगल में चला जाता है। रथ नगर को लौटते दीख पडता है। जगल का दृश्य, राजा से रानी तथा बच्चो का पृथक् होना, तत्पश्चात् देवताओं के संमुख राजा आदि प्रदर्शनो का मुख्य उद्देश्य यही था कि बेसंत्तर जातक का विस्तृत प्रदर्शन हो। इसे बंडेरी के दोनो ओर उत्कीर्ण किया गया है। इसके देखने से राजा की सारी यात्रा का आभास हो जाता है। यद्यपि इस खुदाई में वास्तविक सचलन का अभाव है, किंतु कला की यही विशेषता है कि उसमें भ्रांति होते हुए भी दर्शको को सजीवता का मिथ्या ज्ञान हो जाता है। उस संकेत से उपासक आकर्षित हो जाते है। यदि बुद्ध के भस्म (राख-धातु) निमित्त युद्ध-प्रदर्शन भी प्रसंग बस उल्लिखित किया जाए, तो कथानक मे गतिशीलता का परिज्ञान सरल हो जाता है। युद्ध की सारी तैयारियाँ हो चुकी है। सेना के चारो अग (रथ, हस्ति, घुडसवार तथा पैदल सैनिक) कार्यरत होकर युद्ध में तल्लीन है। ये प्रदर्शन सर्वांगीण रूप मे उस घटना की याद दिलाते है, जो ईसा पूर्व छठी शती विभिन्न राजवशो मे युद्ध की तैयारियों से सबंधित है।

भरहुत तथा साची-तोरण की ऊपरी बडेरी पर वृक्ष तथा स्तूप वैकल्पिक ढग से उत्कीर्ण है। भरहुत मे वेदिका या तोरण-स्तभो पर उत्कीर्ण सात वृक्षो को सात मानुषी बुद्ध का प्रतीक माना गया है और उनका नामोल्लेख भी ब्राह्मी मे किया गया है। उसी आधार पर साची की बंडेरी पर वृक्ष एवं स्तूप (जिनकी सख्या सात है) को मानुषी बुद्ध का प्रतीक माना जाता है (नामोल्लेख का अभाव)। बडेरियो के सिरे पर त्रिरत्न का प्रदर्शन प्रतीकात्मक रूप मे दीख पडता है।

स्तूप की पूजा करने के लिए उपासक तोरण होकर प्रदक्षिणा-पथ पर आ जाते, तभी स्तूप को स्पर्श कर सकते थे। स्तूप का यह भाग (अड) अत्यंत पवित्र स्मारक था, जिसे सर्वदा या सब के द्वारा संपर्क स्थापित करना उस स्मारक को दूषित करना था। अतएव, वैदिक परपरा को ध्यान मे रखकर उस स्मारक को अपवित्र होने से बचाना उचित समझा गया। यही कारण था कि स्तूप से छह फीट की दूरी पर प्रदाक्षिणा-पथ से बाहर बेष्टनी तैयार की गई। उस कार्य का अनुकरण ग्राम मे स्थित पशु के बेडा से दीख पडता है, जिसके घेरे मे पशु रखते हैं तथा बाहरी ससर्ग से बचे रहते हैं। चूँकि कलाकार के समुख दूसरा प्रतिमान न था, अतएव पशु-बेड़ा का प्रतिरूप तैयार किया गया। अतएव, प्रारंभिक अवस्था मे वेष्टनी बाँस या काष्ट की बनी, जिसे कालांतर मे स्थायी रूप देने के लिए प्रस्तर का प्रयोग किया गया। बेड़े का अक्षरशः

अनुकरण दीख पड़ता है। वेष्टनी चार प्रकार के अंशो को मिला कर बनती रही। सभी आकार-प्रकार के समिलित स्वरूप को वेष्टनी या वेदिका कहते हैं —

१. आलंबन—वेष्टनी का पृथ्वी के नीचे का भाग, जो दीख नही पड़ता, किंतु उसी पर अन्य आकार (स्तंभ स्थिर किए जाते थे।

२ वेदिकास्तभ आलवन के छेद मे कुछ दूरी पर खडे किए जाते थे, जो एक समान चबूतरे के चारों तरफ स्थिर किए जाते। ऊँचाई भी बराबर होती तथा चौकोर होते थे।

३. सूची—स्तंभो को परस्पर जोडने के लिए प्रस्तर का ऐसा भाग तैयार किया जाता, जो दोनो तरफ स्तभ के गहरे कटान से जुड़े होते थे। इसी जोडने वाले प्रस्तर-खंड को सूची कहते हैं। सूची को देखने से ज्ञात होता है कि उसे चिकना कर अडाकार बनाया जाता और स्तंभ के बने घर में उसे ठीक बैठा दिया जाता था। दो स्तंभों के मध्य तीन-चार सूचियाँ सबको ग्रंथि रूप मे बाँधे रहती थी।

४. उष्णीस – खडे स्तभो को एक रूप मे बाधने के लिए सभी के सिरे पर एक लबे प्रस्तर को रख दिया जाता, ताकि वेदिका के गिरने का भय न रह जाए। इस लंबे स्तर को उष्णीष (पगडी) कहते है। इस प्रकार वेष्टनी के चारों भाग एक साथ सबद्ध हो जाते और स्थायी वेदिका (बेडा का नया रूप) के रूप मे आज भी विद्यमान हैं।

वेदिका की उपयोगिता निःसदेह पवित्रता की रक्षा करनी थी। अड के समीप आना सबके लिए कठिन न था, पर अपवित्र समार से धातुगर्भ को पृथक् रखना भी बौद्धो के लिए आवश्यक प्रश्न था। अतएव, पशु-बेडा के अक्षरशः अनुकरण पर वेष्टनी तैयार की गई। दूसरी उपयोगिता के सबध मे विस्तृत बातें कही जाएँगी। वेष्टनी अलंकरण के प्रमुख आधार के रूप में काम करती रही। भरहुत, बोधगया एव अमरावती की वेदिकाएँ लावण्यमय, सौदर्यपूर्ण एवं कलात्मक ढंग से खुदी है। सांची की वेदिका सादी यानी अलंकाररहित है। अन्य वेदिकाओ के सदृश इसे अनलंकृत क्यो रखा गया? यह रहस्यपूर्ण प्रश्न है। उसके प्रस्तरों पर दानकर्त्ता का नामोल्लेख है। वह किसी एक व्यक्ति की कृति नही है, तथापि सांची-तोरण के सदृश उसे क्यों उत्कीर्ण नही किया गया? संभव है, एकरूपता लाने के लिए विभिन्न दानकर्त्ताओ ने वेदिका को सादा तथा चिकना बना कर नामोल्लेख से संतोष कर ली। अन्यथा तोरण के सदृश सांची-वेदिका को कलापूर्ण रीति से खोद सकते थे। अस्तु भरहुत, बोध-

गया तथा अमरावती की वेष्टनियो पर ऐसा कोई स्थल नही, जो उत्कीर्ण न हो। भरहुत की वेष्टनी पर जातक प्रदर्शन तथा प्रतीक (वृक्ष, चक्र, स्तूप) पूजा का चित्रण है। जिन लोगों ने उसे दान किया है, उनके नाम ब्राह्मी मे अंकित है। जैसे—(१) **मोरगिरिहं पुषाया दानं थम्बो** (मोर गिरि के पुष्या ने स्तंभ का दान किया)

(२) **वेदिसा अय माया दानं**—विदिसा की आर्या (श्रेष्ठ) माया का दान,

(३) **धम रखितय दानं** सूची (धर्मरक्षित द्वारा सूचीदान),

(४) **सिहस सूची दान या विजितकस सूची दानं** (सिह द्वारा सूची का दान या विजित द्वारा)

(५) **बुद्ध रखितस रूपकारकस दान** (बुद्धरक्षित कलाकार द्वारा दान)।

इस प्रकार भरहुत में ऐसा कोई स्थान नही, जो अनलंकृत हो तथा उसका उल्लेख ब्राह्मी मे न किया गया हो। बोधगया मे प्रदर्शन का या दानकर्त्ता का नाम उल्लिखित नही है, पर वेदिका पर प्रदर्शनो का समीकरण हो सका है। भरहुत की वेदिका के स्तंभ के सहारे यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ खड़ी दीख पड़ती हैं। उस पर अन्य चित्र भी खुदे है। प्रसेनजीत तथा अजातशत्रु के नाम से स्तंभ विख्यात है, जिन पर इन राजाओ द्वारा पूजा का प्रदर्शन है। प्रसेनजीत स्तंभ पर अप्सराओ का नृत्य भी हो रहा है। अमरावती के वेदिका-स्तभ पर भी यक्षिणियो का वासनापूर्ण प्रदर्शन है। उन पर दो प्रकार की खुदाई है। स्तंभ के मध्य मे गोलाकार फलक (Medallion) उत्कीर्ण है, जिन्हे देखने से ज्ञात होता है कि कमलपुष्प से लोगो को बडा प्रेम था। फलक की खुदाई कमलपुष्प के सदृश है। स्तभ के ऊपरी तथा निचले भाग मे वही फलक अर्द्ध-गोलाकार (Half Medallion) है। उनमे आधा कमलपुष्प खिला हुआ दिखलाया गया है। ऐसे फलक भरहुत-वेदिका पर भी है। सूची के बीच में भी वैसा ही गोलाकार फलक बना है, जिसमे अनेक जातक-कथा प्रदर्शित है—जैसे—जेतवन विहार अनाथपीडिक किसी फलक में श्रेष्ठी का सिरोभाग खुदा हुआ है। साची स्तूप नं० २ के फलकों मे विभिन्न जानवरो की आकृतियाँ है। स्तूप न० १ वेदिका ही अनलकृत है। बोधगया के गोलाकार स्तभ फलक (Medallion) मे ब्राह्मण धर्म की बारह राशियों के रूपचित्र उत्कीर्ण हैं।

वेदिकाओं के उष्णीस भी खुदाई के प्रसंग में कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। इस पर अधिकतर लता-पुष्प या फल की वल्लरी के रूपचित्र इस ढंग से खोदे गए है कि पूरे उष्णीस को ढँक लेती है। लताओं में चढ़ाव-उतार है। उस रीति

से जो ऊपर या नीचे रिक्त स्थान बन जाते थे, उनको भी कलाकारों ने खाली नहीं छोडा। यक्षिणी, यक्ष लंबोदर वामन जगल के पशु, या कुटिया का दृश्य खोद कर अंतराल को भी विभूषित किया गया है। लता का प्रवाह देखते बनता है। उष्णीश का लावण्यमय प्रदर्शन अमरावती में दीख पडता है। तात्पर्य यह है कि शुगकाल मे वेदिका को स्थायी रूप देकर प्रस्तर का सदुपयोग किया। साँची की सादी अनलंकृत वेदिका की उतनी उपयोगिता नही है, जितनी अन्य स्थानों की। वेदिकाएँ अलंकरण के प्रधान आधार थी। उन पर खुदाई कर कलाकारो ने वेदिका-स्तंभ, सूची तथा उष्णीस को सौंदर्य ही नही दिया, अपितु उन्हे आकर्षक बनाया। भगवान् बुद्ध के पूर्व जीवन के कथानकों का प्रदर्शन अथवा ऐतिहासिक घटनाओं का उत्कीर्ण उपासको एवं दर्शको के मानसपटल पर स्थायी प्रभाव डालना है। वेदिका की खुदाई एक प्रकार के मूक धर्म-प्रचारक का कार्य करती रही।

●

पंचम अध्याय

स्तूप के अलंकरण

स्तूप से संबंधित अलंकरण के विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि मिट्टी के मूल स्तूप पर किसी प्रकार का अलकरण संभव न था। प्रारंभिक अवस्था मे ऊँचे चबूतरे पर मिट्टी का टीला (स्तूप) बनाया जाता था तथा काठ की वेदिका स्थिर की जाती। ऐसी परिस्थिति मे उस आधार पर खुदाई की बात सोची न जा सकी। शुंगकाल के आरंभ होते (ई० पू० द्वितीय सदी) बौद्धकला मे जागृति आ गई। यद्यपि बौद्ध मत को राजाश्रय न मिल सका, पर भिक्षुओं का प्रभाव सर्वत्र था। समस्त भारत में स्तूप-अलंकरण का विचार उत्पन्न हुआ। उसका कारण काल्पनिक न था। जन साधारण को 'स्तूप-पूजा' की ओर आकृष्ट करने के लिए कोई योजना तैयार करना भी नितान्त आवश्यक था। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सफल प्रयत्न किया गया। सर्वप्रथम स्तूप के अर्द्धगोलाकार (अंड) भाग को प्रस्तर से ढँक दिया गया तथा लकडी की वेष्टनी को स्थायी रूप दिया गया यानी प्रस्तर की वेदिका तैयार की गई। वेदिका पर खुदे लेख से प्रकट होता है कि वेष्टनी के निर्माण मे अनेक लोगों का हाथ था। साची की वेदिका पर विदिसा की श्रेणी या कलाकार के नाम अंकित मिले है, जिन्होंने उसे तैयार करने मे हाथ बँटाया था। तात्पर्य यह है कि अंड के प्रस्तर तथा वेदिका के विभिन्न भागो को खुदाई का स्थान (आधार) चुना गया। प्रस्तर के आकार के अनुसार खुदाई का कार्य संपन्न किया जाता था। उत्तरी भारत मे भरहुत एवं बोधगया की वेदिकाओं को सर्वोत्कृष्ट ढंग से अलंकृत किया गया है। साची की वेदिका अनलंकृत है, किंतु उसके तोरण शुंगकला की सर्वोन्नत दशा को व्यक्त करते है। इनके अलंकरण भारतीय कला का सर्वोत्तम उदाहरण माने गए है। प्रस्तर कला के तीनों अवयव—लंबाई, चौड़ाई तथा गहराई का ऐसा उदाहरण दूसरा नही मिलता। दक्षिण भारत के अमरावती स्तूप की निजी विशेषता है। स्यात्

ऐसा कोई स्थान नही है, जहाँ सुदर खुदाई न दीख पड़े। स्तूप के अंड, वेदिका तथा तोरण सभी भाग अलंकृत है। यह सही है कि सभी कार्य एक साथ संपन्न नहीं हुए, तथापि उनके परीक्षण से एकरूपता प्रकट होती है।

अलंकरण का क्रमिक विकास

स्तूपों पर अलकरण के विचार से भरहुत, बोधगया तत्पश्चात् साची-तोरण की कला क्रमशः विकसित प्रतीत होती है। अमरावती की खुदाई भी सर्वोत्तम समझी गई है। इस क्रम के स्थिर करने का कारण यह है कि भरहुत मे थोडी सीमा में घटनाओ का जमघट(अव्य-वस्था) उत्पन्न कर प्रस्तर खुदे हैं। उदाहरण के लिए जेतवन विहार मे अनाथपीडिक द्वारा पृथ्वी खरीद कर विहार-निर्माण एवं दान का दिग्दर्शन कराया गया है। सीमित क्षेत्र मे बैलगाडियो से कार्षापण उतार कर बिछाया जा रहा है। उसी के एक भाग मे विहार दीख पडता है तथा संलग्न भू-भाग पर विहार को दान करने का दृश्य प्रदर्शित है। छोटे चौकोर स्थान मे इतने कार्यों का प्रदर्शन कला की दृष्टि मे अव्यवस्थित प्रतीत होता है। भरहुत को प्रारभिक प्रदर्शन मानने का दूसरा प्रमुख कारण यह है कि उसके उदाहरणो मे जीवन-शक्ति का अभाव दृष्टिगोचर होता है। कोई प्रतिमा सचालित न होकर अग-प्रत्यग गतिविहीन प्रकट होते है। शरीर की संधियाँ सीमेट से जुड़ी मालूम पडती है। मानव-शरीर की गाँठ मे बल का सचार आवश्यक है। बलहीन जोडे हुए संधि-भाग भरहुत प्रदर्शन की हीनता के द्योतक है। यक्ष, यक्षिणी के अगो मे अनुपात का भी अभाव है। अनुपात की अनुपस्थिति मे कलाकार की अक्षमता का परिज्ञान हो जाता है। भरहुत की कला की हीनभावना प्रस्तर पर खुदे लेखो से भी प्रकट होती है। जितने भी प्रदर्शन भरहुत वेदिका या तोरण पर दीख पडते है, सभी लेखाकित है। उनके सहारे प्रदर्शन को समझने मे सहायता मिलती है। इतिहासज्ञ इस कार्य मे तत्कालीन कलाकार तथा जनता की बुद्धि को मापदड से घट कर समझते है। सभवतः दर्शकों को प्रदर्शित दृश्य के परिज्ञान के निमित्त लेख अंकित किए गए थे। इन सभी कारणो से भरहुत वेदिका शुंगकालीन कला का प्रारभिक स्वरूप उपस्थित करती है। बोधगया मे उससे परिष्कृत कलात्मक नमूने है। उनमे जीवन-शक्ति का सचार, प्रमुख घटना का प्रदर्शन, जमघट की कमी आदि विषयों के अनुशीलन से बोधगया को भरहुत से अधिक उन्नत स्थान दिया गया है। बोधगया के कलाकारो ने उदार हृदय के साथ ब्राह्मण मत-सबधी प्रदर्शनो को भी स्थान दिया था। उदाहरण के लिए—इद्र, सूर्य एव राशियो का काल्पनिक स्वरूप दिखाया गया है।

अलंकरण के विचार से साची-तोरण की कला सर्वोत्तम मानी जाती है। यद्यपि प्रदर्शनो का मूल कथानक सर्वत्र समान ही है यानी एक ही कथा को प्रस्तर खड पर प्रदर्शित किया गया है, तथापि उनके सौष्ठव तथा उनकी कारीगरी मे विभिन्नता है। साची तोरण के कलाकार अत्यत दक्ष एव कुशल कारीगर थे। कला के विभिन्न पहलुओ पर विचार करने से उनके गुण तथा उनकी क्षमता का परिज्ञान हो जाता है। साची-तोरण की कला मे जीवनशक्ति तथा रक्त-संचार दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक कथानक मे प्रवाह है तथा कलाकार ने मुख्यपात्र को स्थान-स्थान पर प्रदर्शित कर उसमे प्रवाह की सूचना दी है। षड्दंत जातक, बेसतर-जातक एवं भस्म (धातु) के लिए युद्ध का प्रदर्शन कलात्मक प्रवाह के ज्वलंत उदाहरण हैं। कला के मानदंड को ध्यान मे रखकर आदर्श तथा वस्तुस्थिति का परि-ज्ञान करना कला के विशेष गुण माने जाते है। साची-तोरण पर लबाई, चौडाई तथा गहराई को प्रस्तर पर सफल रूप मे दर्शाया गया है। इसीलिए साची कला को शुंगकाल की सर्वोत्कृष्ट कला समझते है।

दक्षिण भारत मे नागर्जुनी तथा अमरावती के स्तूप का अलंकरण शुंग-काल मे ही प्रारभ हुआ था। अमरावती कला पर मध्य भारतीय कला की झाँकी मिलती है। इसके अलकरण के विस्तृत क्षेत्र मे अनेक विषयो का समावेश किया गया है। ईसापूर्व २०० मे ईसवी सन् २०० वर्षों तक इसका विस्तार रहा। चुनार प्रस्तर के स्थान पर सगमरमर का प्रयोग किया गया तथा दक्षिण के कलाकारो ने स्तूप या वेदिका का कोई भी भाग अछूता न रखा। प्रत्येक भाग की स्थिति तथा उपयोगिता पर ध्यान रख कर खुदाई की गई है। उपासकों से स्थान की दूरी को ध्यान मे रखकर कलात्मक प्रदर्शन का रूप छोटा या बडा कर दिया गया, ताकि दर्शक पूर्णरूपेण उनका अवलोकन कर सकें। भारतीय वास्तुकला मे अमरावती के स्तूप की अपनी विशेषता है। दक्षिण के सातवाहन शासकों ने प्रोत्साहित कर अमरावती को श्रेष्ठ बनाया। भारतीय स्तूपों की श्रेणी मे इसे उत्कृष्ट स्थान दिया गया। इसके उत्तम उदाहरणों तथा नमूनों का अनुशीलन अगले पृष्ठो मे किया जाएगा।

शुंगकालीन स्तूपो के नाना प्रकार के अलंकरणो का अनुशीलन एवं अशोक-कालीन कला से तुलनात्मक अध्ययन इस परिणाम तक पहुँचाता है कि बोध-गया, भरहुत, सांची तथा अमरावती के आलकारिक प्रदर्शनो मे मौर्यकालीन विचारो का अभावात्मक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। शुंगकालीन प्रदर्शनों मे अशोक की कला का निषेधात्मक रूप है। अशोक के सुसंस्कृत विचारो को शुंग-

काल में समादर न मिल सका। अशोक के धर्मलेखों में घोषणा की गई है कि आमोद-प्रमोद निमित्त 'समाज' आयोजित न किया जाए, किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् सांसारिक विषयों को लेकर वेदिकाओं पर प्रदर्शन किया गया। नृत्य का दृश्य, वाद्य का प्रदर्शन तथा युद्ध की प्रक्रिया को तोरण की बंडेरियों पर दिखलाया गया, जिसका अशोक ने विरोध किया था। अतएव, संक्षेप में यह कहना यथार्थ है कि स्तूप की वेदिकाओं तथा तोरण पर मौर्ययुगी भावना का प्रतिकूल प्रदर्शन है। अमरावती की यक्षिणी विषयवासनाओं का भावात्मक प्रदर्शन मात्र है। शुंग कला का मुख्य उद्देश्य मध्यदेशीय लोगों के सामूहिक विचारों तथा सामाजिक भावनाओं को व्यक्त करना था। यह कला लोगों के मानसिक संकल्प से घनिष्ठ संबंध रखती है तथा जनसमुदाय की परंपरा की अभिव्यक्ति करती है। इसीलिए यह कहना युक्तिसंगत होगा कि स्तूप तथा वेदिकाओं का अलंकरण कलाकार की निपुणता एवं दक्षता का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इस विषय की चर्चा हो चुकी है कि मौर्ययुग में चबूतरे पर मिट्टी के अर्द्ध-गोलाकार स्तूप बनाए गए, जिनको कालांतर में स्थायी रूप दिया गया। यानी मिट्टी के भाग को ईंट तथा प्रस्तर से आच्छादित किया गया। काष्ठ की वेदिका को प्रस्तर के माध्यम से वैसा ही रूप दिया गया। बौद्ध भिक्षुओं के समुख इस आकार-प्रकार को सुंदर बनाने का प्रश्न था, इस कारण खुदाई का कार्य आरंभ किया गया। वेदिका स्तूप की वाह्य सीमा में स्थित थी; अतएव उन पर ऐसी खुदाई नितांत आवश्यक थी, जो आकर्षक हो तथा उपासकों या दर्शकों को स्तूप-पूजा (बौद्धमत) की ओर आकृष्ट कर सके। मनोहारी एवं सुंदर खुदाई के निमित्त बौद्ध धर्म-संबंधी विषयों का चुनना भी सर्वोपरि समस्या थी। यह सर्वविदित है कि ईसवी पूर्व सदियों में हीनयान मत का प्रचार तथा प्रसार था, जिसे अशोक के धर्मदूतों ने विदेशों में फैलाया था। हीनयान मत में बुद्ध महापुरुष चक्रवर्ती के रूप में समादर पाते रहे। तात्पर्य यह है कि उनमें देवत्व के अभाव होने से प्रतीक-पूजा की प्रधानता थी। शुंगकालीन कला प्रतीकात्मक है। भगवान बुद्ध के जीवन से संबद्ध प्रतीक (Symbols) पूजित होने लगे। बुद्ध के प्रमुख चार प्रतीक जीवन-घटना के द्योतक थे—

हीनयान-संबंधी आलंकारिक प्रदर्शन

(१) हस्ति-जन्म का

(२) वृक्ष-ज्ञान का
(३) चक्र धर्मपरिवर्तन (उपदेश), का और
(४) स्तूप महापरिनिर्वाण का

अशोक ने स्तूप का निर्माण कर पूजा-प्रक्रिया आरंभ की। इसके दार्शनिक विश्लेषण की जानकारी हो जाने पर स्तूप-निर्माण की वास्तविकता समझ मे आ जाती है। अशोक को धर्मलेख खुदवाने के साथ समतल भूमि पर स्तूप निर्माण सरल ज्ञात हुआ। उस समय तक स्तंभ के अतिरिक्त अन्य वास्तुकला मे प्रस्तर का समावेश न हो सका था, जिसे शुंगकाल मे संपन्न किया गया। वैदिक परंपरा तथा भगवान बुद्ध के आदेशानुसार (आनंद को आदेश दिया था) स्तूप का निर्माण हुआ और वेदिका को स्थायी रूप दिया। उन्हे आकर्षक बनाने के लिए ही खुदाई शुरू की गई। तत्कालीन धार्मिक विचारधारा (हीनयान) से संबंधित चित्र खोदे गए। इसी विचार ने सभी कलाकारों (भिक्षु कलाकार) को प्रभावित किया। यदि भरहुत, बोधगया तथा अमरावती की वेदिकाओ एवं साची-तोरण पर खुदे उदाहरणो का विश्लेषण किया जाए, तो पता चलता है कि हीनयान-संबंधी प्रदर्शनो की बहुलता है। ईसवी पूर्व दूसरी सदी तक जातक ग्रंथो का संकलन हो चुका था, जिनमें भगवान बुद्ध के ५५० पूर्वजन्म की कथाओं का वर्णन किया गया है। कलाकारों के धार्मिक साहित्य भी मार्ग प्रदर्शन करते है या उन्हे प्रेरणा देते है। यही कारण था कि भिक्षु कलाविदो ने वेष्टनी तथा तोरण पर जातक प्रदर्शन (पूर्वजन्म की कथाओ का) भी किया था। सभी वेष्टनियो पर कुछ समान रूप से प्रदर्शन है या एक ही जातक सर्वत्र प्रदर्शित है। किंतु, कलात्मक श्रेणी तथा मानदंड मे भिन्नता है, जो स्वाभाविक भी है। स्थान तथा व्यक्ति की कुशलता का प्रभाव पड़ना अस्वाभाविक नही है। अतएव, शुंगकालीन वेदिकाओ पर खुदे तथा तोरण पर प्रदर्शित दृश्यो का परीक्षण निम्न परिणाम पर पहुँचाता है—

(अ) हीनयान-संबंधी बुद्ध के प्रतीक,
(ब) जीवन-संबंधी अन्य घटनाएँ,
(स) जातक प्रदर्शन,
(द) ऐतिहासिक दृश्य,
(य) वेदिकाओं का अधार्मिक अलंकरण,
(र) सामाजिक विषयों का प्रदर्शन,

(ज) यक्ष, नाग आदि को स्थान तथा

(व) ब्राह्मण धर्म से संबंधित चित्र।

भगवान् बुद्ध के मूर्ति-निर्माण से पूर्व हीनयान के कलाकारों ने जीवन की चार प्रमुख घटनाओं को नाना प्रकार से प्रदर्शित किया है। जन्म का प्रमुख प्रतीक हाथी माना गया है, जिसका संबंध एक कथानक से जोड़ा जाता है। एक कथानक है कि बोधिसत्व के रूप में भगवान् तुषित स्वर्ग में बैठे मनोविनोद कर रहे थे। उसी समय उनसे प्रार्थना की गई कि संसार में अतीव कष्ट है, दुःख है। उनसे बचने का कोई मार्ग निकालिए।

बुद्ध के चार प्रधान प्रतीक

मनुष्यों की बात सुनकर तुषित स्वर्ग में देव ने भविष्यवाणी की कि वह संसार को विमुक्त करने वाले हाथी के रूप में कपिलवस्तु की रानी माया देवी के गर्भ में प्रवेश कर विश्व में अवतरित होगा। यह वाणी राम एवं कृष्ण के जन्म की याद दिलाती है। भविष्यवाणी हुई थी कि भगवान् दशरथ की महारानी कौशल्या के गर्भ में आवेंगे। उसी के अनुसार राम का अवतार हुआ—

भय प्रकट कृपाला दीन दयाला
कौशल्या हितकारी। (तुलसी)

कृष्ण के संबंध में भी ऐसी ही भविष्यवाणी देवी ने की थी। जेल में कृष्ण का अवतार हुआ। वसुदेव-देवकी बंधन से मुक्त हो गए। जेल के सारे फाटक स्वयं खुल गए। संतरी सो गए। कृष्ण को लेकर वसुदेव वृंदावन चले गए। संभव है, इसी ब्राह्मण मत के प्राचीन विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध लोगों ने बुद्ध के संबंध में उसी तरह की बातें उल्लिखित कीं। अस्तु! महान् पुरुषों का जन्म जीव-विज्ञान-संबंधी कार्यों (Biological birth) से पृथक् माना गया है। उनका संसार में विशेष कार्य के लिए अवतरण होता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्,
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।
(गीता ४।७-८)

उसी परंपरा में गौतम का जन्म भी माना गया है। बोधिसत्व के कथनानुसार सफेद हस्ति के स्वरूप में गौतम ने अवतार लिया। इस घटना का प्रदर्शन वेदिकाओं तथा तोरण (साँची) पर भी दीख पड़ता है। भरहुत तथा

बोधगया की वेदिका पर मायादेवी सोयी हुई प्रदर्शित है तथा एक हाथी का आकार शय्या के ऊपरी भाग मे खुदा है। अमरावती मे इसको एक ही प्रस्तर की तीन विभिन्न सीमा में खोदा गया है। पहले दृश्य में बोधिसत्व तुषित स्वर्ग में बैठा है। नृत्य-गान हो रहा है। दूसरे दृश्य मे एक रथ पर हाथी बैठा है। यानी वह स्वर्ग से ससार की ओर जा रहा है। तीसरे दृश्य मे माया देवी सोयी हैं। इस प्रकार अमरावती की वेष्टनी पर पूरे कथानक का प्रदर्शन है। अन्य स्थानों पर केवल 'माया देवी का सपना' कहने कर उस घटना (जन्म) का परिज्ञान करते है।

साची-तोरण पर बुद्ध-जन्म का प्रदर्शन कुछ विशेष प्रतीक द्वारा भी किया गया है (Nativity Scenes) तोरण के कल्पित शीर्ष (False Capital) पर कमल पर आसीन देवी की आकृति खुदी है। इस देवी को मायादेवी कहते है। दूसरा दृश्य इसी प्रकार स्थानक दशा मे कमल पर खडी देवी का है। तीसरे दृश्य मे जन्म का प्रदर्शन 'गजलक्ष्मी' मे करते है, जिसमें दो हथिनियाँ कमल पर खडी देवी पर घडों से पानी डाल रही है। माया देवी के सपना सहित इन तीनों प्रदर्शनो को जन्म से संबंधित करते है।

दूसरी प्रधान घटना गौतम की बुद्धत्व-प्राप्ति मे है। इसके पूर्व के दो कथानक इसमे सबद्ध किए जा सकते है। गौतम ने तपस्या के लिए कपिलवस्तु के बाहर जाना सोचा। उस घटना को महाभिनिष्क्रमण कहते है। 'ललितविस्तर' मे वर्णन आया है कि घोडे (कनथक नामक) की पीठ पर सवार होकर गौतम ने नगर से बाहर जाकर अपने परिचायक छदक को घोडा वापस ले जाने की आज्ञा दी। इसलिए कपिलवस्तु छोडने (महाभिनिष्क्रमण) की घटना केवल घोड़े से व्यक्त की जाती है हीनयान मत मे घोडे की आकृति उस घटना का द्योतक है। साची के पश्चिमी तोरण की मध्य बडेरी पर महाभिनिष्क्रमण कला-त्मक ढग से दिखलाया गया है। नगर (कपिलवस्तु) के दरवाजे से घोडा बाहर जा रहा है। बीच के भाग मे वृक्ष की आकृति खुदी है, जो बुद्ध का द्योतक है। यानी गौतम तपस्या मे लग गए। उस दृश्य के ऊपरी भाग मे दो घोडों का चित्र है। सिरे पर छत्र है, जिससे पता चलता है कि घोडा जंगल से कपिलवस्तु को वापस जा रहा है। अमरावती मे भी घोडे के सिर पर छत्र है, जिसे एक व्यक्ति पकडे है। महायान मे घोडे की पीठ पर गौतम बुद्ध को प्रदर्शित किया गया है। महाभिनिष्क्रमण के प्रदर्शन मे भरहुत के कलाकार ने देवत्व की भावना से घोडे के पैर को पृथ्वी पर स्थित न दिखाकर मनुष्यों की हथेली पर दिख-

लाया है। । गौतम की तपस्या के क्रम में बुद्धत्व से पूर्व ही सांची के तोरण पर 'मार-विजय' का दृश्य खुदा है। ऐसा मार्मिक तथा जीवंत दृश्य अन्यत्र कहीं नहीं प्रदर्शित है। तोरण की बंड़ेरी पर वृक्ष को बुद्धत्व का प्रतीक मान कर मार (विषय-वासना) की राक्षसी सेना प्रस्तर तथा वृक्ष की शाखाएँ फेंक कर (बुद्ध

की) तपस्या मे विघ्न उपस्थित कर रहे हैं। नर्तकी नाच रही है, ताकि गौतम की तपस्या भग्न हो जाए। वे ससार की ओर प्रवृत्त हो जाएँ, निवृत्ति-मार्ग से भ्रष्ट हो जाएँ। मार की सेना एक दिशा से आक्रमण कर रही है और विपरीत दिशा मे वही सैनिक भागते दीख पड रहे हैं। कितने मार सैनिक हाथो या घोड़े के पैर-तले कुचल गए हैं। इससे यह विदित होता है कि बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली। तपस्या सफलीभूत हो गई। ज्ञान मिलने के कारण विषय-वासनाओ की (मार) समाप्ति हो गई। मार-सेनानी तपस्वी के संमुख ठहर न सके। गौतम परम ज्ञान की प्रभा के कारण प्रज्ज्वलित हो उठा। अज्ञान का विनाश बुद्धत्व का द्योतक है। इसी के साथ सुजाता का दृश्य भी साची-तोरण पर खुदा है। निरंजना के किनारे गौतम वृक्ष के नीचे बैठे थे। सुजाता ने उन्हें वृक्षदेवता समझ, सोने के पात्र मे खीर लाकर सामने रखा। गौतम ने उसे ग्रहण किया। तत्पश्चात् नदी पार आकर पीपल-वृक्ष के नीचे बैठा गौतम सिद्धार्थ तपस्या करने लगे। वहीं बुद्धत्व प्राप्त किया, मार का विनाश किया। ज्ञान-प्राप्ति के कारण सिद्धार्थ गौतम का नाम बुद्ध पडा। उस वृक्ष को बोधिवृक्ष के नाम से पुकारते है। भरहुत की वेदिका पर कई वृक्षों की आकृतियाँ खुदी हैं, परंतु पीपल-वृक्ष (बोधि वृक्ष) के नीचे 'भगवतो शक मुनिनो बोधो' लेख खुदा है। यानी शक मुनि (बुद्ध) को ज्ञान मिला। महायान मत मे भी (जहाँ प्रतीक के लिए स्थान न रहा) बुद्ध को तपस्या करते समय बोधिवृक्ष की शाखाएँ सिरे पर दीख पडती है तथा भगवान् भूमिस्पर्श मुद्रा में बैठे हैं। अमरावती मे भी वृक्ष-पूजा का अतीव सुंदर प्रदर्शन दीख पडता है। ससार के सभी जीव जंतु उसकी पूजा करते है। भरहुत मे नागराज तथा नागरानी वृक्ष के नीचे बैठे प्रणाम करते दिखलाए गए है। इस कारण वृक्ष ज्ञान का प्रतीक माना गया है। वेदिकाओ तथा तोरण पर सर्वत्र वृक्ष की पूजा दिखलायी गई है। विश्व के पशु, पक्षी, मनुष्य एव देवता वृक्ष की पूजा करते प्रदर्शित है।

तीसरा दृश्य प्रथम उपदेश का है, जिसे 'धर्मचक्र' कहते है। धर्मचक्र की पूजा संपूर्ण भारत के स्तूप की वेष्टनियों तथा तोरणो पर एक-सी दिखलायी गई है। इसी धर्मचक्र को अशोक ने सारनाथ स्तभ के शीर्ष स्थान पर

स्थित करवाया था। यानी धर्म प्रमुख है, जिसके अंतर्गत सभी धार्मिक बातें समाहित हो जाती है। सारनाथ स्तंभ की चौकी पर भी चक्र की आकृतियाँ खुदी है। बौद्ध धर्मानुयायियो ने इस प्रतीक को सदा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। धर्मचक्र सारनाथ के प्रथम उपदेश (धर्मचक्र-परिवर्त्तन) का द्योतक है। हीनयान के अतिरिक्त महायान मत मे इसे त्याग नही दिया गया, किंतु बुद्ध-प्रतिमा के साथ चक्र का सयोग दिखाया गया है। सारनाथ की प्रसिद्ध बुद्ध-प्रतिमा (जिसमे भगवान् धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा मे है) के निचले भाग मे चक्र को स्थान दिया गया है तथा दोनो ओर दो मृगो (जो मृगदाव के द्योतक है) की आकृतियाँ खुदी है। कालातर मे मगध शैली की बुद्ध-प्रतिमा मे भी चक्र को स्थान मिला। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र के ऊपरी भाग मे धर्मचक्र अकित है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मचक्र की प्रमुखता अशोककाल से बारहवी सदी तक बनी रही। बुद्धमूर्त्ति की धर्मचक्र-मुद्रा मे कलाकार सदा चक्र दिखलाते रहे। महायान मत मे बुद्ध के जन्म के प्रतीक हाथी को सदा के लिए त्याग दिया गया, परन्तु वृक्ष (ज्ञान) तथा चक्र (प्रथम उपदेश) को सदा कला मे स्थान मिल पाया। हीनयान के चार प्रधान प्रतीको (हस्ति, वृक्ष, चक्र एव स्तूप) मे स्तूप को अंतिम स्थान दिया जाता है, जो बुद्ध के महापरिनिर्वाण का द्योतक है। यो तो स्तूप-पूजा का आरभ अशोक ने किया था, जो समतल भूमि पर बने थे। किंतु, शुगकाल मे गुहा मे पर्वत काट कर अथवा वेष्टनियो तथा बडेरियो पर स्तूप को स्थान दिया गया। यद्यपि प्रधान स्तूप के चारो तरफ वेदिका या तोरण स्थित है, तथापि हीनयान के कलाकार इस प्रतीक स्तूप को छोटे आकार मे यत्रतत्र खोदते रहे। सर्वत्र स्तूप की पूजा विश्वव्यापिनी रूप मे प्रदर्शित है। पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता आदि स्तूप की पूजा करते दृष्टिगोचर होते है। भरहुत, बोधगया की वेदिकाओ तथा साची के तोरण पर स्थान-स्थान पर स्तूप-पूजा का प्रदर्शन है। अमरावती-वेदिका के उष्णीस पर लता के उतार-चढाव के मोड पर रिक्त स्थानो पर स्तूप के आकार बने है। वे अलकरण का भी काम करते है।

चार गौड चमत्कारो का प्रदर्शन

हीनयान युग मे जिन चार प्रतीको को प्रमुखता दी गई थी, वे चार तीर्थस्थानो (लुंबिनी जन्म), बोधगया (ज्ञान), सारनाथ (प्रथम उपदेश) तथा कसिया (महापरि-निर्वाण) मे सबद्ध किए जाते है। भगवान के चार अन्य चमत्कारो का प्रदर्शन दूसरे चार स्थानो पर हुआ था, जिन्हे गौड रूप देते है—

(१) राजगृह मे नालाहस्तिदमन,

(२) श्रावस्ती मे जेतवन विहार,

(३) वैशाली में महाप्रदर्शन और

(४) सकिसा मे तुषित स्वर्ग से अवतरण।

इन सब का प्रदर्शन सर्वत्र नही पाया जाता। राजगृह मे देवदत्त ने मंघ की महंथी लेने की इच्छा प्रकट की, परन्तु बुद्ध ने इन्कार कर दिया। इस कारण द्वेष के कारण एक दिन बुद्ध के ऊपर भारी चट्टान फेंकी। तत्पश्चात् उन्हे मारने के लिए एक मतवाले हाथी (नालागिरि) को सामने छुडवा दिया। नालागिरि चिग्घाड करता हुआ बुद्ध के सामने दौड़ा, किंतु भगवान् के संमुख स्थिरचित्त हो चुपचाप खडा हो गया। बुद्ध ने उसके मूढ को स्पर्श किया। हाथी ने उनके चरण-रज को सूढ मे उठा लिया। इसका प्रदर्शन बोधगया की वेष्टनी पर किया गया है। इसे अमरावती मे अत्यंत सुदर रीति मे दिखाया है। दूसरा प्रदर्शन 'जेतवन बिहार' का है, जिसे बोधगया तथा भरहुत-वेदिकाओ पर प्रदर्शित किया गया है। श्रावस्ती (जिला गोडा, उत्तर प्रदेश) का सेठ श्रेष्ठी अनाथपीडिक ने राजगृह मे आकर सघ को निमन्त्रित किया कि भगवान् का वर्षावास श्रावस्ती मे हो। वह स्थान ब्राह्मण मत का दुर्ग समझा जाता था। अत, धर्म के प्रचार निमित्त बुद्ध ने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया और आदेशानुसार आराम (कुटिया) बनाने की तैयारी होने लगी। उस दृश्य मे बैलगाडी से कार्षापण जमीन पर बिछाए दीख पडते है। जेत नामक राजकुमार ने श्रेष्ठी से उतना द्रव्य मूल्य मे माँगा, जितना उस भू-भाग पर फैलाया जा सके। सिक्का फैलाकर कुटिया बनायी गई तथा उसे श्रेष्ठी ने दान कर दिया। यही दृश्य 'जेतवन विहार' के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान ने वहाँ कई वर्षावास व्यतीत किए तथा बुद्ध धर्म का प्रचार किया। उस ब्राह्मण धर्म के गढ को नष्ट करना एव धर्म का प्रसार चमत्कार समझा गया है। श्रावस्ती की खुदाई से स्तूप तथा विहार (आराम) प्रकाश मे आए हैं। कुटिया को ही बुद्ध का प्रतीक समझते है। तीसरा चमत्कार 'महाप्रदर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। एक ही क्षण सहस्रो बुद्ध का प्रकटीकरण विलक्षण कार्य था। वैशाली में वृज्जि लोगो के आग्रह पर भगवान् ने यह चमत्कार दिखाया। बोधगया की वेदिका पर महाप्रदर्शन प्रदर्शित है। महायान मत मे इसको दीवाल पर हजारो बुद्ध-प्रतिमा (छोटे आकार के) द्वारा दिखलाया गया है। सारनाथ, इलोरा मे प्रतिमा द्वारा तथा अजता मे

चित्रों द्वारा इस चमत्कार को दर्शाया गया है। चौथा अदभुत कार्य अवतरण से व्यक्त किया गया है। उत्तरप्रदेश के फरुखाबाद जिले में संकिसा नामक स्थान से यह घटना संबंधित है। कहा जाता है कि भगवान् अपनी माता माया देवी (बुद्धजन्म के समय जिनकी मृत्यु हो गई थी)। को तुषित नामक स्वर्ग मे धर्म की शिक्षा देने गए थे। वहाँ से वे संकिसा में अवतरित हुए। इस चमत्कार को भरहुत-वेदिका तथा साची-तोरण पर खोदा गया है। भरहुत-वेदिका पर सीढ़ी बनायी गई है, जिसके ऊपरी भाग तथा सबसे निचले भाग पर पदचिन्ह (बुद्धपाद) खुदा है। ऊपरी पदचिन्ह उनके स्वर्ग मे रहने की घटना का द्योतक है तथा निचला बुद्ध के स्वर्ग से अवतरण को व्यक्त करता है। साची तोरण पर इसे दूसरे रूप मे दिखलाया गया है। वृक्ष ज्ञान का प्रतीक था। अतएव, शिक्षा उपदेश के समय वृक्ष का आकार कला मे प्रदर्शित किया गया है। इस कारण सांची-तोरण पर सीढ़ी के ऊपर तथा नीचे वृक्ष खुदा है। ऊपर देवतागण तथा नीचे मनुष्य की आकृतियाँ बनी है। यानी ऊपरी वृक्ष स्वर्ग मे उपदेश (माया देवी को) का द्योतक है तथा निचला अवतरण को बतलाता हैं। इस प्रकार चार गौड चमत्कार प्रदर्शित है।

अन्य प्रतीक

इनके अतिरिक्त भगवान् के (१) वज्रासन, (२) बुद्ध पद-चिन्ह, (३) चक्रम पथ और (४) चूडा की पूजा का प्रदर्शन भी वेदिकाओ पर दीख पड़ता है। बोधगया मे पीपल-वृक्ष के नीचे गौतम को ज्ञान हुआ था। वह जिस प्रस्तर के आसन पर बैठ कर तपस्या करते रहे, उसे 'वज्रासन' का नाम दिया गया है। आज भी बोधगया मे बोधिवृक्ष के नीचे वज्रासन का स्थान पूजित होता है। वेदिकाओ या तोरण पर एक फीट लंबी, दो इंच चौडा प्रस्तर (बिना खुदाई के) दीख पडता है। उसे ही वज्रासन कहते है। बुद्ध के पद-चिन्ह भरहुत-वेदिका पर प्रदर्शित है, जिसमे संकिसा मे अवतरण का दृश्य प्रदर्शित है। अमरावती के गोलाकार फलक पर सुंदर पद-चिन्ह खुदे है। मध्य भाग मे चक्र तथा त्रिरत्न की आकृतियाँ खुदी है। पद-चिन्ह में चक्र महापुरुष का लक्षण माना गया है। अतएव, वह बुद्ध का प्रतीक है। दोनों ओर देवतागण प्रणाम करते दीख पडते है।

तीसरा प्रतीक 'चंक्रम पथ' कहा जाता है। साची-तोरण पर जल के मध्य दो फीट लंबा अनलंकृत प्रस्तर दृष्टिगोचर होता है। उसे चंक्रमपथ कहते है। इसका संबंध बोधगया से है। बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् बुद्ध यह सोचने

लगे कि उपदेश किसे दिया जाए। इस विचार मे कई दिन व्यतीत हो गए। वह जिस स्थान पर टहला करते और विचार में मग्न रहते, उसे (चंक्रम पथ) बोधिवृक्ष के समीप ही स्थिर किया गया है।

अमरावती में बुद्ध के चूड़ा की पूजा का अतीव सुंदर प्रदर्शन मिलता है। वेदिका के गोलाकार फलक (Medallion) पर यह दृश्य खुदा है। देवतागण बुद्ध के चूड़े को पात्र मे रख कर ला रहे है। भरहुत की वेदिका पर भी चूड़ा-(पात्र में स्थित) पूजा का प्रदर्शन है। वर्णन आता है कि सिद्धार्थ गौतम ने तपस्या आरभ करते समय बाल को काट दिया।वही छोटे बाल उष्णीस कहलाते है। हीनयान मत मे उसी चूडे को प्रतीक मान कर स्वर्ग मे पूजित करते देवतागण प्रदर्शित है।

भरहुत मे इसे बडे ही विस्तृत ढग से दिखलाया गया है। बुद्ध के चूडे को देवताओ ने उठा लिया, पृथ्वी पर गिरने नही दिया। स्वर्ग मे ले जाकर उसे सुदर भवन मे रखा, जिसे 'चैत चूडामणि' कहा गया है। महल मे चूडा-पात्र रखा है। देवतागण खडे हैं। नीचे लेख अंकित है—"सुदामा देव सभा भगवतो चूड़ा महो"। ऐसा प्रदर्शन अन्यत्र नही है।

बौद्ध साहित्य मे जातक नामक कथा-साहित्य की भी प्रमुखता है। इसमे बुद्ध के पूर्व जन्म के पांच सौ पचास कथाओं का सग्रह है। यह शब्द जात (जन्म लेना) तथा कथा से अपनी सार्थकता व्यक्त करता है। हीनयान मे भगवान् बुद्ध के जीवन-संबधी विषयो का प्रदर्शन प्रतीकात्मक रूप मे मिलता है, जिनका विवरण दिया जा चुका है। उसके अतिरिक्त वेष्टनियों तथा तोरणो पर जातक (जन्मकथा) का भी प्रदर्शन है। शुगकालीन स्तूप की वेदिकाओं (साची को छोड़ कर) पर इनका प्रदर्शन उपासको को पूजा-निमित्त आकर्षित करता है। उस महान् व्यक्ति के चमत्कार तथा लीलाओ (जन्मकथा) को प्रस्तरो पर खुदा देख उपासको एव दर्शको के दिल मे अपने-आप समादर की भावना आ जाती है। उनके ऊंचे चरित्र की घटनाओ को देखने से आकर्षित होना भी स्वाभाविक है। जनता को श्रद्धा एव सम्मान की भावना से ओतप्रोत करना इन प्रदर्शनों का लक्ष्य था। हीनयानी कलाकार अपने कार्य मे सफलीभूत भी हुए। उनकी कृतियाँ आज भी सभी को आनदविभोर कर देती हैं। यही वेदिकाओं तथा तोरणों के प्रदर्शनों का उद्देश्य था।

जातक-प्रदर्शन

कथा-साहित्य को तीन भागों मे विभक्त किया गया है—

(१) **दूरे निदान**—बुद्ध की दूरवर्त्ती घटनाओं (कथाओं)का प्रदर्शन—उदाहरण के लिए सुमेध तपस्वी, दीपकर, वेसंतर तथा स्वर्ग से अवतरण आदि।

(२) **अवदूरे निदान**—वे कथाएँ, जो भगवान् की बुद्धत्वप्राप्ति तक की बातो से सबधित हैं।

(३) **संतीके निदान**—वे कथाएँ, जो मार विजय के पश्चात् कही गई। जातक से उन घटनाओं का सबध है, जो कल्पित (Legendry) ढंग से कही गई है। अतएव, निदान तथा जातक प्रदर्शन मिला कर बुद्ध की सारी घटनाओं को उपासकों के समुख उपस्थित करते है।

बोधगया मे अधिक कथानकों का प्रदर्शन नही मिलता, जितना भरहुत-वेदिका पर दृष्टिगत होता है। साची-तोरण के बडेरियो पर भी कुछ जातक प्रदर्शित है। जातकों मे निम्नलिखित समान रूप से भरहुत तथा सांची-तोरण पर दीख पडते है।

(अ) **वेसंतर जातक**—वेसतर नामक जातक भरहुत-वेदिका पर सूक्ष्म रूप मे प्रदर्शित है। विश्वतर नामक राजकुमार हाथी का दान कर रहा है। साची-तोरण पर यह अत्यत विस्तृत रूप में दिखलाया गया है। यह कथानक दानी हरिश्चद्र की जीवन-घटनाओं से मिलता-जुलता है। विश्वतर दान के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया। उसे जगलों मे जाना पडा। पुत्रो तथा पत्नी को भी दान कर दिया। अत मे इद्र आकर उसे आशीर्वाद देते है, दान की प्रशसा करते है तथा उसे राज्य वापस मिल जाता है। पुनः वह शासन का अधिकारी बन जाता है। सत्य हरिश्चद्र की कहानी से इसमे (विश्वतर जातक) अधिक समानता है।

कलाकार ने वेसतर जातक के कथानक को सजीव बनाने का अथक परिश्रम किया है। कथा की प्रगति का राजकुमार विश्वतर की आकृतियो से आंका जा सकता है, जिसे स्थान-स्थान पर दिखलाया गया है। इसमे कथानक को चलायमान प्रदर्शित कर घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। एक स्थान पर राजा को न दिखा कर विभिन्न स्थानो पर खुदी आकृतियाँ यह प्रभावित करती है कि कथानक की प्रगति के साथ राजा भी गतिमान है। यह सजीवता का द्योतक है। साची के कला की यही विशेषता है कि कोई भी कथानक अचल या स्थिर नही है। सभी मे स्पदन है तथा प्रधान पात्र चलाय-

मान दीख पड़ता है। पश्चिमी तोरण की बंडेरियों पर यह कथानक प्रदर्शित है। इसमें राज कुमार रथ पर महल के फाटक से निकलना दिखलाया गया है। कुछ दूरी तक रथ जाता है, किंतु जंगल के समीप से लौट आता है। दृश्य के ऊपरी भाग में रथ के घोड़े पहले से विपरीत दिशा में (यानी महल की ओर) चल रहे हैं। बंडेरी की दूसरी ओर जंगल का दृश्य है। राजा से बालक तथा पत्नी पृथक हो गए हैं। पुनः राजा के समीप देवता खड़े हैं।

(२) महाकपि जातक का प्रदर्शन भरहुत के गोलाकार फलक तथा साँची के पश्चिमी तोरण पर किया गया है। जातकों में काशी के राजा ब्रह्मदत्त के नाम से अनेक कथानक मिलते हैं। महाकपि जातक भी ब्रह्मदत्त से ही सबद्ध है। काशीनरेश के समुख एक मल्लाह ने अत्यन्त सुंदर फल भेंटस्वरूप उपस्थित किया। रानी उस मीठे फल को चखकर स्तभित हो गई और सोचा कि ऐसे फल खाने वाले जीव का मांसल हृदय कितना मीठा होगा! अतएव, ब्रह्मदत्त से कह उसने ऐसे फल खाने वाले जीव का हृदय लाने की आज्ञा दी। सैनिक नदी के सहारे उस स्थान पर पहुंचे, जहाँ वैसे फलों को बंदर खा रहे थे। उन बंदरों को पकड़ने की योजना का आभास बोधिसत्व को मिल गया। अतएव, बंदरों को नदी पार जाने के लिए तथा सैनिकों के चंगुल से रक्षा निमित्त बोधिसत्व ने विशाल शरीर धारण किया। हाथ नदी के किनारे पेड़ पर तथा पैर दूसरे किनारे के वृक्ष पर स्थित कर नदी पर पुल-सा शरीर फैला दिया। अतः, बंदरों को मारना असंभव हो गया। इसी कथानक को दोनों स्थानों पर दिखाया गया है। भरहुत का प्रदर्शन सूक्ष्म है। कपि (महाकपि) के शरीर का पुल बन चुका है। बंदर उस पार जा रहे है। नीचे दो आदमी चादर फैलाए हैं, ताकि गिरते फल को एकत्रित कर सकें। फलक के निचले भाग में बोधिसत्व सैनिक सरदार को अहिंसा की शिक्षा दे रहे हैं। कनिंघम इस प्रदर्शन का सही समीकरण न कर सके। साँची-तोरण पर इस 'महाकपि' को सुंदर रूप में दर्शाया गया है। इस जातक का प्रदर्शन उसी स्थान से आरंभ होता है, जहाँ बंदर फल खा रहे हैं। पूर्वपीठिका के साथ महाकपि जातक को व्यक्त किया जाता है। साँची में फल को एकत्रित करने के लिए चादर फैलाया दीख नहीं पड़ता। कलाकार ने उसको प्रमुखता न दी। कपि के पुल रूपी शरीर को साँची में अधिक महत्व दिया गया है और अनेक बंदर दोनों किनारों पर गतिशील हैं। बनावट की सार्थकता उसकी खुदाई से व्यक्त हो जाती है। प्रायः जातक कथाओं का अंत अहिंसा की शिक्षा से ही किया गया है। यों तो समाज की बातों का भी दिग्दर्शन है, किंतु ऐसी परिस्थिति में महाकपि

(बोधिसत्व) ने अहिंसा की शिक्षा देकर कार्य को संपन्न किया, ऐसी धारणा कथानक के अध्ययन से हो जाती है।

(३) सांची के तोरणों पर गतिशील प्रदर्शनों में षड्दंत जातक की भी गणना होती है। षड्दंत कथानक का उल्लेख चीनी तथा सिहाली साहित्य मे मिलता है। उन कथानको मे कुछ अंतर अवश्य है, किंतु मूलरूप मे भेद नहीं है भरहुत की वेदिका पर इसे अत्यत सूक्ष्म रूप से दिखलाया है, किंतु साची-तोरण पर पूरी बडेरी पर सविस्तार प्रदर्शित है। सक्षेप मे कथानक यह है कि बोधिसत्व की दो रानियाँ थी—चुल्लसुभद्रा तथा महासुभद्रा। दूसरी रानी बोधिसत्व की प्रियपात्र होने के कारण चुल्लसुभद्रा से द्वेष करती थी। उसने सोचा कि दूसरे जन्म मे इसका प्रतिकार करुँगी। मृत्यु के पश्चात् चुल्लसुभद्रा काशी के राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी के रूप मे ससार मे आई। उसे ज्ञान हुआ,कि बोधिसत्व षड्दत (छह दाँतो वाला) हाथी के रूप मे मानसरोवर मे रहता है। उसे मार कर दाँत निकाल लाने के लिए व्याधा भेजा गया। साची-तोरण की बडेरी पर मानसरोवर से अनेक हाथी पानी मे बाहर आते दिखाए गए है। षड्दंत के सिरे पर छत्र है अतएव वही बोधिसत्व है, इसे पहचानने मे विलंब नही हो सकता। षड्दत पानी से बाहर आकर एक वृक्ष के नीचे खडा हो जाता है, जिसकी आड मे व्याधा धनुषबाण लिए खड़ा है। यही कलाकार ने कथानक का अंत कर दिया है। हाथी का पानी से निकलना तथा घूमकर पेड-तले खड़ा होना, कथानक के प्रवाह तथा सजीवता को व्यक्त करता है। विभिन्न दिशाओ मे षड्दत का प्रदर्शन कथानक को सप्राण बना देता है। भरहुत मे हाथी के सामने व्याधा दाँत लिए खड़ा है। उस स्थान पर ब्राह्मी मे 'छदतीय जातक' लेख अंकित है। सभवतः यह दिखलाया गया है कि बोधिसत्व को चुल्लसुभद्रा के कपट तथा रहस्यमय कार्य की जानकारी हो जाती है और वह छह दाँत निकाल कर व्याधा को दे देता है। कथानक मे यह भी उल्लेख है कि रानी के समुख छह दाँत के रखने पर वह बेहोश होकर मर जाती है। पर, वेदिका या तोरण पर यह प्रदर्शित नही है। अजंता के भित्तिचित्र मे यह दिखाया गया है कि टोकरी मे दाँत रक्खे है। राजा-रानी सामने बैठे है तथा रानी अचेत-सा दीख पडती है। साची का प्रदर्शन सर्वोत्कृष्ट है।

इन जातक कथानकों के अतिरिक्त अनेक जातक प्रदर्शित हैं, जिनके प्रदर्शन की चर्चा विभिन्न स्तूपो के अलकरण के साथ की जाएगी। इनके सिवाय कुछ ऐतिहासिक विषयों का भी प्रदर्शन मिलता है। भरहुत-वेदिका के दो स्तभो को प्रसेनजीत तथा अजातशत्रु स्तंभ का नाम दिया गया है। उस पश्चिमी तोरण

के स्तंभ पर यह दृश्य है। सामनफल सुत्तं में यह वर्णित है कि पिता (बिंबिसार) के मृत्यु पश्चात् अजातशत्रु बुद्ध के दर्शन हेतु गृद्धकूट पर्वत पर गया। थोड़ी ही सीमा मे तीन दृश्य प्रदर्शित हैं।

ऐतिहासिक प्रदर्शन अजात की यात्रा, हाथी से नीचे उतरना तथा बुद्ध के आसन की पूजा। उसके साथ मे जीवक भी है।

बिचले भाग मे बुद्ध पदचिह्न (प्रतीक) द्वारा प्रकट हो रहे है। लेख है—'अजातशत्रु भगवतो वदते'। कोशल के राजा प्रसेनजीत द्वारा पूजा का प्रदर्शन दक्षिणी तोरण पर किया गया है—'राजा प्रसेनजीत कोसलो'। उसका कारण यह है कि एक स्थान पर हाथी पर बैठा अजातशत्रु बुद्ध का दर्शन (प्रतीक के रूप मे)करने जा रहा है। दूसरे मे प्रसेनजीत रथ पर सवार पूजा निमित्त महल मे बाहर निकल रहा है। दोनो ऐतिहासिक घटनाओं को विश्वसनीय मानने मे आपत्ति नही है। साची की बडेरी पर अशोक का दृश्य खुदा है। अशोक तिष्यरक्षिता के साथ हाथी से पृथ्वी पर उतर रहा है। वह रामग्राम के स्तूप दर्शनार्थ वहाँ आया था। यह अशोक के निगाली सागर स्तंभ लेख से भी विदित होता है कि सम्राट् ने कनकमुनि बुद्ध के स्तूप का संस्कार किया था।

देवानं पियेन पियदसिन लाजिन चोदसवसाभिसितेन बुधस कोनाकमनस थपे (स्तूप) दुतियं बढ़िते।

इस स्थान एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है, जिसका प्रदर्शन केवल साची के दक्षिण एवं पश्चिमी तोरण की बंडेरियो पर किया गया है। बुद्ध के जीवन का अंत उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के अंतर्गत कुशीनगर (कसिया) नामक स्थान मे हुआ था। उनके महापरिनिर्वाण की खबर पाकर कपिलवस्तु के शाक्य आ गए। कसिया के मल्ल लोग वहाँ मौजूद थे। कई राजवंशो मे भगवान् के शरीर अवशेष (धातु = भस्म) के लिए विवाद खडा हो गया कि भगवान् मेरे है। अत, अब दोनो (मल्ल या शाक्य) दोनो मे एक को मिलना चाहिए। अभी इस विवाद का अत न हो सका था कि आठ व्यक्तियों मे राख के लिए झगडा खडा हो गया। सधिस्वरूप राख को आठ बराबर भागों में विभक्त कर दिया गया और सभी अपना भाग लेकर चल पडे। दोनो तोरणो के बंडेरियों पर यही चित्र खुदा है। मध्य मे महल बना है। उसी के चारों तरफ चतुरंगी सेना (रथ, हाथी, घुडसवार एव पैदल) आयुधसहित युद्ध करती दीख रही है। धनुप से वाण छोडे जा रहे है। उसी प्रसग में ऊपरी भाग में आठ हाथियों के सिरे पर भस्मपात्र (कलश) प्रदर्शित है, जिस पर छत्र दीख पड़ता है यानी वह भस्म भगवान् बुद्ध का है।

तात्पर्य यह है कि बुद्ध के धातुस्वरूप भस्म के आठ भाग पृथक्-पृथक् कलश में रख कर हाथियो द्वारा निर्दिष्ट स्थान को पहुँचाया जा रहा है। शुंगकालीन प्रतीकात्मक कला मे साची-तोरण पर यह दृश्य विशेषता रखता है। ऐतिहासिक प्रदर्शन के अतिरिक्त कला की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक सैनिक के चेहरे पर उत्सुकता है, चैतन्यता है तथा सशक्त रूप में कार्य मे जुटे है। धनुषबाण चलाना शरीर मे रक्तसचार का द्योतक है। जीवनशक्ति से सैनिक युद्ध मे रत है। दक्षिण तथा पश्चिमी तोरण पर प्रदर्शनों को तुलनात्मक अध्ययन करने पर पता चलता कि सपूर्ण दृश्य एक कलाकार द्वारा खोदे नही गए थे। सैनिको के चेहरे का विश्लेषण दो विभिन्न विचारों को संमुख रखता है। कुछ पुरुषत्व भाव से भरे है तो कुछ के चेहरे स्त्रियोचित प्रकट होते है। इसी कारण कई कलाकारो की कृतियाँ मानने मे आपत्ति नहीं की जा सकती।

यह कहना पुनरावृत्ति मात्र होगा कि अशोक के मृत्यु उपरान्त सामाजिक विचारधारा मे आमूल परिवर्तन हो गया। जिन धार्मिक भावना को लेकर मौर्यकला पुष्पित हुई थी, वह कालांतर मे उस रूप मे फलवती न हो सकी। स्तूप की वेदिकाओ तथा तोरणो पर जो अलकरण दीख पडते है उनका मुख्य उद्देश्य था, उपासको को आकर्षित करना। दर्शकगण स्तूप की पूजा अपना ले। इस लक्ष्य की पूर्ति कई अशो तक हुई भी, किंतु शुगकला सामाजिक भाव सहित सामने आई। लोगो ने सामाजिक उत्सव तथा समारोह को अपनाया, जिसे अशोक ने निषेध किया था और कलाकार उसे वेदिका या तोरण के स्तभो पर प्रदर्शित करने लगे। इस प्रसग मे भरहुत-वेदिका का नाम प्रथम लिया जाता है। उसके प्रदर्शनो के नीचे लेख अकित है। अतएव उनका एकीकरण या प्रत्यक्ष ज्ञान सरल हो गया है। स्तभो पर नृत्य का दृश्य है। जो अप्सराएं वर्तमान है, उनका निचली दो पक्तियों मे (खुदा) नामोल्लेख भी है। सुभद्रा, सुदर्शना, मिश्रकेसी, अलबुसा आदि नाम अकित हैं। यह कहना यथार्थ होगा कि बुद्धधर्म से इनका कोई सबध न था। नृत्य का समावेश बौद्धमत मे कदापि नहीं हो सकता। अत:, अप्सराओं का नृत्य बौद्धधर्म के अधार्मिक विषय का प्रतिपादन करता है। इसका मुख्य कारण यह था कि अशोक के पश्चात् ब्राह्मण मत का पुनरुत्थान हुआ जिसका अगुआ पुष्यमित्र शुंग था। उसने अश्वमेध के द्वारा वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा की। अयोध्या लेख में उसे 'द्विरश्वमेध याजिनः' कहा गया है तथा दूसरी सदी के

वेदिका पर ,अधार्मिक अलकरण

महाभाष्यकार पतंजलि ने भी 'इह पुष्यमित्रः याजयाम:' लिखकर वैदिक धर्म के प्रचार की प्रष्टि की। शुंगकालीन कला मे वैदिक विषयों का समावेश समीचीन था। ऋग्वेद मे तथा वाजसनेयी संहिता में मेनका तथा उर्वशी नामक अप्सराओं के नाम मिलते है। अतएव, भरहुत का प्रदर्शन वैदिक परपरा का द्योतक है। स्तूप की वैदिका एव तोरण स्तंभो पर यक्ष तथा यक्षिणी की आकृतियाँ खुदी हैं। समस्त भारत मे इनकी आकृति सुंदर रीति से प्रदर्शित की गई है। यक्ष अर्द्ध देवी-देवता माने गए है जो ग्रामीण समाज में पूजित होते थे। संभव है, भय के कारण उनकी पूजा प्रचलित हो गई। यह स्पष्ट है कि यक्ष दिशाओं के रक्षक थे। इसी कारण तोरण के स्तभो पर उन्हे स्थान दिया गया था। बौद्ध साहित्य में यक्ष के राजा कुबेर का उल्लेख मिलता है। बौद्ध-कला मे भी कुबेर को स्थान दिया गया। ब्राह्मण ग्रंथो मे भी (विष्णु पुराण) कुबेर यक्षों का राजा कहा गया है। इस प्रकार सांची के तोरण तथा अमरावती के वेदिका पर स्थान स्थान पर यक्ष की आकृतियाँ खुदी है।

बुद्धधर्म मे सबद्ध अलकरण के विषय मे चर्चा की जा चुकी है। हीनयान कलाकार दर्शकों को आकर्षित करते रहे। समय-समय तत्कालीन विषयो का प्रदर्शन भी समीचीन माना जाता है। शुगकालीन बौद्धकला मौर्य-युग के विचार धारा के अभावात्मक रूप को प्रदर्शित करती है। इसमे सामाजिक विषयों की खुदाई भी समाविष्ट की गई। शहर मे महलो का दृश्य, जंगल के वातावरण का प्रदर्शन तथा मनुष्य की भावभगिमा एव वस्त्राभूषण को भी कलाकारो ने कुशलतापूर्वक अंकित (चित्रित) किया है। राजा तथा साधारण लोगो का वस्त्र सदा एक-सा था। धोती, चादर एव पगड़ी सर्वत्र दीख पडती है। परंतु, राजकीय वस्त्रो मे सोना या कीमती रत्नो का उपयोग किया गया था। उसे जरी का काम कह सकते है। भरहुत, साँची या अमरावती के प्रदर्शनो मे राजा या सेप्ठी के सिरे पर मूल्यवान पगड़ी दीख पडती है। भरहुत मे एक स्थान पर ऐसा ही वस्त्र धारण किए एक पुरुष की आकृति है, जिसे 'कुपिरो यखो' (कुबेर, राजा का नाम) आकृति के नीचे अंकित है। मायादेवी के सपना नामक प्रदर्शन मे स्त्रियाँ भी धोती-चादर पहने दीख पड़ती है। अप्सराओं के सिरे पर पतला चादर भी दृष्टिगोचर होती है। आभूषणो मे ललाटिका (मांगटीका), कुंडल, झुमक, हार, कंठभूषण महामाला (गले का आभूषण) पंचलरी, भुजदड, करधनी (मेखला), पायल तथा अंगूठियाँ आदि सभी नर्तकी या नारियो के शरीर पर दिखलाया गया है।

सामाजिक विषयों का प्रदर्शन

इसके अतिरिक्त भरहुत के गोलाकार फलको पर हास्यास्पद विषयो का प्रदर्शन है। बंदर डाक्टर के रूप मे रोगी का दाँत चिमटे द्वारा निकाल रहा है। दूसरे दृश्य मे कई बदर हाथी का नचा रहे हैं। यह सब सारहीन तथ्य रहित प्रदर्शन समझे जा सकते हैं परंतु कलाकार दर्शको के मनोरजन के लिए ऐसे हास्यास्पद दृश्य प्रस्तर पर खोदते रहे। साची-तोरण पर भी एक स्थान पर ओखली मे कूदने हुए स्त्री की आकृति बनायी गई है। इस प्रकार धार्मिक वातावरण मे ऐसे प्रदर्शनो की आवश्यकता पर आपत्ति की जा सकती है।

भारतीय कला मे नाग (सर्प) का समावेश एक गूढ प्रश्न है, जिसका समुचित उत्तर कठिन है। नाग-पूजा बन जातियो (Tribes) से सबधित समझा जाता है। उमी परपरा को आर्य लोगो ने अपनाया, जिसकी अभिव्यक्ति वर्त्तमान नाग-पूजा (नागपचमी के अवसर पर) से हो जाती है। नाग

नाग तथा यक्ष

की भयकरता को जानकर ही कृष्ण ने नाग का हनन किया था (नाग नथैया), परन्तु जैन तथा बुद्धधर्म मे नाग की सौम्य अवस्था को अपनाया गया जा भक्षक न होकर रक्षक बन गया। जैनियो ने पार्श्वनाथ के सिरे पर नाग की आकृति खोदकर (स्थित कर) सर्प के महत्त्व को बढा दिया। नाग-छत्र पार्श्वनाथ प्रतिमा का आवश्यक अग माना जाता है। बुद्धकाल मे नाग को अत्यधिक प्रमुखता दी गई। नाग का तीन स्वरूप (विभिन्न प्रकार का) बौद्ध कलाकारो ने उपस्थित किया।

(१) जतु के रूप मे (Theriomorphic),

(२) मिश्रित रूप (Hybrid form) और

(३) मानव का रूप (Anthropomorphic)

बोधगया वेदिका पर मुचलिंद नामक नाग बुद्ध की (प्रतीक) रक्षा करते प्रदर्शित है। आसान को फन मे ढके है। भरहुत वेदिका पर नाग के तीनो स्वरूप दीख पडते है। जल मे इलापट्टा नाग को सर्प के रूप मे दिखलाया गया है जिसे भगवान ने दीक्षा दी। उस जल के भाग में थोडी दूर पर मिश्रित रूप है। निचला भाग सर्प का तथा ऊपरी भाग को मनुष्य को अर्द्धशरीर का रूप दिया गया है। तत्पश्चात् वही इलापट्टा राजा-रानी (नागराज, नाग रानी) का रूप धारण कर वृक्ष (बुद्ध) की पूजा कर रहे है। उस फलक के नीचे अंकित लेख मे नाग का नामोल्लेख किया गया है—"इरापटो नाग राजा भगवतो बदते" इतना ही नही, नाग राजा को चक्रवर्ती नरेश के समान स्थान दिया गया

और भरहुत के दक्षिणी तोरण स्तंभ पर नागराज दिग्पाल के रूप में खड़ा है। लेख है—"चकवको नागराजा"। नागराजा चक्रवाक यानी इलाप्त्रा के सिवाय चक्रवाक नामक नागराजा भी भरहुत कलाविदों को ज्ञान था।

अमरावती के गोलाकार फलक पर नागराजा तथा नागरानी स्तूप की पूजा करते दिखलाए गए हैं। खुदाई के मध्य मे पूजास्तूप (Votive Stupa) है। नागराजा तथा रानी के साथ अनेक व्यक्ति पूजा में सम्मिलित है। सांची तोरण पर भी ऐसा ही दृश्य खुदा है। वहाँ इस वृत्तांत का प्रदर्शन है कि सभी जीव-जंतु (जलचर, नभचर), पशु मनुष्य एवं देवता गण भगवान की पूजा कर रहे है।

नाग-प्रदर्शन के अतिरिक्त यक्ष की आकृतियाँ सभी वेदिका-स्तंभो तथा तोरण-स्तंभो पर खुदी है। शुंगकाल मे बौद्ध कलाकारो ने प्राचीन परपरा (वैदिककालीन) को स्थायी रखा। ऋग्वेद (७।६१।५) मे यक्ष आश्चर्य-जनक या रहस्यमय जीव कहा गया है। यक्ष-पूजा के लिए विशिष्ट स्थान (यक्ष सदन—ऋग्वेद ४।३।१३।) निश्चित था। यक्ष सुंदर वेषधारी कहा गया है। साहित्य मे यक्ष-यक्षिणी सौदर्य के लिए उल्लिखित है। यक्ष की ब्रह्म से तुलना की गई और यक्ष सदन ब्रह्मपुर के नाम से चर्चित है। (अथर्व० १०।८।२९, शांति पर्व १०१।५०।) सभवतः सुंदरता के लिए प्रसिद्ध यक्ष यक्षिणी को बौद्ध कला-विदो ने भरहुत, साची, अमरावती या मथुरा के वेदिका-स्तभो एवं तोरण-स्तभो पर स्थान दिया था। भारतीय कला मे मौर्य-युग से पूर्व यक्ष-यक्षिणी की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई है। बड़ौदा, पटना, विदिशा से यक्ष प्रतिमाएँ प्रकाश मे आई है। उनकी बनावट अनुपात रहित है। सौंदर्य के नमूने नही माने जा सकते। वैदिक साहित्य मे कथित (सुंदर) यक्ष तथा पूर्वमौर्य युगी यक्ष-प्रतिमा मे असमानता है। मध्य भारत से प्राप्त यक्ष प्रतिमा देशज है उसी को ध्यान मे रख कर अशोक ने अपनी कला को शिष्ट (Court. Art) बनाया। देशज कला का प्रभाव मध्यभारत के स्तूपो पर भी पडा, इस कारण भरहुत स्तंभ तथा साची-तोरण स्तभ पर यक्ष यक्षिणी की प्रतिमाएँ खोदी गई। विशाल शरीर, मासल देह तथा अनुपात मे असमानता इनकी विशेषता है। इस पर कलाकार सुधार करते गए और बुद्ध या महावीर की मूर्तियाँ भी यक्ष के अनुकरण पर तैयार की गई। मध्य भारत की देशज कला का प्रभाव अमरावती कला पर भी पडा। इसीलिए अमरावती यक्षिणी वेदिका-स्तभ पर अथवा उष्णीस की लता के मोड़ यानी अंतराल मे यक्ष की आकृतियां खुदी है।

देशज कला का मूक प्रभाव सिंहलद्वीप मे भी पहुँचा और अनुराधपुर मे बुद्ध की विशालकाय मूर्तियाँ बनने लगी।

यक्ष एक ग्रामीण देवता समझे गए है जो आपत्तिकाल में मनुष्य की रक्षा करते थे। भरहुत वेदिका स्तम्भ पर उन यक्ष या यक्षिणी के नाम भी अंकित है जिसका दूसरा उदाहरण नही है। उन लेखों द्वारा खुदी आकृति वाले यक्ष के नाम का परिज्ञान हो जाता है।

स्तंभो पर सुपावसो यखो (यक्ष सुपरवसु)
विरुढको यखो (यक्ष विरुढक)
गगितो यखो (यक्ष गगीत)
सुचिलोमा यखो (यक्ष सुचीलोमा)
कुपिरो यखो (यक्ष कुबेर)
अजकालक यखो (यक्ष अजकालक)
चड यखि (यक्षिणी चंद्रा)
यखिनि सुदसन (यक्षिणी सुदर्शना)

आदि उल्लिखित नामो से यह विदित होता है कि ईसवी पूर्व सदियों मे (शुंग काल) यक्ष यक्षिणी के विभिन्न नामों से लोग परिचित थे। उनका इस प्रकार नामकरण क्यो हुआ, यह कहना कठिन है।

जब आकृति मे सदृश्यता थी तो विभिन्न नाम करण क्यों कर हुआ? अस्तु! सारांश यह है कि वैदिक परंपरा का अनुसरण ईसा पूर्व सदिया तक होता रहा। महायान की उत्पत्ति के साथ देशज प्रतिमाओ के लिए कोई स्थान न रहा। भक्ति भावना से पूर्ण जनसाधारण देव प्रतिमा का पूजन करने लगा, जिस कारण ग्रामीण (देशज) अर्द्ध दैवी मूर्तियाँ कराल काल के मुख मे विलीन हो गई। स्तूप के स्तंभों की विस्तृत क्षेत्र पर बडे आकार की यक्ष या यक्षिणी का रूपचित्र सर्वोचित स्थान ले चुका था।

बौद्ध कला मे ब्राह्मण धर्म सबंधी आकृतियाँ या रूपचित्रो को क्यों उत्कीर्ण किया गया, यह एक गभीर प्रश्न है। इस समस्या का उत्तर यह हो सकता है कि पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान करने वाला शासक था। अतः, पाटलिपुत्र के समीपस्थ प्रदेश बोधगया मे ब्राह्मण मत का प्रभाव पड़ा। इस कारण अनेक रूपचित्रों को वेदिका पर खोदा गया है। ब्राह्मण देवताओ मे सबसे प्रधान वैदिक देवता सूर्य की रूपाकृति बोधगया-वेदिका पर दीख पडती है। सूर्य रथ पर सवार हैं। उनका पैर दीख नही पड़ता पर कमर

ब्राह्मणमत से सबंद्ध अनुकरण

एक प्रकार की मेखला वर्त्तमान है जो सर्प की केंचुली के सदृश है। सभवत· सर्प तथा सूर्य काल के बोधक है। नाग के काटने से मृत्यु हो जाती है तथा सूर्य के उदय-अस्त मे काल का बोध होता है। दैनिक समय या किसी अवधि काल में विशेष अंतर नही हो सकता। इसी आशय को ध्यान में रखकर बोधगया की वेदिका पर उत्कीर्ण सूर्य-प्रतिमा को स्थान दिया गया। दूसरे देवता इद्र है, जो भगवान के समक्ष खड़े दीख पडते है। भरहुत में एक गुहा के नीचे लेख है— इंद शाल गुहा (इद्र के गुहा स्थित भवन) तात्पर्य यह है कि इद्र बुद्ध के दर्श-नार्थ वहाँ आए थे। बोधगया वेदिका की सब से विचित्र खुदाई बारह राशि चिन्हो का है, जिसे प्रमुख स्थान दिया गया [मेष, वृष मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक धनु तथा मकर) इन बारह राशियों की आकृतियाँ ज्योतिष के आधार पर तैयार की गई थी; ताकि देखकर उस राशि का भाव प्रकट हो जाए। यद्यपि इन राशि-आकृतियों के नीचे लेख अकित नही है परन्तु रूपचित्रों को देखकर उनकी पहचान हो जाती है। जैसे मिथुन (स्त्री-पुरुष की आकृति से) सिंह (जानवर) तुला (तराजू) आदि का नाम ही सार्थक है।

षष्ट अध्याय

शुंगकालीन प्रधान स्तूप

यद्यपि अशोक ने चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण किया था, परन्तु उनके अधिकतर भग्नावशेष ही प्राप्त हुए हैं। मौर्य-युग के पश्चात् स्तूप-निर्माण की वह प्रगति न रही। जो स्तूप वर्तमान थे, उनको स्थायी रूप देने तथा आकर्षक बनाने की ओर शासकों या उपासकों का ध्यान गया। यही कारण था कि शुंगकाल में निर्मित स्तूपों पर प्रस्तर का आच्छादन लगाया गया तथा काष्ट की वेष्टनी को प्रस्तर से प्रतिस्थापित किया गया। शुंगकालीन प्रधान स्तूपों में निम्नलिखित की गणना होती है—

(१) भरहुत, (२) बोधगया, (३) साँची और (४) अमरावती।

इनका क्रमिक विकास के कारण ऊपरलिखित संख्या दी गई है। भरहुत नामक ग्राम प्रयाग से १२० मील दक्षिण-पश्चिम दिशा में स्थित था। इलाहाबाद-बंबई रेलवे के सतना नामक स्टेशन से नौ मील दक्षिण की ओर

भरहुत

कनिंघम ने सन् १८७३ ई० की अपनी यात्रा में भरहुत का निरीक्षण किया था। उस भभाग में स्तूप के अवशेष ही मिल सके। स्तूप का सम्पूर्ण आकार समाप्त हो गया था। उनके अनुसार वेदिका का व्यास ८८ फीट ४ इंच था और प्रयत्न करने पर स्तूप के चबूतरे का व्यास भी माप लिया, जो ६७ फीट ८ इंच के बराबर था। उनका कथन है कि स्तूप की ईंटें १२ × १२ × ३¼ इंच क्षेत्रफल में थीं। ऐसी ईंट से ही वर्तमान भरहुत के भवन बनाए गए हैं। भरहुत-स्तूप की चारों दिशाओं में चार तोरण थे तथा अपनी वेदिका स्तंभों से घिरा था। इसके प्रस्तर लालरंग के हैं जिसे विन्ध्या पर्वत के कैमूर श्रेणी से प्राप्त किया गया था। उत्तरी भारत की अन्य वेदिकाएँ चुनार प्रस्तर की सफेद रंग की हैं। भरहुत वेदिका गोलाकार है। कुछ भाग प्रवेश द्वार को ढके है। भरहुत स्तूप के तोरण चौकोर प्रस्तर के बने हैं (अशोक स्तंभ पालिशदार तथा एक प्रस्तर का गोलाकार होता है), जिनके ऊपरी शीर्ष में घंटीनुमा बनावट तथा चौकी भी दीख पड़ती है। उस चौकी पर दो पक्षयुक्त सिंह अथवा वृषभ की आकृतियाँ बनी है। तोरण की बडेरियों के छोर पर

पूँछ सहित मुख खोले मकर की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। बंडेरी के मध्य भाग में धर्म चक्र बना है। कनिंघम द्वारा संग्रहीत स्तूप के भाग कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय मे सुरक्षित है। भरहुत प्राचीन नगर या जहाँ स्तूप बनाया गया था। समीप के भूभाग में स्तूप के ईंटें सर्वत्र पायी जाती है, जिससे प्रकट होता है कि प्राचीन स्तूप का ईंटों को उठा कर स्थानीय जनता ने अपना भवन तैयार किया। वेदिका के खुदे प्रस्तर भी उस भूमि पर यत्र तत्र अभी पाए जाते है। इस स्थान के भौगोलिक महत्त्व के विषय मे अधिक कुछ कहा नही जा सकता, किंतु इस स्थान की प्रमुखता के कारण ही स्तूप भरहुत ग्राम मे निर्मित किया गया हो।

इस ग्राम (भरहुत) की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार है। मेहर नदी की घाटी के उत्तरी सिरे पर यह स्थित था, जहाँ पर उज्जैन-विदिशा से मार्ग पाटलिपुत्र की ओर मुड़ता था और कौशाबी तथा श्रावस्ती की दिशा मे भी राजमार्ग जाता था। सभवत. इसकी स्थानीय स्थिति के महत्त्व को समझ कर स्तूप का निर्माण हुआ, जिससे यात्रीगण का ध्यान आकृष्ट हो सके। स्तूप की उपयोगिता ही पूजा के निमित्त रही, अतएव भरहुत स्तूप की स्थिति महत्त्वपूर्ण थी।

कनिंघम ने भरहुत-वेदिका संबंधी अंकित लेखो की वर्णमाला का आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि वेदिका का निर्माण भारतीय कलाकारो ने किया था। किंतु, वर्णमाला का आधार सर्वथा प्रामाणिक नही माना जा सकता कि भरहुत-तोरण की खुदाई विदेशी कलाकारो ने की। भरहुत-तोरण की ऊँचाई करीब दस फीट के बराबर है और शीर्षस्थ भाग को लेकर १२ फीट आठ इंच हो जाती है। भरहुत-वेदिका-स्तंभ एक ही प्रस्तर मे निर्मित है। प्राय: सभी पर स्तंभ दान का लेख प्राकृत मे खुदा है—

थंभो दानम् [स्तंभ का दान]

इन स्तंभो मे गोलाकार फलक (Medallion) बने है जिनमे पुष्प, जानवर की आकृतियाँ या कथानक प्रदर्शित है। सब प्रदर्शन के नीचे लेख खुदा है जिससे उनका एकीकरण हो जाता है। इन स्तभो पर यक्ष यक्षिणी की भी आकृतियाँ (रूपचित्र) उत्कीर्ण है। साधारणतया यक्ष या देवता तोरण के समीपस्थ स्तम्भ पर चित्रित है। सभवत: प्रवेश द्वार की रक्षा निमित्त उन्हे विशिष्ट स्थान दिया गया था। यक्ष-यक्षिणी की मनुष्याकार की आकृति प्रमुख स्थान पर स्थित है। पर, इनको सीमा मे बाँधा नही गया है। वृक्षका तथा

श्रीमा देवता का रूपचित्र गोलाई मे तैयार दीख पड़ता है। अतः, इन्हे रेखाकार (linear) अवस्था के द्योतक मानते है। पश्चिमी तोरण पर प्रदर्शित रूप-चित्रो को निश्चित योजना से तैयार किया गया है। इनकी बनावट में ढाँचा का अभाव है। भरहुत के मनुष्य आकार के रूपचित्रो को देखने से प्रकट होता है कि कलाकार मानव-आकृति का अच्छा (वास्तविक) ज्ञान रखता था। उदाहरण के लिए उत्तरी प्रवेश मार्ग पर कुबेर यक्ष (कुपिरो यखो प्राकृत मे) तथा दक्षिण मार्ग पर चुलकोका देवता की रूपाकृति दीख पड़ती है। अन्य स्तभो पर अनेक जातक प्रदर्शित हे। मार्ग पर इनकी स्थिति दर्शको या उपासको के लिए उत्साहवर्द्धक है। उस मार्ग पर अजातशत्रु की यात्रा खुदी है। राजा हाथी पर बुद्ध की पूजा के निमित्त जा रहा है–अजातशत्रु भगवतो वंदते। इसी प्रकार नागराज इलापट्टा का भी दृश्य उत्कीर्ण है—इरापतो नागराज भगवतो वदते। बुद्ध के प्रधान प्रतीकों मे धर्मचक्र तथा वृक्ष अनेक प्रकार से प्रदर्शित है। 'भगवतोधम चक' लिख कर उस चक्र की महानता दिखलायी गई है। भरहुत वेदिका पर वृक्ष का प्रदर्शन अपनी निजी विशेषता रखता है तथा अन्यत्र किसी बौद्ध कलात्मक नमूनो मे दीख नही पड़ता। यह तो सत्य है कि पूजा के विभिन्न प्रतीको मे वृक्ष का स्थान भी महत्त्वपूर्ण था। पूजा सबधी तीन प्रकार के विषय निर्धारित किए गए है —

(१) शारीरिक—बुद्ध की अस्थि, चूडा या नख।

(२) उद्देशिक—प्रतिमा-या स्तूप, चक्र त्रिरत्न।

(३) परिभोगिक—भिक्षापात्र वस्त्र, आसन आदि तीसरी श्रेणी में वृक्ष को स्थान दिया गया है, क्योकि उसी के नीचे बैठ कर ज्ञान प्राप्त हुआ था। अन्य परिभोगिक विषयो मे वृक्ष की ही प्रधानता दीख पड़ती है। इसका कारण यह था कि बुद्ध के सात मानुषी स्वरूप माने गए है। बोधगया का पीपल-वृक्ष बोधि वृक्ष कहलाया, जिसका सबध सातवे बुद्ध (गौतम बुद्ध) से जोड़ा गया है। भरहुत-स्तभो पर वृक्षो की प्रतिकृति उत्कीर्ण कर नीचे लेख भी अकित है, जिससे मानुषी बुद्ध का एकीकरण किया गया है—

(१) विपस्त्री—पाटलिवृक्ष

(२) सिकिन—पुडरिका (सफेद कमल)

(३) विश्वभू - शाल वृक्ष

(४) ककुछद—शिरिस वृक्ष

(५) कनकमुनि—उदुबर वृक्ष

(६) काश्यप—न्यग्रोध या वट (Ficus Indica)

(७) शाक्यमुनि - पीपल (Ficus Religiosa) ।
वृक्षो (प्रतीक) के नीचे लेख खुदे हैं ।
(१) भगवतो विपसिनो बोधि
(२) भगवतो सिकिन बोधि
(३) भगवतो वेशभुवोबोधि सालो
(४) भगवतो ककुसधस बोधि
(५) भगवतो कोनिगमेनस बोधि
(६) भगवतो कसपस बोधि
(७) भगवतो शकमुनिनो बोधि ।

यद्यपि सभी नाम किसी-न-किसी वृक्ष के नीचे अंकित है, पर सभी बोधि (पीपल) वृक्ष नहीं माने जा सकते। तीसरे स्थान पर शाल-वृक्ष का नाम है। पर अन्य वृक्षों के अवलोकन से विदित होता है कि कोई वट, आम्र, पाटभे, बाँस का पौधा आदि के आकार माने जा सकते है। जो कुछ भी वृक्षो का वर्गीकरण हुआ, यह सतोष की बात है कि भरहुत के कलाकारो ने सभी कृतियो की जानकारी के लिए लेख अकित किया।

भरहुत की दूसरी विशेषता जातक-प्रदर्शन तथा नामाकन की है। यहाँ सबसे अधिक जातक को प्रदर्शित किया गया। उनमे मिग (मृग) नाग, यवमझकीय हस, किन्नर, दशरथ, विधुर आदि-आदि प्रदर्शित हैं। लेख के कारण एकीकरण मे सरलता हो जाती है। कुछ प्रमुख जातको का उल्लेख किया जा चुका है। यवमझकीय जातक की कथा कथासरितसागर से ली गई है। दशरथ जातक मे काशी के राजा ब्रह्मदत्त को दशरथ माना गया है; क्योकि उसकी कन्या का नाम सीता था। कथानक मे राम, लक्ष्मण, भरत आदि का उल्लेख है। प्रायः सभी जातक प्रदर्शन का मूक उपदेश था—सात्विक जीवन तथा अहिंसा। ऐतिहासिक घटनाओ मे माया देवी का सपना एवं जेतवन विहार का उल्लेख समीचीन होगा। इन प्रदर्शनों के नीचे भी स्पष्टतया उल्लेख है—

भगवनो रुकदत तथा जेतवन अनाथपिडिको देतु कोटि संथतेन केटा।

जेतवन विहार के दान मिलने पर बुद्ध वर्षावास के लिए शीघ्र श्रावस्ती चले गए। इस प्रकार का प्रदर्शन भरहुत की निजी विशेषता है। प्रत्येक उत्कीर्ण दृश्य को नामांकन की क्या आवश्यकता थी, यह रहस्यपूर्ण प्रश्न है।

यदि इनका निदान ढूँढा जाए तो यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन जनता मे इन विषयो की जानकारी न थी अथवा उनमे अज्ञान था। अतएव, भरहुत के कलाकारो ने उपासको को प्रकाश में लाने के लिए या आकर्षित करने के

निमित्त उत्कीर्ण दृश्य के नीचे लेख अंकित करवाया था। भारत के स्तूपो मे भरहुत कला को हीनावस्था मे पाते है। इसका मूल कारण यह है कि भरहुत के रूप-चित्रो के अगो मे गति का अभाव है। या सभी सीमेट से जुड़े प्रकट होते है। यदि मनुष्य का अंग सर्वदा सीधा दीख पड़े या उसमे मोड न हो, तो स्थिरता के कारण प्राकृतिक अंग नही समझे जा सकते। यक्षिणी के कटि तथा नितंब मे अनुपात का अभाव है। तात्पर्य यह है कि भरहुत कलाकार सापेक्ष महत्त्व की जानकारी न रखते थे। शरीर के पारस्परिक अनुपात मे विभेद दीख पडता है। यह कला की हीनता का द्योतक है। भरहुत-स्तभ पर चौकोर सीमा मे उत्कीर्ण दृश्यो मे गहराई का अनुभव नही हो पाता। यक्षिणी की प्रतिकृति सीमित क्षेत्र मे न बनकर स्वतत्र रूप मे वामन की पीठ पर तैयार की गई है। सभी लबाई के अनुपात मे उत्कीर्ण है। इनमे गहरा खोदकर भी चौडाई को ध्यान मे रखा गया है, जिससे आकृति का बाहरी रेखाचित्र प्रकट होता है।

गोलाकार फलक

भरहुत-वेदिका का अनेक गोलाकार फलको द्वारा अलकृत करने की योजना है। उन फलको मे पुष्प (कमल) पशु, सेठी का सिर या अन्य सामाजिक विषयो का प्रदर्शन है। कुछ फलको को देखते ही बनता है। उनमे हास्यास्पद बाते खुदी है। एक मे बदर डाक्टर के रूप मे दीख पडता है। वह चिमटे से मनुष्य का दाँत बाहर निकालते उत्कीर्ण है। उस चिमटे को रस्सी मे बाध कर हाथी के गले मे फसा दिया गया ताकि वह बल पूर्वक उस दाँत को बाहर खीच सके। दूसरे फलक मे बदर हाथी को नचा रहे है। हाथी का पैर मोटे रस्से से बंधा है। उसकी पीठ पर अनेक बदर बैठे है तथा अंकुश से खोद रहे है। पार्श्व मे बदरो का झुंड बाजे बजाता चला जा रहा है। भरहुत के कई प्रधान विषयो को—मायादेवी का सपना, जेतवन-विहार, यवमज्झकीय जातक आदि दृश्य गोलाकार फलको पर प्रदर्शित है तथा उनके नीचे लेख अंकित है। उष्णीस की खुदाई तथा लताओ का तालबद्ध प्रवाह भरहुत की विशेषता प्रकट करता है। इस प्रकार भरहुत के कलाकारो ने वेदिका या तोरण को अलकृत करने की योजना तैयार की थी जिसे सफलता पूर्वक सपन्न किया। इनमे अशोककालीन कला सिद्धात का अभावात्मक प्रदर्शन है। (Negation of Mauryan Art) इससे मध्य भारत की वन जातियो की संस्कृति (Tribal Culture) का तत्त्व प्रकट होता है।

पाटलिपुत्र से दूर प्राचीन निरंजना नदी के किनारे पीपल-वृक्ष के नीचे गौतम ने तपस्या की। कलांतर मे वही उनको बुद्धत्व (ज्ञान) मिला।

अतः वह स्थान बोधगया के नाम से प्रसिद्ध हुआ और वृक्ष को बोधिवृक्ष (Bo tree) पुकारने लगे। उसी वृक्ष के समीप बुद्ध

बोधगया

का वज्रासन दीख पड़ता है जहाँ बैठकर तपस्या प्रारंभ की थी। भरहुत के सदृश उत्तर मौर्यकाल (शुंग युग) मे बोधगया मे जो वेदिका निर्मित हुई, वह वज्रासन एवं बोधिवृक्ष के चारो ओर थी, किंतु पूर्णवर्मा नामक मगध नरेश ने वेदिका का विस्तार किया। ह्वेनसाग ने ऐसा ही विवरण दिया है। वर्तमान समय मे बोधगया की वेदिका वृक्ष, वज्रासन तथा चक्रम पथ को घेरे हुए है। अनेक छोटे स्तूप इसकी परिधि के बाहर है। पूर्वी दिशा मे तोरण भी दीख पड़ता है। किंतु वेष्टनी का भाग उत्तर पश्चिम मे शेष रह गया है। बोधगया की वेदिका अन्य वेदिकाओ से कुछ भिन्न है। इसे भी हीनयान-युग मे तैयार किया गया था, अतएव प्रतीकों तथा कथानकों का प्रदर्शन दीख पड़ता है। ईसा पूर्व सदी मे निर्मित वेदिकाओ की यही विशेषता है कि उनकी कला प्रतीकात्मक है। भरहुत से बोधगया की कला उच्चतर समझी जाती है। इसमे भी तत्कालीन सामाजिक बातो का प्रदर्शन है, परन्तु बोधगया के कलाकार खुदाई करते समय आवश्यक तथा अनावश्यक तत्वों मे विभेद करते रहे। इस कारण आवश्यक तत्वो के संग्रह मे प्रदर्शन अपरिपूर्ण होता था। भरहुत की तरह उनकी कला बोझिल न थी। थोड़ी सीमा मे आकृति को सुंदर बना कर संक्षिप्तीकरण पर ध्यान देते थे। बोधगया के प्रदर्शन भार रहित तथा गोलाकार होकर सजीवतापूर्ण हैं। यही कारण है कि बोधगया को दूसरी सीढ़ी पर रखते हैं। यहाँ की आकृतियों की ग्रंथियो मे गति का संचार देखते है। रूपचित्रो मे गतिविधि की कल्पना तथा चित्र को आकर्षित करने वाले गुण विद्यमान है। उनके अवलोकन से चित्त को प्रसन्नता होती है और किसी-न-किसी प्रकार का उपदेश मिलता है। लंबाई, चौड़ाई मे तो चौकोर स्थल खुदे है, उनमे गहराई का कार्य भी प्रारंभिक दशा मे दीख पड़ता है। सबसे प्रमुख बात यह है कि ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से बोधगया की वेदिका अछूती न रह सकी। इसके स्तंभ पर सूर्य के रथ की आकृति है। इंद्र बुद्ध के दर्शनार्थ उपस्थित है। ज्योतिषशास्त्र की बारह राशियो की कल्पित आकृतियाँ उत्कीर्ण है। इससे धार्मिक भावना के समन्वय का परिज्ञान हो जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं मे जेतवन विहार का प्रदर्शन सुंदर रीति से संपन्न है। वेदिका के गोलाकार फलकों पर ही राशियो के चित्र तथा पुष्प या श्रेष्ठी का सिर प्रदर्शित है। इन सभी बातों में बोधगया की वेष्टनी का शेषांश समानता रखता है। बोधगया की वेष्टनी का आलंबन-

प्रस्तर चारों तरफ दीख पड़ता है। वर्तमान मंदिर भी वेष्टनी के भीतर खड़ा है। यह किस समय निर्मित हुआ यह वास्तविक रूप से नहीं कहा जा सकता परंतु बारहवी सदी मे वर्मा की सरकार द्वारा इसका जीर्णोद्धार हुआ था।

बोधिवृक्ष की दक्षिण दिशा मे स्तूप के अवशेष है जिसे अशोक ने बनाया था। ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि पूर्वी दिशा से मार की सेना ने बुद्ध पर आक्रमण किया था। सुजाता द्वारा तपस्वी गौतम को खीर देना निरंजना नदी पार कर वृक्ष के नीचे बैठना तथा मार की कन्या एवं सैनिको द्वारा आक्रमण, सभी बोधि वृक्ष के समीप की घटनाएँ है। किंतु, बोधगया का वेष्टनी पर इनका प्रदर्शन नही मिलता। साची-तोरण की बंडेरियों पर यह चित्र उत्कीर्ण हैं! स्तूप के बाहर वेष्टनी की स्थिति बोधिवृक्ष के महत्त्व को बतलाती है। मार पर विजय कर ज्ञान-प्राप्त करना बोधगया की प्रमुख घटना थी, जिसका प्रदर्शन अज्ञात कारणवश छूट गया है।

बोध गया के मंदिर के समीप चारो तरफ छोटे-छोटे पूजा स्तूप बने हैं। कुछ चुनार तथा काले प्रस्तर मे खुदे है। एक तरफ ऊँचे टीले पर "अनिमिस-लोचन स्तूप" निर्मित है। कहा जाता है। कि वहीं से बुद्ध ने बोधिवृक्ष को देखा था। बोधगया में स्तूप की प्रधानता नही है।

साची नामक स्थान विदिशा से ६ मील पर स्थित है, जहा पर्वत के ऊपर कई स्तूप निर्मित हैं। इस कारण इसे महावंश मे चेतिय (स्तूप का दूसरा नाम) गिरि भी कहा गया है। चौथी सदी के गुप्त लेख मे काकनाड महाविहार के नाम से उल्लेख पाया जाता है। इस स्थान पर स्तूप क्यों

सांची स्तूप

बनाया गया? इस स्थान का भगवान् बुद्ध के जीवन से कोई संबंध न था। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि अशोक उज्जयिनी मे (पश्चिमी मालवा की राजधानी) राज्यपाल का कार्य करता रहा। उसके बाद भी वह विदिसा गया तथा वहाँ के सेठी की पुत्री से विवाह कर लिया। संभवत इस कारण उस स्थान का महत्त्व हो गया और अशोक ने स्तूप तथा स्तंभ का निर्माण किया था। अशोक के स्तंभ पर लेख खुदा है और चार सिंह का शीर्ष (Capital) है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि भगवान् बुद्ध के इच्छानुसार (स्तूप चार रास्तो के चौराहे पर) साची स्थान को उपयुक्त समझा गया। पाटलिपुत्र से कोशाबी होकर तथा उज्जैन साची (यानी विदिसा) होकर राजमार्ग भारतीय समुद्र के पश्चिमी बंदरगाह भरौच जाया करता था। मथुरा से भी उज्जैन के लिए विदिसा होकर जाना पडता है। इस तरह साची का भूभाग चौराहा था जिसके महत्त्व का ध्यान में

रखकर अशोक ने स्तूप निर्मित किया होगा। सांची की खुदाई से मुख्य स्तूप मे भस्मकलश की प्राप्ति न हो सकी है। यानी भस्म (धातु) से साची के मुख्यस्तूप का कोई संबंध न था। अशोक ने इसे पूजा निमित्त तैयार किया और लेख भी खुदवाए। यह स्थान सदियों तक महत्त्वपूर्ण बना रहा। पुष्यमित्र शुंग के पुत्र अग्निमित्र की राजधानी विदिसा थी। यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने विदिसा मे ही गरुडस्तम्भ की स्थापना की। गुप्त सम्राट् द्वितीय चद्रगुप्त ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया और पश्चिम भारत विजय के लिए विदिसा में उसकी सेना पड़ाव डाल चुकी थी। चद्रगुप्त के दो लेख (उदयगिरि गुहा मे तथा साँची वेदिका पर) यही खुदे है। उदयगिरि गुहा को खुदवा कर गुप्त सम्राट् ने सभी का ध्यान आकर्षित किया। गुहा मे वराह-विष्णु की प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस प्रकार साची का भूभाग सदा से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। इसी का ध्यान मे रखकर स्तूप का निर्माण हुआ होगा।

सांची मे तीन स्तूप है। स्तूप नं० १ प्रधान स्तूप है। स्तूप न० ३ से सारिपुत्त तथा मौद्गल्यायन के भस्मपात्र (लेख सहित) उपलब्ध हुए है। स्तूप न० २ की निजी विशेषता नही है। इसमे अशोक के धर्म दूतो के अवशेष मिले हैं। भस्मपात्र पर लेख अंकित हैं। तोरण का अभाव है। स्तूप सं० १ के समीप अशोक के स्तंभ पर लेख खुदा है, जिसमे विहार मे विभेद पैदा करने वाले भिक्षु-भिक्षुणी को दंड का विधान है। पुरातत्व के विद्वान् स्तंभ तथा न० १ के आधार को समतल मे देखा है। अतएव दोनो समकालीन है। ईसा पूर्व ३०० वर्ष मे निर्मित हुए। प्रारंभ मे सूखी कच्ची ईंट-का अंड बनाया गया था। शुंग काल में इस अर्द्धवृत्ताकार स्मारक को प्रस्तर मे आच्छादित किया गया। ७० फीट व्यास मे तथा ३५ फीट ऊंचा स्तूप है। इसके अधोभाग तल से ६ फीट की दूरी पर काष्ठ की वेष्टनी बनाई गई थी जिसे कालांतर मे चुनार प्रस्तर से प्रतिस्थापित किया गया।

सांची की वेदिका के प्रत्येक भाग मे लेख खुदे हैं। ये दानकर्त्ताओ के नाम है। जिसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि धार्मिक जनता के दान से वेष्टनी क्रमश: बनी। एक व्यक्ति विशेष ने इसमे हाथ न बटाया। साची की वेदिका चिकने एवं सादे (अनलकृत) प्रस्तर मे बने है, जिनके चार भाग है। जैसा भरहुत मे पाया जाता है। एक सांची-वेदिका ही अनलकृत है अन्यथा भारत मे सर्वत्र स्तूप की वेदिकाएँ भलीभाँति कलात्मक रूप मे खुदी है। जैसा कहा गया है उनका एकमात्र उपयोग था, उपासको तथा दर्शकों को अलंकारिक साधनो से आकर्षित करना। साची-वेदिका की सादगी के कारण कलाकारो

ने स्तूप के वायुमंडल को तोरणों द्वारा अधिक आकर्षक बनाया। चुनार सफेद प्रस्तर के तोरण-वेदिका के बाद जोड़े गए। इनकी स्थिति तथा बनावट देखने से सभी बातें स्पष्ट हो जाती है।

सांची के चारों तोरण क्रम से तैयार हुए थे। दक्षिण, उत्तर, पूर्व तथा पश्चिम तोरण क्रमश. निर्मित हुए। तोरण के कारण सांची की बनावट अत्यंत सौंदर्यमय हो जाती है। तोरण मे चौकोर स्तंभ है। उनके सिरे पर (शीर्षस्थ भाग) जानवरों की आकृतियाँ खुदी है उन पर प्रस्तर की एक शहतीर (जिसे बंडेरी कहा गया है) रखी है। प्रत्येक शहतीर के अंतिम छोर के समीप स्तंभ की सीध मे प्रस्तर के चौकोर मिथ्या शीर्ष बने है, जिनमे दो बंडेरियों मे अंतर हो जाता है। इस तरह तीन बंडेरियों का तोरण है। तोरण के स्तंभ को कई चौकोर भागों मे बाँटा गया है, जिसमें वृक्ष, चक्र या स्तूप-पूजा का दृश्य दीख पड़ता है। भगवान् के प्रतीक विश्ववंद्य है। वे सभी जलचर, नभचर, मनुष्य, देवतागण आदि द्वारा पूजित प्रदर्शित है। इन्हें चरण-चित्र का नाम दिया गया है। कागज को गोल करते समय तथा उसे खोलते समय चित्र सामने आते है। उसी रूप में स्तंभ के प्रस्तर को भी चीरकर समझकर चरणचित्र कहना यथार्थ होगा। मिथ्या स्तंभ शीर्ष पर भगवान् के जन्म के अनेक प्रतीक (हाथी, कमल, कमलासना देवी, या गजलक्ष्मी) प्रदर्शित किए गए है। बंडेरियो पर जातक के कथानक या जीवन-घटनाएँ अथवा ऐतिहासिक विषयों का प्रदर्शन है जिसके कारण बंडेरियों पर अन्य प्रधान प्रतीक कम उत्कीर्ण है। षड्दंत जातक, विश्वंतर, मार-विजय, धातु (भस्म) के निमित्त विभिन्न राजवंशों के मध्य युद्ध आदि विषयों को गहराई तथा गंभीरतापूर्वक एवं समस्त कलात्मक तत्त्वों को ध्यान मे रखकर कलाकारों ने उत्कीर्ण किया। दक्षिणी तोरण के तीसरी बंडेरी पर स्तूप तथा वृक्ष प्रत्यवर्ती रूप मे रखे है, जिनकी संख्या सात है। अतएव, उस संख्या के कारण सभी सात मानुषी बुद्ध के प्रतीक समझे जाते है जैसा भरहुत मे वृक्षों के नामकरण द्वारा बतलाया गया है। सांची में प्रदर्शनों का नामांकन नहीं मिलता। सर्वोपरि बंडेरी पर धर्मचक्र तथा त्रिरत्न के रूपचित्र खुदे है। उत्तरी तोरण के तीन शहतरों पर (अ) विश्वन्तर जातक (ब) मार विजय (स) षडदन्त जातक उत्कीर्ण है। शहतीरों के दोनों छोर चक्रनुमा बने है तथा उनके ऊपरी भाग मे पखयुक्त सिंह की मूर्ति बनी है। प्रत्येक शहतीर को उचित स्थान पर रखने के लिए सालभंजिका की पूरी आकृतियाँ बंडेरियों के छोर पर देख पड़ती हैं।

यदि तोरण के प्रदर्शनो को देखा जाए, तो पता चलता है कि—

(१) स्तंभ पर चरणचित्रों में जातक

(२) अयथार्थ शोषं में जन्म के दृश्य

(३) बंडेरियों पर ऐसे कथानक खुदे हैं, जिनमें प्रवाह है, गतिमान होने के कारण जीवित मालूम पडते है।

(४) रिक्त स्थानो में जानवर, हाथी, सवार, सालभंजिका तथा वृक्ष देवता के रूपचित्र योजनापूर्वक उत्कीर्ण है।

यद्यपि मनुष्य (हाथी या घोड़े पर सवार) की प्रतिमा का शुभारभ साची के कलाकारों ने किया था, पर यह महायान का प्रभाव नही कहा जा सकता।

साची-तोरण पर जितना भी प्रदर्शन है, सभी का सबंध हीनयान मत से है। यद्यपि भगवानबुद्ध विश्व वद्य थे, सभी प्रतीको का पूजन होता था। परंतु, कलाकार सौदर्य भावना मे परे न थे। इसलिए सुंदरता के साथ प्रस्तर की खुदाई की गई थी। बुद्ध की प्रतिमा का अभाव है।

जीवन-घटनाओं मे

(१) जन्म, माया का सपना, महाभिनिष्क्रमण का प्रदर्शन अतीव सौदंर्य-पूर्ण है। कपिलवस्तु नगरी से घोड़े का निकलना (जिसके पैर यक्ष देवगण के हाथ मे है) महाभिनिष्क्रमण का द्योतक है।

(२) निरंजना नदी के किनारे सुजाता द्वारा भोजन का अर्पण तथा नदी पार कर पीपल वृक्ष के नीचे तपस्या।

(३) मार विजय का विस्तृत दृश्य

(४) वज्रासन और

(५) चूडा का पूजन आदि विषयों का प्रदर्शन है। इनके साथ सभी आठों रहस्यपूर्ण घटनाओं को यथास्थान उत्कीर्ण किया गया है।

(१) जन्म, (२) ज्ञान (३) उपदेश (४) परिनिर्वाण (५) नालहस्तिदमन (६) जेतवन (७) महाप्रदर्शन और (८) स्वर्ग से अवतरण।

प्रधान जातकों का विवरण गत पृष्ठों मे दिया गया है।

साची-तोरण की कलात्मक विशेषता का गभीर अध्ययन विशेषतया निम्न बातों पर प्रकाश डालता है—

(अ) परिदृश्य अथवा सापेक्ष महत्व (Perspective)

(ब) अनुपात तथा परिमाण (लंबाई चौड़ाई एवं गहराई का ज्ञान) (Ratio and Dimentions)।

(स) मनुष्याकृति का शुभारंभ (Human Figure)

(द) वनस्पतीय परिकल्पना की पराकाष्ठा यानी चरम सीमा

(य) मालवा शैली का प्रभाव (Malwa School)।

(अ) सापेक्ष महत्त्व की जानकारी सांची के कलाकारों को पूर्व से ही थी, यह कहना कठिन है। शुंगकाल मे भरहुत तथा बोधगया मे काल तथा देश का परिज्ञान था। यह परिदृश्य साची मे आंशिक रूप में विद्यमान है। प्रस्तर को यथार्थ रूप से खोद कर देश तथा काल को सकेत नही करते या उन लक्षणो को व्यक्त नही करते थे, किंतु कलाकार दर्शकों को भ्रांति मे डाल देते और परिप्रेक्ष्य को भ्रमपूर्ण स्थिति मे व्यक्त करते थे। गहराई या दूरी व्यक्त करने के लिए प्रस्तर को गहरा काटने की प्रक्रिया नही अपनाई गई, किंतु एक ही धरातल मे विभिन्न पंक्तियाँ दिखला कर साक्षेप महत्त्व दिखलाया गया है। वृक्ष की पूजा करते समय अनेक देवतागण बैठे दीख पड़ते है, परतु दो व्यक्तियो के सिरो के मध्य रिक्त भाग मे एक छोटे आकार मे मनुष्य का सिर उत्कीर्ण किया है। इसी प्रकार रिक्त स्थानो मे क्रमशः छोटे आकार के सिर की योजना से कलाकार बोधिवृक्ष के चारो तरफ बैठे व्यक्तियो को पक्तियो मे विभक्त कर देता था। यद्यपि सभी बातें भ्रमात्मक थी। कलाकार समझबूझ कर दर्शको को भ्रम मे रखना चाहता था। इससे प्रथम पक्ति से दूसरे पंक्ति मे बैठे मनुष्यों की दूरी व्यक्त हो जाती।

समीप का बडा चेहरा—प्रथम पक्ति

उससे छोटा—द्वितीय पक्ति

उससे भी छोटा—तृतीय पक्ति

प्रथम पंक्ति दर्शक के समीप, दूसरी कुछ दूर तथा तीसरी पंक्ति पर्याप्त दूर हो जाती। समीप की पक्ति वाले व्यक्ति की पीठ दर्शको के सामने रहती तथा उसी धरातल मे प्रदर्शित ऊपरी भाग मे व्यक्ति का चेहरा दर्शको को दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार एक धरातल मे कई पंक्तिवद्ध मनुष्यो का प्रदर्शन सांची की निजी विशेषता है। दर्शक मे दूरी तथा समय (पंक्ति बनाने मे) का ज्ञान बोधिवृक्ष के पूजन से हो जाता है। मनुष्य आकार के छोटा या बड़ा होने मे दूरी का परिज्ञान होता है। यद्यपि कलाकार भ्रमवश दूरी का बोध कराता है, किंतु सापेक्ष महत्त्व के सभी गुण विद्यमान नही है। साची के तोरण पर बुद्ध के स्वर्ग से अवतरण का प्रदर्शन दीख पडता है। इसमे स्वर्ग स्थित देवतागण की आकृतियाँ बडी है तथा सीढ़ी के नीचे संसार मे स्थित मानव छोटे आकार के दिखलाए गए है। मानव तथा दैवी शक्तियों मे आकार

द्वारा विभेद किया है। समीप में स्थित मनुष्य का बड़ा आकार होना चाहिए, परंतु पूजन के प्रदर्शन से अवतरण का प्रदर्शन सर्वथा विपरीत है। (समीप में छोटा, दूर बड़ा)। सांची के प्रदर्शनों में इस संबंध में कलाविद् की सीमित जानकारी प्रकट होती है। वैज्ञानिक ढंग से उस विषय का अध्ययन नहीं दीख पड़ता। इस कारण सापेक्ष महत्व का वास्तविक ज्ञान अविदित था।

देश के अतिरिक्त काल के प्रदर्शन में साची के कलाकार कुछ श्रेणी तक दक्षता रखते थे। उस दिशा में कथानक का प्रदर्शन एवं उसकी प्रगति या गतिशीलता समुचित रूप से दिखलायी गई है। मुख्य पात्र को स्थान-स्थान पर दिखा कर कथानक के प्रभाव का परिज्ञान कराया गया है। विस्वन्तर जातक, षड्दंत जातक, महाभिनिष्क्रमण में क्रमशः राजा की विभिन्न आकृतियाँ, हाथी का अनेक रूपचित्र तथा घोडे को एक दिशा में दिखा कर विपरीत दिशा में दिखाना (लौटना) कथानक के वर्त्तमानता (Continuation) को प्रकट करता है। इस कार्य में पात्र की भावभगिमा, शरीर का मोड तथा रूपचित्र में कोण का प्रदर्शन उसके (पात्र के) शरीर समीप गहरा खोद कर कलाकारों ने सफलता पाई है।

(ब) अनुपात तथा परिमाण

सांची-तोरणकला की विशेषता यह है कि उत्कीर्ण प्रदर्शनो मे अनुपात का समावेश किया गया है। दक्षिणी तोरण के प्रदर्शनो का परीक्षण यह प्रकट करता है कि प्रत्येक आकार को ध्यान मे रख कर सजीव बनाने मे सफल प्रयत्न किया गया है। अनुपात के कारण पत्र, पुष्प, हाथियो का आकार भी यथेष्ट ढग से उत्कीर्ण है। दक्षिण तोरण की बडेरियो पर भस्म (= धातु) के लिए युद्ध का प्रदर्शन सप्राण प्रतीत होता है। यही साची के कलाकार के रचनात्मक प्रतिभा को व्यक्त करता है। अलकरण, तालबद्ध बनावट तथा विभिन्न दिशाओ मे पशुओं की गति का प्रदर्शन देखते बनता है। इन्ही कारणों से साची की कला सर्वोत्तम मानी गई है।

परिमाण के संबंध मे भी कलाकारों ने अपनी कुशलता दिखाई है। सांची में परिमाण (Three Dimentions) की चरम सीमा मिलती है। गहराई की वास्तविकता की ओर पूरा ध्यान न देकर कलाकारो ने एक ही धरातल पर सब कुछ दिखलाया है। यदि प्रस्तर काट कर आकृतियों को गहराई में दिखाया जाए, तो एक के पीछे दूसरी आकृति छिप जाएगी। किंतु, सांची-तोरण पर इसे प्रदर्शित करने के लिए एक आकृति के ऊपर (उसी धरातल पर) दूसरा आकार उत्कीर्ण है तथा आशिक रूप मे ढँका है। उससे गहराई का मिथ्या

ज्ञान हो जाता है। गहराई का ऐसा प्रदर्शन अन्यत्र नही है। किसी पदार्थ का आकार दूरी के कारण छोटा या बडा नहीं दीख पड़ता किंतु वृतिमूलक महत्व को ध्यान मे रक्खा गया है। दृष्टिगत पदार्थ के रूप से कलाकार का मार्गदर्शन नही होता, अपितु उनकी जानकारी ही वास्तविक स्वरूप के प्रदर्शन हेतु बाध्य करता था। कथानक के अनुसार भी कला में वस्तुओ को सजाया है। कार्य-पद्धति मे उसे सुसंगत होना अनिवार्य था, यद्यपि दर्शकों की दृष्टि में अमुक प्रदर्शन अयथार्थ हो।

(म) मनुष्याकृति का शुभारंभ

साची-तोरण की खुदाई एक व्यक्ति की कृति नही है। कलाकारों द्वारा यह कार्य संपन्न हुआ था। व्यक्तिगत आकार बडी ही कुशलतापूर्वक परिष्कृत ढग से उत्कीर्ण है। कलाकारो ने काल्पनिक रूपचित्र को नही प्रदर्शित किया, परतु मानव शरीर की जानकारी एवं अगो को सप्राण मान कर उत्कीर्ण किया। यक्ष-यक्षिणी वनजातिय के देवता थे, जिनको ब्राह्मण एवं बौद्ध कला मे बडे सुदर तथा सजीव रूप मे दिखाया है। स्तूप-अलंकरण के साथ प्रस्तर की खुदाई सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति करती है। भरहुत-वेदिका पर यक्ष तथा यक्षिणो का जिस रूप में प्रदर्शन है, सांची-तोरण पर उन्हें परिष्कृत ढंग से दिखलाया गया है। पूर्व काल मे तोरण पर यक्ष हतोत्साह या शक्तिहीन प्रदर्शित है। किंतु, सांची-तोरण पर सुदृढ होकर खडे दीख पडते है। यक्षिणी तथा शालमंजिका प्रदर्शन मे शरीर की सौदर्य तथा परिरेखा द्वारा सुदर नारी के रूप में प्रकट हो रही है। यह सत्य है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण में सभी का मुख विभिन्नता लेकर उत्कीर्ण नहीं है, सभी का चेहरा एक समान है (दो चेहरे समान नही होते) किंतु, अन्य मनुष्याकार प्रदर्शन मे भावात्मक पृथकता है। नग्न दीख पडती है, परतु पारदर्शक वस्त्रसहित प्रदर्शित है। सांची-तोरण के शहतीर के मध्य रिक्त भाग में घुडसवार की आकृतियाँ बनाई गई हैं। खाली जगह को भरने के लिए ही घुडसवार खड़े किए गए हैं, लेकिन इसका गूढ अर्थ यह भी समझा जाता है कि साची के कलाकार ने मनुष्य की आकृति का शुभारंभ किया है। भरहुत या बोधगया की प्रतीकात्मक नमूनो मे (यक्ष यक्षिणी के अतिरिक्त) किसी रूप मे भी मनुष्य की मूर्ति का प्रदर्शन नही है। सांची में इसे आरंभ कर भारतीय कला मे इसे जारी रखा गया और कालातर मे महायान मतानुयायियों ने इससे प्रेरणा लेकर बुद्ध की प्रतिमा तैयार करायी।

(द) वनस्पति परिकल्पना की चरमसीमा

यह कहा गया है कि साची कला मे वास्तविकता तथा सही प्रदर्शनों का मेल हो गया था। परिरेखा के दिखाने मे कलाकार दक्ष थे। वास्तविक आकार से विज्ञ थे। अतएव लता, पत्र, पुष्प आदि का प्रदर्शनों मे अनुपात वर्त्तमान है। पूर्वप्रचलित शैलियो से अत्यत सौदर्यमय तथा अतिश्रेष्ठ समझे जाते हैं। शुंगकालीन वेदिका के उष्णीस पर लताएँ प्रदर्शित है। उनकी विशिष्टता यह है कि उन प्रदर्शनों में प्रवाह है, लताओ के मोड या घुमाव से पशु पक्षी भी सवद्ध हैं। कोई भी उन्हें असवद्ध नही कह सकता। उन गतिमान पत्रपुष्पों की तालमय स्थिति है। पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी सभी प्रवाहित धारा के सहायक है, उसके अंग समझे जा सकते हैं।

(य) मालवा शैली का प्रभाव

मध्य भारत मे अशोक से पूर्व देशज कला के नमूने पाए गए हैं, जिन्हें यक्ष का नाम दिया गया है। यद्यपि यक्ष-यक्षिणी की भावना नवीन नहीं थी, तथापि उनका साकार प्रदर्शन पूर्व मौर्य युग मे पाया जाता है। विदिसा, बरोदा (मथुरा के समीप) एव पटना से यक्ष-प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है, जिनमें देशज गुण विद्यमान है। अनुपात का अभाव है। शारीरिक अगो की रचना मे एकता नही है। इस प्रकार के यक्ष-यक्षिणी का समावेश भरहुत वेदिका-स्तभो पर पाया जाता है। साची मे भी विदिसा के यक्ष सदृश आकार दीख पडते है। इस कारण यह कहना उचित है कि पूर्व मौर्ययुगी मालवी शैली का प्रभाव शुगकालीन कलाकृतियो मे प्रकट होता है। यक्ष यक्षिणी मालभजिका उसके दृष्टात है जो यह रीति समाप्त न हो पाई। मथुरा की बौद्ध कला में मालवा प्रभाव स्पष्ट है। मथुरा से अमरावती भी पहुँचा। भारत के बाहर सिहल के अनुराधपुर की विशाल बुद्ध-प्रतिमा मे मालवा की देशज शैली का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

साची के स्तूप स०२ मे साधारण रीति से वेदिका का प्रदर्शन मिलता है। वेदिका स्तंभ तथा सूची पर गोलाकार फलक मे नाना जानवर पक्षी, पुष्प (कमल) तथा श्रेष्ठी के सिर की आकृतियाँ दीख पडती है। इसमे मुख्य स्तूप की वेदिका से कई अंश मे भिन्नता है। मुख्य स्तूप की वेदिका सादे अनलंकृत प्रस्तर के है जहाँ कि उसी स्थान पर स्तूप सं० २ की वेदिका फलक द्वारा अलंकृत है।

सांची-स्तूप स० २

इन सभी उत्कीर्ण विषयो के परीक्षण से प्रकट होता है कि सांची की खुदाई मे एक व्यक्ति का हाथ न था। प्राचीनता तथा नवीनता का संमिश्रण पाया जाता है। सांची की कला प्राकृतिक रूप मे तैयार हुई। कलाकारो ने दक्षता के अनुसार चित्रों की सहज तथा स्वच्छंद बनाया है। कलाकारों ने संसार के सभी विषयो को संग्रह किया है। सांची में मध्य भारतीय जीवन का वास्तविक एवं सुंदर प्रदर्शन है और भरहुत तथा बोधगया से अनवरत् विकास की ओर चलता गया।

शुंगकालीन भरहुत तथा साची के समकालीन दक्षिण भारत में अनेक स्तूप निर्मित हुए थे। सभी कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित है।

अमरावती स्तूप

तामिलनाडु प्रदेश के गंटूर जिले के अंतर्गत दक्षिण के शासक सातवाहन नरेशो के प्रोत्साहन से इन्हे बनाया गया था। कलकत्ता-मद्रास रेलवे के बेजवाडा स्टेशन से मचेरा होकर वास्तविक स्थान पर पहुँच जाते है। वर्तमान समय मे सरकार ने पूरे स्थान की खुदाई समाप्त कर ली और स्तूप के विभिन्न भाग पृथक्-पृथक् संग्रहालयो मे सुरक्षित हैं। आंध्रप्रदेश मे ईसवी पूर्व सदियो मे स्तूपों का निर्माण होता रहा। उनमें से अमरावती भट्टिप्रोलू, जगय्यापेट, घंटाशाला तथा नागार्जुनी कोंडा से संबद्ध है, जो बीस मील के क्षेत्र मे फैले हैं। इनमे कोई भी सुरक्षित नही है। उनके भग्नावशेष उपलब्ध हैं। स्तूप के अंड पर खुदे प्रस्तरो पर स्तूप का आकार उत्कीर्ण हैं, जिससे मूल (स्तूप की) रूपरेखा का ज्ञान हो जाता है। दक्षिण भारत की स्तूप-निर्माण-शैली उत्तरी भारत से भिन्न है। स्तूप का चबूतरा ईंट से बना है। इसमे बाहरी दीवाल तथा नाभि मे दूसरी दीवाल निर्मित है। दोनों गोलाकार दीवालों को ईंट की पंक्तियों से कई भागों मे विभक्त कर रिक्त स्थानो को मिट्टी से भर दिया गया है। उसके विपरीत मध्यभारत के स्तूप के चबूतरे ठोस मिट्टी के बने है। इस प्रकार दक्षिण भारत के स्तूप के आधार की योजना पृथक् रीति पर तैयार की गई थी। चबूतरा तैयार कर अर्द्ध गोलाकार भाग निर्मित हुआ। तत्पश्चात् उसे (अंड) संगमरमर के प्रस्तर से आच्छादित कर उत्कीर्ण किया गया। सबसे ऊपरी भाग सफेद साँचे मे ढले प्रस्तर से निर्मित हैं और जो सीमेंट कटान के सदृश रीति से (Stucco) अलंकृत हुए है। चबूतरा भी सर्वत्र अच्छी प्रकार खुदा है, जिसमे कोई भी अंश अनलंकृत नही है। उपासकों के लिए ऐसा सुंदर उत्कीर्ण दृश्य अन्यत्र नहीं मिलेगा। अंड के चारों तरफ एक गोलाकार सीढ़ी थी, जिसके देखने से स्तूप की ऊँचाई का

अनुमान किया जा सकता है। उसी से संबद्ध चारों दिशाओं में चौकोर प्रक्षेपण (Projection) तैयार किया गया है। उस प्रक्षेपण की दोनों भुजाओं में ऊपरी प्रदक्षिणापथ के लिए मार्ग भी है। उस निकले हुए भाग के चबूतरे-नुमा अंश पर पाँच पतले स्तंभ खड़े दीख पड़ते हैं, जिन्हें 'आयक-स्तंभ' (श्रद्धास्पद स्तंभ) कहा गया है। इस तरह के आयक-स्तंभ की स्थिति अन्य किसी भारतीय स्तूप में दीख नहीं पड़ती। अमरावती की दूसरी विशेषता यह है कि स्तूप का प्रत्येक भाग संपूर्ण वेष्टनी, तोरण तथा अंड भली-भाँति अलंकृत है। भारतीय स्तूप के हर एक भाग की ऊँचाई की ओर कलाकारों का ध्यान केंद्रित था, अतएव स्तूप की ऊँचाई दिनोदिन बढ़ती गई। चीनी यात्रियों ने इन्हें टावर (गुंबज) कह कर उल्लेख किया है। बृहत्तर भारत में तो अत्यधिक ऊँचाई दीख पड़ती है। अतएव, नेपाल तथा वर्मा आदि देशों में क्रमशः स्वयंभूनाथ एवं मिंगलाजेदी पगोडा इतने ऊँचे हैं, मानो आकाश छू रहे हों। अर्द्धगोलाकार ने भी मीनारनुमा आकार ग्रहण कर लिया है और वास्तविकता का महत्त्व नष्ट होता गया।

दक्षिण भारत के स्तूप ईसा पूर्व द्वितीय सदी में आरंभ हुए थे। उस स्थान के लेख से अमरावती स्तूप की प्राचीनता का ज्ञान हो जाता है। संभवतः अट्ठारहवीं सदी तक स्तूप-पूजा का क्रम चलता रहा। जनता आदरपूर्वक श्रद्धा अर्पित करती थी। दक्षिण में योरप के निवासियों ने इसे नष्ट कर दिया, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। स्तूपों की जटिलता के कारण इन्हें महास्तूप या महाचैत्य कहा गया है।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में अमरावती क्षेत्र में स्तूप का निर्माण आरंभ हुआ। अतः, शुंगकालीन हीनयान प्रतीकों का सुंदर प्रदर्शन मिलता है।

हीनयान एवं महायान प्रदर्शन

भगवान बुद्ध के जन्म-प्रतीक हाथी को जिस रूप में यहाँ उत्कीर्ण किया गया है, वैसा अन्यत्र अज्ञात है। उस प्रदर्शन में एक प्रस्तर को तीन विभागों में बाँटा गया है। एक भाग में बोधिसत्व से प्रार्थना की जा रही है कि वे अवतरित हों। मध्यभाग में रथ पर हाथी को बाजे सहित ले जा रहे हैं। तीसरे में माया देवी का सपना। हाथी की आकृति सिरे पर। इसके अतिरिक्त वृक्ष की पूजा दिखलाई गई है। अतीव सुंदर कला-कौशलपूर्ण स्तंभ पर चक्र को स्थान दिया गया है। उसी प्रकार वेदिका-स्तंभ पर स्तूप का रूपचित्र दीख पड़ता है। अमरावती में संपूर्ण स्तूप को अनेक स्थानों पर प्रस्तर में खोदकर मूल स्तूप का आकार सामने उपस्थित किया गया

है। इन चार प्रधान प्रतीकों (हाथी, वृक्ष, चक्र तथा स्तूप) के अतिरिक्त भगवान् के पदचिह्न को सुंदर रीति से उत्कीर्ण किया गया है। कई स्थानों पर विस्तृत रूप से भगवान् के भिक्षापात्र को जुलूस के साथ प्रदर्शित देखते है। मध्य मे भिक्षा पात्र को टोकरी में रख कर एक मनुष्य जुलूस मे समूह के साथ जा रहा है। ऐसे पारिभोगिक स्तूप का दूसरा उदाहरण नही मिलता।

अमरावती स्तूप का अलकरण कई सदियो तक चलता रहा। ईसवी सन् के पश्चात् वेदिका उत्कीर्ण की गई। उत्तर से दक्षिण भारत का सबध बना रहा, इस कारण मध्य भारत एवं मथुरा की कला अमरावती को प्रभावित कर सकी। कनिष्क के शासन (ईसवी सन्) मे महायान का शुभारभ हो गया था, इस कारण बुद्ध की प्रतिमाएँ बनने लगी। अतएव प्रतीक को छोड़कर उसी स्थान पर बुद्धमूर्तियां भी उत्कीर्ण हुई। प्रस्तर पर अनेक घटनाएँ प्रतिमा सहित प्रदर्शित हैं। माया देवी वृक्ष के सहारे खडी है और गौतम शिशु के रूप मे देवी की दाहिनी ओर से फिसलते दीख पडता है। दास-दासियाँ तथा देवतागण उस अवसर पर विद्यमान है। शिशु के भविष्य के विषय मे शुद्धोधन दरबार में विचार कर रहे हैं जो प्रदर्शित है। सिद्धार्थ गौतम कपिलवस्तु छोड़कर वन मे चले जाते हैं। इसे महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है। इस घटना मे सिद्धार्थ को घोडे पर सवार दिखाया है और चक्रवर्ती होने के नाते उसके सिरे पर छत्र विराजमान है।

एक ही प्रस्तर पर लबवत् चार घटनाएँ खुदी है। जन्म, महाभिनिष्क्रमण ज्ञानउपदेश करते बुद्ध प्रदर्शित है तथा उस प्रस्तर के सिरे पर स्तूप की आकृति है। इस प्रकार हीनयान के प्रतीक तथा महायान की बुद्ध-प्रतिमा का सामजस्य प्रकट होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दक्षिण भारत के स्तूपो के अलकरण मे प्रतीकों की बहुलता नही है। जातको के प्रदर्शन का अभाव-सा है। जीवन-घटनाएँ प्रतीक तथा प्रतिमा द्वारा दिखलाई गई हैं। स्तूप के चबूतरे पर बडी बुद्ध-मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

अलंकरण के आधार

दक्षिण भारत मे स्तूप-निर्माण के अनेक युगों मे कला की प्रधानता है। सभी एक युग अथवा एक साथ निर्मित नही हुए। ईसा पूर्व सदियो मे स्तूप को ईंट से तैयार किया गया था, परतु क्रमशः संगमरमर के प्रस्तर से अंड को आच्छादित किया गया। यही कारण है कि अंड का संपूर्ण भाग अलकृत हो सका। ईंट पर खुदाई का कार्य संभव न था, किंतु संगमरमर के कारण उन प्रस्तर-खंडों को सुदर रीति से उत्कीर्ण करने में कलाकारों ने अपनी कुशलता दिखलाई।

स्तूप के पश्चात् वेष्टनी की गणना होती है। अमरावती के चबूतरे के बाहर निकले चौकोर भाग (प्रक्षेपण) पर चारो दिशाओ मे आयक-स्तंभ खडे हैं। आयक-स्तभ कालातर मे जोडे गए थे। मूल स्तूप के भाग नहीं प्रकट होते। दक्षिण भारत के भट्टप्रोलु के स्तूप मे आयक-स्तंभ का अभाव है। आयक-स्तंभ नीचे चौकोर हैं, मध्य में अष्टकोण सहित तथा सिरे पर गोलाकार हैं। पचास फीट ऊँची अंड को ढँकने के लिए इनका निर्माण हुआ था। आयक चबूतरे को भी भली-भाँति अलकृत किया गया है। साची-वेदिका की तरह दक्षिण मे भी स्तूप की वेष्टनियाँ काष्ट की बनी थी। उनके स्थान पर स्थायी रूप में प्रस्तर की वेदिका तैयार की गई। वेदिका के तीनों अंगो—स्तभ, सूची तथा उष्णीम को कलाकारो ने अत्यंत कलापूर्ण एवं सुंदर ढग से सजाया है, जो देखते बनता है। स्तभो पर प्रतीको का प्रदर्शन है, विभिन्न आकार की बुद्ध-प्रतिमाएँ तथा उपासको का झुंड प्रदर्शित है। सूचियो पर गोलाकार फलक कमल पुष्प के रूपचित्र से भरे है। उष्णीस-लता-पत्र-पुष्प के प्रवाहित लहरो तालवद्ध हिलोर से सुशोभित हो रहे है। दक्षिण के कलाकार मध्य भारत या मथुरा की शैली से प्रभावित हुए थे। अतएव, अमरावती के भूभाग में उत्पन्न कला एकांगी या एकाकी नही है, अपितु सबंधित है तथा पृथक् भावना का अभाव है।

अमरावती का क्रमिक विकास

अमरावती के भूभाग मे जो कलात्मक उन्नति दीख पडती है, उसका विकास कई सदियो मे हुआ। उसके चार काल-विभाग किए जाते है—

(१) ईसवी पूर्व २००-१००

इस युग की कला मे मध्य भारत का प्रभाव स्पष्ट है। भरहुत की योजना को लेकर दक्षिण मे स्तूप निर्मित हुए। इस युग मे जितने यक्ष-यक्षिणी का प्रदर्शन है, सभी के चेहरे स्फुर्तिरहित है। ओठ मोटे है। शरीर चिपटे ढग का है, कपड़े जाघ तक शरीर को ढके है। यक्षिणी श्रीमा देवता (नामोल्लेख नही है) वामन के पीठ पर खडी है।

(२) पहली सदी

इस काल मे महायान मत का उदय हो गया था। अतएव, दूसरी सीढी पर बुद्ध-प्रतिमा का निर्माण पाते हे। इसमे मथुरा के मासल शरीर तथा विशालकाय बुद्ध मूर्ति की समानता प्रकट होती है।

(३) ई० स० १५० तक

अमरावती-वेदिका पर सातवाहन नरेश पुलमावि (१५० ई०) यज्ञ श्री सातकर्णि (२०० ई०) तथा शिवमक सातकर्णि के नाम लेखो मे उत्कीर्ण है।

अतएव, वह कलात्मक कृति दूसरी शताब्दी की मानी गई है। इस समय वेदिका सुसगठित हुई। सुंदर रीति से उत्कीर्ण की गई। सातवाहन युग की कला चरम सीमा को प्राप्त कर ली। वेदिका पर गहराई (Low Relief) में खोद कर मनुष्य का आकार तैयार किया गया। इसमें मानव की मानसिक भावनाओं का परिज्ञान हो जाता है। दूसरी सदी की कलाकृति सर्वोत्कृष्ट समझी गई है।

(४) २००-२५० ई० तक

इस काल मे मनुष्य की आकृति पतला तथा कद लंबा दीख पड़ता है। अंड के आच्छादित प्रस्तरों पर खुदाई इसी युग मे हुई। मानव-आकृति में वस्त्राभूषण की सजावट अद्वितीय है। मोती के आभूषण तथा मोतियों के यज्ञोपवीत अपना सानी नही रखता। अमरावती के निर्माण तथा अलंकरण ईसा पूर्व २०० से आरभ होकर दूसरी शती (ई० स० २००) में चरम सीमा को पहुँच जाते हैं। नागार्जुनी तथा अमरावती समकालीन है। इक्ष्वाकु नरेश के समय-स्तूप का सस्कार कर आयक-स्तभ को जोड दिया गया। नागार्जुनी की कला पर अमरावती ने पर्याप्त उन्नति की। सातवाहन युग के सर्वोत्कृष्ट कला का नमूना अमरावती-वेदिका पर दीख पडता है। अमरावती मे गहरे कटान द्वारा साञ्ची की समानता प्रकट होती है। जग्गय्यपेट की खुदाई (ई० पू० २००) भी दर्शकों को आकृष्ट करती है। इस प्रकार कृष्णा नदी के किनारे जितनी कलाकृतियों के आधार उपलब्ध हुए है, उनमे अमरावती के अंड तथा वेदिका पर उत्कीर्ण नमूने सर्वांगीण सुंदर तथा सर्वोत्तम है।

यह कहा जा चुका है कि अमरावती तथा उसके समकालीन स्तूपों का निर्माण तथा तत्संबधी अलकरण हीनयान एवं महायान युग की देन है।

अलंकरण

अतएव, भगवान् के प्रतीक एवं भगवान-प्रतिमा (बुद्धमूर्त्ति) स्थान-स्थान पर उत्कीर्ण दीख पड़ती है। वेदिका-स्तभों पर यक्ष-यक्षिणी के रूपचित्र खुदे है तथा अलंकृत आधार पर स्तूप, वृक्ष एवं चक्र उत्कीर्ण हुए थे।

●

सप्तम् अध्याय

भारत में स्तूप-निर्माण एवं इतिहास

यह पुनरावृत्ति मात्र होगी कि भारतीय इतिहास मे जिन स्तूपों का वर्णन है या अद्यावधि वर्तमान है, उनका संबंध बौद्ध धर्म से है। यह कहना सर्वथा सत्य है कि वास्तुकला मे स्तूप बौद्धो की देन है। पुरातत्व की खुदाई से जितने भग्नावशेष उपलब्ध हुए है, सभी बुद्ध-युग के पूर्व के नही है। गत पृष्ठो मे इस विषय की चर्चा की गई है कि बौद्ध-युग मे वैदिक परपरा का अनुकरण किया गया था। ब्राह्मण ग्रथों (शतपथ ब्रा० १८/८/१) मे कब्र का विवरण उपलब्ध है। कात्यायन श्रौत सूत्र (२१/४/१३) मे चक्रवती लोगो के स्मारक का विवरण आया है। अपरार्क मे भी ब्रह्मपुराण के आधार पर भस्म को एकत्रित कर भस्मकलश (Urn) मे रखने की चर्चा है। कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिककालीन परपरा ही बौद्ध स्तूपों मे परिलक्षित है। भगवान् बुद्ध को चक्रवर्ती तथा महान् योगी के रूप मे सर्वत्र दिखलाया गया है। अतएव, चक्रवर्ती के स्वरूप को सामने लाकर भस्म-पात्र के ऊपर स्तूप तैयार किए गए। उसके अधिक हरमिका के मध्य से जो छत्रयष्टि निकलती है, उसके सिरे पर चार, आठ, नौ या ग्यारह, तेरह छत्र दीख पडते है। यह भावना साची तोरण के शहतीरो पर प्रदर्शित जातक प्रदर्शन मे भी दीख पड़ती है। महाभिनिष्क्रमण के घोडे के सिरे पर छत्र, षड्दंत हाथी के सिरे पर छत्र, भस्म-पात्र के ऊपर छत्र आदि प्रदर्शनों में बुद्ध को चक्रवर्ती समझा गया है। महायोगी के रूप मे भी भगवान् बुद्ध को कई स्थानो पर दिखाया गया है। तपस्या करते बुद्ध के शरीर का अस्थिपंजर सहित प्रतिमा गांधार में बनाई गई थी। अजंता चित्रो मे महायोगी बुद्ध उपदेश करते चित्रित है। कलाकारो ने चक्रवर्ती के स्वरूप को अधिक प्रदर्शित किया। स्तूप की परपरा को वर्तमान काल मे भी भग्नावशेष तथा कई खडे स्तूप या पूजानिमित्त स्तूप के रूप मे देखते है।

वैदिककालीन स्मारक के रूप मे लौरिया नंदन के स्तूप का नामोल्लेख किया जा सकता है। साहित्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने अपने केस को तपुस तथा भलिक नामक व्यापारियों को दे दिया था, जिसके ऊपर उन्होंने उड़ीसा में स्मारक बनवाया था। बुद्ध के भस्म (शरिर) से

संबंधित स्मारक बनाने के लिए महापरिनिर्वाण के पश्चात् राजवंशों में युद्ध भी हुआ और अंत में आठ वंशों में उस राख का बँटवारा किया गया। उसी का प्रदर्शन साची तोरण के शहतीर-पर किया गया है। युद्ध की तैयारी तथा संधि के फलस्वरूप आठ हाथियों के मस्तक पर भस्मकलश है। प्रत्येक भस्मपात्र के ऊपर छत्र दीख पडता है। अतएव, उसे चक्रवर्ती बुद्ध का शरिर ही माना जा सकता है। उन राजाओं ने आठ स्तूपों का निर्माण किया होगा, इसमें सदेह नही। किंतु, पुरातत्व की खुदाई से वैशाली का स्तूप ही प्रकाश मे आया है।

पारिभोगिक धातु के सबध में दो शब्द कहना अप्रासगिक न होगा। बौद्ध चीनी यात्रियो ने उनकी चर्चा की है। फाहियान ने बुद्ध के भिक्षापात्र का वर्णन किया है। ह्वेनसाग ने भगवान् के चूडा का वर्णन किया है। अमरावती स्तूप के अलकरण में भिक्षापात्र तथा चूडा-पूजा के दृश्य दीख पड़ते है। पारिभोगिक स्तूप का ऐसा उदाहरण कम मिलता है। सिंहल के दीपवंश मे पारिभोगिक स्मृतिचिह्न (Relic) का वर्णन आया है। सभी स्तूपो मे स्मृतिचिह्न नही पाए जाते। कुछ भगवान् की यात्रा की यादगार मे निर्मित है। बुद्ध ने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र) सारनाथ मे दिया था, जहाँ पाँच सौ प्रत्येक बुद्ध को निर्वाण मिला था। उसी स्थान पर दो स्तूप और तैयार किए थे, जिनके अवशेष नही मिले है।

ईसा पूर्व पाँचवी सदी मे पिपरावा (बस्ती, उत्तर प्रदेश) नामक स्थान पर स्तूप तैयार किया गया था, जो ईट का बना है। उससे सबधित कलश (भस्मकलश) पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है—

सुकिति भतिन सभगिनिक
सपुतदलनं इयं सलिल निधने
बुधस भगवते सकियानं।

सुकीर्ति एव भक्ति नामक व्यक्तियो ने स्त्री-पुत्रो के साथ भगवान् बुद्ध के शारीरिक स्मृतिचिह्न के पात्र को (दान दिया)। लेखन शैली के अनुसार विदित होता है कि इस स्तूप का निर्माण अशोकपूर्व काल मे हुआ होगा। ह्वेनसांग के कथनानुसार अशोक ने पूर्व स्तूपो से धातु को निकाल कर चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण किया तथा पूजा का प्रचलन किया। इस कारण स्तूप का निर्माण बौद्ध धर्म मे संबंधित है, इसमे सदेह नही। अशोक ने दो स्थानो पर स्तूप निर्मित किए।

१. बुद्ध के जीवन-संबंधी स्थान और

२. बुद्ध धर्म से संबंधित स्थान (जहाँ बुद्ध ने स्वयं यात्रा नहीं की) ।

भगवान् बुद्ध ने स्वयं आनंद से कहा था कि स्तूप का निर्माण चौराहे (चातुमहापथे) पर होना चाहिए। इसी कारण अशोक के समय में दोनो प्रकार के स्थानों को चुना गया और स्तूप निर्मित हुए। अशोक के शासनकाल में स्तूप-निर्माण का कार्य अत्यधिक स्थानों या सख्या में संपन्न हुआ था। सारनाथ, नालंदा, संकिसा, राजगृह, श्रावस्ती, बोधगया एवं वैशाली आदि स्थानों में भगवान् ने वर्षावास किया तथा उपदेश देते रहे। अत, इन स्थानो पर स्तूप का निर्माण उचित ही था। तक्षशिला, भरहुत, साची, अमरावती आदि ऐसे स्थान हैं, जहाँ बुद्ध स्वयं न जा सके और न उन स्थानों का सीधा धार्मिक महत्त्व था। परतु चौराहे, पर स्थित होने के कारण एव राजमार्ग की प्रधानता के कारण अशोक ने वहाँ स्तूप बनवाया। भारत मे सभवन पारिभोगिक स्तूपों का महत्त्व न रहा होगा। अतएव, स्मृतिचिह्न (धातु) पर ही स्मारक बनाए गए।

मौर्यकाल से पूर्व जिन आठ नरेशो ने भस्म का बँटवारा किया था, उनके स्तूपों का वास्तविक रूप मे ज्ञान नही है। राजगृह के स्तूप को अजातशत्रु ने तैयार किया। मनियार मठ का स्तूप कालातर में निर्मित हुआ था। मनियार नाम स्तूप के बाहरी भाग पर सीमेंट (Stucco) के सहारे छोटी मूर्तियाँ बनाई गई थी, जिनके स्थान का अंदाजा लगाया जाता है। प्लास्टर या सीमेंट की बनी प्रतिमाएँ सग्रहालय मे सुरक्षित है। कपिलवस्तु या कुशीनगर के प्राचीनतम स्तूपों के भग्नावशेष प्रकाश मे नही आए है। जो स्तूप के आकार के है, उनका ईसा पूर्व छठी सदी मे निर्मित मानना संदेहात्मक है। इस तरह पिपरावा को छोड़ कर अशोक से पूर्व निर्मित स्तूप की स्थिति में संदेह होता है।

अशोक ने स्तूप-पूजा के निमित्त हजारो स्तूपो को तैयार कराया, जिनके सबंध मे पूरी जानकारी नही है। तक्षशिला तथा सारनाथ मे बड़े विशाल स्तूप बनवाए गए जिन्हे धर्मराजिका कहते हैं। उनके भग्नावशेष के देखने से विस्तृत आकार का ज्ञान हो जाता है। सारनाथ स्तूप-धर्मराजिका के चारों तरफ छोटे-छोटे पूजा निमित्त (Votive Stupa) स्तूप बनाए गए थे, जो अधिकतर भग्नावस्था में हैं। उसी के समीप अशोक का स्तंभ-लेख खड़ा है, जिसके अधोभाग पर उत्कीर्ण धर्मशासन आज विद्यमान है। मूलगंध कुटी

विहार के समीप धमेक स्तूप खड़ा है, जो ईंट का बना है। चालीस फीट तक धमेक का बाहरी आकार प्रस्तर से आच्छादित किया गया है। उस भाग के प्रस्तर विभिन्न आकार के ज्यामिति के कटान से सुशोभित है। उसके ऊपर एक सौ दश फीट तक सादी ईंट दीख पड़ती है। धर्मराजिका के विषय मे यह कहा गया है कि काशीनरेश राजा चेतसिंह ने उसके ईंटो या प्रस्तरों को हटा दिया, जिससे स्तूप नष्ट हो गया। धर्मराजिका स्तूप एक दूसरे के ऊपर क्रमश छह बार आच्छादित किया गया था। तक्षशिला तो चौराहे पर स्थित होने के कारण यात्रियों को आकृष्ट कर सका। सारनाथ मे भगवान ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था, अतएव मूलगध कुटी के समीप, धर्मराजिका स्तूप का निर्माण यथोचित था। भरहुत तथा साची के स्थान के महत्त्व को समझ कर एवं राजमार्ग मे स्थित होने के कारण अशोक ने स्तूप तैयार करवाया, जिसके पूर्व-रूप का अनुमान मात्र कर सकते है। ईंट के स्तूप को शुंगकाल मे प्रस्तर से आच्छादित किया गया, जिनका वर्णन किया जा चुका है। साची के तीनो स्तूपों को अशोक ने तैयार किया या नही, यह अतिम रूप से नही कहा जा सकता, किंतु मुख्य स्तूप तथा समीप मे स्तभ के सबध मे संदेह नही किया जा सकता। साची का महत्त्व तो गुप्तकाल तक बना रहा, परतु भरहुत का अत शुंगकाल के पश्चात अवश्य हो गया। सकिसा तथा श्रावस्ती के स्तूपो को किसने तैयार कराया, यह अज्ञात है। बुद्ध के जीवन से इन स्थानो का संबध था। सकिसा मे भगवान् स्वर्ग मे मायादेवी को बुद्धधर्म का उपदेश देकर अवतरित हुए थे। श्रावस्ती जाने के लिए अनाथपीडिक को बुद्ध का आदेश हो गया। वहाँ कई वर्षावास व्यतीत किए। जेतवन विहार मे निवास किया तथा धर्म का उपदेश देते रहे। नालदा के मूल स्तूप का निर्माण अशोक ने अवश्य किया था। वहाँ भगवान् निवास करते रहे। किंतु, वह स्तूप कई बार नष्ट हुआ तथा उसका जीर्णोद्धार किया गया। अतिम स्वरूप पालयुगी समझा जाता है।

दक्षिण भारत मे तामिलनाडु प्रदेश के गन्टूर जिले मे सभी स्तूप ईसवी पूर्व पहली शती से तीसरी शती ई० तक निर्मित हुए थे। उन पर प्रदर्शित हीनयान मत के कतिपय प्रतीक इस कथन को प्रमाणित करते है। महायान-संबंधी प्रतिमाएँ भी दीख पडती हैं। आंध्र प्रदेश मे कृष्णा नदी के किनारे इन स्तूपो की स्थिति से अनुमान लगाया जा सकता है कि सातवाहन नरेशों ने स्तूप-निर्माण को प्रोत्साहित किया था। स्तूपो पर आच्छादन, आयक-स्तभो का निर्माण तथा अन्य अलकरण साधन ईसवी सन् के पश्चात् तैयार

हुए। इस प्रकार कई सदियों तक आंध्र प्रदेश में यह कार्य चलता रहा। अमरावती,जग्गय्यपेठ, घंटशाला, भट्टप्रोलू स्तूपों का बुद्ध धर्म की प्रगति का द्योतक है। जग्गयपेट तथा अमरावती की कला मे समानता है और यह भी सुझाव रखा गया है कि वह अमरावती से पूर्व निर्मित हुआ। दोनो में तीस मील का अंतर है। इनकी वेदिकाएँ तथा अंड पर संगमरमर को हटा कर स्मारक को नष्ट कर दिया गया। उनके अवशेष मद्रास संग्रहालय मे सुरक्षित है। मछलीपट्टम से बीस मील दूर घटशाला स्तूप बना था। इसके टीले का सर्वेक्षण यह बतलाता है कि छप्पन फीट गोलाकार दीवाल जो अंतर-रेखा से संबधित थी, उसक चबूतरे की ही दीवाल है।

दूसरी शती ईसवी पूर्व मे स्तूपो को स्थायी रखने की योजना कार्यान्वित की गई। यद्यपि शुंगनरेश बौद्धमतानुयायी न थे, किंतु उन्होने किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न की। भरहुत तथा साची के स्तूपो पर प्रस्तर का अच्छादन दिया गया। काष्ट की बेष्टनी प्रस्तर की बनाई गई और उसे सुंदर रीति से अलंकृत किया गया। पहली सदी से स्तूप-निर्माण का अभ्युदय दिखलाई पडता है। कुषाण राजा कनिष्क ने बौद्ध होने के कारण कई स्तूप बनवाए। ह्वेनसाग ने उल्लेख किया है कि पेशावर मे कनिष्क द्वारा ४०० फीट ऊँचा स्तूप बनाया गया, जिसकी वेदिका १५० फीट ऊँची थी। आज उस स्तूप का पता नही है। उसके समीप अन्य स्तूप थे। संभवतः राजाश्रय पाकर गंगा की घाटी से हटकर उत्तर-पश्चिम भारत तथा अफगानिस्तान मे स्तूप बनाए गए। वे सभी भाग कनिष्क के राज्य मे संमिलित थे। मानिकयाला के भूभाग मे अनेक स्तूप बने थे। कनिष्क के विस्तृत साम्राज्य मे बल्ख एव खोतान (मध्य एशिया) तक स्तूपो का जाल बिछा था। चीनी यात्रियो ने सैकड़ा विहारो का उल्लेख किया है जो उत्तर-पश्चिम एव काबुल तक फैले थे। योरप के विद्वानों ने गाधार तथा जलालाबाद के क्षेत्र मे सर्वेक्षण कर सैकडो स्तूपो का पता लगाया है। इन स्तूपो का रूप उत्तरी भारत के स्तूपो से अधिक मिलता है। प्राय: सब वर्गाकार चबूतरे पर बने है। वही से स्मारक का ऊपरी आकार प्रारंभ होता है। स्तूप के अंड का भाग संपूर्ण रूप में नही मिलते। भग्नावशेष से प्रकट होता है कि उनका अंड अर्द्धगोलाकार या नुकीला था। किसी मे गुबज के मध्य में ऊँचा स्थान बना था। खैबर के भूभाग मे भी छोटी पहाडी के ऊपर बौद्ध-स्मारकों की ढेर है, किंतु उनके आधार के अतिरिक्त अन्य भागो का पता नही है। उन स्तूपों के चबूतरे पर सीमेट (Stucco) के रूपचित्र बने है। चबू-

तरा ताख से भरा पड़ा है और उसी मे धार्मिक मूर्तियाँ रखी हैं, जो प्लास्टर की बनी है।

गांधार का सर्वप्रसिद्ध स्तूप मनिक्याला के नाम से प्रसिद्ध है, जो रावलपिंडी से बीस मील दूर है। इस स्थान पर एक लेख उपलब्ध हुआ है, जो कनिष्ट के १८ वें (वर्ष) तिथि का है। अभिलेख निम्न प्रकार है—

सं० १०+४+४ कतियस मसम दिवसे २० एत पुर्वए महरजस कणेष्कस्य गुषण वश मवर्धक लल दँडणयगो वेश्पशिस क्षत्रपस होरमुर्तो सनस अपनगे बिहरे होरमुर्तो एत्रणण भगव बुद्ध थुव (थुव = स्तूप) प्रतिस्तवयति। महाराज कनिष्क के १८ वे वर्ष मे कार्तिक मास शुक्ल पंचमी (२० वें दिन) पूर्वा तिथि के अवसर कुषाण वंश की सवृद्धि के निमित्त ललनायक दडनायक (पदाधिकारी), वेश्य क्षत्रप (गवर्नर) होरमुर्ति (दानपति) ने अपने विहार के समीप भगवान् बुद्ध के स्तूपो को स्थापित किया।

इस स्तूप के खोदने पर एक भस्मकलश (भस्मचिह्न) मिला, जिसके मध्य मे कई सिक्के तथा मोतियाँ एक सोने के पात्र मे रखे थे। वह स्वर्णपात्र चाँदी तथा चांदी का पात्र तांबे के बरतन मे रखा था। वह ढक्कन से बद पाया गया था तथा जमीन की सतह से दस फीट ऊँचे पर प्राप्त हुआ था।

मानिक्याला स्तूप का चबूतरा गोल है तथा उस पर अर्द्धगोलाकार गुंबज (अंड) है। वह १२७ फीट व्यास तथा ४०० फीट क्षेत्रफल मे विस्तृत है। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम मे भारत मे अनगिनत स्तूप बनाए गए, जिनका एक मात्र उद्देश्य पूजा ही रहा होगा। उत्तर भारत के स्तूपों से इनमे अधिक अतर रहा। उनमें अलंकरण का नाम ही था। आधार पर प्लास्टर की बनी मूर्तियाँ कही-कही मिलती है अन्यथा और सभी स्थानो पर अलंकरण का अभाव है। वेष्टनी बनाने की परिपाटी अज्ञात थी। स्तूपो के साथ महाविहार का होना इस प्रदेश की विशेषता है। सभी स्तूप प्रस्तर के बने है; क्योकि वह सामग्री सुलभ थी। संक्षेप मे यह कहना आवश्यक है कि बौद्धनरेश कनिष्क का प्रश्रय पाकर उत्तर-पश्चिम भारत में स्तूप बने, जिनमे गाधार शैली विशेषकर प्लास्टर प्रतिमा (Stucco Figures) स्पष्ट है। तक्षशिला का धर्मराजिका मानिक्याला के अतिरिक्त सभी स्तूप ढोल आकार के हैं। पाँचवी-छठी शती तक सिंध प्रदेश मे भी अनेक स्तूप निर्मित हुए। ईंट का अधिकतर प्रयोग किया गया है। मीरपुर खास का स्तूप गुप्त कला से प्रभावित है।

भारत में चौथी सदी से गुप्तवंश का उत्थान हुआ, किंतु गुप्तनरेश परम वैष्णव थे। उनके राज्यकाल मे सारनाथ, श्रावस्ती तथा कसिया में स्तूप बनाए गए। इनमे प्राचीन परिपाटी का निर्वाह नही दीख पड़ता। इनमे क्रमशः ऊपर-ऊपर कई चबूतरे की स्थिति है तथा अंड ढोल आकार के है। उत्तर गुप्तकाल मे स्तूप-पूजा पर बौद्धनरेशों की आस्था कम हो गई। महायान मत मे हजारों बुद्ध-प्रतिमाएँ बनीं, जिनका एक लक्ष्य था—पूजा। अतः, प्रतिमा-स्थापना को अधिक महत्त्व दिया गया। पूर्वी भारत के पालनरेश परम सौगत होते हुए भी स्तूप-निर्माण की ओर आकर्षित न हुए। उनके शासन मे स्तूप का जीर्णोद्धार अवश्य हुआ। नालदा के मूल स्तूप का कई बार संस्कार किया गया था। पालयुग में भी उसकी वृद्धि हुई। वर्त्तमान खुदाई से पाँच बार तक उसकी मरम्मत एवं वृद्धि का अनुमान लगाया जाता है। उसके चारों तरफ पूजा-स्तूप (Votive Stupa) निर्मित है। मूल स्तूप अशोक ने बनवाया था। अंतिम सस्कार पालयुग मे हुआ। अंतिम स्तूप की दीवाल पर प्लास्टर मे तैयार प्रतिमाएँ ताख पर स्थित है। भागलपुर जिले मे अतिचक स्थान से एक विशाल स्तूप का आकार प्रकाश मे आया है। उस स्थान को विक्रमशिला से एकीकरण करते है। इसे पालराजा धर्मपाल ने तैयार किया। स्तूप की बाहरी दीवाल पर से मिट्टी के ठीकरे (Plaques) संबद्ध है। उन पर नाना प्रकार के रूपचित्र मिले है। इसकी पहाड पुर (उत्तरी बंगाल, राजशाही) के स्तूप से समता कर सकते है। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तर गुप्तकाल से स्तूप-निर्माण का कार्य समाप्त प्राय हो गए। स्थान-स्थान पर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की गई। विहार में ही पूजागृह बन गए। भिक्षु या उपासक पूजा के लिए बाहर कही नहीं जाते। इस प्रकार पाचवी सदी से स्तूप-निर्माण-कार्य का ह्रास होने लगा।

●

अष्टम् अध्याय

कतिपय स्तूपों के भग्नावशेष

सारनाथ

वाराणसी के समीप सारनाथ नामक प्राचीन स्थान है, जहाँ भगवान् बुद्ध ने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र परिवर्तन) किया था। प्राचीनतम नाम मृगदाव था, जहाँ काशीनरेश ब्रह्मदत्त शिकार खेलने जाया करता था। जातक मे वर्णन है कि एक समय बुद्ध बोधिसत्व का जन्म ग्रहण कर सारंगनाथ स्वरूप मे मृगदाव मे विचरण कर रहे थे। उन्होने काशीराज को अहिंसा की शिक्षा दी। इसी कारण सारंगनाथ के स्थान को वर्त्तमान काल मे सारनाथ के नाम से पुकारते हैं। बोधगया मे बुद्धत्व-प्राप्ति के पश्चात् भगवान् बुद्ध सोच रहे थे कि प्रथम धर्मचक्र कहाँ आरंभ किया जाय। तपस्या करते समय उरुबेला में बोधगया के समीप गौतम को पाँच भिक्षुओ से भेंट हुई थी। सभी घोर तपस्या मे लीन थे। कुछ समय पश्चात् जब सिद्धार्थ गौतम को ज्ञान न हुआ, तो उन्होंने तपस्या को निरर्थक घोषित किया। उनके सहयोगी पाँच साधु गौतम को संस्काररहित मान कर उरुबेला से हट कर मृगदाव (सारनाथ) चले आए थे। बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् बुद्ध को अतर्ज्ञान हुआ कि पूर्व परिचित साधुगण मृगदाव मे तपस्या में लीन है। इसी कारण यह सोचा कि सर्वप्रथम उपदेश उन्ही पाँचो को दिया जाए। इसी उद्देश्य से बुद्ध बोधगया मे मृगदाव (१३० मील दूर) आए और साधुओ को उपदेश दिया। यह ऐतिहासिक घटना सारनाथ की बुद्ध-प्रतिमा में दर्शाया गया है। बुद्ध ध्यान मे मग्न धर्मचक्र परिवर्त्तन मुद्रा मे वज्रासन मारे बैठे हैं। प्रतिमा की चौकी पर केंद्र में चक्र की आकृति है तथा दोनों तरफ दो मृग आकृतियाँ खुदी है। यह मृगदाव का प्रतीक है तथा प्रथम उपदेश करती हुई प्रतिमा तैयार की गई है। उसी चौकी पर पाँच साधुओं की भी आकृतियाँ हैं, जो उस घटना को पुष्ट करती है कि उरुबेला के निवासी पाँच साधुगण को बुद्ध मृगदाव मे उपदेश दे रहे है।

सारनाथ की प्राचीनता को ध्यान मे रख कर अशोक ने वहाँ स्तूप-निर्माण किया था। ईसा पूर्व तीसरी सदी से बारहवी सदी तक सारनाथ महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। अतएव, स्थान के महत्त्व के कारण प्राचीन भारत के शासकों ने

कुछ-न-कुछ भवन का निर्माण कर इसे ऐतिहासिक प्रमुखता दी। अशोक द्वारा निर्मित तीन स्तूप वर्त्तमान हैं—

(१) चौखंडी

(२) धमेक स्तूप तथा

(३) धर्मराजिका।

सारनाथ जाते समय मार्ग मे ही चौखंडी नामक स्तूप का भग्नावशेष दीख पड़ता है। ऊँचे टीले पर आठ कोण की ईंट की (स्तूप) इमारत है। इसकी विशालता को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि यह विशाल स्तूप का खंडहर है। संभवतः धमेक स्तूप की तरह इसका आकार था। यह जमीन से ८४ फीट ऊँचा है। इस स्तूप के केंद्र मे कनिंघम ने अवशेष ढूँढ़ने के निमित्त खुदाई की थी, किंतु कुछ उपलब्ध न हो सका। कहा जाता है, उस पर अकबर ने (१६ वी सदी मे) गुंबज बनवाया था। । परंतु, इसकी बनावट से स्तूप की तिथि का वास्तविक अंदाजा नही लगाया जा सकता। इसी स्थान पर बुद्ध ने पाँच साधुओ को उपदेश दिया था। बौद्ध साहित्य मे इसका विवरण मिलता है। सर्वप्रथम बुद्ध को देख कर सभी ने उनका निरादर करना निश्चय किया, परंतु समीप आते ही पाँचों ने भगवान का स्वागत ही नहीं किया, बल्कि चारो दिशाओ मे धर्मप्रचार का सकल्प भी किया।

धमेक स्तूप उससे कुछ दूरी पर स्थित है, जिसके संबंध मे विद्वानो मे मतभेद है। धमेक शब्द ही धर्म का अप्राकृतिक रूप है। किस मतव्य से इसे बनाया गया था, यह निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। सभवतः इसी स्थान से बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि मैत्रेय बुद्ध का जन्म वही होगा। यह १०४ फीट ऊँचा है। सतह मे प्रस्तर लगे है। स्तूप का निचला भाग सुंदर खुदे प्रस्तरो से आच्छादित है तथा ऊपरी भाग ईंट का है। इस स्थान से प्राप्त अभिलेख से प्रकट होता है कि चौथी सदी मे सर्वास्तिवादिन लोगो के हाथो सारनाथ की प्रमुखता रही।

धर्मराजिका स्तूप के भग्नावशेष अशोक-स्तंभ के समीप ही मे दीख पड़ता है। धमेक स्तूप से छोटा इसका आधार न होगा। सौ वर्ष पूर्व यह स्तूप अपने वास्तविक स्थिति मे था, किंतु काशीराज के मन्त्री जगत सिंह ने अपने स्थान के निर्माण हेतु स्तूप को भग्न कर सारा ईंट-प्रस्तर उठा लिया। इस स्तूप को नष्ट करते समय उन्हें प्रस्तर की बड़ी डिबिया (बाक्स) मिली, जिसमे हरे संगमरमर के पात्र में राख रखी थी। संभवतः वह बुद्ध का अवशेष था। उस भस्मपात्र को गंगा नदी में फेंक दिया गया।

इस प्रकार मूल्यवान भस्म का लोप हो गया। इसी प्रकार अनेक स्तूपों की दशा हुई। इससे संबद्ध स्थिरपाल तथा वसनपाल के लेख मिले हैं। इस धर्मराजिका स्तूप के चारों तरफ अनेक पूजा-स्तूपों (Votive Stupa) के चबूतरे दिखलाई पड़ते हैं जिनसे प्रकट होता है कि मुख्य स्तूप के पार्श्व में मनौती स्तूप बनाए गए थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने सारनाथ के स्तूपों का वर्णन किया है।

कुशीनगर

बौद्ध धर्म के चार तीर्थस्थानों में सारनाथ के पश्चात् कुशीनगर की गिनती होती है। यहीं भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। यह स्थान देवरिया जिला (उत्तर प्रदेश) में स्थित है, जो कसिया से एक मील की दूरी पर है। प्राचीन नाम कुशीनगर है जिसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। बौद्ध मंदिर के पार्श्व में स्तूप है, जिसे 'महापरिनिर्वाण स्तूप' कहते हैं। आनंद ने भगवान् के आग्रह पर निर्वाण के लिए इसे चुना था। इस स्तूप के निर्माता का नाम अज्ञात है। इसका संस्कार विभिन्न समय में होता रहा। पांचवी सदी में भी इसकी मरम्मत हुई थी। उसकी खुदाई से एक लेख प्रकाश में आया है, जिसमें यह उल्लिखित है कि हरिबल स्वामी ने इसे दान दिया था। यह ताम्रपत्र परिनिर्वाण स्तूप के भीतर रखा था। संभवतः हरिबल स्वामी ने इसका संस्कार किया। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस स्तूप को देखा था। यह १६७ फीट ऊँचा है।

दूसरा स्तूप 'अंगार चैत्य' के नाम से प्रसिद्ध है जो परिनिर्वाण स्तूप से तीन मील की दूरी पर है। कहा जाता है कि इसी स्थान पर तथागत (बुद्ध) का शरीर जलाया गया था। इसकी खुदाई से कोई वस्तु प्रकाश में नहीं आई है। दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सूत्त में इस संबंध में विवरण मिलता है कि बुद्ध ने आनंद से मल्ल की नगरी कुशीनगर में चलने के लिए आग्रह किया था। यहीं आकर बुद्ध को निर्वाण हुआ। उस सूत्त में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है कि भक्त लोगों ने मृत शरीर को कपड़े में लपेट कर चिता पर जलाया।

उस स्थान पर वर्णन किया गया है कि मगध के राजा अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवी, कपिलवस्तु के शाक्य, अलकप्प के बुलि, रामग्राम के कालिय, वेठदीप के ब्राह्मिन, पावा के भक्त लोगों ने भी कुशीनारा के मल्ल राजा से शरीरभस्म का अवशेष मांगा। इस प्रकार कुशीनारा में तथागत के निर्वाण

के पश्चात् राख के बँटवारे से शाति हुई। साची के तोरण पर इसी घटना को प्रदर्शित किया गया है।

श्रावस्ती

उत्तर प्रदेश के गोडा जिले में वर्त्तमान सहेत-महेत का पुराना नाम श्रावस्ती था, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मप्रचार के लिए २४ वर्षावास व्यतीत किया। अनाथपीडिक प्रसिद्ध श्रेष्ठी था, जिसने बुद्ध को निमत्रण देकर वहाँ बुलाया। यह घटना बोधगया तथा भरहुत की वेदिकाओ पर खुदी है। वहाँ भी स्तूपो के भग्नावशेष मिले हैं। कहा जाता है कि अशोक ने स्तूप बनवाया तथा धातुशरिर भी उसमे रखा था। अनाथपीडिक आराम के पार्श्व में भग्नावशेष स्थित है।

कौशाबी

इस नगर का नाम रामायण तथा महाभारत मे भी उल्लिखित है। प्राचीन समय मे यह बौद्धो का भी प्रधान केंद्र हो गया था। प्रयाग से ३८ मील पर स्थित यह नगर (कोसम) यमुना के किनारे स्थित है। भगवान् बुद्ध ने प्रचारार्थ कौशाबी मे कई वर्षावास व्यतीत किया, जिसका प्रमाण 'घोषिताराम' के भग्नावशेष से मिलता है। कहा जाता है कि बुद्ध ने 'कोसबीय सूत्त' का उपदेश यही किया था। इस स्थान के महत्त्व के कारण ही अशोक ने वहाँ स्तंभ स्थापित कर लेख खुदवाया। पाटलिपुत्र से उज्जैन जाते समय राजमार्ग कौशाबी होकर जाता था। इस स्थान की प्रमुखता के कारण अशोक ने स्तूप का भी निर्माण किया। आज भी मघाराम के दक्षिण-पूर्व स्तूप के अवशेष देखे जा सकते है। यह २०० फीट ऊँचा स्तूप था, जो बुद्ध के नख एवं केश.के ऊपर निर्मित हुआ था। इसे 'पारिभोगिक स्तूप' कहेंगे। फाहियान तथा ह्वेनसाग ने इसका वर्णन किया है।

राजगृह

मगध की प्राचीनतम राजधानी का नाम राजगृह था, जिसे पाटलिपुत्र की स्थापना के पश्चात् त्याग दिया गया। भगवान् बुद्ध ने ज्ञानप्राप्ति से पहले ही वहाँ निवास किया था और बुद्धत्व के बाद बारबार वहाँ वर्षावास व्यतीत करते रहे। मगधनरेश बिंबिसार ने गृधकूट पर बुद्ध का आराम बनवाया, जहाँ भगवान् निवास करते रहे। यद्यपि राजगृह मे एक भी स्तूप दृष्टिगत नही होते, किंतु चीनी यात्री ह्वेनसाग ने कई स्तूपो का वर्णन किया है। उसका कथन है कि राजमहल के उत्तरी द्वार के समीप एक स्तूप था, जहाँ देवदत्त तथा अजातशत्रु की मित्रता हुई थी। वही उन्होने बुद्ध को मारने के लिए नालगिरि हाथी को छोड़ा था, पर उनकी आशा फलवती न हुई। यात्री लिखता है कि

इससे उत्तर-पूर्व में एक छोटा स्तूप बना था, जहाँ सारिपुत्र ने अश्वजित भिक्षु की बातें सुनी और भिक्षु बन गया। उत्तर दिशा मे एक अन्य स्तूप था, जहां श्रीगुप्त बुद्ध को आग से जला देना चाहता था। अत मे उसे ज्ञान हुआ और भगव न् का समादर करने लगा। श्रीगुप्त के स्थान से कुछ दूरी पर जीवक का स्तूप था। उसे वैद्यरत्न जीवक ने बुद्ध के लिए निर्मित किया था। यद्यपि आराम मे निवास का विवरण मिलता है, पर ह्वेनसांग ने उसे स्तूप का नाम दिया है। इन स्तूपो का निर्माण अवशेष के लिए नही माना जा सकता। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् स्तूपो मे शरीर-अवशेष की कल्पना की जा सकती है। तथागत के गृध्रकूट के मार्ग में भी दो छोटे स्तूप बने थे। स्यात् चीनी यात्री ने विहार को स्तूप (आराम) कहा है। उन स्तूपो के भग्नावशेष प्रकाश मे नहीं आ सके है।

नालंदा

मगध की प्राचीनतम राजधानी राजगृह से ५ मील दूर पर नालंदा नामक बौद्ध स्थान है, जो पटना से पचपन मील की दूरी पर स्थित है। नालंदा बौद्धो का प्रमुख तीर्थो मे नही गिना जाता, पर बौद्ध साहित्य मे इसका नाम बारबार आता है। सारिपुत्र इसी के समीप पैदा हुआ था। चौथी सदी से नालंदा महाविहार के कारण इसकी ख्याति हो गई, जहा के प्राध्यापकों ने बृहत्तर भारत मे जाकर बौद्ध धर्म तथा साहित्य का प्रचार एवं प्रसार किया। बुद्ध भी वहाँ गए थे। इस कारण अशोक ने वहाँ स्तूप का निर्माण किया था। उसके भग्नावशेष महाविहार के पश्चिम दिशा मे विस्तृत है। नालंदा के भव्य भवनो की योजना दर्शनीय है। एक ओर चैत्य (स्तूप) की पंक्तियाँ तथा दूसरी ओर संघाराम, विहार तथा विश्वविद्यालय के भवन स्थित है।

नालंदा का प्रधान स्तूप अपनी विशेषता रखता है। इतनी ऊँची इमारत दूसरी नही है। इसके भग्नावशेष के परीक्षण से प्रकट होता है कि मध्य भाग में मूल स्तूप स्थित था। कालांतर मे उसमे और आकार जोड़े गए। चारों तरफ पूजा स्तूप (Votive Stupa) दिखलाई पडते है। देखने से पता लगता है कि एक के नष्ट होने पर दूसरा स्तूपाकार बना। उसके बाद तीसरा, चौथा बनता रहा। इसकी परीक्षा यह बतलाती है कि मूलस्तूप की वृद्धि न कर उसके अवशेष पर नया स्तूप बनाया गया। इस तरह सात सतहे निश्चित हो जाती है यानी मूल स्तूप के ऊपर छह बार अन्य आकार बनते रहे। पहले तीन आकार मलवे मे छिपे है। वे दृष्टिगत नही होते। बारह वर्ग फीट के स्थान मे

सीमित हैं। चौथी बनावट विस्तृत ढंग से की गई थी। उस आवरण को स्थानीय रूप मे देखा जा सकता है। पांचवा, छठा तथा सातवां आवरण पृथक्-पृथक् सीढ़ियों की स्थिति से प्रकट हो जाता है। स्तूप का पाँचवाँ आवरण आकर्षणयुक्त है, सुरक्षित है तथा प्रत्येक कोने में गुंबज बने हैं। इसकी दीवाल सीमेंट के द्वारा बनी आकृतियो (Stucco) से सुसज्जित हैं। सीढ़ी के एक ओर बुद्ध तथा बोधिसत्व की प्रतिमाएँ दीख पड़ती हैं। उस स्थान पर पूजा-स्तूप भी बने हैं, जिनके लेख छठी सदी के अक्षरों में लिखे हैं। सीमेंट द्वारा बनी मूर्तियाँ (Stucco figures) भी गुप्तकाल की हैं। अतएव, पाँचवाँ आवरण पाँचवी सदी के पश्चात् हुआ होगा। पिछले आवरण को तैयार करते समय पहले स्तूप के अवशेष के चारों तरफ चतुर्भुजाकार दीवाल बनायी जाती जो पूर्व स्थित आकार को सँभाल लें। इस प्रकार दीवार खड़ी हो जाने पर पूर्व आकार तथा दीवार के मध्य भाग में मिट्टी-ईंट से भर दिया जाता था। इस बीच के स्थान में कई पूजा-स्तूप प्रकाश में आए हैं, जो पूर्व समय में निर्मित हुए थे। इस कारण कुछ भाग सामने हैं तथा कुछ अंश छिपे हैं। बीच के भाग की खुदाई से सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। कई आवरण के कारण ही स्तूप का विस्तृत आकार हो गया। अनेक पूजा-स्तूप सामने आए हैं।

इस प्रधान स्तूप की उत्तर दिशा मे कई स्तूपो के भग्नावशेष दीख पड़ते हैं। उनके चबूतरे अलंकृत हैं तथा सीमेंट द्वारा मूर्तियाँ बनी हैं।

●

प्राचीन भारत
के
स्तूप तथा गुहा केन्द्र
तक्षशिला
मानिक्याला
हड़प्पा
सिन्धु
मोहन जो
दड़ो
श्रावस्ती
गंगा नदी
कसिया
पिपरावा
सारनाथ
पाटलिपुत्र
नालदा
राजगिरि
पहाड़पुर
बेसनगर
साँची
कोसम
भरहुत
बाघ
अजंता
एलोरा
भाजा
कार्ले
नासिक
कोन्दने
कन्हेरी
बेदसा
उदयगिरि
घंटशिला
भट्टिप्रोलु
अमराबती
रत्नाकर
महोदधि
सिंहल
अनुराधपुर
हिन्द
सागर

द्वितीय खंड

गुहा

प्रथम अध्याय
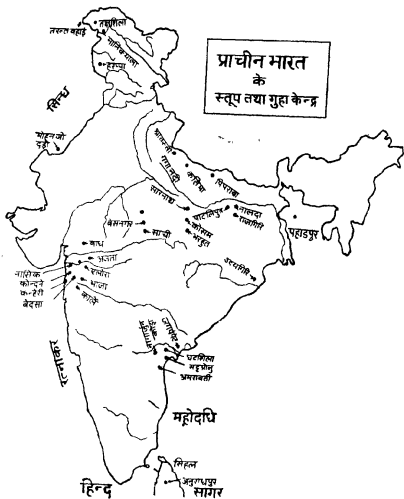
गुहा का प्रयोजन एवं योजना

बुद्धधर्म के अभ्युदय के साथ बौद्ध संप्रदाय के संमुख विभिन्न समस्याएँ उपस्थित होती गई, जिनका समाधान बुद्ध ने स्वयं किया था। उनका विवरण बौद्ध ग्रथों में भी मिलता है। प्रश्न पूछे जाने पर भगवान् ने उन उलझनों का हल भी निकाला। बुद्धमन की अनेक समस्याओ मे यह एक जटिल प्रश्न था कि भिक्षुगण का निवास कहाँ स्थिर किया जाए? धर्मकाय के विकास के साथ भिक्षुओ की संख्या दिन-प्रतिदिन बढती जा रही थी। वर्षावास के पश्चात् भगवान् के साथ सैकडो भिक्षु साथ मे भ्रमण किया करते थे। भगवान् बुद्ध को वैदिक परपरा की बातें ज्ञात थी। प्राचीन काल मे यति सदा भ्रमण किया करते थे। वैदिक साहित्य एव उपनिषदो मे संसार से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण जगल मे तपस्या करने का विवरण पाया जाता है। संसार से विरक्ति के साथ यति के लिए जगलो मे निवास की कल्पना थी। वह परिब्राजक (सन्यासी) के रूप मे भ्रमण करता एवं वेदात के सिद्धातो का प्रचार करता था। गौतम बुद्ध उसी भारतीय परंपरा मे पले थे। बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् स्वय भ्रमण कर धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने लगे। अतएव, प्राचीन परंपरा के अनुसार अपने अनुयायियो (भिक्षुओ) के एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास के विरोधी थे। उनका भी विचार था कि भिक्षु सदा भ्रमण किया करें। उनका कथन था—चरन भिक्खवे बहुजन हिताय बहुजन सुखाय। बुद्ध के विचार मे वैदिक परिपाटी सर्वोत्तम थी। इतना ही नही, भगवान् के समकालीन निम्नलिखित परिब्राजक भ्रमण किया करते थे—

१. पुराण कस्सप,

२. मक्खलि गोसाल,

३. अजित केसकमवलिन,

४. निगंठनाट पुत्त,

५. पकुध कच्चायन और

६. संजय बेलट्ठिपुत्त।

अतः, बुद्ध ने आदेश दिया कि दो भिक्षु भी एक साथ भ्रमण न करें। भिक्षान्न को ही भोजन समझें। उसी से संतुष्ट हो तथा जनता द्वारा त्याज्य वस्यो (चीवर) को ही धारण करें। वृक्ष के नीचे निवास करें तथा मूत्र को

औषधि के रूप मे प्रयोग करें। महावग्ग (१/२/६) के उपरियुक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध की यही इच्छा थी कि वैदिक धर्मावलंबी परिव्राजक के सदृश बौद्ध भिक्षुगण को अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।

प्रत्येक वर्षावास मे भगवान् के उपदेश से भिक्षुओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। नगर के निवासी उपासकों को छोड़ कर सभी वय के लोग भिक्षु बनने लगे। वैदिक प्रणाली मे वर्णाश्रम-प्रणाली का प्रचलन था। ब्रह्मचारी तथा यति का उल्लेख वैदिक साहित्य मे पाया जाता है। जन जीवन के प्रमुख आश्रम गृहस्थ धर्म को मानते थे, जिस पर सारा समाज आश्रित रहता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य,गृहस्थ तथा सन्यास (परिव्राजक) आश्रयों का पालन होता रहा। किंतु, इनमे आयु के अनुसार क्रमश. आश्रमों की स्थिति निश्चित थी। बौद्ध मत मे इन किसी प्रकार के वर्ण या आश्रम-प्रणाली का नियमन न रहा। बुद्ध वर्णाश्रम के विरोधी थे। अत, किसी अवस्था मे व्यक्ति भिक्षु बन सकता था। वय का विचार उस कार्य मे बाधा उपस्थित न कर सका। बालक, युवा तथा वृद्ध बौद्ध भिक्षु बनने लगे। गृहत्याग कर पीला वस्त्र धारण कर सभी प्रव्रज्या ग्रहण करते रहे। इस प्रकार बढती संख्या को देख कर भिक्षुओं के निवास का प्रश्न प्रधान हो गया। नगर के कोलाहल मे दूर ही उनके लिए समुचित निवास हो सकता था। अतएव, इस जटिल प्रश्न पर सभी विचार करने लगे। चुल्लवग्ग मे वर्णन आता है कि राजगृह के नगरश्रेष्ठी ने भगवान् से प्रार्थना की कि भिक्षुओं के लिए निवास (जिसका नाम विहार था) यानी निर्मित स्थान मे रहने की अनुमति मिलनी चाहिए। भिक्षु प्रात. भगवान् की शिक्षा लेते, उपदेश सुनने तथा दिन मे भिक्षा मांगने नगर मे चले जाते। रात्रि के समय को बन मे, वृक्ष के नीचे, पर्वता के पार्श्व मे, श्मशान मे अथवा मैदान की घास की राशि पर व्यतीत किया करते। भगवान् बुद्ध के साथ शिष्य-मडली भी भ्रमण किया करती थी। शिष्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। इस कारण सभी को साथ लेकर बुद्ध घूम नहीं सकते, यह कठिनाई सामने आई। अततोगत्वा परिव्राजक की गतिशीलता का ध्यान रख कर भी बुद्ध ने शिष्यों (भिक्षुओं) को निर्मित स्थान मे रहने की अनुमति दे दी। धनीमानी सेठ बौद्ध भिक्षुओं के निवास बना कर दान देने लगे। विभिन्न प्रकार के निवास मे पर्वतों के गुफाओ की भी गणना की जाती है तथा उनको प्रमुख स्थान दिया गया है। गुहा तो नगर के कोलाहल मे दूर थे। भिक्षु प्रत्येक ऋतु मे शांति-पूर्वक जीवन-यापन करता तथा समाधिस्थ हो चिंतन-मनन भी सपन्न करता रहा। यही कारण था कि बुद्धमत की प्रगति के साथ गुहा का विकास होता

गया। महावग्ग (५,६ खंधक) मे आराम या विहार (विश्राम के स्थान) का अनगिनत उल्लेख किया गया है। नगर में रहने वाले उपासको (स्त्री, पुरुष) की चिंता न थी। परंतु, निवृत्ति मार्ग अपनाने वाले भिक्षु या भिक्षुणी के निए निवास के प्रश्न का समाधान निकाला गया। वर्षाकाल (बुद्धमत मे वर्षावास कहा गया है) में रहने की समस्या का हल ढूँढना था। नगर के कोलाहल से दूर, शात वातावरण तथा तपस्या के योग्य पर्वत से संबंधित गुहा ही सब कठिनाइयों का अंतिम हल माना गया। नगर से दस मील मे समीप ही पर्वत खोद कर गुहा-निर्माण का कार्य बल पकडने लगा। पूर्वी भारत के प्रस्तर कमजोर तथा मिट्टीदार होते है। इस कारण हिमालय की शृंखला में गुहा का स्थायी रूप नही हो सकता। ठोस पर्वत के ढूढ मे अशोक को गया के समीप बराबर की पहाड़ियाँ उचित मालूम पडी। अतएव, उसने गुहा खुदना कर आजिवको को दान दिया। स्यात् उस समय तक बौद्ध भिक्षुओ के निवास का प्रश्न समुख न रहा हो। संघ बन जाने पर भी सभी भ्रमण करते ही रहे हों। यह कहना कठिन है कि भगवान् के उपदेश की जानकारी रख कर भी अशोक ने बौद्ध भिक्षुओ को गुहादान क्यो नहीं दिया। शुंगकाल मे पश्चिमी भारत की सह्याद्रि पर्वत-शृंखला मे अनेक गुफाए खोदी गई, जो आज भी उस कहानी को सुना रही है।

यह कहा जा चुका है कि बुद्ध दो भिक्षुओ को भी एक साथ भ्रमण के विरोधी थे। कालान्तर मे स्थिति बदलती गई। भिक्षुओं की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढती गई। अतएव, एक साथ समूह (संघ) मे रहना नितात आवश्यक हो गया। महावग्ग तथा अभिलेखो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संघ

संघ का शुभारंभ

का पूर्णत. सगठन हो गया था। मृगदाव मे पंचवर्गीय साधुओ को अपने मत में दीक्षित करने पर भी बुद्ध को संघ-स्थापना की योजना न थी। तपुस तथा भल्लिक नामक उपासकों ने बुद्ध एव धर्म में ही आस्था प्रकट की (शरण मे गए)। राहुल जी ने विनयपिटक के अनुवाद मे महावग्ग (१/१/१२) के आधार पर बुद्ध तथा धर्म का ही उल्लेख किया है (भगवतं सरण गच्छाम धम्मच)। सेठी गहपति सर्वप्रथम उपासक था जिसके द्वारा बुद्ध, धर्म एवं संघ मे शरण लेने की वार्ता उल्लिखित है (महावग्ग १/१/४-९)।

> **सो वलो के पठयं उपासको अहोसि**
> **ते वाचिको भगवत शरणं गच्छामि**
> **धमञ्च भिकबु संघञ्च ।**

तात्पर्य यह है कि प्रव्रज्या के पश्चात् भिक्षु को बुद्ध तथा धर्म में शरण लेने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। लेकिन, संघ की स्थापना हो जाने पर यानी समूह में भिक्षुओं के निवास करने पर उस संस्था (संघ) के नियमों-उपनियमों के पालन की प्रतिज्ञा (शरणं गच्छामि) करना सभी के लिए आवश्यक हो गया। इसी का विनयपिटक मे विस्तृत वर्णन किया गया है। इन तीनों (बुद्ध धर्म, संघ) को त्रिरल का नाम दिया गया और उनमें आस्था तथा विश्वास रखने की प्रतिज्ञा का समावेश किया गया—

बुद्धं शरण गच्छामि।
धम्मं शरण गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

भिक्खुसघ को त्रिरल मे तीसरा स्थान दिया गया। बौद्ध भिक्षुओं के लिए सघ के रूप में निवास करना, उसकी कार्य-प्रणाली को मानना, बुद्धमत के प्रचार तथा स्थायित्व के लिए परमावश्यक हो गया। भगवान बुद्ध ने स्वय राजगृह मे वेणीवन का दान स्वीकार किया तथा विंदिसार के आग्रह पर आराम (निवासस्थान) मे रहने लगे। अम्बपाली द्वारा निर्मित वैशाली के आम्रवन की वार्ता सर्वविदित है। अनाथपीडिक की प्रार्थना स्वीकार कर जेतवन मे बुद्ध ने (श्रावस्ती, उत्तर प्रदेश) निवास किया। कहने का अर्थ यह है कि भगवान् बुद्ध वे स्वयं अपना विचार परिवर्तित कर दिया और स्वय आराम में रहने लगे। बदलती परिस्थितियों मे भिक्षुओ का सामूहिक निवास (सघ के रूप में) एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस कारण भिक्षु होते समय बुद्ध एवं धम्म के साथ-साथ संघ मे विश्वास (शरण जाना) व्यक्त करना आवश्यक समझा गया। त्रिरल की यही कल्पना है। विद्वानो का विचार है कि बुद्ध ने लिच्छवि सघ को ध्यान मे रख कर अपने संघ की स्थापना की। यद्यपि बौद्ध संघ की कार्य-शैली राजनीतिक सघ से भिन्न थी, किंतु सघ का मूल विचार लिच्छवियों से ही लिया गया।

यदि प्राचीन भारतीय साहित्य तथा अभिलेखों का अध्ययन किया जाए, तो ज्ञात होता है कि तीन वेदों का अध्यापन हुआ करता था। जैमिनि सूत्र (२/१/३६) में ऋग, साम तथा यजुर्वेद के ही नाम मिलते हैं। उत्तरी भारत के मध्यकालीन अभिलेखों मे (ए० इ० भा० ११ पृ० १९२ : भा० १२ पृ० ३१) ऋक् यजुः तथा साम के नाम उल्लिखित है। अलबेरुनी ने भी तीनों वेदो (अथर्व का नाम नही) के पठन-पाठन का

त्रिरल की वैदिक कल्पना

उल्लेख किया (साचूभा० १, पृ० १३०)। कहने का तात्पर्य यही है कि ब्राह्मण धर्म मे तीन वेद की ही कल्पना प्राचीनतम है। उसी के समान तीन देवताओं ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की कल्पना समाज मे आई। ब्राह्मण धर्म की इसी कल्पना का अनुकरण का बौद्ध मत मे त्रिपिटक (सुत्तपिटक, विनयपिटक, अभिधम्मपिटक) का विचार उपस्थित किया गया। इतना ही नही, बुद्ध धर्म में त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म तथा संघ) की कल्पना का आधार ब्राह्मण मत ही था। यदि गंभीरता से विचार किया जाए तो इस्लाम में मुहम्मद, दीन तथा मुसलमान समाज का सिद्धांत उसी **ब्राह्मण धर्म के तीन वेद या बुद्ध मत के त्रिरत्न का अनुकरण है।** मसजिदों के निर्माण मे तीन गुंबज उसी भावना को व्यक्त करते हैं। ईसाई मत इससे अलगा न रह सका। ईश्वर के तीन रूप फादर सन तथा घोस्ट (God the Father, God the Son, God the holy Ghost) का सिद्धात उसी प्राचीन आधार (तीन वेद व त्रिरत्न) पर स्थिर किया गया। बौद्ध मत मे त्रिरत्नों को आर्य कल्पना मानने में हिचक न होनी चाहिए। इसके पीछे दार्शनिक स्वरूप पर भी एक दृष्टि डाली जा सकती है। बुद्ध को ज्ञान या अध्यात्म का प्रतीक मान सकते हैं। संघ से समाज या न्याय का भाव व्यक्त किया जा सकता है तथा धम्म से आध्यात्मिक धर्म की भावना ग्रहण की जा सकती है। इस प्रकार बौद्ध मत के त्रिरत्न के पीछे एक रहस्य था। इसमे प्राचीन ब्राह्मण धर्म के सिद्धातो का अनुकरण दीख पड़ता है।

संघ की स्थापना

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्य संस्कृति मे मुनि, यति, परिव्राजक या संन्यासी को समादर का स्थान दिया गया है। ऋग्वेद (मंडल १०, १३६) मे मुनि नग्न या मलिन वस्त्र धारण करते हुए उल्लिखित हैं (मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला) वृहदारण्यक तथा छांदोग्य उपनिषदों मे सैकड़ो वैखानस तथा संन्यासियों का विवरण मिलता है (बृ० उ० ४/२/२२) उसी प्रसंग मे वैखानस-शास्त्र का उल्लेख बौधायन ने किया है (काने, धर्मशास्त्र का इतिहास भा० २, पृ० ९१७), जिसके अनुसार वानप्रस्थ मे लोगो को जीवन व्यतीत करना पडता था। पाणिनि ने भी परिव्राजक (मस्करिन) नाम से विचरण करते साधुओ का वर्णन किया है। (अष्टाध्यायी ४/१/१५२) ब्राह्मणशास्त्रो मे उल्लिखित यति या संन्यासी तथा बौद्ध ग्रंथों (दीघ तथा अंगुत्तर निकाय) में तापसिन, परिव्राजक शब्दों का प्रयोग आर्य एवं बौद्ध संस्कृति मे समानता दिखलाता है। कहने का तात्पर्य **यह है कि बौद्ध मत में संघ की कल्पना आर्य संस्कृति की देन है।** बुद्ध ने किसी

नवीन विचारधारा का समावेश नहीं किया था। वैदिक परिपाटी को नए रूप में रख कर संघ का नामकरण हुआ, जिसे त्रिरत्न में तीसरा स्थान दिया **गया। यह कहा जा चुका है कि बुद्ध भिक्षु को वैदिक संन्यासी (यति) की तरह सदा विचरते देखना चाहते थे,** किंतु परिस्थिति के कारण विचार बदल गया। **वे स्वयं आराम में रहने लगे।** अनगिनत भिक्षुओं के **स्थायी निवास के लिए स्थायी स्थान** का निर्णय लेना आवश्यक हो गया। इस **समस्या का समाधान** गुहा खुदवा कर संघ के रूप में निवास करने में मिल गया। संघ की **स्थापना** बुद्ध ने **की,** यह कहना कठिन है, परंतु भरहुत-वेदिका पर **प्रदर्शित काश्यपबंधुओं** तथा उनके सहस्र अनुयायियों का बुद्ध मत में प्रवेश, इसका आरंभ माना जा सकता है। **अशोक के** सांची, **कौशाम्बी** तथा सारनाथ-स्तंभ लेखों का अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी में संघ की कल्पना पूर्ण हो गई थी। संघ के नियमों का पालन करना भिक्षु तथा भिक्षुणी के लिए परमावश्यक था।

अशोक ने कलिंग युद्ध के पश्चात् बौद्ध मत को स्वीकार कर लिया और बुद्ध धर्म के प्रचार के लिए उसने धर्मलेख भी खुदवाया। भाब्रू (जयपुर, राजस्थान) के लेख में निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं—

अशोक के लेखों में संघ का वर्णन

प्रियदसि राजा मागधे संघं अभिवादेतु

तथा

हया बुधसि धमसि संघसिति गालवे।

वह मगध के संघ को अभिवादन करता है तथा त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) में अपना विश्वास प्रकट करता है। उसी के समय में बौद्ध मतानुयायी चार **वर्गों** में विभक्त हो गए थे, जिसे परिषद् के नाम से वर्णित किया गया है। (१) भिक्षु (२) भिक्षुणी संघ (३) उपासक तथा (४) उपासिका। धर्मशासन में उसका आदेश था कि सभी बौद्ध धर्मग्रंथों का अध्ययन करें। अशोक ने संघ संस्था को सुसंगठित तथा बलवान बनाने के लिए पृथक् **धर्मलेख तीन** स्थानों के (सांची, कौशाम्बी तथा सारनाथ) स्तंभों पर खुदवाया **था।** उसका आदेश **था** कि जो कोई (भिक्षु अथवा भिक्षुणी) संघ में **विभेद पैदा करेगा या** करेगी यानी विघटित करने का प्रयत्न करेगी, उसे श्वेत वस्त्र **पहना कर** (यानी भिक्षु से गृहस्थ बना) संघ से बहिष्कृत कर दिया जाएगा।

देवानं पिये आनपयति, ये केनपि संघे भेतवे

ए चु खो भिखु वां भिखुनि वा

ये सघं मालति भिखु वा भिखुनि वा
ओदातानि दुसानि सनंधापयितु
अनावासंसि वासा पेतविये। इहा
हिये किति संघे समगे चिलाथतीके
सियाति। [सांची स्तंभ लेख]

इस लेख का अभिप्राय यह था कि संघ चिरस्थायी रहे तथा उसमें भेद-भावना का प्रवेश न हो सके। सारांश यह है कि अशोक के लेखो के आधार पर ईसा पूर्व तीसरी सदी से संघ की स्थिति ज्ञात हो जाती है।

बौद्ध साहित्य मे भिक्षुगण के निवासस्थान के लिए दो विभिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है—(१) आराम या (२) विहार।

विहार या संघाराम सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध के निवासनिमित्त जो कुटी या मकान बनाए गए उन्हे 'आराम' की संज्ञा दी गई, (वह स्थान जहा बुद्ध निवास करे) राजगृह के वेणुवन तथा वैशाली मे बुद्ध के निवास को 'आराम' कहा गया है। श्रावस्ती मे अनाथपीडिक द्वारा निर्मित गृह को 'विहार' कहने लगे। जेतवन विहार के क्रय, विहार निर्माण तथा उसके दान का प्रदर्शन भरहुत तथा बोधगया की वेष्टनियो पर मिलता है। उस चित्र मे केवल एक कमरा दीख पडता है, जिसे सेठी ने बुद्ध को दान दिया तथा भगवान् ने वहाँ वर्षावास व्यतीत किया। अत:, आराम तथा विहार शब्दों से बुद्ध के ही रहने योग्य निवास स्थान का बोध होता है। कालातर मे इन शब्दों का प्रयोग समूह के रूप मे होने लगा। भिक्षुसमूह के निवास निमित्त स्थान भी 'सघाराम' या 'विहार' कहलाए।

कौशाबी के लेख मे घोषिताराम समूहवाचक माना जा सकता है, जिसमें भिक्षुगण निवास करते थे। राजगृह में तपोदाराम (मज्झियनिकाय ३,४,३,) नामक विहार मे भगवान् बुद्ध रहते थे। भगवान् बुद्ध १२५० भिक्षुओं के साथ जीवकाराम (राजगृह) में ठहरे थे। उसी स्थान पर अजातशत्रु को उपदेश दिया था (दीघनिकाय १,२)। इसी तरह का (आराम) उल्लेख अन्य लेखो मे भी मिलता है। साची स्तूप सख्या १ की वेदिका पर अंकित लेख मे हरिस्वामिनी द्वारा काकनाडवोट (साची) संघाराम के भिक्षुओ को दान देने का वर्णन है। गुप्तसम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के साची के लेख में (का० इ० इ०, भा० ३) काकनाड महाविहार का वर्णन आया है। तात्पर्य यह है कि आराम तथा विहार एक ही प्रकार के भवन के लिए प्रयुक्त हैं। कुम्हरार की खुदाई

से गुप्तकालीन भवन से एक मिट्टी का पात्र उपलब्ध हुआ है, जिस पर 'आरोग्य विहारे भिक्षु संघस्य' वाक्य उल्लिखित है। इससे प्रमाणित होता है कि कालांतर में संघाराम या विहार समूहवाचक शब्द हो गए (ए० इ० भा० ३४, पृ०१६ : भाग २८, पृ० १७५) महावग्ग (१/४/१७) में राजगृह के सेठी ने साठ विहार बनवाए थे, ऐसा वर्णन उपलब्ध है। संक्षेप में यह कहना आवश्यक है कि सघ-स्थापना के पश्चात् 'विहार' का निर्माण होने लगा। भिक्षु तथा भिक्षुणी के लिए सर्वदा भ्रमण करना वर्जित हो गया। उनका स्थिर जीवन विहार मे व्यतीत करने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध की गई। चुल्लवग्ग (६।१।२) मे वर्णन आता है कि बुद्ध ने पाँच प्रकार के लेण (संस्कृत लयन— या विश्राम स्थान) मे भिक्षुओ के निवास करने की आज्ञा दी। उसमे 'विहार' तथा 'गुहा' का नाम उल्लिखित है। सभवतः विहार शब्द एक स्थान पर निर्मित सभी भवनो के लिए प्रयुक्त होने लगा। जैसे—नालंदा महाविहार। पालि साहित्य मे भी विहार शब्द उसी अर्थ मे प्रयुक्त है, जहाँ इमारते हो तथा भिक्षुओ का निवास हो। वहा वर्णन आता है कि विहार-निर्माण के लिए कुशल कलाकार भिक्षु (नवकमिक) को नियुक्त किया जाता, जो संघ की आवश्यकता के अनुकूल विहार-निर्माण मे लग जाता। पश्चिम भारत के कतिपय स्थानो के पर्वतो मे विहार का कार्य अधूरा दीख पडता है। स्यात् उस नवकंमिक की मृत्यु हो गई अथवा उस स्थान का महत्व जाता रहा। प्राकृत अभिलेखों (उत्तर-पश्चिम भारत) मे विहार शब्द भवनो के लिए प्रयुक्त है। प्राय. सभी विहार समतल भूमि पर बनाए गए थे। तक्षशिला, मथुरा, सारनाथ, नालंदा तथा विक्रमशिला के अनेक विहारों के भग्नावशेष समतल भूमि पर निर्मित प्रथा को प्रमाणित करते है। मथुरा से प्राप्त लेखो में (ए० इ० भा० १९ पृ० ६६) तेरह विहारो के नाम उल्लिखित है—उनकी तिथि कुषाण-युग की मानी गई है। विहारो के नामकरण व्यक्ति, स्थान या कलाकारो से संबंधित मालूम पड़ते है।

(१) महाराज देवपुत्र विहार—हुविष्क द्वारा निर्मित विहार (लुडर संख्या ५२, ६२)

अमोहसि द्वारा निर्मित विहार (वही, संख्या १२५)

पुष्पदत्त का विहार (ए० इ० ३४, पृ० ४४)

(२) शिरि विहार (स्थान के नाम पर)

बोधिसत्वो सहामातापितिहि सहा
उपझायेन धमंकेन सहा
अंतेवासिकेहि सहा
आतेवासिनीहि शिरि-विहारे
आचरियान समितियान परिग्रहे
सर्व बुध पुआये (ए० इ० भा० १९, पृ० ६७)

(३) सुवर्णकार विहार (वही, पृ० ६८)
प्रावारिक विहार (वही)।

इस तरह उत्तर-पश्चिमी भारत के अभिलेखों में अनेक 'संघाराम या विहार' भिक्षुओ के निर्मित भवनों के लिए प्रयुक्त है, जिनके विषय में अधिक कहना उपयुक्त न होगा। सांची की खुदाई से अनेक विहार के भग्नावशेष निकले हैं। गुप्तसम्राट् चद्रगुप्त द्वितीय के साची लेख मे (का० इ० इ० भा० ३, पृ० ३१) उस स्थान के लिए 'श्री महाविहार' का उल्लेख मिलता है। अतएव, पुरातत्व की खुदाई तथा लेखो के वर्णन मे समानता है। कनहेरि लेख मे संघाराम या विहार इसी अर्थ मे प्रयुक्त है। (लुडर संख्या ९८८-९९८) अतएव, 'विहार' शब्द को समतल मैदान में भिक्षुओ के लिए निर्मित भवन के अर्थ मे मानना नितांत युक्तियुक्त है।

हुविष्क के वारडक (काबुल के समीप) लेख मे 'एष विहरं (विहारं) अर्चयेण महासंघिगण परिग्रह' वाक्य से पता चलता है कि उत्तर-पश्चिम भाग मे विहार आचार्यों के निमित्त बनवाया गया था। (ए० इ० भा० ११, पृ० २०२)

भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को गुहा मे भी निवास करने की आज्ञा दी थी।

गुहा या लेण गुहा के लिए सस्कृत शब्द लयनम् (प्राकृत लेण) विश्रामगृह या आराम के लिए प्रयुक्त होता रहा (ली + ल्युट् = विश्राम, आराम, घर)। पुरातत्व प्रमाणो के आधार पर यह प्रकट होता है कि लयनम् (लेण) पर्वत खोद कर तैयार किए जाते, जिनमें भिक्षु रहा करते थे। भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी भाग के पर्वतों मे जो गुफाएँ खोदी गई है, उन्हें लेण कहा गया है तथा नगर से सभी गाँव मे दस मील की दूरी पर स्थित हैं। संभवत: मौर्यसम्राट् अशोक के शासनकाल मे भिक्षुओ के निवासस्थान पर बल नहीं दिया गया था और उन्हें भ्रमण करते रहने का आदेश रहा होगा। यही कारण है कि बौद्ध-सम्राट् अशोक ने किसी प्रकार की बौद्ध गुफा का निर्माण नहीं

किया। उसने आजीविकों के निमित्त बराबर पर्वत (गया के समीप, बिहार प्रदेश) को खुदवा कर सुंदर गुफा तैयार करायी, किंतु बौद्ध भिक्षुओं के लिए ध्यान तक नही दिया। निम्न पक्तियाँ उसके ज्वलत उदाहरण उपस्थित करती हैं :—

लाजिना पियदसिना दुवाडसवसा भिसितेन, इयंनिगोह
कुभा (= गुहा) दिना आजीविकेहि (बराबर गुहा लेख)

उसी स्थान के दूसरे लेख मे अशोक पुनः कहता है कि खलतिक पर्वत में खुदी गुहा आजीविकों को दी गई, ताकि वर्षा से वे अपने को सुरक्षित रख सकें—

लाजिना पियदसिना दुवाडस
वसाभिसितेना इयं
कुभा खलतिक पवतसि
दिना आजीविकेहि
राजा पियदसी एकनवी
सति वसाभिसिते जलघो
सागम यात में इयं कुभा
सुपिये खलतिक पवतसि दिना

(इ० ए० भा० २०, पृ० १०८)

उसी विषय का पालन उसके पौत्र दशरथ ने भी किया तथा आजीविक साधुओ के लिए बराबर के समीप नागार्जुनी पर्वत मे (गया, बिहार प्रदेश) गुहा खुदवा कर दान किया था। आश्चर्य तो यह है कि अशोक ने भाब्रू लेख (जयपुर, राजस्थान) मे बौद्ध समाज के भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक तथा उपासिका नामक चार वर्गों का उल्लेख किया है तथा बौद्ध धर्म ग्रंथो के अध्ययन का आदेश दिया है। परतु, किसी स्थान पर उनके निवासस्थान का वर्णन नही किया अथवा वर्षावास मे उनके सुरक्षा का प्रयास भी नही दीख पडता। उसी लेख (भाब्रू) मे त्रिरल का (बुधसि धंममि सघसी) उल्लेख है, जिससे संघ की स्थिति प्रमाणित हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में मौर्य-युग मे बौद्ध भिक्षुओं के निमित्त गुहा का अभाव अवर्णनीय तथा अनिर्वचनीय है।

शुंगकाल में बौद्ध कला की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा विकास होता गया। भारतवर्ष के पूर्वी भाग (उड़ीसा) तथा पश्चिमी भाग (सह्याद्रि पर्वत) मे अनेक गुफाएँ खोदी गईं जिन्हे लेण शब्द से उल्लेख किया गया है। गुहा तथा लेण पर्यायवाची हैं और पर्वत मे खुदे (साधुओं के लिए) लेण निवासस्थान के लिए प्रयुक्त हैं। उड़ीसा के उदयगिरि तथा पश्चिम के पर्वत मे जितने गुहा-लेख उत्कीर्ण हैं, उनमें लेण के खोदने तथा दान का वर्णन है—

अरहत पसादाय कलिंगान समनानं
लेनं कारितं (मचपुरी गुहा-लेख ए० इ० भा० १३)

अर्हत के अनुग्रह-लाभ के लिए कलिंग देश के जैन भिक्षुओं के लिए वास के निमित्त लयनं (गुहा) खोदा गया। इसी प्रकार पश्चिमी भारत के सह्याद्रि पर्वत मे जितने गुहा-लेख उत्कीर्ण मिले हैं, उनमें गुहादान तथा खोदने का विवरण मिलता है—

एतो मय लेने वसतानं चातुदीसस
भिखुसंघस मुखाहारो भविसती
संघस चातुदिसस ये इमाम्हि लोणे (लेण)
वसांतानं भविसंति (नासिक गुहा-लेख)

चारो दिशाओ मे आने वाले भिक्षुसघ के लिए यह लेण निवासस्थान का कार्य करेगा।

दूसरे लेख में सातवाहननरेश कृष्ण द्वारा गुहा खोदने का वर्णन है—
सादवाहन कुले कन्हे राजनि। नासिककेन समणेन महामातेण लेण कारित।
(नासिक गुहा-लेख)

गोतमी पुत्र शातकर्णि ने भी पर्वत खोद कर लेण दान किया था—अम्ह धमदाने लेणे पतिवसतान पवजितानभिखून (वही।

महारथिना वासिठी पुतेन सोमदेवेन गामोवत्तो
वलुरक संघस वलुरक लेनस (कार्ले गुहा लेख)

महारथि वासिष्ठीपुत्र सोमदेव ने वलुरक भिक्षुसंघ के निमित्त वलूरक गुहा। (लेण) दान मे दिया।

●

दूसरा अध्याय

गुहा की धार्मिक परंपरा

बौद्धमत के अभ्युदय के साथ-साथ भिक्षुओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई और उनके निवास का प्रश्न प्रमुख हो गया। भगवान् के वर्षावास के लिए विहार का निर्माण तथा भिक्षुसंघ के निमित्त विशाल पैमाने पर पर्वतों मे गुहा का निर्माण-कार्य आरंभ हो गया। सर्वप्रथम भिक्षुओ के रहने का स्थान निश्चित हो जाने पर पूजा निमित्त स्थान की आवश्यकता अनुभव की गई। अतएव, पर्वतो को खोद कर निवासस्थान तथा पूजा-प्रकार की योजना कार्यान्वित हुई। इसका तात्पर्य यह था कि एक ही क्षेत्र मे दो प्रकार की गुहाएँ निर्मित हुई—

१. निवास स्थान यानी विहार तथा

२. पूजा स्थान यानी चैत्य।

पर्वत खोद कर गुहा तैयार करने का कार्य सबसे प्राचीन है तथा अशोक ने भी बराबर पर्वत को खोद कर गुहा तैयार कराया। उसके पश्चात् यह कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया और शुंगकाल में अनगिनत गुफाएँ खोदी गईं। बौद्धमत मे भिक्षु समूह तथा सामूहिक प्रार्थना को ध्यान में रख कर गुहा-निर्माण किया जाता था। इस कारण गुहा के मूल में धार्मिक भावना निहित थी। उन दिनों गुफाओ का दान एक धार्मिक कृत्य माना गया। भिक्षु कलाकार विहार के समीप चैत्य तैयार करने लगे, अत. एक ही सीमा मे निवास एवं पूजा-कार्य सपन्न हो सके। बौद्धधर्म मे सामूहिक प्रार्थना की परिपाटी काम करती थी। उसी के अनुकरण पर इस्लाम मे जुमा का नमाज तथा ईसाई मत में रविवार चर्च (Sunday Church) के कार्य प्रचलित किए गए। विहार ही एक ऐसा क्षेत्र था, जहाँ भिक्षुगण एकत्रित होकर उपदेश श्रवण करते रहे। इस कार्य के निमित्त निवास के समीप चैत्य नामक गुफा का निर्माण धार्मिकता की भावना को व्यक्त करना है। धर्म का संबंध गुफा-निर्माण से इतना घनिष्ठ था कि ईसवी सन् की तीन सदियों तक अनेक राजाओं ने इसे दान देकर प्रोत्साहित किया। इस कार्य में राजा, धनीमानी व्यक्ति तथा स्वयं बौद्ध कलाकार लग

जाते थे। कहने का सारांश यह है कि धर्म तथा गुहा-निर्माण के कार्य अन्यो-न्याश्रित थे। चौथी सदी के बाद स्थिति बदल गई।

गुप्त राज्य के शुभारंभ से ब्राह्मण मतानुयायी भी बौद्ध गुफाओं के अनुकरण कर धार्मिक गुफाएँ तैयार करायीं, जिनमें देवी-देवता स्थापित किए गए। गुप्त-नरेश वैष्णव धर्मावलंवी थे अतएव, उन्होंने उदयगिरि (विदिशा के समीप) गुहा में भगवान् विष्णु (शेषशायी) की प्रतिमा उत्कीर्ण करायी थी। बौद्ध मत का सूर्य प्रकाशहीन होता जा रहा था। किंतु, गुप्त राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता के कारण भिक्षु गण के निवास का स्थान मैदान मे भवन-निर्माण कर अर्पित किया गया। पश्चिमी भारत के सह्याद्रि शृंखला मे गुफा का निर्माण स्थगित कर दिया गया। सभवतः उस भू-भाग मे बौद्ध मत को राजाश्रय न मिल पाया। अतएव, प्रोत्साहन तथा दान के अभाव मे पाँचवी सदी के पश्चात् पर्वतो को खोद कर बौद्ध-विहार-निर्माण कार्य प्राय. समाप्त हो गया। अजंता गुहा के सिवाय ऐसा कार्य देखने को नही मिलता। मध्ययुग मे भी ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध गुफाओ का निर्माण एलोरा के समीप दीख पड़ता है। गुहा की धार्मिक परपरा को धक्का न लग सका। बौद्ध गुहा के स्थान पर या उनके अनुकरण पर उसी क्षेत्र मे ब्राह्मण या जैनियो ने कार्य आरभ किया। एलोरा का कैलाशनाथ मदिर तथा जैन गुफाएँ, जिनका वर्णन अगले पृष्ठो मे किया जाएगा, उसके ज्वलत उदाहरण है। कहने का तात्पर्य यही है कि गुहा-निर्माण के मूल मे धर्म की अटूट, गहन तथा सशक्त भावना काम कर रही थी। किसी धर्मविशेष से गुफा-निर्माण का गहनतम संबध न था। धार्मिक विचार से प्रेरित होकर राजा॰या प्रजा सामयिक कार्य करने लगे। वास्तुकला किसी की धरोहर न थी। बौद्ध समुदाय ने गुहा-निर्माण का कार्य सर्वप्रथम आरंभ किया था। अपितु अन्य मतावलंबी उसका अनुसरण कर अपनी धार्मिक पिपासा को शांत करते रहे।

ब्राह्मण मत के अधिक प्रचार के कारण बौद्ध-विहारो का निर्माण नगर से दूर पर्वतों का संवद्ध अनुपयोगी हो गया। भिक्षु नगर के समीप समतल भूमि पर निर्मित भवनो मे रहने लगे। उनके कार्यकलाप मे भी विशिष्ट परिवर्तन हो गया। उनका जीवन बौद्ध धर्म-ग्रंथो की शिक्षा तथा धार्मिक वाद-विवाद में व्यतीत होने लगा। पुरानी रीति से बौद्ध मत का प्रसार सभव न था। समाज में अन्य शक्तियाँ काम कर रही थीं तथा दूसरे धर्म प्रचारको अथवा विचारको से भिक्षुगण को सामना करना पड़ा। संक्षेप में यह कहा

जा सकता है कि पाँचवी सदी के पश्चात् अधिकतर बौद्ध-विहार मैदानों में बनने लगे। ईंट-चूना तथा प्लास्टर का प्रयोग किया गया। चैत्य का पृथक् स्थान न रहा। मध्य युग मे विहार (निवासस्थान) तथा चैत्य (पूजा-स्थान) को एक ही भवन मे स्थिर कर प्राचीन चैत्य की पृथकता को समाप्त कर दिया गया। बौद्ध मत मे अंतिम काल तक (छठी सदी से तेरहवी सदी तक) दोनो कार्य एक ही भवन मे संपन्न किए गए।

यद्यपि 'गुहा' शब्द व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त है, किंतु 'विहार' तथा 'चैत्य' कहने से विभिन्न उद्देश्य का परिज्ञान हो जाता है एवं गुहा-निर्माता का लक्ष्य भी व्यक्त हो जाता है। यद्यपि पर्वतो को काट कर दोनों प्रकार की गुफाएँ तैयार की जाती, पर दोनो में मूलतः भेद था। विहार यानी रहने की गुफा ग्राम के मकान के मूलाकार का अनुकरण मात्र था। पर्वत की तलहटी मे सर्व-प्रथम बरामदा तैयार किया जाता। उसमे एक प्रवेश-मार्ग होता, जिससे होकर आगन मे पहुँचते हैं। आँगन के चारो तरफ बरामदा तथा कमरे रहते हैं। गाँव की इमारते तथा घरो के समान ही पहाड काट कर रहने का स्थान 'विहार' बन जाता था। किंतु, पर्वत के घर मे आँगन आकाश की ओर खुला न रहता था। भीतर प्रवेश करते संपूर्ण पहाड ही ऊपरी छत के समान दीख पडता है। विहार के बंद आँगन की लंबाई-चौडाई पूरे निवास-योग्य भाग पर निर्भर करती थी। बंद आँगन के चारो ओर जो कमरे होते, उन्हे सीमित क्षेत्रफल मे काट कर बनाया जाता। एक ही प्रवेश-द्वार होता। कमरो मे खिडकी नाम की कोई चीज न होती थी। तात्पर्य यह है कि सभी आँगन, बरामदा तथा कमरे पहाड के अंदर बनाएँ जाते। बाहर से दर्शक को केवल बाहरी स्तंभ-युक्त बरामदा दीख पडता है। बरामदे के ऊपर पर्वत की प्राकृतिक छटा दृष्टिगत होती है। अतः, इस प्रकार (ग्रामीण घर के आकार-प्रकार) की पर्वतो पर खोदी गई गुफाएँ 'विहार' कहलायी।

उसी स्थान पर विभिन्न प्रकार से गुफा पृथक् खोदी जाती थी, जिसे 'चैत्य' कहते थे। उसे घोड़े के नालनुमा (घुडनाल Horse Shoe Shape) खोदा जाता। एक छोर पर स्तूप (चेतिय) की स्थिति से उस गुहा को 'चैत्य' कहा गया है।

चैत्य शब्द (चित्य + अण) पूजास्थान का बोधक है। बौद्धकला से चैत्य का गहरा संबंध तो है ही, किंतु वैदिक साहित्य तथा संस्कृत-ग्रंथो मे चैत्य शब्द प्रायः देवायतन के साथ-साथ प्रयुक्त हुआ है। रामायण में वर्णन आता है

कि भरत जिस समय अयोध्या लौटे, उस समय उन्हे चैत्यो तथा देवायतनो मे बने घोंसलों मे पक्षीगण दिखलायी पड़े थे।

ध्यानसंविग्न हृदया नष्ट व्यापार यंत्रिताः।

देवायतन चैत्येषु दीनाः पक्षि मृगास्तथा ।। २/७१/४२

हनुमान को लका मे हजार खभो वाला एक चैत्य प्रासाद दिखलाई पड़ा था, जो गोलाकार तथा बहुत ऊंचा था।

स ददर्शाविदूरस्थ चैत्य प्रासाद मूर्जितय।

चैत्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे किया गया है जिसमे ग्राम देवतास्थान, देवमदिर या बौद्ध यतनानि का अर्थ स्पष्ट है। अमरकोश मे चैत्य को (चि चयने धतु प्रस्तर तथा ईंट द्वारा निर्मित भवन कहा गया है—

चीयते पाषाणादिना इति चैत्यम्

दिवगत महापुरुषों या नृपतियो की स्मृति मे चैत्य नाम के स्मारक खड़े किए जाते थे। उमी प्राचीन वैदिक परपरा के अनुसार बौद्ध लोगो ने स्तूप (चैत्य) का निर्माण किया था, जिसका विवरण पिछले खड मे दिया गया है।

हीनयान युग मे जितने समतल मैदान में स्तूप का निर्माण हुआ—भरहुत, बोधगया, साची, अमरावती अथवा पर्वतो की ऊँचाई पर तैयार हुए थे, उनका आकार सर्वविदित है। उमी युग (शुगकाल) से पूर्व संघ की स्थापना हो चुकी थी। भिक्षुगण के निवास का प्रश्न प्रमुख होता जा रहा था। अतएव, पश्चिमी पर्वतशृखला मे अनेक विहार खोदे गए। इसके पश्चात् चैत्य उत्कीर्ण हुए, जो खुदाई के कार्य मे द्वितीय स्थान रखता है। पर्वत को काट कर घोडनाल के आकार मे चैत्य तैयार किया जाना। ऊपरी पर्वत को अर्द्ध-गोलाकार खोदा जाता और घुड़नाल की गोलाई के नाप पर स्तूप तैयार किया जाता था। इसी कारण गुहा 'चैत्य' मंडप नाम से पुकारी जाने लगी। सर्वप्रथम चार स्तभो के सहित बरामदा खोद दिया जाता और ग्रामीण झोपडी के मूलाकार को ध्यान मे रख कर ऊपरी भाग अर्द्धगोलाकार बनाया जाता, जैसे झोपड़ी का ढांचा बनाते समय बॉस को पतला कर चौडाई तथा लंबाई मे फैला कर जाली तैयार करते है। जिस पर फूस रखकर रस्सी से बाँध देते हैं। उठा कर ऊपरी भाग को मेहराब बना कर बाँस के खभों मे झोपड़ी के किनारों को भी रस्सी से बाँधते है। तभी वह वास्तविक रूप में झोपड़ी बनती है, जिसके नीचे ग्रामीणजन बैठते हैं। चैत्य का भी आकार डाटदार होता है। ऊपरी भाग गोल है। बॉस के ढांचे के स्थान पर पहाड़ की कटान मे

लकड़ी की शहतीर गोलाई मे स्थिर की गई है। पर्वत के खोदने पर लकडी के शहतीर का कोई प्रयोजन नही है। किन्तु एक मात्र उद्देश्य यह था कि इससे पुराने समय की झोपड़ी की कल्पना की जा सके। फूस के स्थान पर पर्वतीय भाग है। झोपडी को स्थायी रखने के लिए बाँस के खंभों मे उस ढाँचे को बाँधते है। चैत्य में, पर्वत को खोद कर खंभे बनाए गए है जिनके, ऊपरी भाग में लकड़ी गोल शहतीर की तरह आकर मिल गई है।
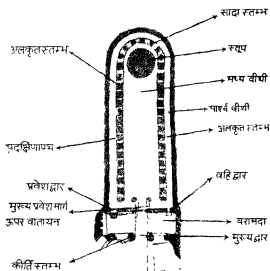
कार्ले चैत्य-घोड़ नाल नुमा

चैत्य तैयार करते समय इस बा। का ध्यान रखा जाता था कि यह पूजा-स्थान है, इसलिए उपासकों को स्तूप (चैत्य) तक जाने का मार्ग आवश्यक था। इस योजना की पूर्ति के लिए कलाकार पर्वत को खोद कर खभा तथा दीवाल के बीच गलियारा तैयार करता था, जिसे उपासक प्रयोग कर सके। गुफा खोदते समय बरामदा का होना जरूरी था। चैत्य के बरामदा में

तीन द्वार होते थे। किनारे के दरवाजे से उपासक पार्श्व वीथी यानी गलियारा (स्तंभ तथा दीवाल के मध्य भाग) में घुसता था। वह उसी मार्ग से स्तूप के समीप पहुँच जाता। तत्पश्चात् परिक्रमा कर वह विपरीत दिशा के गलियारे से बाहर चला आता था। स्तंभो के बीच का भाग, (मध्य वीथी) पुजारी के लिए सुरक्षित था। बरामदा के मध्य दरवाजे से उस मध्य भाग में प्रवेश कर भिक्षु पूजा संपन्न करता था। हीनयान मत मे प्रतीको का पूजन मात्र निहित था। उन प्रतीकों (हाथी, वृक्ष, चक्र तथा स्तूप) में स्तूप को उत्कीर्ण करना कलाकारो के लिए सरल कार्य था, इसी कारण गुहा मे स्तूप का आकार खोदा गया और गुहा 'चैत्य' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस विषय पर बल देना उचित होगा कि कलाकार मूल आकार को ध्यान में रखकर प्रायः पर्वत के अधोभाग से ही खुदाई आरंभ करते थे। प्रथम बरामदा तैयार करते। गुफा मे प्रवेश-मार्ग बनाते तथा शनैः-शनैः सपूर्ण आकार को खोद कर निर्मित करते। गुहा-निर्माण की यही विशेषता थी। कलाकारों के लिए सतर्क होकर मूलाकार को चिंतन कर आँगन, कमरा एवं भीतरी बरामदा क्रमशः बनाते। चैत्य-निर्माण मे घोड़नाल तथा ग्रामीण झोपडी की ऊपरी गोलाई को ध्यान में रख कर पहाड़ खोदते थे।

शुंगकाल मे प्रतीक पूजा का प्रचार था। अतएव, चैत्य यह प्रमाणित करते हैं कि यह हीनयान युग की कृति है। तात्पर्य यह है कि ईसवी पूर्व निर्मित चैत्यों में केवल स्तूप दीख पड़ता है। भाजा, नासिक, कनहेरी, पितलखोरा, अजता (गुहा सं०, ९ व १०) के चैत्य हीनयान कला की देन है। कालातर में महायान कलाकारो ने उस स्तूप पर बुद्ध की प्रतिमा जोड़ दी यानी दर्शको के संमुख स्तूप के भाग पर बुद्धप्रतिमा उत्कीर्ण की। महायान मत मे बुद्ध प्रतिमा पूजित होने लगी। प्रतीक का स्थान मूर्त्ति ने ले लिया। यही कारण था कि नए चैत्यो मे स्तूप के साथ बुद्ध-प्रतिमा जुडी है। यह कार्ले तथा अजंता (गुहा स० १९ तथा २६) तथा एलोरा की विश्वकर्मा नामक गुहा मे स्पष्ट दीख पडता है। चैत्य मे प्रवेश करते ही सुंदर बुद्ध-प्रतिमा ध्यान आकर्षित करती है। कालांतर मे पाँचवी सदी के पश्चात् चैत्य तथा बिहार का संमिश्रण हो गया। विहार के एक केंद्रीय कमरे में बुद्ध-प्रतिमा स्थापित होने लगी और चैत्य सदा के लिए समाप्त हो गए। विहार में प्रवेश करते संमुख बुद्ध-प्रतिमा दीख पड़ती है तथा तीन दिशाओं मे भिक्षुगण के निवास के लिए कमरे बने हैं। पूजाविधान की ऐसी प्रधानता हो गई कि ६००-१२०० ई० तक चैत्य की ओर ध्यान तक न दिया गया। एलोरा की गुफाएँ इसके

ज्वलंत के उदाहरण है। बुद्धमत की तीसरी शाखा वज्रयान पर ब्राह्मण मत का अधिक प्रभाव पडा अत:, वज्रयानी प्रतिमा पूजन के द्वारा ही धार्मिक कृत्य संपन्न करने लगे। यदाकदा वज्रयान प्रतिमा के सिरे प्रस्तर पर दो स्तूप का निरर्थक आकार दीख पडता है।

इस प्रकार ईसवी पूर्व सदियो से दसवी शताब्दी तक गुहा-निर्माण होता रहा। पहले हीनयान तत्पश्चात् महायान गुहा। किन्तु उत्तर गुप्तकाल से दोनों विहार एव चैत्य का समिश्रण हो गया।

●

तीसरा अध्याय

गुहा का इतिहास

प्राचीन काल में भारत मे गुहा-निर्माण के क्रमिक विकास का इतिहास जानने के लिए उनके वास्तुकला पर ध्यान देना आवश्यक है। उनके पीछे एक धार्मिक परंपरा काम करती रही। उसके इतिहास को जानने मे गुहा के दीवारो पर अंकित लेखों से भी अधिक सहायता मिलती है। यह तो बतलाया जा चुका है कि बौद्ध साधुओ के निवास तथा पूजास्थान के निमित्त गुहाएं खोदी गई। पहले बौद्ध मत मे परिव्राजक भ्रमण कर भिक्षा मांगते रहे, इसी कारण उन्हे भिक्षु की संज्ञा दी गई। किंतु, संघ की स्थिति में एकत्रित निवास आवश्यक हो गया और परिश्रम के साथ पर्वतों को खोद कर गुफाएँ तैयार की गईं। यह एक असाधारण कार्य था, परंतु बौद्ध कलाकारो की हस्तकुशलता के कारण यह संभव हो सका। उसी के फलस्वरूप समस्त भारत मे गुफाएँ वर्तमान है। गुहा का इतिहास बौद्धमत के धार्मिक सिद्धांतो से घनिष्ठतम संबंध रखता है। ईसवी पूर्व की तीसरी शताब्दी मे मौर्यसम्राट् अशोक के बौद्ध संघ मे प्रवेश करने पर भारतीय कला मे हीनयान द्वारा पूजित प्रतीको को स्थान दिया गया। अशोक ने बौद्धमत के प्रचार के लिए विदेशो मे धर्मदूत भेजा। उसने चार प्रकार के इमारतो (आकार) का निर्माण किया (स्तंभ, स्तूप, पाटलिपुत्र कुम्हरार का राजप्रासाद तथा गुहा), जिनमे गुहा-निर्माण की घटना अद्वितीय थी। बिहार प्रदेश के गया जिले में बेला रेलवे स्टेशन के समीप बराबर तथा नागार्जुनी नामक पहाड़ियाँ है। उनके चट्टानो को खोदवा कर अशोक ने बराबर की तीन गुफाओ को आजीविक भिक्षुओ के लिए दान दिया था। नागार्जुनी पर्वत की तीन अन्य गुफाओ को दशरथ ने भी आजीविक संघ को ही दान किया था।

लाजिना पियदसिना दुवाडस वसाभिसितेन इयं कुभा खलतिक पवतसि दिना आजीविकेहि।

अतः, गुहा-लेखो से स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य- काल मे गुहा-निर्माण प्रारंभ हो गया था। अशोक के दो गुहा लेखो मे दुवाडस वसाभिसितेन

(अभिषेक के १२वें वर्ष) वाक्य का उल्लेख मिलता है, किंतु सुप्रिय गुहा की तिथि १९वें (एकुनवीसति वसाभिसितेन) अंकित है। इस प्रकार दो गुहाएँ ईसवी सन् पूर्व २५८ वर्ष (२७०-१२) तथा सुप्रिय ई० पूर्व २५१ वर्ष खोदी गई थी। तत्पश्चात् दशरथ ने करीब ई० पू० २२० में नागर्जुनी पर्वत में गुफा खुदवा कर आजीविक साधुओं को दान दिया। यह आश्चर्य है कि अशोक तथा दशरथ ने आजीविक संघ को ही गुहा-दान किया था। उस समय अशोक स्वयं बौद्ध होकर धर्मप्रसार में लग गया था, किंतु बौद्धसंघ के लिए निवासस्थान (बिहार) या पूजा स्थान (चैत्य) का आयोजन नहीं किया। यद्यपि सांची, सारनाथ, कौशाबी अभिलेखों में बौद्ध संघ को सुदृढ रखने एवं विभेद न पैदा होने की आज्ञा प्रसारित की थी। ऐसे सम्राट् द्वारा बौद्ध-बिहार के निर्माण का अभाव खटकता है। आजीविक संघ को दान उसकी सहिष्णुता का परिचय देता है। जो कुछ भी उसका कारण हो, परंतु यह तो विदित है कि गुहा के इतिहास मे बराबर की गुफाएँ सर्वप्रथम स्थान रखती हैं। उनकी निर्माण-शैली का विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा।

मौर्य-शासन के अंत मे वास्तुकला की परंपरा (शुंगकाल मे) परिवर्तित हो गई। यों तो पुष्यमित्र ने ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान किया, परंतु बौद्धकला की दिनोदिन उन्नति होती गई। पूर्वी भारत (उडीसा) तथा पश्चिमी पर्वत शृंखला सह्याद्रि मे गुहा-निर्माण का कार्य अग्रसर होता रहा। भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि पर्वत को खोद कर कई गुफाएँ तैयार हुई थी, जो जैनधर्म से संबंध रखती हैं। खारवेल का लेख हाथी गुफा (= गुहा) मे खुदा है। उसी के समीप उसकी रानी महिषि द्वारा तैयार गुफा दीख पड़ती है—

कलिगानं सम नान लेनं कारितं
सिरि खारवेलस अगमहिसि करितं।

[कलिङ्ग के श्रमणो (जैन साधुओं) के लिए खारवेल की महिषि ने लेन (गुहा) खुदवाया]

यद्यपि इन लेखों में तिथि का अभाव है, परंतु पुष्यमित्र तथा खारवेल की समसामयिकता के आधार पर उदयगिरि की उन गुफाओं की निर्माण-तिथि ई० पू० पहली शती मानी जाती है। उसी शताब्दी मे दक्षिण के सातवाहन-नरेश कृष्ण ने नासिक तथा सातवाहन-वंश के तीसरे शासक सातकर्णी की पत्नी नायनिका ने नानाघाट (पूना, महाराष्ट्र) नामक स्थान पर गुफाओं का निर्माण कराया था।

ई० स० पूर्व में सह्याद्रि पर्वत मे अनेक गुहाएँ निर्मित हुईं, जिनके निर्माणकर्त्ता का उल्लेख नहीं मिलता। विशेष कर चैत्य मंडप की गुफाएँ खोदी गई थी। यह सर्वविदित है कि मौर्य-युग से लेकर शुंगकाल तक बौद्धकला हीनयान मत से प्रभावित थी, जिस कारण भिक्षुगण प्रतीकों की पूजा किया करते थे। सुविधा को ध्यान मे रखकर कलाविदों ने चैत्यों मे स्तूप को ही स्थान दिया था। उनके घुड़नाल के चाप ओर स्तूप का आकार आज भी विद्यमान है। अतएव, जिन चैत्यों मे स्तूप का आकार वर्त्तमान है, उन्हें हीनयान युग की गुफाएँ कहना सर्वथा उचित होगा। तिथि के क्रम में ई० स० पूर्व द्वितीय शती मानना युक्तिसंगत होगा। इस श्रेणी में आठ चैत्यों के नाम लिए जा सकते है। भाजा, कोनदने, पितलखोरा, अजंता गुहा सं० १०, अजंता गुहा (चैत्य) स० ९ पाडुलेण नासिक, बेदसा तथा कार्ले की गणना हीनयान चैत्य के रूप मे होती है। सारी गुफाएँ (यानी चैत्य) पश्चिमी घाट की पर्वतमाला में खुदी हैं। अधिक गुफाएँ पूना के आसपास हैं। पांडुलेन नासिक जिला (महाराष्ट्र) तथा अजता औरगाबाद एव जलगांव स्थानों के मध्य में स्थित है। यह आश्चर्य की बात है कि उत्तरी भारत मे बौद्धमत का प्रचार होने पर भी चैत्य पश्चिमी घाट के पर्वतों में खोदे गए। इसका एक मात्र कारण यह था कि सहयाद्रि की श्रृंखला काले पत्थर तथा कडी चट्टानों से बनी है, जिसमे सभी आकार की गुफाएँ खोदी जा सकती थी। उत्तरी भारत के हिमालय की चट्टानें बालुदार मुलायम होती है। उनमें किसी प्रकार के भवन तैयार नही हो सकते तथा बनावट स्थायी नही रह सकती। अतएव, कमजोर चट्टानों मे अस्थायी विहार तैयार करना शक्ति का अपव्यय ही होता। उपरिलिखित क्रम में चैत्यों का उल्लेख वास्तुकला को ध्यान में रख कर किया गया है। भाजा के चैत्य में अलंकरणहीन स्तंभ वर्त्तमान हैं, जो आगे चलकर कार्ले में सुंदर तथा अलंकृत स्तभ बनाए गए। कनहेरी चैत्य हीनयान-युग की अवनति का द्योतक है। यद्यपि ऊँची शैली को संमुख रख कर कार्य किया गया, किंतु हीनयान के अंत होने से समुन्नत न हो सका। इनका वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा। यहाँ इतना कहना यथार्थ होगा कि एक ही पर्वत-चट्टान को लेकर चैत्य भी निर्मित हुए थे, किंतु क्रमशः अलंकारयुक्त तथा शोभनीय होते गए। कलाकारों के हृदयों को दिव्य कलात्मक भावनाएँ प्रभावित करती गईं, जिसकी अभिव्यक्ति हमें चैत्यों में मिलता है।

चैत्य के समीप शनैः-शनैः विहार तैयार किए गए, जिनकी संख्या भिक्षुओं की वृद्धि के कारण बढ़ती ही गई। जिन स्थानों पर चैत्य का वर्णन किया

गया है, वहाँ अनेक विहार विद्यमान है। उनकी तिथि के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहा नही जा सकता। दक्षिण भारत के सातवाहननरेश तथा पश्चिमी भारत के क्षत्रप शासको द्वारा जितने विहार बनाए गए, उन पर अभिलेख अंकित है। इसलिए उनकी तिथियाँ ज्ञात हैं। अन्य अनेक विहार हैं, जहाँ से कोई लेख प्राप्त नही हुआ है। उन सभी विहारो की बनावट (शैली) के परीक्षण से सामान्य रूप मे निर्माण की तिथियाँ निर्धारित की जाती हैं। आंध्र तथा तामिलनाडू मे अनेक विहार पर्वतो से संलग्न (कोडा शब्द का प्रयोग, पर्वत के लिए मिलता है) विशाखापट्टनम् जिले मे मिली हैं, जो सातवाहनयुग मे निर्मित हुई थी। संकम तथा रामतीर्थम् के अतिरिक्त सिंहलविहार अत्यत प्रसिद्ध है, जो लका (सिंहलद्वीप) के भिक्षुओ के निवास के निमित्त बना था। नागार्जुनी कोडा में कई विहार वर्त्तमान थे। तीसरा आधार उन विहारो की खुदाई से प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री भी है। सभी उपलब्ध सामग्रियो का अनुशीलन हमे उन विहारो के निर्माण पर प्रकाश डालता है।

सर्वप्रथम विहार छोटे आकार के बनाए गए, जिनमे गुहा-निर्माण की देख-रेख करने वाले प्रमुख भिक्षु तथा कारीगर निवास करने लगे। क्रमश: उनका आकार बढ़ता गया और भारतीय ग्राम के गृह के स्वरूप को आदर्श मान कर विहार का आकार-प्रकार निश्चित किया गया। भेद केवल इतना था कि विहार चट्टान को खोदकर निर्मित हुए थे। सहयाद्रि पर्वतश्रेणी मे चैत्य-मडप के साथ सर्वत्र विहार मिलते हैं। उनको लेखो मे 'लेण' शब्द से व्यक्त किया गया है। लेण के निर्माता राजाओ के नाम तथा तिथियो का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। ई० स० की दूसरी शती में नासिक, कार्ले, भाजा और जूनार आदि स्थानो पर सातवाहन तथा क्षत्रप नरेशो द्वारा निर्मित अनेक विहार विद्यमान है, जहाँ उन शासको के अभिलेख भी अंकित है। उसके सहारे तिथि का अनुमान लगाया जाता है। नासिक की कई गुहाओ (सं० १० आदि) की दीवारो पर प्राकृत भाषा मे लेख अंकित हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि क्षत्रप राजा नहपान के जामाता ऋषभदत्त ने गुहा-निर्माण कर कई ग्रामों को भिक्षुओ के व्ययनिमित्त दान दिया था। लेख निम्न प्रकार है—

सिध। वसे ४० + २ (४२) वेसाख मासे राजो क्षहरातस क्षत्रपस नहपानस जामातरा दीनीक पुत्रेन उषवदातेन संघस चातुदिसस इय लेण नियातितं दत्त चानेन अक्षय-निवि कहापण सहस्रानि त्रीणी ३००० संघस चातुदिसस ये इमस्मि लेणे वसांतान।

सारांश यह है कि वर्ष ४२ में क्षत्रप (= राजा) क्षहरातवंशी नहपान का जामाता ऋषभदत्त ने चारो दिशाओ से आने वाले सघ (भिक्षुसंघ) को यह गुहा (लेण) दिया था। इस संघाराम में निवास करने वाले भिक्षुओ के व्यय के लिए तीन हजार मुद्रा (कार्षापण) दान किया था। उसी स्थान के दूसरे अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि ऋणभदत्त ने चार सहस्र मुद्रा (कार्षापण) द्वारा ग्राम को खरीद कर उस लेण मे निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजन निमित्त (अन्न के लिए) उसे दान मे दिया।

दत-चानेन क्षेत्रं ब्राह्मणस वाराहिपुत्रस अश्विभूतिस हथे कीणिता मूलेन काहापण सहस्रे हि चतुहि ४००० यो स पितु-सतक नगर सीमायं उत्तरापरायं दीसाय एतो मम लेने असतानं चातुदीसस भिखु संघस मुखाहारो भविसति।

[नासिक लेख]

पूना के समीप कार्ले नामक स्थान पर चैत्य-मंडप के समीप में ही एक अभिलेख अंकित है, जिसमे वर्णन मिलता है कि वलूरक संघ के भिक्षुओं के वर्षावास के निर्वाह के लिए (जीवन-यात्रा निर्वाह) करजिक नामक ग्राम को दान मे दिया गया था। दानकर्ता नहपान का जामाता ऋषभदत्त ही था।

वलूरकेसु लेण—वासितानं पवजितानं चातुदिसस संघस यापणाय गामो करजिको दत्तो। [कार्ले गुहा-लेख]

इन सब उद्धरणों से प्रकट होता है कि क्षत्रपनरेश नहपान का जामाता ऋषभदत्त बड़ा दानी था। उसने गुहा (लेख) खुदवा कर

लेण की तिथियाँ

उसमे निवास करने वाले भिक्षुओ के जीवन-निर्वाह के लिए ग्राम भी दान किया था। नासिक के लेख की तिथि ८२ तथा जूनार की ४६ उल्लिखित है, अतएव इस आधार पर उनकी तिथियाँ निश्चित की जा सकती है। यह सर्वविदित है कि उत्तर-पश्चिम मे शासन करने वाले कुषाण राजाओ ने दक्षिण-पश्चिम भारत पर शासन के लिए अपने प्रातपति (गवर्नर) भेजे थे। उनकी पदवी क्षत्रप थी। इन्हें शक-क्षत्रप भी कहते थे। कुषाणनरेश कनिष्क ने ई० स० ७८ मे एक संवत् चलाया, जिसे शक-संवत् कहा जाता है। (दक्षिण भारत मे उसे सालिवाहन-शक भी कहते हैं तथा वही संवत् आज भारत का राष्ट्रीय-संवत् हो गया है) उसी से सबधित तिथियो का उल्लेख (अंकन) कुषाण तथा क्षत्रप लेखों मे एवं सिक्को पर मिलता है। अतः, नहपान के नासिक की तिथि ४२ के आधार गुहा-निर्माण काल ई० स० दूसरी शती (४२+७८=१२० ई०) माना जाता है।

कार्ले तथा जूनार की गुफाएँ भी उसी के समीप (४६ + ७८ = १२४ ई०) खोदी गई होंगी।

दक्षिण के सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि, वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि तथा यज्ञ-श्री शातकर्णि के कई अभिलेख नासिक गुहा सं० ३ की दीवारों पर अंकित मिले है, जिसमे त्रिरश्मि पर्वत पर गुहा (लेण) निवासी भिक्षुओं (प्रव्रजितो) के व्ययनिमित्त ग्राम या क्षेत्र-दान का विवरण मिलता है। सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रबल तथा प्रभावशाली नरेश था। उसने सातवाहन-वंश के शत्रु क्षत्रप राजा नहपान को युद्ध मे हराया था, जिसका वर्णन पुलमावि के नासिक गुहा-लेख मे मिलता है। खखरात-वंस-निरवसेस करस = क्षहरात वंश (नहपान का कुल) को नष्ट किया। नासिक के समीप जोगलथंबी मे प्राप्त कई सहस्र रजतमुद्राएँ भी उसे प्रमाणित करती है। उनमे नहपान के सिक्को पर गौतमीपुत्र शातकर्णि का ठप्पा लगा है। साराश यह है कि शातकर्णि ने विजय के उपरात नासिक के समीप लेणनिवासी भिक्षुओ के लिए नहपान द्वारा प्रदत्त क्षेत्र अथवा ग्राम को पुनः दान कर दिया। यही उसकी स्त्री तथा पुत्र पुलमावि ने भी किया था।

(अ) उसभदातेन भुतं निवतन सतानि वे २०० एत अम्ह खेत निवतरण सतानि वे २०० इमेस पवजितान तेकिरसिण वितराम।

(ब) एय अहेम्हि पवंत निरणहुम्हि अह-धमदाने लेणे पति वसतान पवजितान भिखून गामे करवडीसु पुव खेत दत्त। त स खेत न कसते सो च गामो न वसति।—ततो एतेस पवजितान भिखून तेरणहुकानं ददम।

(स) तिरहुपवत सिखरे विमानवर निविसेम महिठीक लेण। एत च लेण महादेवी महाराज माता महाराज पितामहि ददाति—भिखु सघस।

नासिक गुहालेख के इन उपरिलिखित उद्धरणो से स्पष्ट प्रकट होता है कि तिरश्मि पर्वत पर गुहा निवासी भिक्षुओ के लिए दान दिया गया था। गौतमीपुत्र शातकर्णि नहपान का समकालीन था। अतएव, इन लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है ई० स० की दूसरी शती मे इन गुफाओ का निर्माण हुआ होगा। नहपान ने प्राय. ई० स० १२४ तक राज्य किया, जिसके पश्चात् वह पराजित हुआ। अतएव, गौतमीपुत्र शातकर्णि की तिथि ई० स० १३० करीब स्थिर की जा सकती है। उसका पुत्र पुलमावि के नासिक लेख की तिथि राज्यवर्ष १९ अंकित है। इससे ज्ञात होता है कि पुलमावि ई० स० १४९ (१३० + १९) मे शासन करता रहा, जब गुहा के निमित्त दान दिया गया।

नासिक गुहा सं० ३ की दीवार पुलमावि का दूसरा दानलेख भी खुदा है। इसी राजा ने नहपान द्वारा प्रदत्त बलुरक लेन के निवासी भिक्षुओ को ग्रामदान किया था। (कार्ले गुहालेख तिथि १३७ ई०)। सातवाहन नरेश यज्ञ-श्री शातकर्णि (ई० स० १८०) के शासनकाल मे उसके सेनापति की पत्नी ने वास्वा गुहा (लेन) को भिक्षु संघ के निवास के लिए तैयार किया था। इस विवरण से सातवाहन-नरेशो की नीति का अनुमान लगाया जाता है। ब्राह्मण (एक ब्राह्मण) होते हुए भी उसने भिक्षुसंघ के लिए आवास (विहार) तैयार कराकर क्षेत्र अथवा ग्राम दान किया, जिससे बौद्ध भिक्षुओ को भोजन मिल सके। यह कार्य उसकी धार्मिक नीति को श्रेयस्कर बतलाता है। भिक्षुसघ को दान तथा बौद्धकला को प्रोत्साहन से सातवाहन-युग मे विहार चैत्य तथा स्तूप का निर्माण अक्षुण्ण रूप से होता रहा।

ईसवी सन् की चौथी सदी से गुप्त शासन का प्रारंभ हुआ, जो वैष्णव मतानुयायी थे। विहार-निर्माण के कार्य मे किसी प्रकार की बाधा नही दीख पड़ती, किन्तु मदिरो के साथ स्थान-स्थान पर सघाराम तैयार होते रहे। गुप्त-कालीन ऐतिहासिक सामग्रियो का अध्ययन यह सकेत करता है कि सारनाथ, कसिया तथा श्रावस्ती मे बौद्ध विहारो का निर्माण हुआ था। गुप्तकालीन भवनो के निर्माण मे सुंदर अलकृत स्तभ काम मे लाए गए, जिनके नीचे का आकार चार कोण था जो क्रमशः ऊपर आठ १६ या ३२ कोण के होते गए। ऊपरी भाग मे पूर्ण घट के आकार की बनावट दीख पडती है। अतएव, निष्कर्ष यह निकलता है कि ऐसे सुदर अलंकृत पूर्ण घट से युक्त स्तभ की स्थिति से उन भवनो को गुप्तकालीन कह सकते है। इसके अतिरिक्त गुप्त-युग की प्रतिमाएँ तथा मृणमयी मूर्तियों से भी बौद्धविहारों की समकालीनता स्थिर कर सकते है। प्रायः गुप्तकाल मे बौद्ध विहार समतल भूमि पर ईंट-प्रस्तर को जोड कर तैयार होने लगे थे। चट्टानो के खोदने का कार्य प्रायः समाप्त हो गया। इसका कारण था बौद्धमत के केंद्र का स्थानातर होना। स्यात् पश्चिमी भारत की सहयाद्रि पर्वतमाला को खोदने का कलाकारो को प्रोत्साहन न मिल पाया और पर्वतशृखला के विहारों की उपादेयता न रही। जिन लक्ष्य को लेकर चैत्य के समीप विहार बने थे, वह लक्ष्य पूरा हो गया। राजाश्रय मिलने पर नए स्थान की खोज हुई। जिन स्थानो का भगवान बुद्ध से सीधा सबंध रहा, वहाँ ही भिक्षुसघ खडे हुए तथा विहार बनाए गए।

पश्चिमी भारत मे जितने स्थानो पर चैत्य-मडप तथा विहार थे, उनका बौद्धमत से सीधा सबंध नही था और न वे किसी अर्हत से संबधित थे।

संभवत: वे स्थान धर्मप्रचार के केंद्र रहे हो। संघाराम से भिक्षु धर्मप्रसार के लिए निकलता तथा पुन. वापस चला जाता। किंतु, चौथी सदी से संघाराम में नया जीवन आया।

गुप्तकाल मे बहुत कम गुफाएँ तैयार हुई थी। विदिसा (= भिलसा मध्यप्रदेश) के समीप उदयगिरि पर्वत की चट्टान को खोद कर चंद्रगुप्त द्वितीय के समय मे एक गुफा तैयार की गई, जिसमे चंद्रगुप्त द्वितीय के द्वारा ८२ वें वर्ष (= ८२ + ३१९) यानी ई० स० ४०१ मे एक लेख खोदा गया। उस अभिलेख मे शक क्षत्रप की पराजय का प्राय. वर्णन किया गया है। अन्य गुफाओं मे बराह की प्रतिमा तथा शेषशायी विष्णु की मूर्त्ति दीख पडती है। पाँचवी सदी मे अजंता की गुहा स० १६ तथा १७ का निर्माण हुआ था। वाकाटक वश के राजा हरिषेण (ई० स० ४७५-५००) ने बौद्ध संघ को गुहा स० १६ दान दिया था। उसी के अधीन मंडलेशकुमार ने गुफा १७ को भेंट किया था। (अजंता गुहालेख इडियन कलचर भा ७, पृ० ३७२)। अजंता की गुहा संख्या ८, १२, १३ और १५ 'चैत्य-मंडप' से असबधित होने के कारण कुछ काल पूर्व बनी होगी। गुप्त-युग मे (पाँचवी सदी से) गुहा का आधार तथा स्थान परिवर्तित हो गया। इस काल मे महायान मत की बहुत अभिवृद्धि हुई। उसके साहित्य का इतिहास यह बतलाता है कि बौद्ध विद्वानो का दृष्टिकोण बदल गया। बौद्ध विहार केवल धर्म प्रचार के केंद्र न रहे, अपितु शिक्षा केंद्र के रूप मे परिवर्त्तित हो गए। अतएव, पश्चिमी भाग से हट कर पूर्वी भारत में बौद्धो का कार्य बढने लगा। महायान के प्रचार से चैत्य-मंडप मे बुद्ध प्रतिमा स्थापित की गई और कालातर मे चैत्य का निर्माण समाप्त कर दिया गया। विहार के ही एक प्रमुख कमरे मे बुद्धमूर्ति स्थापित की गई और समस्त भिक्षु उसकी पूजा करते थे। यानी 'चैत्य' तथा 'विहार' का संमिश्रण हो गया।

इसकी पुष्टि मे केवल एक अभिलेख का उद्धरण ही पर्याप्त होगा। मथुरा से ई० स० १२९ ई० (श० स० ५१ = ५१ + ७८ = १२९) का एक बौद्ध प्रतिमा-लेख प्रकाश मे आया है, जिसमे वर्णन किया गया है कि मथुरा मे हुविष्क ने एक विहार का निर्माण किया और उसी मे शाक्य मुनि बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की। इस वर्णन से चैत्य एव विहार का संमिश्रण स्पष्ट हो जाता है।

महाराजस्य देव पुत्रस्य हुवष्कस्य ५० + १ हेमंत मासे भगवत: शक्य मुने: प्रतिमा प्रतिष्ठापित सर्व-बुद्ध-पूजार्थम्। सर्व दुखोपसमनाय सर्व सत्व-हित सुखार्थ महाराज देवपुत्र विहरे।

इस प्रकार के भवन अधिकतर उत्तर गुप्तकालीन माने जा सकते हैं। पश्चिम भारत में इस परंपरा का पालन एलोरा तथा कहेरी की गुफाओं में दृष्टिगोचर होता है।

इस विषय का उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है कि पश्चिम भारत में ब्राह्मण गुफाओं का कार्य बौद्ध चैत्य या विहार के अनुकरण पर किया गया था। एलोरा में बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन गुफाएँ वर्त्तमान हैं। कैलासनाथ मंदिर आठवीं सदी मे बना, जिसके पश्चात अनेक गुफाएँ– एलिफेंटा तथा जागेश्वरी (बंबई के समीप टापुओं मे) निर्मित हुई। दशावतार गुहा (एलोरा) को इस कार्यक्रम मे प्रथम माना जा सकता है। एलिफेंटा द्वितीय तथा कैलासनाथ (एलोरा) तीसरी सीढ़ी पर रखे जाते हैं। जागेश्वरी (सालसट टापू) भी उसी प्रकार की ब्राह्मण गुफा है।

गुप्तकालीन बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से प्रकट होता है कि महायान मत मे अनेक विद्वान हुए, जिनका प्रमुख कार्य बौद्ध साहित्य का सृजन था। साहित्यिक कार्य के साथ-साथ धर्म का प्रसार अवश्यंभावी था। किंतु, सह्याद्रि पर्वतों में निर्मित विहार के निवासी भिक्षु शिक्षा कार्य मे रत नहीं थे। सभी विहार नगर से पाँच या दस मील की दूरी पर थे। भिक्षु नगरों से भिक्षा माँग कर विहार मे लौट आता और चैत्य-मंडप मे पूजा किया करता था। गुप्तकाल से महायान भिक्षुओं का ध्यान शिक्षा की ओर बढ़ गया। ब्राह्मण धर्म के पंडितों से शास्त्रार्थ करना तथा बौद्ध मत (महायान) की पुष्टि करना उनका एक प्रमुख कार्य हो गया। पाँचवी सदी के पश्चात् धार्मिक प्रचार के साथ साहित्य की भी अभिवृद्धि हुई। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान वसुबंधु तथा असग का आविर्भाव गुप्तकाल मे ही हुआ। दोनों ने बौद्ध दर्शन के भंडार को खूब भरा, विज्ञानवाद का नया सिद्धांत निकाला तथा बौद्ध दर्शन मे क्रांति मचा दी। दिङ्नाग बौद्ध न्याय के प्रवीण पंडित थे तथा 'प्रमाण-समुच्चय' की रचना की। महायान संप्रदाय पर भागवत धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। महायान भक्ति रस से परिपूर्ण हो गया। आश्चर्य तो यह है कि वैष्णवधर्मानुयायी गुप्त-सम्राटों के शासनकाल में पर्याप्त संख्या मे बौद्ध प्रतिमाएँ बनने लगीं। सारनाथ के केंद्र मे बुद्ध तथा बोधिसत्व की मूर्तियों की प्रचुरता है। फाहियान ने लिखा है कि ब्राह्मण धर्म के साथ बौद्धमत का भी अधिक प्रचार होता गया। ब्राह्मण धर्म की प्रतिमा-निर्माण-शैली का प्रभाव पड़ा। बुद्ध प्रतिमा मे सूक्ष्म भावना, चिंतन, मनन तथा कोमलता का विशेष रूप से समावेश हुआ। सारनाथ

की बुद्ध-प्रतिमा-कला मे चरमोन्नति दीख पड़ती है। केवल सारनाथ बौद्धकला केंद्र से सहस्रों बौद्ध-मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। मैदान के कला केंद्र—मथुरा तथा सारनाथ ने बौद्ध कलाकारों का ध्यान आकर्षित किया। अतएव, महायान के प्रचार से चैत्य मडपो मे स्तूप मे सलग्न बुद्ध-प्रतिमा का उतना प्रचार न हुआ, जितना मैदान के बौद्धकला-केंद्र मे। इस कारण चैत्य-मंडपों की प्रमुखता न रही। उनकी उपादेयता घट गई। इसका फल यह हुआ कि समतल भूमि पर विहार बनने लगे।

साची के (उसका प्राचीन नाम काकनादबोट था) विहार को चंद्रगुप्त द्वितीय के सेनापति अम्रकार्दव द्वारा एक ग्राम तथा २५ दीनार दान मे देने का वर्णन आता है (साची लेख गु० स० ९३ = ४१२ ई० का० इ० इ० भाग ३, पृ० ३१)। ई० स० ४४९ मे मनकुआर (प्रयाग, उत्तर प्रदेश) नामक स्थान मे (प्रथम कुमारगुप्त के राज्यकाल मे ही) बुद्धदेव की प्रतिमा स्थापित की गई थी। गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा की पीठ पर जो लेख अंकित है उनमे गुप्त राजा का नाम तथा गुप्त संवत् मे तिथियाँ उल्लिखित है। द्वितीय कुमारगुप्त तथा बुद्धगुप्त के नामो तथा गु० स० १५४ एवं १५७ (= ई० स० ४७३ और ४७) का उल्लेख बुद्ध-प्रतिमा के लेख मे मिलता है। इन सभी प्रतिमाओं का निर्माण तथा बौद्ध साहित्य के सृजन से बौद्ध भिक्षुओं के कार्यक्रम मे परिवर्तन आ गया। पर्वतो मे खोदे गए चैत्य या विहार उन्हे आकर्षित न कर सके। मैदानो मे रह कर 'बौद्ध दर्शन' तथा 'बौद्ध न्याय' की श्रीवृद्धि की। अनेक बौद्ध बिहार स्थापित किए गए। सारनाथ तथा नालंदा के महाबिहार इसके ज्वलंत उदाहरण है। विहारो मे शिक्षा की पद्धति अपनायी गई। शास्त्रों का प्रतिपादन होने लगा। बिहार केवल भिक्षुओं के निवास के स्थान न रहे, अपितु बौद्ध उपासको के तथा बौद्ध धर्मानुयायी धनीमानी लोगो के पुत्रों के भी शिक्षा-केंद्र हो गए। तिलमुट्ठी जातक मे वर्णन आता है कि तक्षशिला मे वाराणसी, राजगृह, मिथिला तथा उज्जयिनी आदि नगरो के बालक वहाँ शिक्षा प्राप्त करने जाते रहे। महाविहार बौद्ध शिक्षा सस्था के रूप मे परिवर्तित हो गए। मिलिंदप्रश्न नामक बौद्ध ग्रंथ मे इन बातो का समर्थन किया गया है। इत्सिग ने लिखा है कि शिष्यो का समस्त भार अध्यापक (भिक्षु) पर था। बौद्ध शिक्षकगण रुग्ण विद्यार्थी की सुश्रूषा करते थे (टाकाकुसु—इत्सिंग, पृ० १२०) गुप्तकाल से विहार केवल बौद्ध धर्म प्रचार के केंद्र न रहे। उनमे त्रिपिटक के साथ शिल्पों की शिक्षा दी जाने लगी। तक्षशिला शिल्प-शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। बौद्ध शिक्षक तथा प्रमुख भिक्षु त्रिपिटक मात्र के अध्ययन-अध्यापन

से संतुष्ट न रहे, बरन् नार्मिक वाद विवाद तथा खडन-मंडन के लिए ब्राह्मण धर्मग्रथो का भी अभ्यास करने लगे। बौद्धों की इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली ने सुदूर प्रदेशों से विद्यार्थियो (विशेषत: बौद्ध सघ मे प्रवेश करने वाले) को आकर्षित कर विहार को अतर्राष्ट्रीय ख्याति के योग्य बना दिया। नालंदा (महाविहार आधुनिक विश्वविद्यालय) ने चीन से बौद्ध भिक्षुओ को आकर्षित किया। ह्वेनसाग ने नालदा मे वर्षों रह कर शिक्षा ग्रहण की थी।

समतल भूमि पर निर्मित 'विहारो' की तिथियां पुरातत्व की खुदाई से प्राप्त सामग्रियो के आधार पर निश्चित हो चुकी है। सारनाथ के विहार से गुप्तकालीन प्रतिमा तथा प्रतिमा-लेखो की उपलब्धि से ही तत्कालीन विहार की तिथि स्थिर की गई है। दसवी सदी के गहड़वाल नरेश गोविंद चद्रदेव की बौद्ध पत्नी कुमारदेवी का एक शिलालेख सारनाथ मे मिला है, जिसमे विहार-निर्माण की चर्चा की गई है। अतएव, वह विहार ११ वी सदी का माना जाता है। इसी प्रकार नालदा महाविहार के भग्नावशेष की खुदाई मे अनेक वज्रयान प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है, जिनके आधार पर नालदा वज्रयान का केंद्र माना गया है। वहाँ अनेक मुद्रा-लेख मिले है, जो बौद्ध भिक्षुओ के कार्य से संबंधित हैं। नालदा के प्रमुख भिक्षु की अपनी मुहर थी। मूर्तियो पर लेख अकित है। इन लेखो की लिपि पाल-युग की है। अतएव, इन प्रतिमाओ तथा मुद्रा-लेखो के आधार पर विहार आठवी या नवम् शती के माने जाते हैं। विहार स० १ मे पालनरेश देवपाल का एक ताम्रपत्र मिला, जिसमे जावा द्वीप के शासक बालपुत्र देव द्वारा प्रार्थना की गई है कि (सुवर्ण) जावानरेश द्वारा निर्मित नालदा के विहार को पाँच गाँव दान मे देने की कृपा करे।

सुवर्ण्ण द्वीपाधिपम महाराजा श्री बालपुत्रदेवेन।
दूतक मुखेन व्यम्विज्ञापिता. यथा मया
श्री नालंदायाम्विहार: कारित:।
ग्रामान् पच विपाञ्चलोपरिचियोद्देशा निमानात्मन पत्रो।
लोकहितोय दयाय च ददौ श्री देवपाल नृप॥

(देवपाल का नालदा ताम्रपत्र लेख)

इस प्रकार नालदा महाविहार अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका था। वहाँ के वर्तमान भग्नावशेष इस बात को प्रमाणित करते है कि इस महान्, विशाल तथा प्रसिद्ध महाविहार मे हजारो भिक्षु निवास करते थे। अध्ययन-अध्यापन होता था। भारत तथा बाहरी देशो से शिक्षा के निमित्त बौद्ध अनु-

यायी आया करते थे। चीनी यात्रीगण ह्वेनसांग तथा इत्सिंग के वर्णन से नालंदा विहार के विशाल आकार प्रकार का ज्ञान हो जाता है। नालंदा के लंबे-चौड़े तथा कई मंजिल के ऊँचे विहार ने बख्तियार खिलजी को संदेह मे डाल दिया कि नालंदा का महाविहार, किला (सैनिक अड्डा) है अहिंसावादी भिक्षुओं का निवासस्थान नहीं। तिब्बत के भिक्षु धर्मस्वामी ने नालंदा के अवसान का विवरण उपस्थित किया है।

पुनः यह कहना असगत न होगा कि गुप्त-युग से विहार-निर्माण की दिशा-बदल गई। यों तो सह्याद्रि मे अजंता की गुफाएँ (विहार म० १,२, १२, १६, १७, आदि) बनीं। किंतु, उस प्रक्रिया का प्राय: अंत हो गया। समतल मैदान मे ईंट-पत्थर जोड कर कई मंजिल के विहार तैयार होने लगे। पूर्व-मध्ययुग (ई० स० ७००-१२००) मे वज्रयान का प्रचुर प्रचार हुआ। वज्र-यान पर ब्राह्मण मत का अधिक प्रभाव था। प्राचीन बौद्धमत से दूर जाकर तंत्रयान ने अपना सिद्धात निश्चित किया, जिसमे 'विहार' का कोई स्थान न था। महायान-युग मे पुरानी परपरा का निर्वाह दीख पडता है, यानी चैत्य-मंडप तथा विहार। किंतु, वज्रयान मे भगवान् बुद्ध की भी प्रधानता जाती रही। समाज मे आदि बुद्ध, पंच ध्यानी बुद्ध तथा उनके परिवार देवताओं की पूजा होने लगी। बुद्ध धर्म के ह्रास के युग मे मैदान के विहार ही धर्म के केंद्र बने रहे। जैसे—नालंदा तथा विक्रमशिला महाविहार।

बौद्ध-युग मे विहार दो कार्य संपन्न करते रहे। धार्मिक प्रचार के केंद्र होने के कारण प्रधान भिक्षु वहाँ बुद्धमत-संबंधी व्याख्यान अथवा उपदेश दिया करता था। उस विहार के निवासी भिक्षुओं तथा ग्रामीण उपासकों को समुचित स्थान पर स्थिर कर धार्मिक चर्चा हुआ करती थी। उपासकों को धार्मिक विषयों पर उपदेश तथा अध्ययन करा कर भिक्षु अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे।

दूसरा मुख्य कार्य भारतीय शिक्षा से संबद्ध था यानी विहार 'शास्त्रीय-परिषद्' के रूप मे कार्य-संचालन करने लगा। शिक्षा देना, शास्त्रार्थ का प्रबंध करना, ऊँचे शास्त्रों का अध्यापन तथा साहित्य-सृजन आदि कार्य विहार मे संपन्न होते रहे। नालंदा महाविहार मे परीक्षा लेकर प्रमाण-पत्र देने की भी परिपाटी थी। इस प्रकार 'विद्या-परिषद्' के आदर्श कार्यों के कारण नालंदा संसार मे प्रसिद्ध महाविहार हो गया था।

●

चौथा अध्याय

विहार को दान

भारत को प्राचीन परपरा मे संन्यासी (परिव्राजक) गृहस्थ आश्रम के पालन करने वाले जन समुदाय की सहायता से जीवन-यापन करता रहा और उन्ही से भिक्षा माँग कर भोजन ग्रहण करता था। वैदिक शिक्षा में भी आचार्य के अंतेवासी ग्राम मे 'भवती भिक्षां देहि' कह कर नित्य भिक्षाटन किया करते थे। स्मृतियो मे **'यतिश्च ब्रह्मचारी द्वौ भिक्षा शिनौ स्मृतौ'** का उल्लेख आता है। यति (संन्यासी) की परपरा मे हम बौद्ध भिक्षुओ को भी रखते हैं, जो उपासको (गृहस्थ बौद्ध) मे भोजन के लिए अन्न प्राप्त करते थे। भिक्षावृत्ति करने के कारण ही बौद्ध परिव्राजक 'भिक्षु' संज्ञा से प्रसिद्ध हुए। बौद्ध साहित्य में 'भिक्षु-भिक्षुणी' नाम से ही चर्चा की गई है। प्रव्रज्या के पश्चात् बौद्ध मत मे प्रवेश करने पर व्यक्ति चाहे जिस आयु का हो, 'भिक्षु ही कहलाता था। अशोक के धर्म लेखो में भिक्षु-भिक्षुणी शब्दो का प्रयोग मिलता है। किंतु बौद्ध भिक्षुओ को, जिनकी कम आयु थी, अन्न-वस्त्र से ही जीवन की आवश्यकता पूरी नही हो सकती थी। उनका जीवन वैदिक संन्यासी की तरह न था।

संघ मे नए लोगो की शिक्षा तथा 'अध्ययन' का भी प्रश्न विचारणीय था। धर्मप्रचार के लिए धार्मिक ग्रथों का अध्ययन-अध्यापन का कार्य भी अत्यत आवश्यक था। इसलिए भिक्षा मात्र से सारी आवश्यकताओ की पूर्ति संभव न थी। संघाराम में—भोजन, वस्त्र, औषधि और धर्मग्रंथो का लिखना आदि कार्यों के लिए द्रव्य की आवश्यकता अनुभव की गई। भिक्षु नित्य भिक्षा माँगने नगर में चले जाते थे। अत:, जनता से उनका कम सपर्क रखने के लिए भिक्षा-वृत्ति का अंत करना भी आवश्यक समझा गया। यही कारण था कि बौद्ध विहारों को जनता द्वारा दान दिए गए, ताकि समुचित ढंग तथा आदर्श मार्ग पर कार्य चल सके।

बौद्ध अभिलेखो तथा दानपत्रो के अध्ययन से पता चलता है कि राजा, प्रजा (उपासक), राज्यकर्मचारी, धनीमानी लोग, श्रेणी (व्यापारिक संस्था)

तथा भिक्षु कलाकार दान किया करते, जिनकी पारस्परिक तुलना नहीं की जा सकती। यदि दान की वस्तुओं का वर्गीकरण किया जाए, तो वे दो उपविभागों में विभक्त हो सकती हैं।

(अ) उत्पादक वस्तुएँ—इस वर्ग में उन चीजों को रखते हैं, जिनसे आय की अभिवृद्धि होती थी। दान का अंत उन वस्तुओं में न था।

(ब) अनुत्पादक—वृद्धिहीन चीजें, जिनका शीघ्र अंत हो जाता।

प्रथम वर्ग में।

(१) ग्राम की भूमि को प्रमुख स्थान था। उसी भूमि के कर्षण से भिक्षुओं के लिए अन्न की प्राप्ति होती थी। कई अभिलेखों में भूमिदान का विवरण पाया जाता है। इस स्थान पर भूमि का क्षेत्रफल कम होता तथा आय अल्प मात्रा में होती थी।

(२) पशुओं का दान—उनके दुग्धघृत का उपयोग विहार के भिक्षु किया करते थे। घृत से प्रतिमा के समीप दीप जलाया जाता था।

(३) द्रव्य का दान—भूमिकर या नकद धन भी विहार को दान दिया जाता था। उसका उपयोग विभिन्न कार्यों के लिए किया जाता था। नकद पैसे को जमा कर बैंक से सूद लेते थे। बाजार के मकान (गृह) को दान करते थे, जिससे किराया मिलता था और भिक्षुओं के जीवन-निर्वाह का साधन बन जाता।

(४) मूर्तिदान—ईसवी सन् के आरंभ में ही अभिलेखों में मूर्तिदान का विवरण पाया जाता है। यह भी एक पुण्य कार्य था। लोगों को विश्वास था कि प्रतिमा के दान से निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

(५) विहार का दान—ई० स० पूर्व सदियों में चैत्य मंडप के साथ विहारों की स्थिति सर्वत्र दीख पड़ती है। चैत्य-निर्माण का कार्य समाप्त हो जाने पर भी विहार की आवश्यकता बढ़ती ही गई। शासक तथा उपासक विहार का निर्माण भी पुण्य कार्य समझते और इस कारण अभिलेखों में कई विहार-दान का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

अनुत्पादक वस्तुओं में भोजन वस्त्र, ईंधन, कंबल, पुस्तक, धातु की वस्तुएँ तथा प्रतिमा-दान की गणना होती है। इन वस्तुओं के दान की समाप्ति भी स्वाभाविक थी। इनका उपयोग ही कार्य का अंत था। इन्हीं उत्पादक तथा अनुत्पादक दान-सामग्रियों का विवरण कालक्रम के अनुसार उपस्थित किया जाएगा।

बौद्ध साहित्य के अनिरिक्त अभिलेखों में संघाराम के लिए दान का वर्णन भरा पड़ा है। ईसवी सन् के आरम्भ में महायान मत में बुद्ध-प्रतिमा का आविर्भाव हुआ और पूजा का कार्य विस्तृत होने लगा। अतः, कुषाणकालीन लेखों में प्रतिमा-दान का विवरण प्रचुरता से मिलता है। कनिष्क ने बौद्ध होने के कारण स्तूप तथा विहार का निर्माण कराया, परन्तु उसके उत्तराधिकारी अधिकतर प्रतिमा-दान ही करते रहे। राजा तथा उसके राज्यपाल (महाक्षत्रप) इसी कार्य से पुण्य-लाभ की कामना करते थे। कनिष्क के तीसरे वर्ष (३ + ७८) ८१ ई० म वाराणसी के महाक्षत्रप खरपल्लना ने बोधिसत्व प्रतिमा के साथ छत्रयष्टि (लाठी का दान किया था) स्थापित की थी।

प्रतिमा-दान

(१) महारजस्य कणिकस्य सं०··· ३

(२) बोधिसत्त्वो छत्रयष्टि प्रनिष्ठापितो

(३) भिक्षुबलस्य त्रैपिटकस्य बोधिसत्वो प्रतिष्ठापितो।

[सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा लेख-ए० इ० भा ८, पृ० १७३]

कनिष्क के ग्यारहवें वर्ष मे विहारस्वामिनी नामक उपासिका ने छत्रयष्टि की स्थापना की (दान किया।)।

विहारस्वामिणि उपसिक-इमें यठि प्रतिठनं (स्तुविहार ताम्रपत्र लेख)

महेत महेत (प्राचीन श्रावस्ती, जिला गोंडा उत्तर प्रदेश) के एक लेख मे भी बोधिसत्व के साथ छत्रयष्टि के दान का वर्णन मिलता है—

भिक्षुस्य बलस्य त्रेपिटकस्य दान बोधिसत्वो छत्र दण्डश्च

[ए० इ० भा० ९ पृ० २९१]

कनिष्क के उत्तराधिकारी गण भी इसी प्रकार का दान देकर पुण्य लाभ करते रहे। वासिष्क (वर्ष २८ = १०६ ई०) के साची से उपलब्ध प्रतिमा-लेख मे भगवान् बुद्ध की प्रतिमा-स्थापना का वर्णन किया गया है। धर्मदेव निर्मित विहार मे भगवान शाक्यमुनि की मूर्ति स्थापित की गई थी।

भगवतो धर्मदेवविहारे प्रतिष्ठापिता

कुषाणवंशी नरेश हुविष्क के शासनकाल मे बौद्ध-प्रतिमाओं की स्थापना स्थान-स्थान पर की गई। इस पुण्य कार्य (दान) का समाज पर इतना प्रभाव पड़ा कि जैन उपासको ने भी अर्हत महावीर की प्रतिमा दान की थी। लखनऊ संग्रहालय की एक जैन प्रतिमा की पीठ पर निम्न लेख अंकित मिला है —

महाराजस्य हूविक्षस्य सवत्सर ४८ (४० + ८)....
यशाये दान समवस्य प्रोवि । प्रतिस्थापितम

[ए० इ० भा० १० पृ० ११२]

ई० सन् १२६ (४८+७८) मे हुविष्क के शासनकाल मे परिवार के यश-लाभार्थ संभव (तीसरे जैन तीर्थंकर) की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई। उस शासक के मथुरा प्रतिमा-अभिलेख मे वर्णन आया है कि सब प्राणियो के हित तथा सुख के लिए हुविष्क द्वारा निर्मित विहार मे बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई।

महाराजस्य देवपुत्रस्व हुवष्कस्य सम्वत्सरे ५१ (= १२९-ई०) हेमंत भगवत. शाक्यमुने प्रतिमा प्रतिष्ठापाति सर्वबुद्ध पुजार्त्थम
सर्वदुखोपशमाय सर्व-सत्व हित सुखार्थं महाराजदेव पुत्र विहरे।

बुद्ध-प्रतिमा-दान (स्थापना) का क्रम कम न हुआ। कालांतर मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है। गुप्तनरेश प्रथम कुमारगुप्त (ई० सन् ४४८) के शासन में भिक्षु बुधमित्र द्वारा प्रतिमा के दान का वर्णन एक अभिलेख मे किया गया है—

नमो बुधाय। भगवतो सम्यक् संबुद्धस्य स्व मता विरूद्धस्य
इय प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्ध मित्रेण

[मनकुवार लेख का० ई० इ० भा० ३, पृ० ४६]

पाँचवी सदी के अन्य दो गुप्त लेखो से सारनाथ मे बुद्ध-प्रतिमा-स्थापना का उल्लेख प्राप्त होता है। अभयमित्र नामक व्यक्ति ने बुद्ध-प्रतिमा-दान कर यानी स्थापित कर पुण्य लाभ किया था।

[अ] **भक्त्यावर्ज्जित-मनसा यतिना पूजार्त्थमभयमित्रेण**
प्रतिमा-प्रतिमस्य गुणैरपरैय कारिता शास्तुः।
[ब] **करिताभयमित्रेण प्रतिमा शाक्य भिक्षुणा।**

[आ० स० इ० वा० रि० १९१४-१६, पृ० १२४]

भारत मे दान की महिमा का वर्णन धार्मिक ग्रंथों मे पाया जाता है। सभी मतो मे दान के महत्त्व का उल्लेख मिलता है। मौर्यसम्राट् अशोक के अभिलेखो मे साधारण दान (भूमिदान) से धर्मदान को ऊँचा स्थान दिया गया है। उसके ग्यारहवे शिलालेख मे 'ब्राह्मण स्रमणानां साधुदानं' वाक्य उल्लिखित है (ब्राह्मण तथा साधुओ को दान उचित है) किंतु बारहवे लेख मे धर्मदान की महत्ता बतलाई गई है—

गुहा एवं भूमिदान

देवानापिये नो तथा दान वा पजा वा मनति।
अथा किति सालवढ़ि सिया सव पाषंडति।

मौर्यकाल के पश्चात् भारतीय अभिलेखो में अधिक संख्या दानपत्रों की है। बौद्ध-युग में बिहार के भूमिदान देने का विवरण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। शासकों का इस ओर विशेष ध्यान था। द्वितीय शताब्दी के क्षत्रप तथा सातवाहन लेखों मे दान का वर्णन प्रचुरता से मिलता है। संभव है, उन शासकों पर पौराणिक विचारों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। दान की महिमा स्मृतियों तथा पुराणो मे विशेष रूप से वर्णित है। भूमिदान के पुण्य फल से वे स्वर्ग लाभ की कामना करते थे। दान से सारा पाप नष्ट हो जाता, ऐसा विश्वास था।

> यत्किंचित कुरुते पापं पुरुषों वृतिकर्षित, अपिगोचर्म मात्रेण भूमिदानेन शुध्यति। स नर सर्वदा भूप यो ददाति वसुन्धरान् भूमिदानस्य पुण्यन फलं स्वर्ग पुरंदर।

उत्तरी तथा दक्षिण भारतीय अभिलेखों मे सर्वत्र गुहा दान का विवरण उपलब्ध है। उत्तर-पश्चिम भारत से पह्लव नरेश अयस के शासनकाल मे धनी व्यक्तियो तथा बुद्ध धर्मनुयायी ने संघ को दान दिया। पटिक के तक्ष-शिला ताम्रपत्र मे ऐसा वर्णन है कि उसने शाक्य मुनि के भस्मपात्र को सघाराम मे पूजा निमित्त स्थापित किया था। (का० इ० इ० भा० २ पृ० १७) तस्ते वहाई लेख में संघ को दान देने का विवरण उपलब्ध हुआ है। (वही, पृ० ६३) धनी व्यक्तियों में अनाथ पीडिक द्वारा जेतवन के दान का उल्लेख भरहुत वेदिका के लेख मे किया गया है, जहाँ चारों दिशाओं से आकर भिक्षु निवास करते रहें।

इस प्रकार भूमिदान के महत्त्व को समझकर क्षत्रप शासक नहपान का जामाता ऋषभदत्त पुण्य लाभ तथा स्वर्ग की कामना से प्रेरित होकर भूमि दान करता रहा। क्षत्रप गुहालेख मे उसके दान का वर्णन उपलब्ध है। ऋषभ-दत्त ने गुहा निर्माण कर भिक्षुसंघ को ग्राम (ग्रामभूमि) दान मे दिया था।

> [अ] गोवर्धने त्रिरश्मिषु पर्वतेषु धर्मात्मा इदं लेण कारितं इया च पोढिया। चरक पर्षभ्य: (परिव्राजकभिक्षुसंघ) ग्रामे नालंगोले द्वात्रीशत नालगेर मूलन (नारियल वृक्ष) सहस्र प्रदेन
>
> [ब] वलूरकेसु लेण वासिनं पवजितानं चातुदिसंस संघस याप णाय ग्रामो करजिको दत्तों [कार्लेगुहालेख]

वलूरक गुहा में निवास करने वाले चारों दिशाओं के परिव्राजक संघ को (भिक्षुसंघ) करजिक नामक ग्राम दान मे दिया गया, ताकि भिक्षुओं की जीवन-यात्रा का निर्वाह हो सके।

सातवाहन-कुल के कतिपय लेखों मे गुहादान के साथ ग्रामभूमि के दान का वर्णन मिलता है। एक नासिक लेख मे (प्रथम शती ईसवी पूर्व) उल्लेख है कि सातवाहन नरेश कृष्ण के शासनकाल मे नासिक नगर निवासी भिक्षु ने गुहा-निर्माण कराया, ताकि सभी भिक्षु व्यवहार मे ला सके।

सातवाहन कुले कहे राजनि
नासिक केन समणेन लेणं कारित

सातवाहनवंशी अभिलेखो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि क्षत्रप राजा नहपान के पराजित होने पर सातवाहन नरेशो तथा रानियो ने मंत्रियो को आज्ञा दी कि जितनी भूमि (ग्राम अथवा) क्षत्रप राजाओ द्वारा भिक्षुओ को दान मे दी गई थी, वह सारा उन्ही भिक्षु संघ को दे दिया जाए (दान कर दिया जाय)। उस क्षेत्र या ग्राम की आय या अन्य कर की वसूली सातवाहन-कर्मचारी न करे। समस्त आय भी उसी भिक्षु संघ को दे दिया जाए। इससे **प्रकट** होता है कि सह्याद्रि पर्वतमाला मे निर्मित विहार की सुरक्षा तथा भिक्षुओ के जीवन-निर्वाह निमित्त दान की योजना सातवाहन शासको द्वारा तैयार की गई थी। नासिक के समीप त्रिरश्मि पर्वत मे स्थित लेण तथा कार्ले की वलूरक लेण का नामोल्लेख सातवाहन लेखो मे किया गया है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक गुहालेख मे स्पष्ट वर्णन है कि त्रिरश्मि पर्वत गुहा (लेण) निवासी भिक्षुओ को ऋषभदत्त (नहपान का जामाता) ने जिस क्षेत्र को दान किया था, शातकर्णि उसी भूमि को पुनः दान करता है—

गामे अपर कखडिये या खेत अजकालकिय
उसभदानेन (= ऋषभदत्त) भूत निवतन
(= निर्वत्तन भूमि का माप करीब तीन एकड) खताति वे
२०० एत अम्हखेत निवतण (= निवर्तन)
सतानिवे (= द्वे) २०० इमेस पवजितान
(= भिक्षु) तेकिरसिण (त्रिरश्मि पर्वत गुहा
निवासी) वितराम।

गौतमीपुत्र शातकर्णि की महारानी ने उसी स्थान पर दूसरा लेख अंकित कराया, जिसमे नासिक के कर्मचारियो को आदेश दिया गया है कि त्रिरश्मि पर्वत गुहा के निवासी भिक्षुसंघ को कखव्या ग्राम मे जो भूमि दान मे दी गई थी, उसको राजा की ओर से जोता न जाए। उस नगर सीमा मे सौ निर्वतन राजकीय भूमि को भी दान दिया जाए। इससे बौद्ध संघ के निवासी भिक्षुगण को भोजन निमित्त अन्न मिलेगा और उनका जीवन-निर्वाह होगा।

एथ अम्हेहि पवते तिरण्हम्हि अम्ह
धमदान लेणें पतिवसतान पवजितान
भिखून गामे कखडीसु पुवखेत दत त
च खेत न कसते (=जोता जाए) ।
सो च गामो न वसति । एवं सति य दनि
एथ नगर सीमे राजक खेत अम्ह सतकं
ततो एतेस पवजितान भिखून
तेरण्हुकान ददम खेतस निवतण (निर्वतन)
सतं १०० तस च खेत म परिहार वितराम ।

राजकीय खेत का भूमिकर दान देने के अतिरिक्त सातवाहन नरेशों की यह भी आज्ञा थी कि उस भूभाग मे कोई राजकर्मचारी प्रवेश नही कर सकता (अपावेस)। उस भूमि से जितने प्रकार का खनिज पदार्थ निकले, वह सारा भिक्षु संघ को दिया जाए। (अलोन-खादक) इस प्रकार की दान-प्रणाली आदर्श वादी थी। उसके पुत्र पुलमावि के शासनकालीन काले गुहालेख मे उसी पुराने वलूरक संघ को सारा राजकीय कर के सहित ग्राम दान मे दिया गया।

गामो दत्ता वलूरक-सघस वलूरक
लेनस स करुकरो सदेय मेयो
(सभी कर सहित) ए० इ० भा० ७ पृ० ७१

सातवाहनवंशी दूसरे नासिक गुहालेख मे भी (ई० सं० १६९) उस वश की महारानी (पुलमावि की पतामाहि) द्वारा तिरश्मि पर्वत शिखर पर स्थित भिक्षुसघ को पिसाजिपदक ग्राम-दान का वर्णन मिलता है—

एत च लेण महादेवी महाराज पितामहि
ददाति गामं तिरण्हुपवतस अपर
दाखिण पसे पिसाजिपदक सव जात
योग-निरठि (समस्त करों सहित)

पुलमावि ने भी सन् १५२ ई० मे देवी गुहा के निवासी उसी भिक्षु सघ को सुदर्शन नामक ग्राम दान किया था, जिससे उस की वृद्धि हो।

तिरण्हुम्हि न धंम सेतुस लेणस
पटि सथरणे (अभिवृद्धि) दत्त । एथ

गोवधनाहारे दखिणमगे गामो

सुदसिणा भिखुहि देविलेण वसाहि

उसी के समीप दूसरा समलिपद नामक ग्राम देवी गुहा के निवासी भदाव-नीय भिक्षुसंघ की वृद्धि के निमित्त दिया गया।

[नासिक गुहालेख ए० इ० भा० ८, पृ० ६०-७२]

सातवाहन कुल के अंतिम सम्राट् यज्ञश्री शातकर्णि ने (ई० स० १८०) क्षत्रप लोगों को जीत कर राज्य का विस्तार किया था। उसने भी नासिक में गुहा नं० २० का निर्माण कराया तथा चारों दिशाओ से आगंतुक भिक्षुओं के निवास के लिए दान किया—

चातुदिसस च भिखु सघस आवासो दत्तो ति

[ए० इ० भा० ८ पृ० ९४]

इस वंश की अवनति के पश्चात् सातवाहन राजाओ के अधीनस्थ शासक (गवर्नर) राज्य करने लगे। नागार्जुनी कोण्डा (जिला गंटुर, तामिलनाडु) के क्षेत्र मे इक्ष्वाकु नरेश राज्य करने लगे। उनके लेखों के अध्ययन से तथा अमरावती एव जगयपेट्ठ स्तूप निर्माण से ज्ञात होता है कि नागार्जुनी के भूभाग मे बौद्ध मत का प्रचार था। राजाओ ने विहार का निर्माण कर भिक्षु सघ की वृद्धि के लिए दान किया था। तीसरी सदी के एक लेख मे वीरपुरुषदत्त द्वारा श्री पर्वत के समीप विहार दान का वर्णन मिलता है।

सिरिपवते विजयपुरीय पुव दिसा भागे

विहारे चुल धमगिरीय चेतियघरं

सचेतीय सव नियुत कारितं उपालिकाम

एक दूसरे लेख मे महाचैत्य (स्तूप) के समीप नाना दिशाओ से आने वाले परिव्राजको (भिक्षुओं) के निमित्त मंडप (विहार) बनाने का वर्णन किया गया है—

महाचेतिय पादमू ले पवजितानं

नानादेश समनागतात सव साधुनां

महाभिखुसघस......पतिठापित

नागार्जुनी कोडा लेख ए० इ० भा० २० पृ० २१

इक्ष्वाकुवंश के नरेश वीरपुरुषदत्त की पत्नी ने भिक्षुओं के लिए विहार तैयार कराया था।

सिरी वीरपुरुसदतस भाय्या महादेवीय

देय धम (= दानदिया) इयं सव जात

**नियुतो विहारो अचरियान । बौद्ध
आचार्य बहसुतियानं पतिट्ठपितो**

[ए० इ० भा० २१ पृ० ६२]

उत्तरी भारत में कनिष्क के पश्चात् (ईसवी सन् पहली सदी से तीसरी सदी तक) छोटे-छोटे राजा शासन करते थे, जिनके नाम समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति मे उल्लिखित हैं। मध्य भारत तथा गगा-यमुना दोआब में नागवंशी नरेश राज्य करते थे। उनके लेख तथा सिक्के उनकी स्थिति को प्रमाणित करते है। पजाब तथा उत्तर पश्चिम मे पिछले कुषाणनरेशों का शासन था, जो शैव-मतानुयायी हो गए थे। अतएव, कनिष्क के पश्चात् गुप्त राजाओं के उत्थान तक किसी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक कार्यों का उल्लेख भली-भाँति नही किया जा सकता। बुद्धमत का ह्रास हो रहा था। चौथी सदी के आरम से गुप्त नरेशो ने शासन आरभ किया जो वैष्णव मत के मानने वाले थे। किंतु, उनकी धार्मिक सहिष्णुता के कारण बौद्धो का समाज मे आदर बना रहा। उन राजाओ ने बौद्ध सस्थाओ को दान दिया और बौद्ध कला को पोत्साहित किया। उनके दरबार मे बौद्ध मतानुयायी राजकीय पद पर आसीन हुए। भागवत धर्म का प्रभाव महायान मत पर बढता ही गया। फलतः चैत्य तथा विहार का सम्मिश्रण हो गया। गुप्त काल मे थोडी गुफाएँ खोदी गई, परंतु उनमे ब्राह्मण देवी देवताओ की प्रतिमाएँ मिलती है। चद्रगुप्त द्वितीय (गु० स० ८२ = ४० १ ई०) ने विदिशा के समीप उदयगिरि पर्वत को काट कर गुहाएँ तैयार करायी। उसमें शिवमूर्ति की स्थापना की—

भक्त्या भगवत श्शम्भोर्गुहामेतामकारयत

[का इ० इ० भा० ३ पृ० २५]

साची के लेख मे चंद्रगुप्त द्वितीय ने साची के स्थानीय विहार (काकनाद-बोट-सांची का प्राचीन नाम है।) को पचीस दीनार दान किया था। यह कहना कठिन है कि काकनादबोट महाविहार का निर्माण किस व्यक्ति ने किया था। अन्य गुफाओ में बराह तथा शेषशायी विष्णु की प्रतिमाएँ खुदी हुई दीख पडती है।

शासको के समान कुछ बौद्ध मतानुयायियो ने भी बुद्ध प्रतिका का दान किया, जिसका विवरण मूर्ति की चौकी पर खुदे लेख से प्राप्त होता है। कुमार-गुप्त प्रथम, कुमार गुप्त तृतीय तथा बुधगुप्त के शासन काल में क्रमशः बुद्धमित्र और अभयमित्र ने बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की।

(अ) नमोबुधान। भगवतो सम्यक् सम्बुद्धस्य स्व मताविरूद्धस्य इय प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षुस्बुद्धमित्रेण [मनकुवार लेख ४४८ ई०]

(ब) भक्त्या वर्जित मनसा यतिना पूजात्थयभयमित्रेण प्रतिमा-प्रतिमस्य गुणौ—कारिता शास्तु:।

(स) कारितभयमित्रेण प्रतिमा शाक्यभिक्षुणा।

गुप्तकाल से बौद्धों के सदृश ब्राह्मण संस्थाओं को भी दान दिया जाने लगा या कहना चाहिए कि बौद्धों विहार की दान-परंपरा का अनुकरण गुप्त तथा उत्तर—गुप्तकाल में होने लगा। यही कारण था कि बंगाल के अनेक लेखों में दोनों संस्थाओं के दान का विवरण उपलब्ध होना है। बंगाल के गुणैधर ताम्रपत्र (ई० स० ५०७) तथा पहाड़पुर ताम्रपत्र (राजशाही-बंगला देश) में विहार के लिए भूमि दान का वर्णन मिलता है (इ० हि० क्वा० भा० ६ ए० इ० भा० २०)। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्ध की मूर्ति विहार में स्थापित की गई और उसी के पूजा-निमित्त भूमिदान में दी गई थी।

महायानिकवैवर्तिक भिक्षुसंघनाम्परिगृहे भगवतो बुद्धस्य सतत त्रिकालं (सुबह, दोपहर-शाम) गन्ध-पुष्प-दीप धूपादि प्रवर्त्तनाय तपस्यभिक्षु सघस्य च चीवर पिण्डपात शयनासन ग्लान प्रत्ययभैष ज्यादि परिभोगाय विहारे खड स्फुट्ट प्रति सम्कार करणाय [गुणैधर ताम्रपत्र]

दानपत्र में जितनी भूमि का दान वर्णित है, उसका आय से निम्नलिखित कार्यों के लिए व्यय का उल्लेख है—

(१) भगवान बुद्ध की मूर्ति की त्रिकाल पूजा जिसमें गंध, धूप, दीप और पुष्प का व्यवहार किया जाए। यह पूजा प्रकार ब्राह्मण-देवता के पूजा के फुट्ट सदृश परिलक्षित होता है।

(२) विहार के निवासी भिक्षुओं के चीवर (वस्त्र निमित्त),

(३) सोने के लिए आसन का प्रबंध,

(४) बीमार के लिए औषधि का प्रबंध और

(५) विहार के भग्न होने पर उसके संस्कार (मरमत) के निमित्त। पहाड़पुर ताम्रपत्र के लेख में भी ऐसी ही विषयों की चर्चा है। भगवान बुद्ध की पूजा की वही रीति अपनायी गई थी, जिसे ऊपर वर्णन किया गया है। इन सभी कार्यों का अनुकरण ब्राह्मण धर्म से किया गया, जो पारस्परिक प्रभाव का द्योतक है।

अधिष्ठित विहारे भगवतामर्हितां गंध धूप सुमनो दीपाद्यर्थं

उत्तरी बगाल से अनेक लेख प्रकाश में आए हैं जिनमें विष्णु, गोविंद-स्वामी, वासुदेव आदि के पूजा-निमित्त दान का उल्लेख है। (दामोदरपुर, फरीदपुर, ताम्रपत्र छठी सदी) पहाड़पुर (उत्तरी बगाल) की खुदाई से अनेक विहारों का पता चला है, जिनका निर्माण समतल भूमि पर भिक्षुओं के आवास के लिए किया गया था। बंगाल में आठवी सदी से पालवंशी राजाओं ने शासन आरंभ किया था, जिनमे अधिकतर बुद्धधर्मावलम्बी थे। उनके लेखों मे परम सौगत की पदवी तथा ताम्रपत्रों के सिरे पर धर्मचक्र का आकार घोषित करता है कि पालनरेश बौद्ध थे। नालंदा तथा विक्रमशिला महाविहारों की वृद्धि का श्रेय पाल राजाओं को ही है। बुद्धमत के तीसरे यान वज्रयान के संस्थापक भी माने गए है। अधिकतर लेखों मे 'ओनमो बुद्धाय' तथा 'भगवन्त बुद्ध भट्टारकम्'' वाक्यों का प्रयोग-मंत्रों का उच्चारण यह प्रमाणित करता है कि उत्तरी भारत (विहार तथा बगाल) मे वज्रयान के अनुयायी अधिक थे। लेखो मे वर्णित दान बुद्ध प्रतिमा के पूजार्थ या विहार मे निवास करने वाले भिक्षुओं के जीवन-यापन के लिए दिए गए थे। नालंदा ताम्रपत्र विहार म० १ म प्राप्त हुआ है, जिसमे परमसौगत महाराजाधिराज श्री धर्मपाल के पुत्र परमसौगत परमेश्वर महाराजाधिराज श्री देवपाल के शासन का वर्णन है। इस ताम्रपत्र को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त थी, क्योंकि उसी मे सुवर्ण द्वीप के (जावा) शासक बालपुत्रदेव द्वारा नालंदा मे विहार-निर्माण का वर्णन है। उस जावानरेश ने देवपाल से पाँच ग्रामदान देने का आग्रह किया, ताकि उसकी आय से बालपुत्र देव द्वारा निर्मित विहार के भिक्षुओं का दैनिक कार्य सरल हो जाए तथा उसकी आय से

(१) वस्त्र,

(२) भोजन,

(३) आसन,

(४) औषधि तथा

(५) धर्मग्रंथ-लेखन

का कार्य सुचारु रूप से हो सके। अत, पालशासन के दान पत्रों का विश्लेषण यह प्रकट करता है कि पालनरेश बौद्ध थे। वज्रयान के आश्रयदाता थे। उनकी नीति तथा कार्यों का बौद्धधर्म से घनिष्ठ सबध रहा। नालंदा ताम्रपत्र से निम्नलिखित उद्धरण उस विषय को प्रकाशित करते है, अतएव उन पंक्तियों का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है—

नालंदागुणवन्दलुब्ध मनसा भक्तया च शौद्धोवने
बुध्वा शैलसरित्तरंग तरलां लक्ष्मीमित्रा शोमनाम्
यस्ते नीन्नत सौघधाम धवलः सधा मिश्रशिया
नाना सद् गुण भिक्षु संघ बसतिः तस्याम्बिहार' कृतः

जिस नालंदा नामक स्थान मे भिक्षुगण निवास करते हैं, वही विहार का निर्माण किया गया। इस विहार का निर्माण कर बालपुत्रदेव के निवेदन का विवरण नीचे लिखी पंक्तियो से उपलब्ध हो जाता है—

सुवर्णद्वीपाधिपममहाराज श्री बालपुत्रदेवेन दूतक मुखेन व्यम्बिज्ञापिता यथा मया श्री नालदायाबिहार कारित तत्र भगवतो बुद्ध भट्टारकस्य प्रज्ञापार मितादि सकलधर्म्मने त्री स्थान स्यायार्थे तांत्रिक बोधिसत्व गण स्याष्ट महा पुरुष पुद्गल चातुर्दिशाय भिक्षूसंघस्य वलिचरुमत्र चीवरपिंड पात शयना मनग्लान प्रत्यय भेषज्याद्यर्थं धर्मरत्न लेखनाद्यर्थं विहारस्य च खडस्फुटित समाधानार्थ शासनी कृत्य प्रतिपादित ।

स्वर्ण द्वीप के महाराज बालपुत्रदेव के दूत ने निवेदन किया कि नालंदा मे विहार का निमाण हो चुका है। उसी स्थान पर चारो दिशाओ से आने वाले भिक्षुगण द्वारा बुद्ध की पूजा, मत्र (भोजन) वस्त्र, धर्मग्रथ के लिखने, औषधि निमित्त तथा विहार के सस्कार (मरम्मत) के लिए दान दिया जाय। उस विहार को देवपाल ने श्री नगर (पाटलिपुत्र) भुक्ति के राजगृह विषय (जिला) मे स्थित चार ग्राम तथा गया जिले मे स्थित एक ग्राम को दान दिया था। उनके नाम थे—नदिवनाक, मणिवाटक, नटिका, हस्ति तथा पालामक। उस ग्राम के सभी राजकीय कर (समुचित भागभोग कर हिरण्यादि प्रत्यायोप नय·) दानग्राही यानी नालदा विहार के मुख्य प्रबधक को ग्रहण करने की आज्ञा दी गई थी। उस भूमि की पैदावार तथा अन्य कर उपरिलिखित कार्यों (चीवर, भोजन, आसन औषधि, धर्मग्रथ लेखन तथा विहार की सरक्षण (मरम्मत) के निमित्त व्यय किए जाएँ। पालनरेशो द्वारा बौद्धमत को प्रश्रय मिलने से वज्रयान की वृद्धि हुई, नालदा जिसका प्रमुख केंद्र हुआ। वर्तमान काल मे नालदा तथा कुर्कीहर (गया जिला) से अत्यधिक वज्रदान की धातु-प्रतिमाएँ मिली है, जिनके उत्कीर्ण लेखो में पाल राजाओ का नामोल्लेख है और प्रसिद्ध बौद्धमत्र अकित है—

यो धर्मा हेतु प्रभवा हेतुं तेषा तथागतो ह्यवदत्
तेषां च यो निरोधो एव वादी महाश्रमण. ।

१० वी सदी तक उत्तर भारत में बौद्धमत का संमान था। उपासकों तथा भिक्षुओ की संख्या कम न थी। नालंदा महाविहार के विद्वान भिक्षुओं ने तिब्बत तथा चीन मे बौद्धधर्म तथा साहित्य का प्रचार किया। मध्य एशिया होकर भारत का यश चीन तक पहुँचा और बौद्धमत के प्रचार होने पर ज्ञान पिपासु चीनी यात्रियो ने मध्य एशिया के कठिन मार्ग को पारकर भारत में पदार्पण दिया। बुद्ध के तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया। देश की अवस्था का वर्णन भी अपने यात्रा विवरण मे किया था। ह्वेनसाग ने वर्णन किया है कि नालंदा महाविहार को दो सौ ग्राम दान मे मिल चुके थे। इस विवरण से महाविहार की शिशालना तथा उससे संबंधित बौद्ध पंडित एवं भिक्षुगण के महत्त्वपूर्ण जीवन पर प्रकाश पडता है।

नालंदा के सदृश सारनाथ भी एक प्रधान बौद्ध केंद्र था। अशोक के समय से ही शासकों का ध्यान उनकी ओर बना रहा। अशोक के स्तंभ एवं स्तूप, कनिष्क की बुद्ध प्रतिमा तथा गुप्त युग के विहार उस स्थान के महत्त्व को बतलाते हैं। इस तीर्थस्थान पर प्रतिमा दान के अनेक उल्लेख मिलते हैं। कुमारगुप्त तृतीय, बुध गुप्त तथा पालनरेश महीपाल के शासनकालीन बुद्ध प्रतिमाओ को उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। ग्यारहवी सदी के गाहडवाल राजा गोविन्द चद्रदेव की पत्नी कुमार देवी बुद्धमत को स्वीकार कर चुकी थी। अतएव उसने एक वृहत विहार सारनाथ मे तैयार कर दान किया, ताकि चारो दिशाओ के परिव्राजक निवास कर सके। उत्तरी भारत मे राजनीतिक परिवर्तन से सेन राजाओ ने बगाल में बुद्धमत को निराश्रित बना दिया। अरब वाले के आक्रमण द्वारा विभिन्न दिशा में स्थित विहार भी नष्ट कर दिये गए तथा ब्राह्मणमत ने बौद्धधर्म को आक्रात कर लिया। अतएव दसवी सदी के पश्चात् बौद्धमत का ह्रास होता गया।

दक्षिण भारत मे बौद्ध केंद्र का विकास सातवाहन युग मे हो रहा था। गंटूर के समीप नागार्जुनी कोडा तथा अमरावती के बौद्ध गुफाएँ एवं स्तूप विश्वविख्यात है। बौद्ध स्तूप को महा चेतिय का नाम दिया गया था। चैत्य के समीप विहार का निर्माण नितांत आवश्यक था। विशाखापट्टम् जिले में कई विहार बनाए गए थे, जो अब प्रकाश में आए हैं। तामिलनाडु में अनेक विहार का वर्णन मणिमेखलाई द्वारा उपलब्ध हुआ है। सातवी के १०वी सदी तक पांड्या तथा पल्लव राजाओ के शासन मे अनेक बौद्ध विहार निर्मित्त हुए थे। नगपट्टिन नामक नगर का नाम गर्व के साथ लिया जा सकता है, जो

पल्लव तथा चोल नरेशो द्वारा महत्त्वपूर्ण केंद्र माना गया था। यही कारण है कि पल्लव नरसिंह वर्णन द्वितीय ने आठवी सदी में बौद्ध गुफाएँ तैयार करायी। कई सदियो बाद जावा द्वीप के नरेश ने इस स्थान पर भी विहार तैयार किया, जिससे नाल दा के सदृश नगपट्टिन को भी अतर्राष्ट्रीय ख्याति मिल गई। दक्षिण भारत से पूर्वी द्वीप समूह का व्यापारिक सबंध था। जावा आदि द्वीप समूह से चोल मंडल पर जहाज आया-जाया करते थे। अन, नगीपट्टिन के महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण सुवर्ण द्वीप के श्रीविजय नामक राज्य का शासक शैले द्र वशी चूडामणि वर्मन ने एक विहार का निर्माण किया, जिसे चोलनरेश राज राजा एव कुलतग प्रथम के ग्रामदान मे दिया था (जिस तरह देवपाल ने बालपुत्रदेव द्वारा निर्मित्त विहार को दान दिया था) उसका विवरण लिडन मे सग्रहित ताम्रपत्र पर अंकित लेख मे मिलता है····

राज राजा केसरी

वर्म्मा स्वमाम्राज्य वर्षे एक विंशतितमे निखिल धरणि तिलकायमाने क्षत्रिय शिखामणि वलनाडु नास्ति महती जनपद निवाहे पट्टनकुरर नागिनजनपद अनेक सुर सदन सत्रप्रराभाभि रामे विविध सौध राजमाने नागीपट्टन निजमति विभव विजित सुर गुरुणा बुधजन कमलवन मरीचिमालिआर्थिजन कल्पपादपेन शैलेन्द्र वश सभूतेन श्री विषयाधिपतिना कटाहाधिपत्य मातवता मकरध्वजेना धिगत सकल राजविद्यस्य च लामणि वर्मण पुत्रेण श्रीमार विजयोतुंग वमण स्वापितुरनाम्ना निर्मापित अधरीकृत कनक गिरीमसुन्नति विभवं अति रमणीय चूलामणि वर्मणस्य विहार अधि वसते बुद्धाय तस्मिन्न धनपद निवाहे पट्टन कुरर नाम्नि जनपदे करिणो परिक्रमण विस्पष्ट सीमा चतुष्टयं आनै मंगला मिधान ग्राममदात्।

राज केसरी वर्मन राजराजा ने जिसने समुद्र पार चीजो (वैज्ञानिक) को देखा है, जिसके पैर राजाओ के मुकुट मणि से प्रकाशमान है, चूडामणिवर्म नामक विहार को २१ वें वर्ष मे दान दिया। वह विहार मेरु पर्वत से ऊँचा तथा सुंदर है और श्रीमार विजयीतु ग वर्णन द्वारा निर्मित्त किया गया था। वह अत्यत ज्ञानी देवगुरु को जीतने वाला कमलवन के लिए सूर्य कल्पतरु के समान दाता, शैले द्र व श मे उत्पन्न, कटाह द्वीप का स्वामी था, नागपट्टन मे अनेक मदिर, विहार, आरामवन आदि तैयार कराया था। तात्पर्य यह है कि सुवर्ण द्वीप के शासक द्वारा निर्मित बौद्ध विहार को चोलनरेश ने ग्राम-दान किया। जिससे उस विहार का आर्थिक प्रयोजन संपन्न हो सके।

बौद्ध विहार को दान देते समय शासको ने ग्राम-भूमि की सीमा का उल्लेख किया है। उन लेखो मे स्थान-स्थान पर 'सकसकरो सदेय मेयो' (कार्लेगुहालेख) वाक्य भी मिलते है। पालनरेशो के दान पत्र मे 'सभागभोगकर हिरण्य प्रत्याय' वाक्य उल्लिखित है। इससे ज्ञात होता है कि भूमिकर

मुद्रा (नकद) दान

(टैक्स) के अतिरिक्त अन्य सामयिक कर (जिसे लेखो मे बलि शुल्क) चुगी आदि भी दानग्राही को ग्रहण करने की आज्ञा थी। विहार मे भिक्षुओ की बढती सख्या को देखकर उपासकगण द्रव्य भी दे दिया करते, जिससे कार्य सुचारु रूप मे सपन्न हो। उसका एक कारण यह भी था कि ग्राम भूमि के अन्न के अतिरिक्त अन्य आवश्यक कार्यों के लिए कभी द्रव्य की भी आवश्यकता अनुभव हुई। अतएव, विभिन्न मार्गों मे आय पाकर ही विहार का कार्य भली-भाँति चलता था। वस्त्र एव औषधि ऐसी वस्तुएँ है, जिनकी आवश्यकता किसी समय हो सकती है। उन उपयोगी चीजो के लिए साक्षात् द्रव्य चाहिए। ग्राम भूमि से उस आवश्यकता की शीघ्र पूर्ति होना सभव भी न था। इस कारण मुद्रादान की आय (सूद) का ही उपयोग किया जाता रहा, ऐसा वर्णन लेखो मे मिलता है। दान भूमि मे चुंगी अथवा अन्य खनिज पदार्थ भी उपलब्ध होते रहे जिनका सकेत अभिलेखो मे किया गया है। परतु उनका विस्तृत विवरण अप्रासंगिक होगा। पल्लव शासक अयस के शासनकाल मे शिवरक्षित नामक धनी व्यक्ति ने दस सहस्र कार्षापण सघ को दान मे दिया था (का० इ० इ० भा०२ पृ० १७)

क्षत्रप नरेश नहपान के नासिक गुहा-लेख मे द्रव्यदान का बडा ही रोचक वर्णन है। नकद द्रव्य को विहार के प्रबधक को न देकर स्थानीय श्रेणी (व्यापारिक सस्था जो बैंक का भी काम करती थी) कोष मे जमा कर दिया गया, ताकि उसके सूद से ही विहार मे भिक्षुओ के कार्य सपन्न हो सके। निम्न पक्तिया इस विषय को स्पष्ट कर देती है—

क्षत्रपस नहपानस जामाता-उषवदातेन संघस चातुदिसस इय लेण नियातितं दत्त चानेन अक्षय निवि कहापण सहस्रानि श्रीणि ३००० संघस चातुदिसस ये इमस्मि लोणे वसांतान भविसति चिवरिक कुशाण मूलेच। एते च कहापण प्रयुत्ता गोवधन वाथवापु श्रेणीसु। कोलिक निकाये २००० वृध पडिक शत अपर कोलिक निकाये १००० वधि पायून पडिक शत। ऐते च कहापणा अप डिदातवा वधि भोजा। ऐतो च चिवरिक सहस्रानिवे २००० ये पडिक शते।

ऐतो मम लेणे वसवुथान भिखुन वीसाय एकीकस चिवरिक वारसक च सहस्र प्रयुत्त पायून पडिकशते अतो कुशन मूल।

क्षत्रप नहपान के जमाता ऋषभदत्त ने चारो दिशाओ के भिक्षु संघ के लिए इस (नासिक) लेण (गुहा) को दान मे दिया। उसे सर्वदा के लिए तीन हजार मुद्रा (नकद) दान भी किया जिससे संघ मे निवास करने वाले भिक्षुओं को वस्त्र (चीवर) तथा अन्न (कुशनमूल) मिल सके। यह द्रव्य नासिक के श्रेणी के पास स्थायी (अक्षयनिवि) रूप मे जमा कर दिया। इसमें दो हजार कार्षापण [सिक्के] कौलिक नाम निकाय (व्यापारिक सस्था] के पास जमा कर दिया जाय और इस धन पर एक रुपया प्रति सैकडा (पडिक शत) सूद (वधि) मिलेगा। इस (दो हजार रुपये) को व्यय नहीं किया जा सकता (अपडिदातवा) केवल उसका सूद ही खर्च हो (वधि भोजा) इस सूद से (भिक्षुओ) वस्त्र का प्रबंध हो। एक हजार कार्षापण उस संस्था (निकाय) को बारह आने प्रति सैकडा (पायून पडिक शत) सूद (वधि) पर दिया जाए। इससे अन्न का प्रबंध हो। उस विहार मे बीस भिक्षुओ के (भिखुन वीसाय) लिए बारह मास (वारसक) का भोजन एवं वस्त्र उस आय सूद से चलाया जाए।

दो हजार का मासिक सूद बीस कार्षापण होता है। अतएव बीस भिक्षुओ के लिए यह धन चीवर (वस्त्र) मे व्यय किया जाता था। उन सभी के लिए वर्ष भर का भोजन व्यय नब्बे रुपया था। इस 'गणना से प्रतीत होता है कि भिक्षुओ के निमित्त बहुत कम द्रव्य खर्च किया जाता था।

ऐसा ही वर्णन गुप्त सम्राट् चद्रगुप्त द्वितीय के सांची लेख (ई० स०४१२) मे उपलब्ध है। वहा काकनादवोट महाविहार के लिए पचीस दीनार (गुप्तकालीन स्वर्ण मुद्रा) दान मे दिया गया। इसके आधार पर तथा भिक्षु सस्था के अभाव मे प्रतिभिक्षु व्यय का अनुमान नही लगाया जा सकता, किंतु, यह सही है कि विहार मे व्यय की मात्रा अधिक न थी। सभवत परिव्राजक का भोजन मात्रा भी कम रहा हो। आपस्तभ धर्मसूत्र (२।४।९-१३) मे वर्णन किया गया है कि सयासी को आठ ग्रास (कौर) ही खाना चाहिए। वानप्रस्थी उससे दुगुना तथा गृहस्थ बत्तीस ग्रास। इस मात्रा से व्यय का अनुमान नही किया जा सकता। ह्वेनसाग ने तो भिक्षुओ के भोजन का वर्णन करते समय महाशालि [महोनिम] नामक चावल का उल्लेख किया है जिसे विहार मे प्रयोग किया जाता था।

नालंदा ताम्रपत्र मे '**सम्यक् बहुघृत वधिभि: व्यजनैः युक्तमन्नम्**' (ए० इ० भा० २० पृ० ४४) वाक्य का उल्लेख यह स्पष्ट कर देता है कि भोजन

की सामग्री या प्रकार न्यून कोटि का न था। सामग्रियो की बहुलता तथा सस्तेपन के कारण भोजन व्यय कम रहा होगा। गुप्त साम्राज्य के उत्थान के पश्चात् संभवत. साधुओ को सत्र (= छत्र) मे बिना मूल्य भोजन वितरण किया जाने लगा। सत्र उसी स्थान के लिए प्रयुक्त है, जहाँ गृहहीन भले तथा साधुओं को भोजन बाँटा जाए। वर्त्तमान समय मे भी वाराणसी में ऐसे सत्र (छत्र) है। जहाँ नित्य बिना मूल्य भोजन वितरण होता है।

●

पाँचवाँ अध्याय

विहार-निर्माण-कार्य

यद्यपि चैत्य-मडप के समान बौद्ध विहारों की विशिष्टता न थी, किन्तु उनकी योजना तथा उनके प्रतिपादन द्वारा तत्कालीन वास्तुकला पर प्रकाश पड़ता है।

गुहा-निर्माण की परंपरा अति प्राचीनकाल मे भी विदित थी और यूनान, रोम तथा असिरिया (मेसोपेटामिया) के लोग भी विज्ञ थे। परंतु, भारत के प्राचीन युग मे अत्यत आकर्षक, सुंदर तथा कल्पना सहित गुफाएं निर्मित हुई थी। उनकी समता करना कठिन है। ब्राउन का मत था कि गुफा-निर्माण-कला भारतवासियो ने ईरान (परसिपोलिस) मे सीखी। इस मत में अधिक बल नहीं दीख पडता। भारत के कलाकार बौद्ध या ब्राह्मण मतानुयायी हो, ग्राम के निवासी थे, जिन्होने गुफा को जन्म दिया। गुफाएँ ग्राम मे स्थित झोपडी या गृह के मूल स्वरूप को लेकर खोदी गई थी। कारीगरो ने ऐसी योजना तैयार कर ली, जिसका पालन किया गया और वही आज दिखलायी भी पडता है। अग्रिम पृष्ठो मे वर्णित चैत्य तथा विहार (गुफाएँ) के आकार-प्रकार से स्पष्ट हो जाएगा कि भारतीय कलाकारो ने अपने झोपडी या गृह के रूप को ही चट्टानें मे खोद कर सुदर तथा स्थायी रूप दिया था। बाँस या लकडी के स्थान पर प्रस्तर ही एक मात्र साधन था, जिससे वैदिक ऋषियो की कुटिया को गुफा का नामकरण किया। उनमे शयनस्थान, अन्य कमरे, रसोईघर और पढने का स्थान आदि आवश्यक था। विहार मे कुँआ, अध्यापन निमित्त स्थान तथा सोने के लिए बेंच आदि जोड दिए गए। शहर से दूर स्थायी निवास के लिए पत्थर-शिलाओ को काट कर विहार तैयार करना एक मात्र उपाय था। सभव है कि मौर्य-युग के पश्चात् ब्राह्मण धर्मावलंबी शासकों ने असहिष्णुता के कारण भिक्षुओं को दूर हटा कर पर्वत गुफाओं मे स्थान दिया हो। इसमे सचाई का स्थान अधिक है। कारण यह है कि अद्यावधि जो विहार मिलते है, वे पर्वतो मे स्थित है।

बौद्ध विहारो का आरंभ हीनयान युग मे हुआ। पर्वतो को काट कर विशिष्ट मूलरूप को ध्यान मे रख कर विहार तैयार किए गए थे। उनमे कोई बनावट की विभिन्नता न थी। भिक्षु-सख्या को देखकर विहार निर्माण का

प्रश्न मूलतः विचारणीय रहा। हीनयान तथा महायान के विहार एक समान न थे। किंतु, हीनयान मत के विहार ग्रामीण गृह की योजना लेकर तैयार हुए। महायान वालो ने उन स्थानो पर निवास करने के पश्चात् कुछ परिवर्तन किए। जिसमे विहार के केंद्रीय बड़े कमरे का निर्माण उल्लेखनीय है। चारो तरफ छोटे कमरो मे महायान काल मे प्रस्तर की चौकियाँ तैयार हुई, जिन पर भिक्षु शयन करते रहे। उन चौकियो का क्षेत्रफल नवै वर्ग फीट था। इसी कारण कोठरियो का द्वार बीच मे न होकर एक किनारे पर बनाया गया।

हीनयान विहारो का मुख्य केंद्र सह्याद्रि पर्वतश्रेणियो मे है। उसको प्रारंभिक भवन कहना उचित होगा। हीनयान के पश्चात् महायान कारीगरो ने सुधार लाकर गुफाएँ तैयार की। हीनयान गुफाएँ कारीगरो का प्रथम प्रयास मान जाएँ, तो उचित होगा। पर्वतश्रेणियो मे जितने गुफाएँ—चैत्य-मंडप या विहार उपलब्ध हुए है, उनकी बनावट मे एक प्रकार का क्रम देखा जाता है। यह कहना सर्वथा कठिन होगा कि अमुक गुहा आरंभ, मध्य या अंतिम काल मे निर्मित हुई थी। परीक्षा से सभी वैज्ञानिक ढग पर, एक योजना बद्ध तथा सभी प्रकार के माप तौल सहित खोदी गई है। विश्लेषण करने पर तथा गंभीर अध्ययन करने मे हीनयान एव महायान विहार को पृथक् किया जा सकता है। बनावट मे भी कुछ समानता है। कारीगरो के समुख कोई मूल-रूप (Model) न था केवल गाँव की झोपडी तथा रहने वाले घर का स्वरूप प्रस्तर मे उतारा गया। पर्वत के बाहरी भाग को लववत् काट कर (स्थान बना कर) कार्य आरंभ करते थे और सगतराश सीख कर कार्य के योग्य बन जाता। पत्थर कर्तक को चैत्य या विहार का आकार ध्यान मे रख कर पर्वत के बाहरी भाग पर स्थान स्थिर करना पडता था। मुँह खोद कर एक छोटा रास्ता बनाया जाता, जिससे प्रस्तर के छोटे कटे टुकडो को बाहर फेंक सके। दक्षिण-पश्चिमी भारत तथा तमिल देश की गुफाओ का यही क्रम था। चैत्य-मडप के साथ ही पर्वत के शिखर की ओर मुख्य भिक्षु का निवासस्थान बनाया जाता। वह प्राय: एक भिक्षु के लिए छोटा कमरा (Cell) होता है। अन्य भिक्षुओ के लिए क्रमश. विहार खोदे जाते थे। जिन कारीगरो ने गुफाएँ खोदी थी, वे लकड़ी के भवनो मे रहने वाले थे। अतएव, उन लोगो ने लकडी की शहतीर का सहारा लिया जो भाजा काले आदि के चैत्य-मंडपो के मेहराव-द्वार की छतों मे देखा जा सकता है। भीतरी भाग मे आज भी लकड़ी वर्त्तमान है, किंतु बाहरी भाग मे (भाजा चैत्य मे) शहतीर रखने के लिए खुदे गहरे स्थान आज भी दीख पड़ते है।

कहने का तात्पर्य यह है कि लकडी से प्रस्तर का माध्यम लेकर कारीगरो ने कमाल किया। चैत्य के साथ विहार-निर्माण का कार्य प्रारंभिक स्थिति का द्योतक है। अशोक ने उसका शुभारभ किया था। उसी ने बराबर पर्वत (गया, बिहार) को खुदवा कर आजीबिक परिव्राजकों के लिए गुहादान किया था। अतः, बराबर तथा नागार्जुनी की गुफाएं (बिहार) प्राचीनतम है। अशोक ने सभवतः पाटलिपुत्र मे अशोकाराम तथा कुक्कुटाराम नामक दो विहार बनवाए थे। पर, उनकी स्थिति का पता नही लगा है। उन्हे लकडी या बाँस द्वारा बनाए जाने के कारण या कालातर मे नष्ट हो जाने से अवशेष भी उपलब्ध नही हुए है। सुसगठित रूप मे विहार के निर्माणकर्त्ता का नाम ज्ञात नही है, परन्तु, अभिलेखो के आधार पर कुछ विहारो का इतिहास विदित है। गुहा-निर्माण शासक, धनीमानी व्यक्ति, साधारण दानी पुरुष या बौद्ध कलाकार द्वारा विहारो का निर्माण हुआ। श्रावस्ती का अनाथपीडिक एक धनी व्यक्ति था जिसने राजा से जमीन खरीद कर आराम बनवाया। क्षत्रप तथा सातवाहन नरेशों के नाम भी लिए जा सकते है। सहयाद्रि मे वर्त्तमान विहारो मे उनकी बनावट तथा इतिहास का ज्ञान हो जाता है। उसका आकार भिक्षुसख्या पर निर्भर था। पर्वत को खोद कर सभी विहार को एक सीध मे बनाना सभव न था। चैत्य से सबद्ध भी विहार बने। यानी स्थान का चुनाव परिस्थिति पर निर्भर था। विहारो के दान की चर्चा अन्यत्र की गई है। धार्मिक वातावरण मे विहार का निर्माण उत्तरोत्तर बढता गया। हीनयान विहारो की अपेक्षा महायान विहारो मे सुधार तथा सूक्ष्म परिवर्तन दीख पडता है।

यो तो विहार का श्रीगणेश भारतीय ग्रामीण गृह के अनुकरण पर हुआ था, किंतु कालातर मे परिवर्तन लाना आवश्यक हो गया। प्राचीन समय मे निवास के निमित्त ग्राम मे ऐसे घर बनाए गए थे, जिनमे एक चौकोर आँगन था। उसके चारो तरफ बरामदे और हर दिशा मे कई कमरे तैयार किए गए थे। एक दिशा मे उसका द्विद्वार था, जो बडे बरामदे मे खुलता था। बाहरी ड्योढी आकार मे बडा रहता है, जिसमे घर का स्वामी बैठता और स्वजन से भेट या वार्ता करता था। इसी मूलरूप (Prototype) को ध्यान मे रख कर कलाकारो ने बौद्ध विहार का निर्माण किया। पर्वत चट्टानो को खोद कर अततोगत्वा उसी गृह के अनुरूप विहार बने। चूँकि पर्वत के तले से खुदाई प्रारभ की जाती थी, इस कारण सबसे प्रथम बाहरी बरामदा बनाया जाता, जिसमे कई स्तभ होते थे। उसके प्राय. मध्य भाग से भीतर जाने का प्रवेश

मार्ग होता, जो विहार के आँगन में पहुँच कर समाप्त हो जाता। ग्राम के गृह की तरह आँगन से आकाश को देखना कठिन था। विहार का ऊपरी भाग भी पर्वत का ही अंग था। अतएव, उस बंद आँगन में चारों दिशाओं में बरामदे तथा प्रत्येक बरामदे में कोठरियाँ बनाई गईं, जिनमें भिक्षु निवास करते रहे। ईसवी सन पूर्व सदियों मे विहार के समीप चैत्य भी बनाए गए, जिनका महत्त्व हीनयान-युग तक सीमित था। महायान के उदय होने पर विहार के प्रवेश द्वार के सीध मे कोठरी में बुद्ध प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई। विहार का मूल स्वरूप सर्वत्र एक-सा था, किंतु स्थान के अनुकूल या समयानुसार उसमे परिवर्तन अवश्यंभावी था। नासिक, कार्ले, अजंता, एलोरा के विहार के कुछ स्तंभ अलंकार सहित हैं। पश्चिम भारत मे कई मंजिल के विहार हैं, पर स्तंभ अनलंकृत। अलंकरण का आरंभ सातवाहन राजाओं के नासिक गुहा-स्तंभ मे दीख पड़ता है। यह इतनी वृद्धि पर था कि अजंता गुहा (विहार) के स्तंभ अत्यधिक रूप मे सुंदर बनाए गए हैं। विहार के मूल आकार मे परिवर्तन होने लगा। विहार की लंबाई-चौड़ाई की वृद्धि हो जाने मे अंदर का भाग (जिसे आँगन कहना चाहिए) विशाल दीख पड़ने लगा। कारीगर को इस बात का भय था कि खुदाई के पश्चात् ऊपरी छत का हिस्सा बोझिल होकर गिर न जाए। अतएव, उसकी सुरक्षा के लिए मध्य में चार बड़े स्तंभ खड़े कर दिए, ताकि ऊपरी चट्टान का भार उन्हीं स्तंभों पर पडे। इसलिए चार खंभों के मध्य का चौकोर भाग स्वतः उन स्तंभों के बाहरी क्षेत्र से पृथक् हो गया। सूक्ष्म रीति से परीक्षण करने पर विहार के भाग मे दो बरामदे प्रस्तुत हो जाते हैं। स्तंभ में भी दो कतारें दृष्टिगोचर होती है। अजंता के गुहा सं० १, २, १६, १७ मे हम इस आकार को देख सकते हैं। चौकोर भाग मे कमरों (Cells) से संबद्ध बरामदा तथा केंद्र मे स्थित स्तंभ पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

पर्वत मे खुदे विहार तथा समतल भूमि मे निर्मित विहार मे मूलतः कोई भेद नहीं ज्ञात होता, किंतु परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन किए गए। पर्वत के विहार आरंभ होने से पूर्व कलाकार सारी योजना को अपने मस्तिष्क में रखकर कार्य आरंभ करता था। शनैः-शनैः उस लक्ष्य को पूरा करने के लिए छेनी से काम लेते रहे। कई वर्षों के लगातार परिश्रम से वह कार्य संपन्न होता था। कभी-कभी तो किसी कारणवश कलाकार उस कार्य (खनन) को छोड़ चले जाते। आज भी ऐसे कन्हेरी के अधूरे विहार दिखलाई पड़ते हैं, जिनकी खुदाई पूरी न हो सकी। कार्ले, अजंता और एलोरा आदि स्थानों मे भी अपूर्ण विहार के अवशेष मौजूद हैं।

समतल भूमि का निर्माण सर्वथा भिन्न था। इसमे ईंट-प्रस्तर को जोड़ कर विहार का निर्माण होता। एक भाग यानी बाहरी बरामदा अथवा बाहरी दीवाल या आँगन के कमरे तैयार हो जाने पर दूसरे भाग को बनाया जाता। किसी कारणवश अथवा भूल के कारण अनुपयुक्त आकार को गिराकर नया बना देते। बरमदे मे प्रस्तर का स्तंभ स्थिर करते। विहार का आँगन तथा कमरे की लंबाई-चौडाई की सीमा तो अवश्य थी, किंतु उन पर इतना बोझ न था कि नष्ट हो जाने का भय उत्पन्न होता। सारनाथ के विहार क्षेत्रफल मे कम है, तो नालंदा के विहार विशाल है। लंबा-चौडा आँगन है। उसी के एक अंश मे कुँआ है। भोजन पकाने का स्थान है। द्वार पंडित (अध्यापक) के निवास के लिए पृथक् कमरा है। भिक्षुओं के लिए अन्य कमरे तथा पठन-पाठन के लिए पृथक् स्थान है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार समतल मैदान में जितने विहार बनाए गए, उन सब का आकार-प्रकार एक सदृश नहीं मिलता। विहार को अलंकृत करने की प्रथा पुरानी है। पाचवीं सदी मे अजंता के विहार सं० १,२,१६,१७ की दीवालों पर भित्तिचित्र खिंचे है। उनमे बुद्ध के जीवन-संबंधी चित्र, जातकों का प्रदर्शन तथा अन्य सामाजिक चित्र प्रदर्शित है। इनका विस्तृत वर्णन अगले पृष्ठों में किया जाएगा। नालंदा विहार की ताख पर भी मूर्त्तियों को स्थापित कर भिक्षु अपने निवासस्थान को अलंकृत करते रहे।

भारत मे प्राय. १२०० गुफाएँ निर्मित की गई थी, जिनमे बौद्ध गुफाओं की संख्या सबसे अधिक है। ९०० बौद्ध गुफाओं के विषय में अभी तक संबंधित विवरण उपलब्ध होते है। जैनियों ने भी कुल दो सौ गुहाएँ तैयार करायी थी। ब्राह्मण मतानुयायियों ने इसे प्रोत्साहित नहीं किया। परिस्थितियों के कारण जितनी गुहाएँ खोदी गई थी, उनमें उदयगिरि, एलौरा, एलिफेंटा, महाबलिपुरम् आदि स्थानों की ब्राह्मण गुफाएँ प्रसिद्ध है। प्राय. सौ ऐसी गुफाएँ संपूर्ण भारत में देखी जाती है।

विहारों का सर्वेक्षण यह बतलाता है कि मौर्यकालीन बराबर तथा नागार्जुनी पर्वत की गुफाएँ सर्वप्रथम निर्मित हुई थी। गया की पहाडियाँ काले ठोस प्रस्तर की है, अतएव उनमे गुहा खोदना एवं विहार-निर्माण का कार्य अशोक ने आरंभ किया। यद्यपि उसका साम्राज्य विस्तृत था, पर अन्य स्थानो पर गुफाएँ मिलती नही है। हिमालय की मिट्टी वाले चट्टानों में गुफाएँ खोदी नही जा सकती थीं। शुंगकाल मे हीनयान युग मे पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत मे सह्याद्रि पर्वतशृंखला में अनगिनत विहार

विहारों का क्रमिक विकास

निर्मित किए गए। उनकी धार्मिक परंपरा के अनुसार भाजा, बेदसा पितलखोरा एवं कार्ले (पूना के समीप) तथा नासिक, अजंता, एलोरा (महाराष्ट्र) आदि गुफाएँ भिक्षुओं के निवास के लिए क्रमशः तैयार हुई थी। हीनयान तथा महायान मतानुयायियों के द्वारा निर्मित विहारों में कोई मूलतः भेद नही है। महायान मे आकार-प्रकार जोड़े गए थे। अजंता की गुफाएँ पाँचवी सदी में तैयार हुई थी। उन विहारों को अलंकृत भी किया गया, जो अजंता की निजी विशेषता है। एलौरा में कई मंजिल के विहार बने। बंबई के समीप कंहेरी के सैकड़ों विहार पश्चिमी भारत में विहार-निर्माण की प्रमुखता की याद दिलाते है। इस प्रकार मौर्यकालीन विहार के कल्पना के आधार पर कालांतर मे अत्यधिक विहार बनने गए। मौर्य तथा उत्तर मौर्ययुगी विहार के रूप में अंतर भी है। बाहरी बरमदे तथा भीतरी बरामदा एवं कमरों की योजना उत्तर मौर्ययुग की है। आठवी सदी तक पश्चिमी सह्याद्रि पर्वतमाला मे विहार खोदे गए थे। किंतु कालांतर मे समतलभूमि पर ईंट-प्रस्तर जोड़ कर विहार बने। नालंदा महाविहार के निर्मित भवन (विहार) उस

मौर्यकालीन गुफाएँ

विशाल योजना का स्मरण दिलाते है। पूर्वी भारत मे भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि एवं खंडगिरि की जैन गुफाएँ भी उसी क्रम मे तैयार की गई होगी।

पश्चिम भारत की सह्याद्रि पर्वत की गुफाओं से बराबर पर्वत (जिला गया, विहार प्रदेश) की गुफाएँ मूलतः भिन्न है। बराबर तथा नागार्जुनी पर्वत को खोद कर सात गुफाएँ तैयार हुई थी, जिनके दीवालों पर लेप तथा अंकित लेख से उन्हे मौर्यकालीन मानते है। बराबर मे खुदी गुहाओं के नाम निम्न प्रकार है—

(१) कर्नकोपर,
(२) सुदामा,,
(३) लोमशऋषि तथा
(४) विश्वझोपरी,

नागार्जुनी—(५) गोपिका,
(६) वहिजक,
(७) वडलहिक।

इनके अतिरिक्त राजगृह से तेरह मील दूर सीतामढी गुफा के अवशेष मिले है। इनमे सुदामा तथा लोमश ऋषि नामक गुफाएँ दर्शनीय है। पर्वत की बनावट के कारण दोनों लबान मे खोदी गई हैं। भीतर मे मेहराबदार है। उनका क्षेत्रफल ३२ फीट ९ इं० × १० फीट, ६ इं० × १२ फीट ३ इंच है।

भीतर प्रवेश करने पर लंबे भाग के किनारे एक गोलाकार कमरा बना है, जिसका व्यास १९ फीट है तथा अर्द्ध गोल आकार मे छत भी तैयार किया गया था, जिसकी ऊँचाई १२ फीट ३ इंच मापी गई है। सुदामा गुफा की बनावट देहात की झोपडी के सदृश्य है, जिसका ऊपरी फूस का हिस्सा आधी गोलाई लेकर बनाया जाता है और दो किनारो पर बाँस के खंभे से सहारा के लिए जमीन मे स्थिर किए जाते हैं। सुदामा गुफा की दीवाल मे भी लंबत् कटान, है जो बाँस के खंभो की याद दिलाती है। उसी फूस की झोपड़ी को पत्थर में खड़ा किया गया है, जिसकी दीवाले लेप के कारण दर्पण की तरह चमकती है। लोमश ऋषि गुफा की बाहरी दीवाल पर्वतशिला को काट कर गृह शिखर (नुकीला) के सदृश तैयार हुई है। संगतराश ने बढई की कारीगरी का अनुकरण किया है। बाहरी दरवाजा ७½ फीट ऊँचा है। इसे सुदर बनाने के लिए मेहराबदार कटान है, जिसमें धरन (प्रस्तर के) का कोना बाहर निकले है, और अर्द्धगोलाकार प्रस्तर से जुडे हुए हैं। दरवाजे के मेहराब के ऊपरी भाग मे दो पंक्तियो मे अलकरण दृष्टिगोचर होता है। निचली खुदाई मे हाथियो की पंक्ति है। मध्य में स्तूप बना है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न दिशाओं से हाथियो के झुड उस स्तूप की पूजा के लिए आ रहे है। उन जानवरो मे जीवन का सचार है। ऐसा ज्ञात होता है कि कल ही सारा कार्य सपन्न हुआ हो। ऊपरी कटान मे प्रस्तर को जालीदार गोल झरोखे का आकार दिया गया है जिसे रोशनी प्रवेश के निमित्त तैयार किया गया होगा। नागार्जुनी पर्वत मे खुदी 'गोपिका' नामक गुफा की बनावट इससे भिन्न है। यह सादा, बिना किसी प्रकार के अलकरण तथा सुरग की तरह तैयार की गई थी। यह ४४ फीट लबी, १९ फीट चौडी तथा १० फीट ऊँची है। छत का भाग मेहराबदार है। इसके दरवाजे पर दशरथ का लेख अकित है, जिससे गोपिका गुफा मौर्यकालीन कही जाती है। इसमे लेप का अभाव है। बराबर के पहाडी का भूभाग कोलाहल रहित होने के कारण चुना गया होगा, ताकि परिव्राजक शात वातावरण मे निवास कर सकें। आरंभ मे बिहार का जैसा सक्षिप्त चित्र दिया गया है, बराबर की गुफाएँ उनसे भिन्न है। कालातर में इसी आकार के क्षेत्र खोदे गए जिनका विवरण अग्रिम पृष्ठो मे दिया जाएगा। परंतु, यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत न होगा कि आजीविक साधुओ के लिए चैत्य की कल्पना नही की जा सकती। वह तो निवासस्थान ही था। यही सभव है कि शुगकाल मे ग्राम गृह के मूलरूप को कारीगरो ने विहार के निमित्त अपनाया तथा झोपड़ी (सुदामा या लोमश ऋषि गुफा का आकार) को

चैत्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। ईंट, मिट्टी या फूस के साधन त्याग कर प्रस्तर मे उसी आकार को समाविष्ट किया। इसके चुनाव में यह कारण होगा कि घर को निवासस्थान तथा झोपडी को वार्तालाप, संगम स्थान या आगंतुकों से सामयिक चर्चा का स्थान मानते रहे। उसी विचार को विहार एवं चैत्य के रूप में प्रकट देखते है।

मौर्यकालीन बराबर की गुफाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि सर्वप्रथम विहार की ही उपयोगिता प्रमुख समझ कर खुदाई की गई। बराबर के समीप मे चैत्य का अभाव है। किंतु, मौर्य-युग के पश्चात् चैत्य तथा विहार साथ-साथ बनाए गए। विहार की स्थिति के पश्चात् पूजा-स्थान का निर्माण हुआ, अतएव क्रम मे विहार तत्पश्चात् चैत्य बने होंगे।

हीनयान गुफाएँ पूना के समीप भाजा नामके ग्राम के चैत्य सर्वथा ग्रामीण झोपडी के सदृश बने हैं जिनमे स्तंभ अनलंकृत है। झोपडी के बाँस सदृश स्तंभ ऊपर को ओर झुके है। ऐसी बनावट भाजा के पश्चात् समाप्त कर दी गई। अतएव, भाजा के विहार भी गुफाओ (विहारो) की शृंखला मे सर्वप्रथम माने गए है। चैत्य के समीप ही विहार दीख पडता है, जिसमे सामने की ओर चार तथा दोनो पार्श्व मे चार छोटी कोठरियाँ (Cells) बनी है। इस भूभाग के समीप ही अन्य विहार वर्त्तमान हैं।

भाजा (पूना, महाराष्ट्र) ग्राम के समीप स्थित अनेक विहार है। ईसवी पूर्व सदियो मे चैत्यों से सटा विहार का निर्माण होता रहा। यानी चैत्य तथा विहार सबद्ध है। चैत्य द्वार के सामने के मत्था को सुंदर बनाने के लिए चैत्य-वातायननुमा आकार बनाए गए थे तथा समीप ही मे विहार खोदा गया था। हीनयान युग की गुफाओं (विहारो) के अंदर के बड़े भाग तथा पार्श्व मे कोठरियाँ बनाने की प्रथा चल पडी जो कालांतर में परिवर्तित हो गई। उस परिवर्तित युग की गुफाएँ महायान मत से संबंधित थी। हीनयान युग के भाजा, पितलखोरा तथा अजंता के कुछ विहार माने जाते हैं। अजता की गुहाएँ अपना स्थान रखती है। एक भूभाग मे कई गुफाओ का निर्माण उसकी प्रधानता का द्योतक है, जहाँ हजारो भिक्षु निवास करते थे। अजंता चैत्य १० के साथ बारहवी गुफा (विहार) का सर्वप्रथम निर्माण हुआ था। उसके पश्चात् गुहा (विहार) संख्या ८ तथा १३ बनाए गए। चैत्य ९ के साथ आठवाँ विहार जुडा है।

अजंता के विहारों की अपनी कहानी है। हीनयान चैत्य के साथ जो विहार बने थे, उनकी उपयोगिता कालांतर मे समाप्त हो गई। महायान युग

के चैत्य तथा विहार मिश्रित तैयार हुए, जिनका क्षेत्रफल पहले से बडा था। इनका आकार-प्रकार बढाया गया। विहार संख्या ७, ११, ६ का निर्माण दूसरे रूप में हुआ था। संख्या १५ से २० तक के विहार बनावट में सर्वोत्तम माने जाते है। १६ तथा १७ भित्तिचित्र के लिए सुप्रसिद्ध हैं, जिन्हे देखने के लिए संसार के लोग आते है। विहार की आवश्यकता बढ़ने के कारण (विहार) गुहा २१ से २५ तक तैयार की गई। पहले से पाँचवाँ विहार अंतिम क्रम मे बना था। सातवी सदी के मध्य तक उनका निर्माण होता रहा। संभवत: दो सौ भिक्षुगण अजंता के विहारो मे निवास करते रहे। गुहा निर्माण मे कला तथा धार्मिक भावना के सहयोग से सफल कार्य हो सका। हीनयान विहार चैत्य के साथ जुडे रहने से छोटे होते, किंतु महायान विहारो की विशालता के कारण अंदर स्तंभो का भी निर्माण होने लगा। अजंता के विहार एक मंजिल के है। विहार के अंदर का क्षेत्रफल विस्तृत होने के कारण भीतरी भाग मे चार स्तंभ बनाए गए हैं, ताकि ऊपर के बोझ को संभाल सके। इस प्रकार का एक मंजिल का विहार कोलावा जिले के कोनदने मे भी दीख पडता है। बीच का भाग स्तंभ-युक्त है। बाहर की ओर बरामदा है, जिसमे स्तंभ खुदे है। बरामदे मे एक मुख्य द्वार है तथा दोनो तरफ खिडकियाँ बनी है। भीतरी भाग मे तीन दिशाओं मे कोठरियाँ बनी है। पितलखोरा के भग्न विहार की कोठरियाँ वर्त्तमान है, जिनकी चौकोर बनावट है। इसी प्रकार के हीनयान विहार के तीन उदाहरण नासिक मे मौजूद है। इनकी सुंदर बनावट तथा खुदे अभिलेख से ज्ञात होता है कि कला विकसित हो गई थी। इनकी खुदाई ईसवी सन् की पहली सदी मे हुई थी। पश्चिमी शक क्षत्रप नहपान तथा दक्षिण के सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णि तथा यज्ञश्री के शासनकाल (ईसवी सन् १३० एवं १८० ई०) मे विहारो का निर्माण हुआ था। सभी मे बाहरी बरामदा बडा है तथा भीतर मध्य कमरा (आँगन का प्रतिरूप) मे स्तंभ का अभाव है। तीनों दिशाओ में कोठरियाँ खोदी गई हैं, जिनमे भिक्षु के शयन के लिए प्रस्तर-चौकियाँ बनी है। बरामदे के स्तंभो में कमल पुष्प का आधार है। उस पर सीढीनुमा चौकियाँ बनी है, जिन पर जानवर की आकृतियाँ हैं। इस प्रकार का स्तंभ-युक्त बरामदा बेदसा के विहार मे भी वर्त्तमान है। गौतमीपुत्र शातकर्णि के विहार मे स्तंभ खुदे है, जिनमे वामन का आकार जुडा है। वही सारे बोझ को मानो उठाए हुए है। उनके सिर पर शहतीर बनी है। नासिक विहार के प्रवेश मार्ग पर साची के तोरण (शहतीरों की स्थिति सदृश द्वार) बना है। इससे प्रकट होता है कि नासिक के कलाकारो ने नवीन विचार तथा स्वतंत्र रूप से

कार्य किया है। इन विहारों मे महायान भिक्षुओं का निवास हो जाने पर उनकी बनावट बदली गई। भिक्षुओ की कोठरियो के अतिरिक्त पूजा-स्थान की भी आवश्यकता थी। इसीलिए महायान विहार हीनयान विहारो से कुछ भिन्न है। उसके केंद्रीय कमरे मे बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई।

अजंता के समान नासिक विहार का ही नाम उल्लेखनीय है। इस स्थान पर बीस गुफाएँ हैं, जिसमे संख्या १८ चैत्य है। शेष विहार है। विहार की दीवालों पर क्षत्रप तथा सातवाहन लेख खुदे है। इन विहारो का क्षेत्रफल चालीस वर्गफीट (चौकोर) है। यज्ञश्री शातकर्णि का विहार ६१ फीट × ३७ फीट क्षेत्रफल मे फैला है। भीतरी भाग की चाडाई ४४ फीट है। दोनों पार्श्व मे आठ कोठरियाँ हैं। विहार के द्वारमार्ग के सामने पूजास्थल है। वहाँ एक बड़े कमरे मे बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। अत, इसे महायान विहार कहते है। यह अजंता विहार संख्या १६ के समकालीन ज्ञात होती है। दोनो मे बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। महायान के प्रचार से विहारो मे निम्न परिवतन स्पष्ट प्रकट होते है (उदाहरण के लिए अजता गुहा ११,७,६)—

(१) विहार के केंद्रीय कमरे मे बुद्ध-प्रतिमा,
(२) विहार की दीवालो पर उत्कीर्ण आकार एव आकृतिया,
(३) विहार केवल शयनस्थान न रहे (जैसा हीनयान युग मे था), पर मिश्रित रूप धारण कर लिया (निवास तथा पूजा),
(४) भस्मपात्र का पूजा सर्वथा समाप्त और
(५) ब्राह्मण मत का प्रभाव।

अजता से २४० किलोमीटर उत्तर बाघ की गुफाएँ (ग्राम बाघ, माडु, मालवा) है। इस क्रम मे नर्मदा घाटी मे कई विहार निर्मित किए गए थे। आठ विहारो के मध्य चैत्य का नाम तक नहीं है। इसके मुख्य विहार के भीतरी भाग मे वर्गाकार २८ स्तभो की पक्तियाँ है, जो पार्श्व मे स्थित कोठरियो को केंद्रीय भाग से पृथक् करती है। पूरा विहार ९६ फीट क्षेत्रफल मे विस्तृत है। बाघ के विहार मे सुंदर भित्तिचित्र बने है, जिनमे घोडो या हाथियो का जुलूस दीख पडता है। स्त्रियों की संख्या अधिक है, जो नृत्य कर रही है। सभी रगीन वस्त्र धारण किए है। उनमे कुछ राक्षस, यक्ष आदि की आकृतियाँ चित्रित है। बबई तथा थाना के मध्य सालसेट टापू मे कनहेरी की गुफाएँ (विहार) है जिनकी संख्या अत्यधिक है। यह हीनयान के अवनतिकाल का द्योतक है। इसमे सभी विहार समुचित रूप से बने नहीं है। कुछ अधूरे रह गए है। इनकी बनावट नासिक तथा बाघ के सदृश है जो दूसरी सदी से नवी सदी तक निर्मित हुए थे।

यहाँ दो मंजिल के भी विहार है। कुछ विहार क्षेत्रफल मे बड़े हैं। उनके भीतर बीच के भाग मे भिक्षुओं के ठहरने के लिए (बैठने) ऊँचे चबूतरे हैं।

अजंता के पश्चात् एलोरा को स्थान देते है। औरंगाबाद (आंध्र प्रदेश) से अट्ठाइस कीलो मीटर दूर एलोरा की गुफाएँ है। वह अजंता से छानवे कीलो मीटर की दूरी पर स्थित हैं। वहीं ग्यारह संघाराम (विहार) निर्मित

महायान गुफाएँ है। यहाँ के विहारो की विशेष ढंग से निर्मित है। अंदर जाने के लिए बरामदा है तथा सामने गर्भगृह है। गुहा संख्या २ का मध्य भवन ४८ वर्गफीट का है और उसका छत बारह खंभों के सहारे स्थिर है। प्रत्येक दिशा मे कोठरियाँ है, जिनमे गलियारा भी मौजूद है। बड़े कमरे के दोनो पार्श्व मे चार स्तभों सहित गलियारा एलोरा की एक विशेषता है। गुहा संख्या ५ गहराई में खोदी गई है। इसके मध्य भाग मे चौबीस स्तंभ (तकिया-नुमा सिरे वाले) स्थित है, जो दो पंक्तियों मे विभक्त है। इसमे तेईस कोठरियाँ है। उसके किनारे अर्द्धमंडल मे चौकोर कमरे मे बुद्ध-प्रतिमा स्थित है। गुहा संख्या १२, १३ को तीन तल (तीन मंजिल) मे खोदी गई और इनकी पृथक्-पृथक् बनावट भी है। उनके संमुख लंबा-चौड़ा आंगन-सा स्थान है। तीन ताल का सबसे बडा कमरा ११२ × ७२ × ११ घन फीट क्षेत्रफल में है।

महायान युग मे इन तीन तल विहारों (१२) का निर्माण हुआ था, जो पूजा-गृह के साथ निर्मित हैं। चैत्य तथा विहार के सम्मिलित रूप मे सम्मुख भाग (मध्य वीथी) ७८ × ३६ वर्ग फीट मे है जिसमे पाँच स्तंभो की दो पंक्तियाँ है। उनका सादा माथा है। अंदर की दीवारे सुंदर रीति मे उत्कीर्ण है। पहले मंजिल का बरादा ११९ फीट लंबा है। अंदर का भाग तीन पंक्तियों मे स्तभो से युक्त है, ताकि ऊपरी बोझ को खंभे सँभाल लें। मध्य का पूजागृह क्षेत्रफल मे २३ फीट × १५ फीट है। प्रत्येक दिशा मे बारह कोठरियाँ हैं। दूसरी मंजिल का भवन ११२ फीट लंबा तथा ७२ फीट गहरा खुदा है। इसमे भी बीस वर्ग फीटवाला पूजा गृह है। बुद्ध-प्रतिमा के अतिरिक्त सात मानुषी-बुद्ध की आकृतियाँ पार्श्व मे खुदी हैं। तीसरी मंजिल के बरामदे मे आठ स्तंभ है। मध्य वीथी के संमुख पूजा गृह मे बुद्ध-प्रतिमा प्रतिष्ठित हैं।

एलोरा मे एक से बारह तक गुफाएँ बौद्धमत से संबधित हैं। एलोरा की प्रायः सभी गुफाएँ मिश्रित रूप मे (चैत्य + विहार) तैयार की गई थीं। गुहा संख्या २, ४, ५, ८, ११ तथा १२ महायान गुफाएँ हैं। केंद्रस्थल मे प्रालंबाद आसन तथा धर्मचक्र मुद्रा मे बुद्ध-प्रतिमा है। बौधिसत्व दोनों पार्श्व मे उत्कीर्ण

हैं। बारहवी गुफा तीन तीन तल की हैं। इस प्रकार एलोरा की बौद्ध गुफाएँ अजंता के पश्चात् यानी सातवी सदी के बाद निर्मित हुई थी।

एलोरा मे बौद्ध लोगो ने सर्व प्रथम संघाराम बनाया, जिसके पश्चात् ब्राह्मण तथा जैन मतानुयायियो ने गुहाए खुदवाई। प्राय. प्रत्येक संघाराम में चौकोर कमरे मे बुद्ध की आसन प्रतिमा स्थापित की गई थी। दो मंजिला विहार मे दाहिनी ओर सीढी बनी है, जिससे ऊपरी मंजिल मे जाते है। तीन तल बिहारों मे यथातथ्य योजना पर तथा गणितानुसार पद्धत्ति पर निर्माण-कार्य हुआ है, कि यथार्थ रीति से कला की उच्चता बतलायी जा सकता है।

एलोरा मे गुहा संख्या १० विश्वकर्मा के नाम से प्रसिद्ध है, किंतु उन संघारामो मे यही एक मात्र चैत्य दीख पड़ता है। यह अजंता के महायान चैत्य से बड़ा है तथा ८५ × ४४ × ३४ घन फीट के क्षेत्रफल मे विस्तृत है। मध्य वीथी को पृथक् करने वाले अट्ठाईस स्तभ सादे हैं, जिनके अधोभाग मे कुछ खुदाई दिखलाई पड़ती है। इसका स्तूप वास्तविक आकार से भिन्न है। धातु स्तूप से भिन्न बड़े आकार के उभरी प्रतिमा का आधार स्थल बन गया है। इसके देखने से प्रकट होता है कि विश्वकर्मा चैत्य मंडप से संघाराम से सबद्ध पूजास्थान का विकास हुआ। कालातर में दोनो चैत्य तथा विहार परस्पर मिश्रित हो गए। ब्राउन पूजास्थल मे भीतरी ताख की बनावट से अनुमान लगाते है कि आर्य तथा द्राविड शैली का मूलरूप (Prototype) विश्वकर्मा गुहा मे दृष्टिगत हो रहा है। (इडियन आर्किटेक्चर पृ० ७८)। औरगाबाद, (आध्रप्रदेश) के समीप डेढ़ कीलो मीटर की दूरी पर कई विहार बने हैं। उनकी तिथि छठी या सातवी सदी मानी जा सकती है। उनके देखने से प्रकट होता है कि बौद्धकला का हिंदू धर्म मे विलयन हुआ। गुहाओ मे ब्राह्मण मत का प्रभाव स्पष्ट है। औरंगाबाद के विहारो (३,७) की विशेषता यह है कि उसके अंदर विशालकाय आकार खुदे है। उपासक तथा बुद्ध की बैठी प्रतिमा के विशाल शरीर दीख पड़ते है। सिंहासन पर बैठे बुद्ध की विराट् मूर्ति के संमुख दो वृहत् आकार वाले श्रद्धालु उपासक घुटने टेके खुदे है। अन्य धर्मपरायण स्त्री-पुरुष हाथ मे माला लिए भक्तिभावना सहित खडे हैं। इसमे मनुष्य के वास्तविक आकार के प्रदर्शन मे कलाकारो ने कुशलता दिखलायी है।

ईसा की प्रथम शताब्दी से महायान मत का उदय हुआ था, जिनकी स्थिति उत्तर-पश्चिम भारत मे सुदृढ जान पड़ती है। अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम सीमा प्रदेश (आधुनिक पश्चिम पाकिस्तान) मे महायान कलाकारो ने स्तूप के समीप अनेक बिहारो का भी निर्माण किया, जिनकी स्थिति के

विषय मे चीनी यात्री फाहियान (चौथी सदी) तथा ह्वेनसाग ने विवरण दिया है। कनिष्क के काल मे महायान मत का प्रसार मध्य एशिया तक हो गया। अतएव, महायान अनुयायियों का ध्यान विहार-निर्माण पर केंद्रित न रहा। इस पर भी परम बौद्ध कनिष्क का राजाश्रय पाकर गांधार के भूभाग मे अनेक विहार निर्मित हुए थे। इनकी बनावट का निजी ढग है। इसमे कोई व्यवस्था नही दीख पड़ती। भवनो की जमघट है। उस क्षेत्र मे दो आकार बने हैं। (१) स्तूप (२) संघाराम (विहार)—स्तूप का सबध शरिर (धातु) से न था। स्तूप के समीप मे ही निवास का स्थान (विहार) बना, पुजारी का निवास तथा अनगिनत पूजा-स्तूप (Votive Stupa) बनाए गए हैं। तक्षशिला का धर्मराजिका स्तूप, पेशावर के समीप जमालगढी, चारसडा का विहार समूह तथा रावलपिंडी के पास मनिकाला स्तूप उल्लेखनीय है। उन स्थानो पर स्तूप के चारो तरफ अन्य विहार आदि निर्मित है। यद्यपि अशोक ने स्तूप का आरभ किया था तथापि कालातर मे गाधार के कलाकारो ने उस प्राचीन ढग मे परिवर्तन किया। स्तूप का आकार बडा बनवाया। तख्तबाहाई के भाग मे बने विहार के भवनो को देखने से गाधार की विशेषता ज्ञात हो जाती है। उस भूभाग मे एक चौकोर आकार (क्षेत्रफल ५५ फीट × ४५ फीट) निर्मित कर केंद्र के आंगन मे स्तूप बनाया गया है। ठीक उसी मे लगे विहार भी बने है। सघाराम (विहार) की योजना पश्चिमी भारत के विहारो से मिलती-जुलती है। फाहियान ने गाधार भाग मे अनेक सघाराम देखे थे। इस प्रकार ईसवी पूर्व से प्रारंभ होकर चौथी शती तक उत्तर पश्चिम भारत मे अनेक सघाराम (स्तूप से सबद्ध) तैयार किए गए जहाँ भिक्षु रहा करते थे।

●

छठा अध्याय

गुहा के अलंकरण

गुफाओं का सर्वेक्षण यह बतलाता है कि कठोर पर्वत को काट कर गुहाएँ तैयार की गई थी। निवास तथा पूजानिमित्त स्थानों पर भिक्षुगण एकत्रित हुआ करते थे। संभव है कि उपासक वृंद भी उपदेश श्रवण करने या पूजा-निमित्त उन स्थानों पर आते हों। इस कारण स्तूप की वेष्टनी तथा तोरण पर जिस उद्देश्य से खुदाई की गई यानी बुद्ध के प्रतीकों या जातकों का प्रदर्शन किया गया था, वही कल्पना गुहा के संबंध मे भी काम मे लायी गई। कलाकारो ने भिक्षुओ के निवास को (गुहा) सुशोभित करने के लिए बुद्ध की प्रतिमाएँ तैयार की अथवा दीवालो को उत्कीर्ण कर अलंकृत किया। पश्चिमी भारत के सहयाद्रि पर्वत मे अजंता तथा बाघ की गुफाएँ ऐसी है, जिनकी दीवालो को (पर्वत) खोद कर तथा उन पर लेप लगा कर सुंदर भित्तिचित्र द्वारा अलंकृत किया गया है। भारत की अन्य गुफाओ मे ऐसे भित्तिचित्र के उदाहरण नही है। अजंता की विशेषता यह है कि विहार तथा चैत्य-मडप की दीवालें विभूषित की गई है। उन पर नाना प्रकार के चित्र खुदे है। अजंता की गुफाओ के विस्तार तथा निर्माण के विषय मे पिछले पृष्ठों मे कहा गया है। इस स्थान पर उन गुहाओ का वर्णन किया जाएगा, जिनकी दीवाल पर चित्र दीख पड़ते हैं। अजंता की तीस गुफाओं में गुहा संख्या ९, १०, १९ तथा २६ चैत्य-मडप है। शेष सघाराम या विहार है। आश्चर्य तो यह है कि कलाकारो ने पूजागृह को चित्रविहीन नही रखा। विहार संख्या १, २, १६ तथा १७ में इतने कलापूर्ण सौंदर्यमय भित्तिचित्र तैयार किए गए थे, जो कला वैचित्र्य तथा चित्रकारो की कुशलता के द्योतक है। इस परीक्षण से भित्तिचित्र को दो कालो मे विभक्त कर सकते है। प्राचीनतम उदाहरण चैत्य-मडप ९ तथा १० की भित्तियो पर शेष बचे है। उन्हे ईसा पूर्व पहली या दूसरी शती की कृतियाँ मानते है। चैत्य-मडपो के स्तूपो के अवलोकन से ज्ञात होता है कि गुहा स० ९ एव १० हीनयान-युग के मडप है, जिनके स्तूप सादे तथा बुद्धमूर्ति रहित हैं। इस कारण इनको भाजा नासिक के समकालीन मानते है। गुहा संख्या १९ तथा २६ मे स्तूप की चट्टान को खोद कर बुद्ध-प्रतिमा बनायी गई हैं। अतएव, इनका निर्माण ईसवी सन् दूसरी शताब्दी मे हुआ होगा। कार्ले

तथा अजंता की १९ तथा २६ गुफाएँ समान दीख पडती है। अन्य विहार इन गुफाओ (चैत्यमडपों) के पश्चात् खोदे गए। अतएव, प्राचीन चित्रों में चित्रगत मूर्तियों की वेशभूषा (उष्णीस तथा भूषण) भरहुत तथा साची के वेष्टन तथा आभूषण के सदृश है। यह चित्रकला प्रौढ तथा अनुभवयुक्त व्यक्तियों की कृतियाँ थी। मूर्तिकला के समान चित्रकला महत्वपूर्ण थी। स्यात् इनसे पहले भारत मे चित्र बहुत कम ही प्राप्त हुए हैं।

अजता के विहारो (१, २, १६ तथा १७) की चित्रकला उन्नत अवस्था को व्यक्त करती है। पश्चिम भारत मे वाकाटक युग मे-वास्तुकला संबधी एक नई लहर आई, जो (क्राति) पाँचवी सदी से जारी हुई। इस युग मे चित्रकला चरमोन्नति को पहुँच गई। यद्यपि अनेक चित्रकारो का इस कार्य मे सहयोग किया, तथापि कलाकृतियाँ (चित्र) उत्तम कोटि के है। अपने सौंदर्य, बनावट वर्णरचना, अभिव्यक्ति तथा प्रभाव द्वारा दर्शको का मोहित कर देती है। उनका गहरा अध्ययन चित्रकारो की कुशलता की अभिव्यक्ति करता है। मानव के भावनाओ, मुद्राओ तथा शरीर की भावभगिमा को सुदर रीति से व्यक्त किया गया है। चार गुफाओ (१, २, १६ तथा १७) के अतिरिक्त अन्य स्थानो पर भी कुछ चित्रकारी दीख पडती है किंतु सभी निर्जीव तथा अवनत दशा को बतलाती है।

अजंता की चित्रकारी तीव्र धार्मिक भावनाओ मे ओतप्रोत है, तो भी मानव जीवन के विभिन्न विषयो को व्यक्त करने मे चित्रकारो ने कुछ उठा नहीं रखा। यदि विषय के अनुसार इनका अध्ययन किया जाए तो निम्नश्रेणी मे भित्तिचित्रो की गणना की जाएगी—

१ बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन घटनाओ का प्रदर्शन,
२ बोधिसत्व के विभिन्न स्वरूप,
३. भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मो की (जातक) कथाओ का चित्रण,
४. मानव-जीवन के विभिन्न अवस्थाओ तथा पहलूओ का प्रदर्शन,
   नर, नारी, बालक, वृद्ध, रक, धनी, भिखारी, धर्मात्मा तथा पापी,
५ राजदरबार एव राजभवन का चित्रण,
६. सामयिक विचार, प्रथाओ, वेशभूषा, वाद्ययत्र तथा युद्धकौशल का प्रदर्शन,
७ देव, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, अप्सरा आदि
८ गुफाओ मे शुद्ध आलकारिक विषय।

इन विषयो के अनुशीलन से प्रकट होता है कि चित्रकारो को व्यापक रूप मे नाना विषयो का ज्ञान था। मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त दशाओं का

वर्णन उनके दार्शनिक विचारों को परिलक्षित करता है। यहाँ अजंता की चित्रकारी की विशेषता, गूढता, सौदर्य तथा छायाचित्र के सदृश चित्रों का निरीक्षण करना उद्देश्य नही है, किंतु इन भित्तिचित्रो द्वारा गुफाओ की आलंकारिक स्वरूप को समुख उपस्थित करना है। जहाँ भिक्षुगण रहते थे, उन विहारो का चित्रण दीवालों को सजावट का विषय था। परंतु, चैत्य-मंडप का अलंकरण उपासको को आकृष्ट करने के निमित्त ही बनाया गया था। भित्तिचित्रो मे देवता स्वरूप बुद्ध की जीवन-घटनाओ का चित्रण स्वाभाविक बात थी। अपने उपास्यदेव के जीवन-वृतातो का प्रदर्शन ही बौद्ध चित्रकारो के लिए एक मात्र मार्ग था। उससे सबंधित जो सामयिक विषय सामने आते गए या चित्रकारो के मानसपटल को प्रभावित करते गए, उन सभी का चित्रण अजंता के भित्तिचित्रों में पाया जाता है। सभी चित्रकार सामाजिक प्राणी थे, समाज से विरक्त होकर भिक्षु बन गए थे, किंतु विगत जीवन की भावनाओ को सर्वथा त्याग न सके थे। इस कारण रसमय जीवन एव शृगार का भी चित्रण मिलता है।

अजता के चित्र चित्रकला की पुस्तिका का काम नही करते थे, वरन् वे दर्शकों को आकृष्ट करने तथा उपदेश के निमित्त तैयार किए गए थे। सभी चित्र आर्यों के उपदेश से सबधित नही है। शिष्यो को नैतिक विषयो की सुगम जानकारी तथा जीवन की सभी दशाओ का चित्रण भी उन भित्तिचित्रो का लक्ष्य था। अतएव कभी कभी दर्शकों को आश्चर्य होना पडता है कि धार्मिक वातावरण मे रस एव शृगार को क्यों कर स्थान दिया गया। यह सुझाव रखा जा सकता है कि भिक्षुओ को भगवान् बुद्ध के समस्त जीवन की घटनाओ से परिचित होना आवश्यक समझा गया। चक्रवर्ती नरेश भी भिक्षु बन कर प्राणीमात्र की भलाई कर सकता है तथा उपदेशो से मोक्ष (निर्वाण) का मार्ग बतलाया है। ऐसे आचार्य या देवता की जीवन-क्रियाओ से लाभ उठाना भी उन चित्रों का लक्ष्य (प्रदर्शन) हो सकता है।

अजंता के भित्तिचित्र तैयार करने की विशेष प्रक्रिया थी। संगतराशो ने गुहा की दीवाल को साधारण रूप से चिकना न किया अपितु उन भित्तियो तथा गुहा के खंभो की सतह को लेप से चिकना (चित्रकारी योग्य) किया था। वनस्पति के रेशो और धान के छिलको को लोहे के अंश वाली मिट्टी से मिश्रित कर खुरदुरा अस्तर चढाया गया था। इस प्रकार अस्तर देकर सतह चिकनी बनाई जाती और उसे चूने से सफेदी की जाती थी। इस सतह पर चित्रो की टिपाई होती तथा बाद मे नाना प्रकार के रग (गहरा, हल्का) भरे जाते थे।

इस प्रकार चित्रकारी मे रंगीन मूर्तियाँ प्रस्तर की उत्कीर्ण मूर्तियो के सदृश दीख पडती है । इसमे केवल पाँच रंगो का प्रयोग किया गया है—लाल, पीला, हरा, काजल, चूना की सफेदी । रंगो को पकड़ने वाला पदार्थ गोंद था । चूना को पहले अस्तर देकर, आधा गीला रहने पर ही चित्रकारी का काम आरंभ कर दिया जाता था ।

अजन्ता के विहारो की चित्रकारी

अजन्ता के चार विहारो सं १, २, १६ तथा १७ मे उत्तम ढंग के भित्ति-चित्र दीख पडते हैं । विहारो के स्तंभ तथा दीवालों पर विलक्षण सौंदर्य लिए चित्रकारी की गई है । खभो का आकार भी आठ तथा सोलह पहल का है, जिन पर बौना तथा विद्याधर मिथुन के आकार दीख पडते है । खंभो की डडिया बलेबूटे से अलंकृत है । खभों के दिलहे पर बुद्ध की प्रतिमा भी उत्कीर्ण है । कही मुक्तामाला लिए कीर्तिमुख गढे गए है, कही-कही कमल-पुष्प बने है तथा बडेरी के नीचे मनुष्य या पशुओ की आकृतियाँ खुदी है । इनमे पशुओ की लडाइयाँ (हाथी तथा भैसा) भी दिखलाई गई है । बाहरी बरामदे मे मडप मे पहुँचने के लिए तीन द्वार है । बीच द्वार के पार्श्वों मे एक-एक खिड़की है । पुष्पावली मे सुशोभित है । उसके कोष्ठो मे कई प्रकार की आकृतियाँ बनी है । नागमूर्ति या विविध मुद्राओ मे मिथुन मूर्तियाँ है, जो कई एक वाद्ययंत्रो को बजा रही है ।

भीतर का मंडप चौसठ फुट लबी भुजा का वर्गाकार भाग है । इसका छत बीस स्तभो पर आश्रित है । इसके चारो ओर भिक्षुओं के निवास के लिए कोठरियाँ है । बाहरी बरामदे की तरह भीतरी स्तंभ भी सुदर रीति से अलंकृत है । पिछले कतार के मध्यवर्ती स्तंभों पर अलकरण की मात्रा अधिक है, जिसमें बुद्ध के जीवन की घटनाएँ, स्तूप-पूजा तथा पशुओं की आकृतियाँ बनी है । इसी भाग मे चार हिरनो का एक ही सिरवाली आकृति भी चित्रित है ।

प्रवेशद्वार के सामने गर्भगृह मे धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा मे आसीन बुद्ध की महाकाय प्रतिमा उत्कीर्ण है । मूर्ति के पार्श्वों मे दो चामरधारी बोधि-सत्व है । प्रभा मंडप के ऊपरी भाग के कोने मे विद्याधर उड रहे है । पादपीठ पर दो हिरनों की आकृतियाँ खुदी हैं, जो मृगदाव की याद दिलाती है, जहाँ बुद्ध ने प्रथम उपदेश (धर्मचक्र परिवर्तन) दिया था । मदिर के द्वार खभो पर पुष्पलता, नाग मिथुन एवं मकरो पर आरुढ स्त्रियो की आकृतियाँ कुशलतापूर्वक खुदी है । इन मूर्तियो के आधार पर यह कहना यथार्थ होगा कि पहली गुफा

महायान-युग मे तैयार हुई थी। कलाशैली के आधार पर दूसरी मे प्राचीनतर मालूम पड़ती है। इसमे वाकाटक राजा हरिषेण के मंत्री वराहदेव (ई० स० ४७५) का लेख है। परतु, यह कहना कठिन है कि उस व्यक्ति ने इस गुफा का निर्माण कराया था। आरंभ मे खंभे, प्रतिमाएँ आदि सभी रंगीन चित्रो से मडित थी। खेद है कि इसका बडा अश नष्ट हो गया है। शेष चित्रो को उत्तम कोटि के भित्तिचित्र कह सकते है तथा संसार के किसी भी भित्तिचित्र से तुलना कर सकते है। गर्भगृह के प्रदक्षिणा पथ की पिछली दीवार पर अत्यत कलापूर्ण ढग से बोधिसत्व की मूर्ति चित्रित है, जिसके हाथ मे पुष्प है। उनके बाई ओर सभवतः उनकी पत्नी खडी है। दाईं ओर दूसरे बोधिसत्व है, जो एक व्यक्ति के सहारे झुके है। दोनों पार्श्वों मे एक राजा बोधिसत्व को पुष्प भेंट कर रहा है। मदिर के द्वार के साथ दो बोधिसत्व खड़े है।

मध्यवर्ती प्रकोष्ठ की पार्श्ववर्ती दीवारो पर बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन की दो घटनाएँ अंकित है। पहली बोधगया का दृश्य-मार-विजय। गौतम बुद्ध वज्रासन पर बैठे तपस्या मे लीन है। मार राक्षस (विषय-वासना) की सेना उद्देश्य से विचलित कराने के लिए गौतम पर आक्रमण कर रही है। पर, वे विचलित न हुए और पृथ्वी को साक्षी बना कर उन्होने बुद्धत्व की प्राप्ति की। दूसरा दृश्य श्रावस्ती का महाप्रदर्शन है। उस दशा मे बुद्ध ने अपना चमत्कार दिखाया और प्रसेनजित तथा दर्शको के समुख अपनी को विविध मुद्राओ मे विराजमान प्रकट किया।

दीवारो पर कई जातक अच्छे ढग से चित्रित है। उन प्रदर्शनो मे बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओ का दिग्दर्शन है। शिविजातक की कहानी पुराणों के राज शिवि से ली गई है, जिसमे कबूतर को बचाने के लिए राजा ने अपना माम तौल कर बाज को अर्पित किया था।

दूसरी सखपाल की कहानी प्रदर्शित है। बोधिसत्व सखपाल के रूप मे पैदा हुआ, जिसे मनुष्यो की टोली ने घसीटना शुरु किया। सखपाल को अलार नामक गृहस्थ ने मरने से बचा लिया। उस भित्तिचित्र मे अलार का तपस्वी बनना, सखपाल की यातना तथा नागराज (संखपाल का नाम) का उपदेश आदि प्रदर्शित है। मुख्य द्वार के दाईं ओर दीवार पर राजसभा का दृश्य है। मध्य मे राजा तथा चारो ओर सभासद है। सिंहासन के समीप तीन विदेशी सविनय मुद्रा मे बहुमूल्य उपहार राजा के पास रख रहे है। इसे चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय (ई० स० ६१०-४२) का दरबार समझा गया है, जहाँ ईरान के ससानियन बादशाह खुसु द्वितीय के भेजे गए राजदूतो का

प्रदर्शन है। परतु, इसके एकीकरण मे विद्वानो मे मतभेद है। अन्य जातक-महाजनक, चम्पेटय आदि का चित्रण भी मिलता है। विहार की छतो पर बने चित्र आलंकारिक है। पुष्पलता, पत्रावली तथा पशु-पक्षी आदि चित्रो का यह कोश का काम करता है।

गुहा सख्या २ मे भी बाहरी वरामदे मे पहली गुफा के समान चित्रण है। खभो मे नाना प्रकार के अलकरण दीख पडते है। सामने मदिर है जिसमे बुद्ध प्रतिमा उत्कीर्ण है। पार्श्व मे चामरधारी बोधिसत्व है। इन मूर्तियों मे भारी लटें सिर के एक ओर गिर रही है। इस गुफा की तिथि लेखों के आधार पर छठी शताब्दी मानी गई है। कुछ लेख मे क्षाति-जातक के श्लोको का उद्धरण है जिसमे काशिराज ने बोधिसत्व को अनेक कष्ट दिया था, तो भी उसने उपदेश देना नही त्यागा। इस गुफा के मडप, प्रकोष्ठ तथा दीवारो एव छतो मे बने चित्र अधिकाश सुरक्षित है। इस गुफा के दीवार असख्य बुद्ध प्रतिमाओ से भरे पडे हैं, जहाँ बुद्ध अनेक मुद्राओं मे प्रदर्शित हैं। इसमे तीन महाकाय बोधिसत्व भी चित्रित है। मडप की बाई दीवार पर बुद्धजन्म की घटनाएँ चित्रित है। माया का सपना, सफेद हाथी, तुषितस्वर्ग, ब्राह्मणो द्वारा माया के स्वप्न का विचार चित्रो द्वारा प्रदर्शित है। माया एक वृक्ष की टहनी के सहारे खडी है। नवजात शिशु को इद्र दोनो भुजाओ मे उठाए हुए है। मडप के बाएँ किनार हसजातक का दृश्य है। वाराणसी राजा(ब्रह्मदत्त) की पत्नी ने हस को प्रलोभनवश पकड़वा लिया। व्याधा ने रानी के सम्मुख उसे उपस्थित किया परतु दोनो पति-पत्नी राजहस के धार्मिक प्रवचनो से प्रभावित हुए। राजहस बधनमुक्त हो गया। विधुर पडित तथा रुरू जातको का चित्रण भी सौदर्यपूर्ण है। मदिरो की दीवार पर बने चित्र अच्छी दशा मे है। प्रदर्शन मे समानता है। वर्ण, रचना-शैली तथा पृष्ठभूमि मे कुछ भिन्नता नही है।

सोलहवी गुफा एक ऐसा विहार है, जो अजता के विहारो मे भव्यतम माना गया है। इन अलकरणो की सुदरता, लालित्य तथा चित्रकला प्रशसनीय है। इस गुहा के बरामदे के बाहरी दीवार पर वाकाटक राजा हरिषेण (ई० स० ४७५-५००) का लेख खुदा है जिसमे वर्णन है कि यह गुहा तापसो (भिक्षुओ) के निवास निमित्त उत्कीर्ण किया गया था। शैल गृह, खिडकियाँ, मनोहर विथियो तथा अलकारिक स्तभो एव सोपन मार्ग आदि का उल्लेख है। मडप मे बीस खभे है। खभो के डडे चौपहल, आठ, सोलह तथा अत मे चार पहल के बने है। इनकी नकली शहतीरो के सिरे घुडियों के आकार मे बने है। मालूम पड़ता है कि विद्याधारो या गणो द्वारा उठाए गए है। मिथुन की भी आकृतियाँ

खुदी है। इसमे प्रकोष्ठ नही है। खभों पर आश्रित दो गलियारे हैं। केंद्र स्थान (गर्भगृह) मे प्रलंबपाद विशालकाय बुद्ध प्रतिमा व्याख्यान मुद्रा मे उत्कीर्ण है। इस विहार की चित्रकारी का काम अधिकतर नष्ट हो चुका है। सबसे प्रधान चित्र 'नंद की दीक्षा' नाम से प्रसिद्ध है। नंद को स्त्री-प्रेम से विरक्त करने, भिक्षु बनाने के लिए बुद्ध उसे स्वर्ग ले गए। यही घटनाएँ मडप की बाई ओर प्रदर्शित है। मंदिर की बाईं ओर श्रावस्ती का चमत्कार चित्रित है। दाईं दीवार पर बुद्ध के जीवन की घटनाएं-सुजाता का क्षीर भेट,राजगृह के बाजार मे भिक्षा-पात्र लिए बुद्ध, गौतम की पाठशाला मे शिक्षा, माया एव शुद्धोधन की वार्ता आदि विषय दिखलाए गए है जो कला की दृष्टि से सराहनीय हैं। मदिर के प्रदक्षिणा-पथ की बाई ओर दीवार पर जातक प्रदर्शन है—महाउम्मग्ग तथा सुतसोम।

अजता के विहार सख्या १७ में सबसे अधिक भित्तिचित्र सुरक्षित है। यह अपनी कलाकृतियों के लिए विख्यात है। मंडप के प्रकोष्ठ मे खभो पर सजावट देखते बनती है। द्वार की चोटी पर मैत्रेय बुद्ध तथा साथ में सात मानुषी बुद्ध की मूर्तियां चित्रित हैं। बरामदे की पिछली दीवार पर बायी ओर अप्सरा तथा गंधर्वों की मडली बादलो के बीच चित्रित है। उसमे देवराज दिखलाई पडता है। हवा मे उडती हुई मूर्तियो के शरीर का लचीलापन कलाकारों ने बडी कुशलतापूर्वक दिखाया है। मदिर की बाई ओर स्तंभ-मडप के नीचे मधुपान करते राजा-रानी चित्रित है। रानी की भावभगिमा हृदयग्राही है। इसी के आगे राजकीय दपति शोकपूर्ण मुद्रा मे नगर द्वार की ओर जा रहे हैं। नगर के आगे एक राजकुमार भिक्षा बाँट रहा है। इसमे साधुओ, तापसो, भिखारी की मुद्रा एव भाव दीख पडते है। संभवत इसके द्वारा बेसतर जातक का स्मरण दिलाते है। मंडप के बरामदे की दीवारो पर चित्रित विषयों की कल्पना अद्वितीय है। द्वार के दाहिनी ओर अप्सराओं की मूर्त्तियाँ चित्रित हैं। दाईं ओर राजगृह का चमत्कार, नालगिरि हाथी का दमन—प्रदर्शित है। नालागिरि मस्त हाथी को देवदत्त ने बुद्ध को मारने के लिए छोड़ा। हाथी के भय से नगर म भगदड मच गई, किंतु मतवाला हाथी बुद्ध के चरणो मे अभिवादन करने लगा।

विहार के मडप की दीवारो पर बहुत जातक कथाओ का चित्रण है। मुख्य द्वार के बाईं ओर छद्दन्त जातक प्रदर्शित है। किस प्रकार काशिराज की रानी ने षडदत को व्याधा द्वारा मरवा डाला। कमल ह्रद से निकलते गजराज (षड्दत) पर शिकारी ने तीर साधा। शिकारी हाथी का अभिवादन कर छह दाँत लेकर राजधानी लौटा। अंत में रानी उसे देखकर शोक मे प्राण त्याग दी। उसी के आगे महाकपि जातक का दृश्य है। बोधिसत्व

(महाकपि) अपने साथियो के साथ गगा के तट पर आम का फल खा रहा था। काशिराजा ब्रह्मदत्त ने उसे घेर लिया। महाकपि ने नदी के आरपार वृक्षो के सहारे अपने शरीर का पुल बना दिया, ताकि समस्त बदर बच जाए। बंदर रूप मे देवदत्त ने महाकपि के पेट पर लबी छलाग लगाई और उसका हृदय फट गया। ब्रह्मदत्त बोधिसत्व के आत्मत्याग से प्रभावित हुआ। बोधिसत्व को राजा के नौकरो ने कबल मे लपेट लिया। इस घटना का सु दर चित्र दीवार पर दीख पड़ता है। इसी प्रकार वेसंतर जातक भी चित्रित है। इसमे राजा वेसंत्तर को दानी होने के कारण देश से निकाला गया। वेसत्तर स्त्री तथा पुत्रो के साथ रथ पर बैठ नगर से बाहर चला गया। अंत मे जगल मे घोर यातनाएं सहने के पश्चात् सचाई प्रकट हुई। इद्र ने उसके बच्चे तथा उसकी स्त्री लौटा दिया। कोठरियो के दो द्वारो के बीच मातृपोषक जातक प्रदर्शित है। बोधिसत्व ने हाथी के रूप मे जन्म लिया। काशिराज ब्रह्मदत्त ने इसे बदी बना लिया। हाथी ने राजभवन मे अपनी अधी माता की याद कर खाना-पीना बद कर दिया। राजा ने द्रवित होकर उसे बधनमुक्त कर दिया।

इसी तरह महिष, सुतसोम, मच्छ, सरभमिग जातकों का यथास्थान चित्रण है। रुरु जातक का प्रदर्शन बोधिसत्व द्वारा सेठ के डूबते हुए पुत्र को बचाने की कथानक से संबधित है। निग्रोधमिग जातक मृगदाव मे काशिराज के उपवन मे बोधिसत्व (बट वृक्ष के नीचे रहने वाला हिरन) के पकड़े जाने की वार्ता को प्रकट करता है।

मृगदाव की वार्ता है कि काशी राज के कारण जानवरो से प्रतिदिन बारी-बारी से एक जानवर (हिरणी) राजा के वधशाला मे जाता जाय, ऐसा निर्णय हो चुका था। गर्भिनी हिरनी की बारी आई। बोधिसत्व (सारगनाथ) हिरनी के स्थान पर स्वय उपस्थित हुआ। इस आत्मबलिदान से राजा प्रभावित हो गया और उसने हिरनो को मारना छोड दिया। प्रकोष्ठ की दीवारें बुद्ध जीवन की घटनाओं से अलकृत है। श्रावस्ती का चमत्कार, त्रयस्त्रिश स्वर्ग से बुद्ध का सकाश्य मे उतरना प्रदर्शित है। द्वार की बाई ओर बुद्ध की पत्नी यशोधरा अपने पुत्र राहुल को सामने ला रही है। राहुल पिता (बुद्ध) से पैतृक सपत्ति माग रहा है। बुद्ध ने इसे भिक्षापात्र दिया। इस तरह बुद्ध के जीवन तथा जातकों का चित्रण गुहा सख्या १७ मे अत्यन्त सौदर्यपूर्ण तथा कलात्मक ढंग से किया गया है।

अजता गुहा की विशेषता यह है कि यहां के चैत्य-मंडलप भी अलकृत है तथा दीवारो पर चित्र खीचे है। गुहा सख्या ९, १०, १९ तथा २६ चैत्य-

मंडल है और नाना प्रकार से विभूषित है। गुहा संख्या ९ तथा १० प्राचीन चैत्य-मंडप है जिसमें केवल स्तूप दीख पड़ता है, किंतु १९ तथा २६ चैत्य पाँचवीं सदी मे निर्मित हुए थे। यद्यपि दोनों प्रकार के चैत्य-मंडपो मे शताब्दियों का अंतर है किंतु स्तूप मे बुद्ध-संबंधी प्रतिमा को छोड़कर बनावट मे कोई अंतर नही दीख पड़ता। गुफा की दीवार पर भित्ति चित्र में दो तहे है। प्राचीनतर चैत्य निर्माण के समकालीन हैं। उन चित्रो पर एक दूसरे का आरोप दीख पड़ता है। इससे प्रकट होता है कि पुराने चित्रो को मिटाए बिना नए चित्र तैयार किए गए। चित्रो मे दो समुदाय का दृश्य है। बाएँ हाथ नाग-राज तथा दाएँ हाथ एक राजा का चित्र है जो पाँच व्यक्तियो की फरियाद सुन रहा है। बाई दीवार पर कुछ बुद्ध मूर्तियों के उत्तरकालीन चित्र है। प्राचीन तथा उत्तरकालीन चित्रों का अंतर स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। शैली तथा क्रियाविधि मे बहुत पार्थक्य है।

अजंता के चैत्यों में चित्रकारी

चैत्य-मंडप संख्या १० में भी प्राचीन तथा उत्तरकालीन चित्र पाए जाते है। इसका निर्माण संभवतः ई० पू० दूसरी शताब्दी मे हुआ था। उस समय के चित्र भी है। इसकी दीवार पर आधुनिक चित्र भी है, जिसमे राज-कीय पुरुष, सैनिक, सर्गीतज्ञ, स्त्रियाँ तथा परिजनों के साथ बोधिवृक्ष और स्तूप-पूजा की शोभा यात्रा में जा रहे है। उत्तरकालीन चित्रों के नीचे दबे बड़े खंडचित्र दाहिनी दीवार पर दृष्टिगत होते है। इसमे सामजातक का प्रदर्शन है। यह कथानक पौराणिक श्रवण कुमार की कथा से मिलता है। बोधिसत्व के माता-पिता अंधे है। उनका एक मात्र सहारा साम नामक एक बेटा है। जगत की नदी मे जब साम माँ-बाप के पीने के लिए पानी ला रहा था, काशिराज ने विषैले तीर से उसे मार डाला। वास्तविक बाते जान लेने पर राजा अत्यन्त खेद प्रकट कर सेवा के लिए अपने को समर्पण करता है। दैवी कृपा से साम जीवित हो जाता है तथा माता-पिता की आँखो मे रोशणी आ जाती है। चित्र मे राजा बाण चला रहा है। साथ मे पश्चाताप करते राजा की आकृति है। तीसरे खंड मे आश्रम-जीवन का दृश्य है। पुत्र-वियोग मे अन्धे माता-पिता साम के शरीर को स्पर्श कर रहे है। साम जातक के बाई ओर षड्दन्त जातक प्रदर्शित है। इस चित्र मे शिकारी छह दांत वाले हाथी को मार रहा है। छद्दन्त शिकारी को दाँत निकालने मे सहायता दे रहा है। जब दाँत काशिराज की पत्नी चुल्लसुभद्रा के सामने रखा गया, तो वह बेहोश हो गई। विशेषतया हिमालय मे षड् दंत का जीवन, बट-वृक्ष के नीचे

उसका निवास, दाँतो को आरा से काटना, रानी के संमुख उपस्थित करना तथा सुभद्रा का बेहोश होना आदि विषयो का सुंदर चित्रण है।

गुहा (चैत्य) संख्या १९ तथा २६ भी अलंकृत होने के कारण प्रसिद्ध है। दीवार तथा छतो मे सुंदर चित्र दीख पड़ते है। बुद्धमूर्ति की अधिकता है। चैत्य-मंडप २६ के प्रदक्षिणा-पथ की दीवारो पर चित्र (दृश्य) को सरस बना देते हैं। इसमे दो चित्र है। पहला बुद्ध के परिनिर्वाण का तथा दूसरा बोधगया के मार-विजय का दृश्य। परिनिर्वाण मे विशालकाय बुद्ध प्रतिमा शयन मुद्रा मे पड़ी है। शिष्यगण शोकातुर हैं। मार-विजय मे मार-सेना का आक्रमण, मार की पुत्रियो का नृत्य, बुद्ध को विचलित करने का प्रयत्न, आदि मार की आकृति सभी को दिखाने का प्रयत्न है। चित्र के बहुतसा अश नष्ट हो गए है। चित्रकार को वास्तविक रूप से संपूर्ण दृश्य दिखाने का अवसर नही मिला। इस प्रकार अजता के चित्रकारो ने बुद्ध के जीवन, जातक तथा सामाजिक विषयो का अधिक चित्रण किया है। भित्तिचित्र पर शेष चित्रो के अध्ययन से यह प्रकट होता है।

कामसूत्र मे चित्रकारी के जिन छह अगो का वर्णन है, उसे अजंता के भित्तिचित्रो मे प्रयुक्त पाते है। (१) रूपभेद (२) प्रमाण (३) लावण्य-योजना (४) भव (५) सादृश्य तथा (६) वर्णिक भग। चैत्य-मडप मे चित्रो के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्रारंभिक अवस्था मे चित्रकार खुदे मूर्तियो को रंगीन बनाने मे व्यस्त थे। इस कारण तक्षण तथा चित्रकारी का संयुक्त प्रयास दीख पडता है। धार्मिक भावना की जागृति से बौद्ध कलाकारो ने मूर्ति-निर्माण से चित्रों पर अधिक बल दिया और प्रतिमा के सभी लक्षणो को चित्र मे उतारने का सफल प्रयत्न किया। अजता के चित्रो मे मानव-शरीर का पूरा अध्ययन है। अंगो के कड़ापन को हटाकर नर्मी लाने की कोशिश है, जिससे वास्तविकता तथा सजीवता प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का विश्लेषण अजता के भित्तिचित्रो मे मिलता है।

ग्वालियर रियासत (राजस्थान) के विन्ध्या पर्वत के दक्षिणी ढ़ाल पर पांच सौ फीट की ऊँचाई नव गुफाएँ खुदी है, जिन्हे 'बाघ गुफा' के नाम से पुकारते है। सभी गुफाएँ भिक्षुओ के निवास के निमित्त तैयार की गई थी यानी सभी विहार हैं। प्रथम विहार नष्टप्राय हो गया है। दूसरे को पाडवो की गुफा कहते है तथा भली-भाँति सुरक्षित है। इसके चित्रों को धुआँ से अधिक क्षति पहुँची है। इस विहार के मध्य मे एक चौकोर भवन (आँगन कह सकते हैं) है जिसके पार्श्व मे निवास के लिए कमरे बने हैं। बरामदे मे ताखो पर मूर्त्तियाँ

दीख पड़ती हैं। तीसरे को स्थानीय लोग हाथी-खाना के नाम से पुकारते हैं। चौथे को रंगमहल कहते हैं स्यात् इसके भव्य सौदर्यमय रंगीन चित्र दीख पड़ते हैं (यानी दीवारे चित्रित हैं) इसी कारण इसे रंग-महल कहा गया। पाँचवी गुहा चौथी की समकालीन है। छह, सात, आठ तथा नवी गुफाओ के संबंध मे अधिक कहा नही जा सकता है। सभी नष्ट हो गई हैं और मलवे से भरी है। अजंता तथा बाघ के चित्रों मे रंगों का समान चुनाव किया गया है। बाघ में प्रस्तर लेप पर ध्यान कम दिया गया है, जिस तरह का मिट्टी भूसा मिश्रित लेप अजंता की गुहाओं में प्रयुक्त है। बाघ के चित्रों में एक रूपता दीख पडती है, क्योकि इसे एक ही समय एवं एक ही चित्रकार द्वारा संपन्न किया गया था। अजंता के चित्र थोड़ी-थोड़ी सीमा मे विभिन्न व्यक्तियो द्वारा चित्रित किए गए, जिससे कुछ अंशो मे असमानता है।

बाघ की चित्रित गुफाएँ

बाघ चित्रकारी की परिकल्पना (Design) कला शैली तथा आलंकारिक विशेषता (गुण) मे अंजता से घट कर नही है। बाघ चित्रो के विषय धार्मिक न होकर सामाजिक प्रदर्शनो से सबद्ध है। इन चित्रों के परीक्षा से उन्हे किसी प्रकार बौद्ध नही कहा जा सकता। इसमें सुंदर वस्त्राभूषणो से सुसज्जित स्त्रियाँ सगीत मे लान है। वे नृत्य कर रही है। उसमे धार्मिक भावना को आरोपित करना अनुचित होगा। बाघ चित्रो की तिथि के सबध मे कुछ कहा नही जा सकता। अजंता की तरह यहाँ की गुहाओं में अभिलेख खुदे नहीं मिलते, जिस आधार पर काल का अनुमान किया जा सके। चित्रो के अध्ययन तथा वस्त्र के पहनने की शैली, केशविन्यास तथा कलात्मक गुण के आधार पर इन्हे उत्तर गुप्तकालीन मान सकते है। अजंता के सर्वथा समकालीन नही हो सकते। छठी या सातवी शताब्दा मे बाघ की तिथि निश्चित करना युक्ति संगत होगा।

बाघ की गुफाओ की दीवारो पर लेप लगाने का प्रश्न नही था। यहाँ की चिकनी दीवार पर चने से सफेदी की जाती तथा चूनाकारी के सूखने पर चित्र खीचें जाते थे। रात्रि के समय उसमे गीलापन आ जाता और सुबह चूने के पानी मे रंग मिलाकर चित्र तैयार किए जाते थे। बाघ के चित्रकार रंगों का चुनाव उचित रीति से करते थे। लाल, पीला, चूना सफेदी, खाकी रंग तथा काले रंगो का प्रयोग किया गया है। बाघ मे नृत्यसमूह तथा हाथियों पर शोभायात्रा का प्रदर्शन अत्यंत कलात्मक ढंग से चित्रित है।

सातवां अध्याय

चैत्य का निर्माण

यह कहा जा चुका है कि विहार के समीप पूजा-निमित्त अर्द्ध गोलाकार (बुडनाल) गुफा खोदी गई जिसमें स्तूप की भी स्थिति सर्वदा रहती है। उसी क्षेत्र में दोनों प्रकार की गुफाएँ स्थित है; किंतु दोनों की बनावट में अधिक अंतर है। विहार ग्राम के निवासगृह के सदृश चौकोर थे। पर्वतों की खुदाई का मूल आकार ही पृथक्-पृथक् था। पूजास्थान के निर्माण की योजना जंगल की झ पड़ी से सर्वथा मिलती है। बाँस के ढाँचे पर ही घास फूस रखा जाता था। पश्चिमी भारत मे चैत्य-निर्माण का एक क्रम था। उसमें भाजा, कोन॰ दाने, पितलखोरा, बेदसा, नासिक, कार्ले एव अजंता (गुहा ९ तथा १०) तथा कंहेरी एक श्रेणी मे रक्खे जाते है। ये गुफाएं यानी चैत्य गुहाएँ ईसा पूर्व पहली सदी मे खोदी गई थी। इस निश्चय पर पहुँचने का एक कारण है। हीनयान मत मे बुद्ध की प्रतिमा का अभाव था और प्रतीकों मे स्तूप को ही गुफा मे पूजा-निमित्त स्थान दिया गया। लकडी के ढाँचे के जितना सदृश है, वह उतना ही प्राचीन है।

उपरियुक्त स्थानों पर पर्वत मे जो चैत्य खोदे गए थे, उनमे साधारण स्तूप ही दीख पडता है। किसी प्रकार का अलंकरण या सबद्ध मूर्ति का अभाव है। कालांतर मे बुद्ध प्रतिमा जोडी गई। अजंता गुहा सं॰ १९, २६ तथा एलोरा सं॰ १० (विश्वकर्मा गुफा) चैत्य गुहा मे स्तूप के समुख उसी शिलाखंड में बुद्ध-प्रतिमा उत्कीर्ण है। यह महायान की देन है। जब भक्तिभावना का आविर्भाव हुआ, तो बौद्धमत के दूसरे यान—महायान शाखा मे बुद्ध॰प्रतिमा तैयार की गई। ईसवी सन् के आरंभ से यह नया विधान सामने आया। इसके पश्चात् कलाकारों ने पश्चिमी सहयाद्रि पर्वतशृंखला में जो 'चैत्य-मंडप' खोदे, सभी मे प्रतिमा सहित स्तूप के अंड को उत्कीर्ण किया गया। अतएव, चैत्यों को हीनयान तथा महायान शाखाओं से सबद्ध कर तिथि निर्धारित करते हैं। कालांतर मे सातवी सदी के पश्चात् चैत्य तथा विहार का संमिश्रण हो जाता है। विहार के केंद्रीय मंडप (गृह) में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई, जहाँ भिक्षुगण पूजा किया करते तथा उपदेश भी श्रवण करते रहे।

चैत्यों की बनावट में मूलतः समानता है, किंतु समय-समय पर कुछ आकार-प्रकार जोड़ दिए गए अथवा सुंदर बनाने के लिए आलंकारिक कार्य किए गए। जैसे झोपड़ी के बाँस के ढाँचे को मोड़ कर गोलाई मे स्थिर करते हैं, वही दशा चैत्य-मंडप की है। यहाँ बांस के स्थान ऊपरी गोलाई मे प्रस्तर का प्रयोग किया गया है। कही ऊपरी भाग में लकड़ी की शहतीरें भी दीख पड़ती है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे भाजा मे चैत्य-मंडप का आरभ हुआ था। पर्वत को खोद कर घोडे की नालनुमा (अश्वनालाकार=अर्द्धगोलाकार) मंडप तैयार किया गया है, जिसका ऊपरी भाग झोपड़ी के बास के ढाँचा सदृश गोल है। बाँस के स्थान पर डाटदार छत में निरर्थक लकड़ी की कड़ियाँ पसलियाँ सदृश लगाई गई हैं। घोड़नाल सदृश गुहा को तीन भागो मे बाँटा गया है। पर्वत से सटे पूरी गोलाई में गलियारा है, जिसे स्तूप के पीछे से विपरीत दिशा मे देखते है। मध्य भाग (नाभि) से गलियारे (प्रदक्षिणा-पथ) को अलग करने के लिए प्रस्तर के खभे तैयार किए गए, जिनके ऊपर मेहराब-सी बनावट है। इस प्रकार चैत्य-मंडप तीन भागो मे विभक्त हो जाता है—

१. बीच का भाग नाभि-मध्यवीथी।

२. गलियारा-पर्वत की दीवार से लगा हुआ भाग जो पूरे घुड़नाल की गोलाई मे जाता है। उसे पार्श्व वीथी कहा जाता है। स्तूप के पीछे से होकर पार्श्व वीथी गुजरती है, अतः इसे प्रदक्षिणा-पथ भी कहते है।
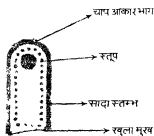
भाजा चैत्य मण्डप घोड़नालनुमा

३. स्तंभ—जो नाभि को प्रदक्षिणा-पथ से पृथक् करता है। भाजा गुफा में सभी स्तंभ सादे हैं। क्रमशः इन खंभों मे अलंकरण की क्रिया होती गई। स्तंभों

के निचले भाग मे घटनुमा आकार आरंभ हुआ और स्तंभ के ऊपरी भाग (शीर्ष) में अधिक सुंदर खुदाई की गई। अजंता चैत्यों मे स्तंभों को सौंदर्य-मय उत्कीर्ण किया गया है। स्तभो के शीर्षको के मध्य मे बुद्ध की प्रतिमा खुदी है। इसके अतिरिक्त घुड़सवार, हाथी, विद्याधर, संगीत-मंडलियाँ बनी हैं। छज्जों पर भी उकेरी बुद्ध-प्रतिमाएँ है।

घोड़े के नाल की बाहरी दिशा (मुख) के समान ही चैत्य का बाहरी भाग था, जिसमे तीन दरवाजे हैं। मध्य दरवाजा नाभि (मध्य वीथी) मे प्रवेश करता था। बाएँ दरवाजे से उपासक प्रवेश कर गलियारे मे घुम कर यानी स्तूप की प्रदक्षिणा कर (पार्श्व वीथी से) विपरीत दिशा (दाहिने) के गलियारे से बाहर निकल जाता है। इस प्रकार वह स्तूप की पूजा तथा प्रदक्षिणा समाप्त करता। नाभि के भाग मे भिक्षुगण जा सकते थे और स्तूप को स्पर्श भी करते थे। जैसे झोपडी के ऊपरी (ढाँचे) भाग को जमीन में स्थित बाँस के खभो मे बाँधते है, जिससे वह झोपडी स्थायी हो जाए यानी निवास के योग्य हो जाए। वही हालत भाजा तथा वेदसा के चैत्य-मडपो का है। बेदसा तथा भाजा के सादे स्तंभ कुछ छत की ओर झुके है। झोपड़ी को खंभो के सहारे उसे सीमा मे रखते है। जैसा कहा गया है—शनै-शनै. कलाकार स्तभो को सुंदर रूप मे विभूषित करने लगे। इस कारण उनके आधार तथा शीर्ष की सुदरता देखने योग्य है।

बेदसा तथा पितलखोरा के चैत्य-मडप भाजा के सदृश है। नासिक मे अलकरण आरंभ हुआ। आधार को घटनुमा बनाया गया। ऊपरी शीर्ष
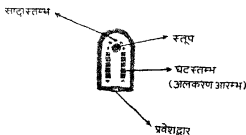
नासिक चैत्य मण्डप

अशोक-स्तभ के मूल आकार को लेकर खोदा गया। वह घंटे के आकार का है। उलटे पुष्प की पंखुडियाँ बनी हैं, जिन पर चौकी के सदृश प्रस्तर उत्कीर्ण

है। समस्त स्तंभो की चोकियो पर दंपत्ति अथवा राजा-रानी की आकृतियाँ स्तूप-पूजा देखने के लिए उत्सुक-सी दीख पड़ती हैं। नासिक में चौकियों पर देखने के लिए मनुष्यों की आकृतियाँ खुदी हैं। कालातर में कार्ले की गुफाओ (चैत्यों) के स्तंभों को विशेष अलंकृत किया गया। पुष्प का डंठल ऊपर है। कमल की पखुडियो में से स्तभ निकलता दिखलायी पड़ता है। पुष्पों के ऊपरो भाग पर बनी चौकियो पर कार्ले मे एक साथ चार जानवर (हाथी, बैल या सिंह) बने है जिनकी पीठ पर दंपत्ति बैठे है। उनकी स्थिति से अनुमान लगा सकते है कि सभी पूजा के अवलोकनार्थ बैठे हैं। पर्वत मे 'चैत्य-मंडप' खोदने के पश्चात् स्तूप पर ध्यान केंद्रित करने के लिए बाहरी प्रकाश की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस कारण तीनो द्वार के ऊपरी भाग मे प्रस्तर खोद कर प्रकाश तथा वायुप्रवेश निमित्त खिड़की (वातायन) तैयार किया गया, जिसको कलाकारो ने चैत्य के आकार सदृश बनाया। इस कारण इन्हे 'चैत्य-वातायन' कहना समुचित होगा। कार्ले तथा अजंता (गुहा
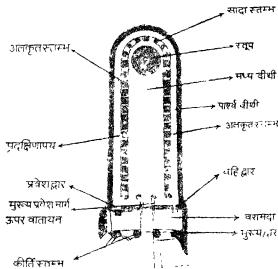
कार्ले चैत्य-घोड़ नाल नुमा

स० ९)के चैत्य वातायन अलंकारिक रूप मे बने हैं। उनको भी लकड़ी की जालियो से भर दिया गया है। कहीं प्रस्तर की भी जाली है।

कार्ले चैत्य यानी ईसा पूर्व पहली शती से पर्वत को खोदकर सबसे पहले बरामदा तैयार हुआ, जिसमें कई स्तंभ ऊपरी भाग के बोझ को सँभालने के निमित हुए थे। उसी बरामदे मे तीन द्वार तथा भीतर स्तंभ सहित चैत्य (घोड़नाल सदृश गुहा) खोदा जाता था। अजता मे चार स्तंभों का छोटा बरामदा चैत्य-द्वार के संमुख दीख पड़ता है।

चैत्यों मे स्तूप का वर्णन अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वही सबसे प्रमुख अंश माना गया है। अशोक कालीन स्तूप समतल भूमि पर गोलाकार चबूतरे पर बनाए जाते थे। सर्वप्रथम मिट्टी का टीला था। कालांतर में प्रस्तर से आच्छादित कर दिया गया। अड के सिरे पर हरमिका तथा छत्र तैयार किया जाता। मौर्यकालीन उन स्तूपों में सभी बातें एक साथ तैयार न हुईं। चबूतरा, अंड, हरमिका, छत्र तत्पश्चात् बेष्टनी बनी। परंतु, चैत्य-मडपो में सारा कार्य एक आयोजन के साथ किया जाता था। घोड़नाल-नुमा आकार मे मध्यवीथी के गोलाई चाप मे स्तूप को प्रस्तर मे खोदा गया है। प्रस्तर काटते समय कलाकार सभी आकार-प्रकार को मस्तिष्क मे रख कर छेनी उठाता था। पर्वत की तलहटी से खोदना आरभ करता और क्रमशः चैत्य के सारे आकार को सु दर रीति से उत्कीर्ण कर अपनी कुशलता का परिचय देता था। कही-कही (कहेरी मे) विहार तो पूर्ण खुदे नही हैं, परतु चैत्य-संबधी ऐसी बातें सुनी नही गई। इस प्रकार बाहरी बरामदा, तीनों दरवाजे, चैत्य-वातायन, मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी, स्तभ अलकरण सहित मेहराबदार छत्र (अर्द्ध गोलाकार) उसमें प्रस्तर या लकड़ी की शहतीरें (पसलीनुमा) तथा अतिम समय स्तूप को तैयार करते थे। डाटदार छत पर बनी प्रस्तर की पसलियाँ लकडी की कडियो का अनुकरण हैं। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाए, तो ज्ञात होता है कि वातायन से रश्मियाँ सीधे स्तूप पर गिरती है। हीनयान मतानुयायियो ने सादा स्तूप बनाया। उसके अ ड के निचले भाग मे बेष्टनी की तरह आकार (मेधि) बने हैं। हरमिका तथा छत्र भी वर्त्तमान हैं। महायान के कलाकारो ने उस स्तूप को उत्कीर्ण करते समय बुद्ध-प्रतिमा को भी खोद कर मध्य द्वार के सामने स्थिर किया, जिससे उपासक उस प्रतिमा को देख सकें।

अजंता के महायान चैत्यो (गुहा सं० १९ एवं २६) में उद्देशिक स्तूप पर बुद्ध की मूर्ति बनी है, जिसके विभिन्न अंगों मे अलकरण दीख पड़ते हैं। इन

चैत्य-मडपों मे स्तूप का चबूतरा गोलाकार नही है। उनमें स्तंभनुमा आकार बने हैं। स्तूप को पृष्ठभूमि में बदल दिया गया है। वह केवल आलंकारिक आकार रह गया। उसमें खोद कर दोनो ओर मेहराव सहित स्तंभ बने है। उसी गहराई में बैठी या खड़ी बुद्ध प्रतिमा है। अजंता गुहा सं० १९ तथा २६ (चैत्य-मंडपो) में स्तूप की प्रधानता जाती रही। अलंकरणो के गढ़ने मे निरर्थक आडबरों की ओर ध्यान दिया गया है।

गुहा-निर्माण के पश्चात् पर्वत के बाहरी माथे पर चैत्य वातायन सदृश अनेक आकार बनाएँ गए थे, ताकि दूर से ही गुहा की स्थिति प्रकट हो जाए। पर्वत के अन्य भाग मे यह अलकरण दर्शकों को आकर्षित करता था। बेदसा, पितलखोरा तथा अजंता गुहा (चैत्य) के अग्रभाग (Facade) पर अनेक चैत्य वातायन उत्कीर्ण किए गए है। अजता की महायान चैत्य (गुहा स० १९) के पुरोभाग पर खड़ी बुद्ध-प्रतिमा खुदी है। इसे देखते ही उपासक महायान चैत्य का नामकरण कर सकता है। अजंता गुहा स० २६ मे भगवान् बुद्ध को बैठी प्रतिमा खोदी गई है। इस प्रकार अन्य चैत्यों मे खडी प्रतिमा दीख नही पडती। अजंता चैत्य (गुहा संख्या १९) के अग्रभाग पर पूरे पर्वत को काट कर बुद्ध को अनेक प्रतिमाएँ (विभिन्न मुद्रा तथा आसन सहित) उत्कीर्ण दीख पडती हैं। सभव है, यह प्रतिमा खोदने की योजना कालातर में बनाई गई हो। इस सुझाव का कारण यह है कि किसी निश्चित सुव्यवस्थित रूप मे खुदाई का कार्य दीख नही पडता। समय-समय पर प्रतिमा उत्कीर्ण हुई, ऐसा विचार बलवान हो जाता है।

इसकी पुष्टि अजंता गुहा सख्या ९ के सामने माथा को देखने से हो जाता है। यह चैत्य-मंडप हीनयान से संबध रखता है। चैत्य के अदर सादा स्तूप बना है। किंतु, सामने के माथा पर पर्वत काट कर अनेक बुद्ध-प्रतिमाएँ बनाई गई है। महायान-युग के आरभ होने पर भिक्षुओ ने हीनयान आकार को भी महायान से सबद्ध करना चाहा। इसलिए माथा को ही प्रतिमाओं से विभूषित किया। चैत्य के अदर आकार-प्रकार को ज्यों-का-त्यों रहने दिया। केवल सामने पहाड को खोद कर महायान कलाकारों ने अपनी इच्छा की पूर्ति की।

कहेरी की गुहा सख्या ९० की बाहरी दीवाल पर भी बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ खोदी गई थी। सुखासन स्थिति में बुद्ध-प्रतिमा के दोनों पार्श्व मे बोधिसत्व की खड़ी मूर्तियां दीख पड़ती है। स्तूप के अंड के सिरे पर हरमिका

बनी है। वह उलटे सीढीनुमा प्रस्तर की कटाव सदृश ऊपर चौड़ा होता गया है। हरमिका की चोटी पर छत्र की स्थिति है या संबध रखता है। भाजा स्तूप मे छत्र का अभाव है, किंतु कार्ले मे लकड़ी का छत्र बना है। अजता गुहा संख्या ९ में हरमिका की चोटी पर लकडी छत्रावली थी, जिसके यष्टियो के
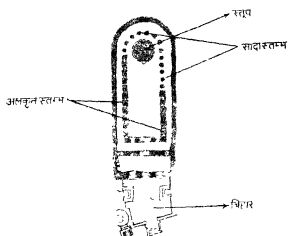
कनहेरी चैत्य, बिहार सहित

ठोकने के स्थान आज भी दृष्टिगत होते है। अजंता गुहा मं १९ एव २६ मे मुकुटाकार छत्रावली बनी है। जिसमे लकडी का प्रयोग नही है। इस प्रकार सक्षेप मे चैत्य-मडप की खुदाई का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि ईसा पूर्व पहली सदी से भाजा से आरंभ होकर अजंता चैत्य-मडपो का निर्माण क्रमश कलापूर्ण तथा अलकृत होता गया। आलंकारिक विषयों की प्रधानता कलाकारो का ध्यान आकर्षित करती गई।

यदि समस्त चैत्य-मडपो का सर्वेक्षण किया जाए, तो उपरियुक्त क्रम (भाजा कोनदने, पितलखोरा, अजंता (१०) बेदसा, अजता (९) नासिक तथा कार्ले) मे भाजा का प्रथम स्थान है। उस सिलसिले मे कंहेरी चैत्य अवनतिकाल का द्योतक है। भाजा का अग्रभाग काल तथा विकट जलवायु-स्थिति के कारण नष्ट हो गया है। इस कारण भीतरी भाग स्पष्टतया दिखलायी पड़ता है। चैत्य-मंडप के वास्तविक आकार के सदृश भाजा की भी दशा

होगी। सामने का भाग लकडी का बना था, जिसके स्थिर करने वाले छेद पर्वत में दीख पड़ते हैं। इसमें मेहराबदार छत मे लकड़ी के शहतीर लगे थे। स्तूप की हरमिका तथा छत्र भी लकड़ी का था। यह ५५ फीट लंबा तथा २६ फीट चौड़ा है। प्रदक्षिणा-पथ की चौड़ाई साढ़े तीन फीट है।

भाजा के समीप कोंडदने के चैत्य में कुछ विकास दीख पड़ता है। इसमे लकडी के स्थान पर प्रस्तर को काट कर शहतीर बनाया गया। फलत. भाजा से इसमें तनिक कला का विकास सामने आता है। भाजा के सदृश ही कोनदने का भीतरी भाग है। ईसा पूर्व पहली शती मे दोनों चैत्य मंडप तैयार किए गए थे। इससे हीनमान-युग की कलाकृतियों का दृष्टात सामने आता है। प्रस्तर तथा लकडी के काम करने वाले कलाकार को कुशलता प्रकट होती है। पितलखोरा तथा अजंता गुहा (स० १०) समकालीन है। इनमें छत्र के अर्द्ध-गोलाकार भाग मे प्रस्तर काट कर लकडी का शहतीरनुमा काम किया गया है। लकड़ी का प्रयोग शनैं-शनैः घटता जा रहा था। चैत्य-मडप का क्षेत्रफल ५० × ३४ फीट है। ऊँचाई ३१ फीट है। तीसरी सीढ़ी पर अजता गुहा (सख्या ९) तथा नासिक की पाडुलेण की गणना की जाती है। इनमे लकडी का प्रयोग नही दीख पडता। अजंता गुहा (सं० ९) के अग्रभाग को समुचित ढग पर खोदा गया है। मध्य मे दरवाजा तथा पार्श्व मे दो खिडकियाँ है, जिनके रक्षार्थ ऊपर कारनिस बनाया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि पर्वत मे खोदाई का कार्य वृद्धि पर था और उसमे कलात्मक ढंग से खुदाई सपन्न की गई थी। चैत्य-मंडप के संमुख द्वार के ऊपर चैत्य-वातायन निर्मित है। उसके मेहराब के साथ-साथ अलकारस्वरूप खिड़कीनुमा आकार बने हैं। इस चैत्य-मंडप का भीतरी भाग चतुर्भुजी है, पार्श्ववीथी की छत भी चपटी है। अजता मे मध्य वीथी का छत मे शहतीरो का अभाव है। उस स्थान को कलाकारों ने चित्र से अलकृत किया है, क्योंकि मेहराब मे उन शहतीरो की कोई आवश्यकता न थी। नासिक की पाडुलेण चैत्य मे द्वारमडप नही है। चैत्य के सामने माथा मे पांडुलेण के आकार के सदृश अनेक अलकरण है। नासिक गुहा मे चैत्य-स्तंभ के आधार के अलकरण का प्रारंभिक रूप प्रकट होता है। जिसको घटनुमा आधार कहते है। नासिक चैत्य के स्तंभ लबे तथा पतले है। इसके पश्चात् बेदसा तथा कार्ले मे स्तंभ-अलंकरण की चरमसीमा देखते है। इनमे स्तंभ शीर्ष का अलंकरण देखने योग्य है। यद्यपि उनका मूलरूप अशोक के स्तंभ का अनुकरण है, किंतु चैत्य-

मंडप के स्तंभ कोणयुक्त हैं। शीर्षस्थ भाग पर दंपत्तियों का आकार बना है, जो पशुओं के पीठ पर पैर फैलाए बैठे है। द्वार मंडप से सलग्न मेहराबदार चैत्य-वातायन तथा मुख्य प्रवेश-द्वार दीख पड़ते हैं। कार्ले के स्तंभ मे अलंकरण की चरमोन्नति हुई और किसी भी हीनयान चैत्य में ऐसा आलंकारिक कार्य दीख नही पडता। इसमे सर्वप्रथम दो सिंह-स्तभ बने है, जिनके भीतर द्वारा मंडप है। उसकी दीवार पर अनेक आकार खुदे है। सामने तीन दरवाजे तथा ऊपर वातायन बनाया गया है। विद्वानों का मत है कि मंडप के बाहरी भाग मे जो बुद्ध-प्रतिमाएँ खुदी है, उन्हे महायान कलाकारों ने कालातर मे बना दिया, ताकि हीनयान की भावना से मुक्त हो सके। भीतरी भाग मे कोई परिवर्तन कर न सके। अतएव द्वार-मडप मे प्रतिमाओ की खुदाई द्वारा इसे महायान चैत्य नही कहा जा सकता। उनका उद्देश्य यह हो सकता है कि उपासकों को उन अलंकरणों द्वारा आकर्षित कर सके।

कार्ले चैत्य-मडप १२८ फीट लबा, साढे ४६ फीट चौडा तथा ४५ फीट ऊँचा है। जिस भावना को लेकर हीनयान कलाकारों ने कार्ले चैत्य का निर्माण किया था, वही विचार-एव भाव आज भी सभी के हृदयो मे दीखते है। कार्ले के स्तभो की खुदाई ऐसी विचित्र है कि शीर्ष भाग मे मध्यवीथी की ओर दो हाथियो के आकार बने है, जिन पर दपति बैठी है। उसी स्तंभ पर पार्श्ववीथी की ओर घोडो का आकार बना है। इस प्रकार की खुदाई का तात्पर्य यह था कि चक्रवर्ती नरेश भी हाथियों पर सवार होकर भगवान् बुद्ध (प्रतीकस्तूप) के समुख नतमस्तक हो रहे है।

हीनयान चैत्य के क्रम मे कन्हेरी की दशा विचित्र है। इसका चैत्य-मडपों के इतिहास मे अपना स्थान है। इस स्थान पर दूसरी शती तक चैत्य मंडप तैयार किए गए थे। इसके देखने से अवनतिकाल के चैत्य का परिज्ञान होता है। कई चैत्य मंडप अधूरे खुदे है। स्यात् उनको पूरा करने का अवसर न मिल सका। पाँचवी सदी मे महायान के प्रचार होने पर भिक्षुओ ने कन्हेरी को भी केंद्र बनाया। हीनयान चैत्य के अग्रभाग पर बुद्ध की अनेक प्रतिमाओ को खोद कर उस चैत्य को महायान मत मे परिवर्तित करने की इच्छा व्यक्त की। चैत्य की बाहरी दीवार पर द्वारपाल की आकृतियाँ खोदी गई। कन्हेरी के सिह स्तभ स्वतत्र रूप से बने नही है, बल्कि दीवाल से सबद्ध हैं। संक्षेप मे कहना युक्तिसंगत होगा कि कन्हेरी के चैत्य-मडप हीनयान-युग की अतिम हीनावस्था के द्योतक हैं।

आठवाँ अध्याय

विहार : एक शिक्षा-केंद्र

विहार के संबंध में कुछ कहना पुनरावृत्ति होगी, परंतु उसकी उत्तरकालीन विशेषता के विषय में पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। पिछले पृष्ठों मे इसकी चर्चा हो चुकी है कि चैत्य तथा विहार पर्वतों में पृथक्-पृथक् खोदे गए थे। पाँचवी सदी के पश्चात् दोनों का संमिश्रण हुआ, यानी विहार के केंद्रीय मडप (कमरे) मे बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई। उपासक तथा भिक्षुगण उसकी पूजा करने लगे। यद्यपि अजता के चैत्य गुहा २६ तथा एलौरा की विश्वकर्मा नामक गुफा मे स्तूप से संबद्ध बुद्ध-मूर्ति खोदी गई थी, किंतु कालातर मे उस प्रकार (महायान चैत्य) की गुहा की आवश्यकता न रही। चैत्य का सर्वदा के लिए अंत हो गया। विहार की प्रधानता बढ़ती गई। भिक्षुओं के निवास के लिए पर्वतीय गुहा के अतिरिक्त समतल भूमि पर ईंट, चूना तथा प्रस्तर की सहायता से विहार बनने लगे। तक्षशिला, मथुरा, सारनाथ तथा नालंदा ऐसे समतल भूभाग मे भी विहार के मूल आकार को ध्यान में रख कर ईंट से विहार बनाए गए। जनता मे बौद्ध संस्कृति के प्रति आदर तथा असीम उत्साह था। धनीमानी, दानी लोगो ने विहार बनाना आरभ किया तथा भिक्षुओं के भोजनादि निमित्त भूमिदान किया।

वैदिक परंपरा मे ऋषि प्रव्रज्या लेकर जगल में रहते थे। ब्रह्मचारी भी आचार्य से शिक्षा लेता था। परतु, बौद्धमत मे आश्रम संस्था के लिए कोई स्थान न था। बुद्ध ने मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए योजना बनाई थी, पर उसमे गृहस्थाश्रम के लिए स्थान न था। बालक सीधे सघ मे प्रवेश करता था। माता-पिता स्वय पुत्र को ब्रह्मपरायण बनाने के लिए इच्छुक रहते। ब्रह्मचारी हिमालय मे आचार्य से शिक्षा लेता था। बौद्ध भिक्षु भी पर्वतीय प्रदेश मे रह कर भिक्षा के लिए नगरो मे आते थे। दूसरी शताब्दी में निर्मित नासिक गुहा के अभिलेख मे चारों दिशाओं से आने वाले विहार के निवासी भिक्षुओं का उल्लेख है। भिक्षु नगरों मे भिक्षापात्र लेकर भीख माँगते तथा जनता से संमानित भी होते थे। यह वैदिक परंपरा थी। बौद्ध संघ में सभी आयु के लोगों का निवास स्थिर किया गया। बालक प्रव्रज्या लेकर संघ में प्रवेश करता था। अतएव, बौद्धमत मे प्राचीन जीवन-क्रम तथा अभ्यास को प्रतिष्ठित किया गया। जीवन मे आचार्यों के सदृश व्रतनिष्ठ रहने का विधान बनाया।

इस प्रकार गौतम बुद्ध के समय से ही विहार (आराम) नगरो के समीप बनने लगे थे। विहारो का जीवन अरण्यवासी ऋषियो के समान था। विहार मे बैठकर शातिपूर्वक भिक्षु अध्ययन, चितन तथा मनन कर सकते थे। यद्यपि प्राचीन काल मे पर्वतो की गुफाओ मे रहना बौद्ध योजना के अनुकूल था, किंतु उत्तर काल मे इसमे परिवर्तन लाना आवश्यक हो गया। गौतम बुद्ध चलते-फिरते सैकड़ो भिक्षुओ को उपदेश दिया करते। कुसीनारा मे उनके साथ २५० भिक्षुगण थे।

विहार मे भिक्षु के निवास स्थिर होने पर सभी नगर मे भिक्षा माँगने मे भी असमर्थ थे। प्रव्रज्या के पश्चात् कम आयु के भिक्षुओ के लिए शिक्षा का प्रबंध जरूरी हो गया, जो अध्ययन के पश्चात् जनता मे धर्म का प्रचार कर सके। गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण पश्चात् उनके ज्येष्ठ अनुयायी का उपदेश जितना आवश्यक था, विहार मे निवास करने वाले युवा भिक्षु को शिक्षा देना भी उतना ही आवश्यक था। यही कारण है कि विहार शिक्षा के केंद्र बनते गए। प्राचीन गुरुकुल प्रथा को स्थानांतरित कर बुद्ध मत के प्रचार के कारण विहार मे शिक्षा का आयोजन किया गया। प्रारंभिक ज्ञान से ऊँची श्रेणी की शिक्षा विहारो मे दी जाने लगी। समतल भूमि पर निर्मित विहारो का इस कार्य मे अधिक योगदान है। इसका सामान्य कारण था—पर्वतो मे बड़े पैमाने पर हजारो भिक्षुओं के लिए विहार खोदना संभव न हो सका। यद्यपि फाहियान ने काश्यप बुद्ध के संघाराम का वर्णन किया है, जो पर्वत काट कर बने थे। इसमे ५०० गुहागृह थे और दूसरे तल मे ४०० कोठरियाँ थी, किंतु पुरातत्त्व की खुदाई मे ऐसे पर्वतीय विहार अज्ञात है।

पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो का भारतीयकरण होता गया। सभी ने भारतीय संस्कृति को अपना लिया। अतएव, गुहा-निर्माण के कार्य को बल न मिल सका। ई० स० चौथी सदी से उत्तरी भारत मे गुप्त सम्राट शासन करने लगे, उनकी सहिष्णुता के कारण समतल भूमि पर विहार बनाने को प्रश्रय मिला। हिमालय पर्वत मे गुफाओ का निर्माण संभव न था। इसलिए राजकीय सहायता तथा दानकर्त्ताओ के सहयोग मे सारनाथ एवं नालदा आदि स्थानो पर विहार बनाए गए। वहीं हजारो भिक्षुओं के निवास तथा भोजन का प्रबंध हो गया। धनी लोगो ने हाथ खोलकर दान दिया, जिससे निर्माण-कार्य तथा विहार का प्रबंध समुचित रीति से चल सका। बौद्ध-युग मे प्रसारित भिक्षावृत्ति को रोकने के लिए निवासस्थान में ही भोजनादि प्रबंध की योजना बनाया गई। नालदा से प्राप्त लेखो मे ऐसा वर्णन मिलता है कि भोजन, आसन तथा

औषधि निमित्त विहार को दान मिले थे। पाल नरेश देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र लेख मे ऐसा विवरण उपलब्ध है। पुस्तक की प्रतिलिपि तैयार करने के लिए भी दान दिया गया था, ताकि विद्या का प्रसार हो सके।

विहार मे सर्वदा निवास करने का एक और कारण था, जिसका आभास चुल्लवग्ग (१/१३/१—१/१६) के अध्ययन मे मिल जाता है। उसमे वर्णन आया है कि किटा पर्वत पर भिक्षु भोगविलास मे फँस गए थे। नृत्य-संगीत मे आनंद लेने लगे तथा सुंदरियो का नृत्य कराते थे। संभवतः नगर के लोगों के संपर्क के कारण किटानिवासी भिक्षुओं मे दोष आ गया था। योग्य भिक्षु उस स्थान को छोड कर चले गए। स्यात नागरिक संपर्क से पृथक् करने के लिए विहार मे निवास तथा भोजन आदि का स्थानीय प्रबंध (विहार मे ही) किया गया। गौतम बुद्ध ने भी ज्येष्ठ अनुयायियो को संघ में सुधार लाने की बाते बतलायी थी।

शिक्षण-संस्थाओं की उत्पत्ति

प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली मे निजी पाठशालाएँ चलाने वाले स्वतंत्र अध्यापक थे। वैदिक शिक्षा के अनुयायियो ने परिषद् के रूप में संघ बना लिया था, किंतु शिक्षण संस्था बनाने का प्रयत्न न किया। उस काल मे ऐसा प्रयास न हो पाया, तो उसमें कोई आश्चर्य नही है। ब्राह्मण धर्म मे शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन ब्राह्मणों का कर्त्तव्य था। प्रत्येक ब्राह्मण स्वयं एक संस्था था, किंतु आधुनिक प्रणाली की तरह पाठशालाएँ स्थापित न हो सकी थी। शिक्षक शिक्षा का प्रबंध करता तथा समाज दान देकर उस कार्य को प्रोत्साहित करता रहा। भारतवर्ष मे वर्त्तमान शिक्षण-संस्था के स्वरूप का जन्म बौद्ध विहारो मे हुआ। बुद्ध के उपासको ने विधिवत् शिक्षा-दीक्षा पर जोर दिया। उपासकों को कई वर्षों की शिक्षा के पश्चात् प्रव्रज्या दी जाती थी। शिक्षाकाल में आध्यात्मिक चिंतन के अतिरिक्त धार्मिक ग्रथो की शिक्षा दी जाती थी। तदर्थ पालि, संस्कृत, न्याय दर्शन आदि का समुचित ज्ञान कराया जाता था। प्रारंभिक अवस्था मे भिक्षु एवं भिक्षुणियों को शिक्षा दी जाती थी, परंतु कालांतर मे यह विचार किया गया कि यदि शिक्षा का द्वार सबके लिए खोल दिया जाए तो उपासको की संख्या बढती जाएगी। धर्म-प्रचार की दृष्टि से भी यह लाभकर था। युवा मस्तिष्क को शीघ्र प्रभावित कर तथा शिक्षा देकर उन्हें धर्म-प्रचार मे लगाना सरल था। अतएव, संघ मे अध्यापको (भिक्षुओं) ने विहार में सुसंगठित शिक्षा-केंद्र आरंभ किया।

भारत में जिन प्राचीन शिक्षा-संस्थाओं का पता लगता है, वे सभी नालंदा महाविहार (४०० ई० स०) के पश्चात् स्थापित हुए थे। नालंदा मे कई एक

है। किंतु, देखने से प्रतीत होता है कि विहारों की संख्या अधिक थी। कुछ तो प्रकाशित न हो सके हैं। उन विहारों में प्रवेश-क्रम के अनुसार विद्यार्थियों को स्थान दिया जाता था। विश्वविद्यालय में निवास तथा भोजन के लिए कोई शुल्क न था। दो सौ ग्राम दान में मिले थे। नालंदा केवल भिक्षुओं का निवास स्थान न रहा। किंतु, शिक्षा का महान् केंद्र बन गया। बौद्धमत के तीसरे यान बज्रयान का उदय नालंदा में ही हुआ। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने नालंदा का वर्णन करते समय यह उल्लेख किया है कि विहार में हजारों भिक्षु- गण रहते थे तथा वहाँ के आचार्य भिक्षु उत्कृष्ट विद्वान और प्रकांड पंडित थे। इसी कारण विदेशों से भी विद्यार्थी अपनी शंकाओं के समाधान के लिए वहाँ आते थे। नालंदा में पढ़े विद्वान् का समाज आदर करता था।

नालंदा के भिक्षुगण अपने पांडित्य के लिए जितने विख्यात थे, उतने ही अपने निर्मल चरित्र तथा अध्यात्म-ज्ञान के लिए भी। ह्वेनसांग ने नालंदा के प्रकांड विद्वानों की तालिका दी है। वह बतलाता है कि विद्यापीठ (विहार) में विद्वत्ता का स्तर बहुत ऊँचा था। सुदूर देशों के निवास भी नालंदा में विद्या लाभ के लिए उत्सुक रहते। इस कारण चीन, कोरिया, तिब्बत तथा तोखारा से अनेक विद्यार्थियों ने यहाँ वर्षों तक अध्ययन किया था। तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए नालंदा महाविहार के पंडित सक्रिय थे। नालंदा के शांत रक्षित नामक विद्वान को आठवीं सदी में बौद्ध धर्म प्रचार के लिए वहाँ आमंत्रित किया गया था। इसके पश्चात् भी शताब्दियों तक नालंदा के साहित्यिक तथा बौद्धिक कार्य होते रहे।

आठवीं सदी के बाद पाल नरेश धर्मपाल ने विक्रमशिला महाविहार की स्थापना की तथा व्याख्यान देने के लिए धर्मपाल ने अनेक विहारों (भवनों) का निर्माण किया। उसके उत्तराधिकारी कई शताब्दियों तक इस विश्वविद्यालय की सहायता करते रहे। यहाँ के भिक्षु भी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। थोड़े ही समय में विक्रमशिला की ख्याति तिब्बत पहुँच गई, जहाँ से ज्ञानपिपासु भिक्षुओं के दल यहाँ अध्ययन करने आए। दीपंकर श्री ज्ञान विक्रमशिला के पंडितों में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं। इस (विहार) विश्वविद्यालय में तीन हजार भिक्षु अध्ययन करते थे।

इस विद्या-विहार का प्रबंध छह द्वार पंडितों के हाथों में था, जिसके प्रधान स्वयं महास्थविर थे। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को समावर्तन के अवसर पर बंगाल के शासकों की ओर से उपाधि या प्रमाणपत्र दिए जाते थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस विहार मे भिक्षुओ का निवास अपेक्षित था, वही प्रमुख शिक्षा केंद्र—विश्वविद्यालय स्तर के विद्यापीठ हो गए।

साधारणतः सभी विहार बौद्ध सघ की वस्तु होते थे। चारों दिशाओ से पर्यटन करते हुए भिक्षु विहार में समानाधिकार से निवास करते थे। जेतवन विहार का दान देते समय अनाथपीडिक ने कहा था कि यह विहार सभो भिक्षुओं के लिए है। सभी भिक्षु जहाँ से आवे, या भविष्य में आवेंगे, सभी उस स्थान पर निवास कर सकते है। दूसरी सदी मे नासिक मे जो गुहाएँ (विहार) खोदी गईं, उन पर उत्कीर्ण लेख मे ऐसा ही वर्णन है। चारो दिशाओ से आने वाले भिक्षुगण निवास करें—

विहार में चिंतन

मंघस चातुदिस्स इम लेण नियायित ऐतो मम लेने वसतानं चातुदीसस भिक्षु सघस मुखाहारो भविसती (नासिक गुहा संख्या १०) कालें गुहा लेख में भी ऐसा ही उल्लेख है—लेण वासिन पवजितान चातुदीसस सघस पापणय गामो करजिको दत्तो (ए० इ० भा० ७) जूनार के लेख मे भी मंडप (विश्रामगृह) के दान का वर्णन है पर विस्तृत विवरण नही मिलता है। चौथी शती के विहारो का वर्णन फाहियान ने किया है। उसके अनुसार भारत मे हजारो भिक्षुगण निवास कर चिंतन किया करते थे। महावग्ग (६/२८) मे इस बात की चर्चा है कि भिक्षु गण उपासक गृहस्थ से सबध स्थापित कर भोजन आदि का प्रबंध करते रहे। इसी कारण सभी जनपदो के सेठों ने भिक्षुओ के लिए विहार बनवाए, ताकि उनके चिंतन या कार्यों मे बाधा न पड़े। सद्धर्म पुंडरिक (२/६१) मे वर्णन है कि भिक्षु पूजा की भावना मन मे लाते। वहा चिंतन करते तथा निर्वाण प्राप्त करते थे।

बौद्ध-चिंतन का शुभारभ स्वयं बुद्ध से किया था। गौतम ने उपनिषद् के आचार्यों की भाँति गूढतम रहस्यमय भाषा मे वर्णन नही किया, बल्कि उसका सारा-का-सारा उपदेश सरल तथा सुग्राह्य भाषा में था। गौतम का कथन था कि जिस प्रकार समुद्र की गहराई धीरे-धीरे बढती है, भिक्षुओ मे धर्म का प्रसार उसी प्रकार होगा। वे चिंतन कर अर्हत् बन सकते है। बुद्ध ने शिष्यों को सरल भाषा मे ही उपदेश ग्रहण करने का मार्ग प्रशस्त किया था। गौतम बुद्ध के जीवनकाल मे ही शिष्यों ने विचार-विनिमय के द्वारा ज्ञान वृद्धि की और चिंतन किया था। चिंतन करने के पश्चात् विद्यार्थी (भिक्षु) आचार्य बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता था। भिक्षुओ की चिंतन-पद्धत्ति मे सहसा परिणाम निकलना संभव न था। बातें सुन कर स्वीकार करने का विरोध किया गया

सुविचार सहित लोकप्रतिष्ठित सत्य को ग्रहण करना सुगम समझा गया। सभी कल्पनाएँ स्वीकार नहीं की जा सकती। स्वय समझकर विचार एव चिंतन कर बात को ग्रहण करना चाहिए, जो सुख तथा हित के लिए हो।

चीनी यात्री ने लिखा है कि आचार्य मौखिक शिक्षा देते रहे। यद्यपि मध्य युग मे पुस्तके वर्तमान थी, परंतु शिक्षा देने के लिए उपयोगी न थी। अतः, आचार्य से प्राप्त शिक्षा को यथावत् ग्रहण करना सरल कार्य था। आचार्य व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें न करते थे। विद्यार्थी पढे हुए पाठ का मनन एव चिंतन किया करता था। आचार्य का जीवन आदर्श था। भिक्षु भी नम्र थे। प्रश्न पूछने पर हाथ जोड़ लेते थे। अध्ययन के लिए भी अदम्य उत्साह था। गौतम ने उरुवेला में तपस्या करके यह दिखला दिया था कि शरीर को कष्ट देकर ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता। भिक्षुओ के लिए गौतम का आचार आदर्श था। धर्म की शरण लेना पवित्र जीवन का द्योतक था। इस प्रकार आचार-व्यवहार तथा चिंतन द्वारा भिक्षुगण सफल जीवन व्यतीत करते रहे।

●

नौवाँ अध्याय

प्राचीन भारत की जैन गुफाएँ

पश्चिम भारतीय गुफाओ के समकालीन उडीसा प्रदेश की राजधानी भुवनेश्वर के समीप उदयगिरी तथा खंडगिरी को खोद कर कई गुफाएँ तैयार की गईं, जो ईसवी सन् पूर्व मे उत्कीर्ण हुई थी। पश्चिमी भारत की गुफाओं से इनमें अधिक भिन्नता है। यद्यपि पर्वत को खोद कर गुहा-निर्माण की प्रथा समान है, परंतु उड़ीसा की गुफाएँ जैनधर्म से संबध रखती हैं। अतएव, पश्चिम तथा पूर्वी भारत की गुफाओ मे मूलत: वास्तुकला संबंधी विभिन्नता है। पूर्वी भारत की गुफा-निर्माण-प्रथा में चैत्य (पूजा निमित्त स्थान) का अभाव है। संभवत: जैनमत में उस प्रकार की पूजा के विधान का अभाव था। दोनों पर्वतो में सब मिला कर पैंतीस गुहाएँ उत्कीर्ण हुई थी, परंतु उनमे निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं—

खंडगिरि में—अनंत गुफा (गुहा)

उदयगिरि मे—रानी गुफा, गणेश गुफा तथा जयविजय गुहाएँ।

इनके अतिरिक्त उदयगिरि मे हाथी गुफा तथा मंचपुरी गुहा की भी स्थिति दीख पड़ती है। हाथी गुफा प्राकृतिक गुहा होते हुए भी कुछ सुधार कर तैयार की गई और उसी पर उड़ीसा के राजा खारवेल का अभिलेख खुदा है, जिसकी तिथि ईसा पूर्व १५७ वर्ष मानी जाती है। उसी राजा की रानी ने मंचपुरी गुहा का निर्माण कराया था। वास्तविक तिथि के अभाव में उस गुफा में खुदे आकार-प्रकार से तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है। यह दो मंजिल की गुफा है। ऊपरी मंजिल पर रानी का अभिलेख है, जिसकी लिपि ईसवी-पूर्व प्रथम सदी मानी गई है। रानी का जैन-लेख निम्न प्रकार है—

अरहंत पसादाय कलिंगानो समनानं
लेन कारितं—कलिंग चकवतिनो
सिरि खारवेलस अगमहिसि (या) कारितं।

कलिंगराजा खारवेल की रानी (महिषि) ने मुनि महावीर की कृपा से कलिंग के जैन भिक्षुओं (श्रवण) के लिए यह लेन (गुहा) निर्मित कराया।

पूर्वी भारत मे उड़ीसा प्रदेश में जैनमत का प्रसार क्यों कर हुआ, यह एक प्रश्न है। जैनमत के प्रचार के बाद ही उदयगिरि मे गुफाएँ (गुफा) उत्कीर्ण हुई। संभवतः खारबेल के मगध पर आक्रमण करने के पश्चात् जैनमत पूर्वी भारत पहुँचा। हाथी गुंफा लेख में इस बात का वर्णन है कि मगध-राज को पराजित कर जैन तीर्थ कर (महावीर) की प्रतिमा उड़ीसा ले आया। अतएव, ईसा पूर्व दूसरी शती से उडीसा मे जैनमत का प्रसार प्रकट होता है। उसी के पश्चात् भुवनेश्वर के समीप जैन गुफाएँ (श्रमणो के निवास निमित्त) खोदी गई होगी। उस गुफा के अन्य उत्कीर्ण आकार प्रकार या कलात्मक दृष्टातो से इसे भरहुत के बाद माना जा सकता है। उस क्रम में हाथी-गुफा या मंचपुरी के बाद अनत गुफा (गुहा) की गणना होनी है। एक मजिल की गुफा मन्चपुरी से मिलती-जुलती है। उसी के अनुकरण पर अन्य गुफाएँ खोदी गई हैं।

गुहा के द्वार पर मेहराव अलकृत है। पशु-पक्षी तथा गंधर्व की आकृतियाँ दीख पड़ती है। गुफाओ से संबंधित तक्षण कला के आधार पर सभी गुफाएँ जैन धर्म से संबद्ध की गई हैं। उड़ीसा की जैन गुफाएँ पश्चिमी भारत के विहार से भिन्न हैं। पश्चिमी घाट मे खुदे विहार मे पर्वत के अंदर कोठरियाँ है तथा आँगन पर्वत से ढँका है। यानी छत की स्थिति है। किंतु, उड़ीसा में पर्वत को काट कर विहार (कोठरियाँ एवं बरामदे) बनाए गए। उनमें आँगन से आकाश दीख पड़ता है यानी वे पर्वत से ढँके नहीं है। यहाँ के विहार मे एक दो या तीन ही कोठरियाँ हैं। स्यात् श्रमणो की संख्या अधिक न रही होगी। किसी मे कोठरियो के समीप स्तंभयुक्त बरामदा वर्त्तमान है। आश्चर्य तो यह है कि भुवनेश्वर के समीप स्थित होकर भी कला की दृष्टि से गुफाएँ सुंदर नही कही जा सकती। भुवनेश्वर ब्राह्मण मंदिरों का नगर कहा जाता है, जहाँ प्रस्तर कला की चरमसीमा दृष्टिगत होती है।

उड़ीसा के गुफाओं की बास्तुकला की विशेषता यह है कि माथा पर (सामने) स्तंभ सहित बरामदा बना है। उससे लगे कोठरियाँ बनी हैं। रानीगुफा उड़ीसा की सबसे उच्चकोटि की गुहा मानी गई है। समीप मे बाघ गुंफा का आकार मानसिक कल्पना के आधार पर बना होगा। पर्वत की चट्टान से बाहर निकला भाग बाघ की तरह दीख पड़ता है। मुख से अंदर का कमरा छः फीट गहरा तथा आठ फीट चौड़ा है। ऊँचाई केवल साढ़े तीन फीट है।

कोठरियों से लगे छोटे कमरे बने हैं, जिनमे श्रवणो का निवास न होता था। स्यात् छोटे पूजा स्थान हैं। उड़ीसा की गणेश गुहा को हाथी गुहा भी कहते है। संभव है, इसे आरंभिक अवस्था मे तैयार किया गया था। गुहा के द्वार पर दो जानवर द्वारपाल के स्थान पर उत्कीर्ण हैं। यह प्रणाली अधिक दिनो तक स्थायी न रह सकी। गणेश गुहा के सामने पाँच खंभो का बरामदा है। खंडगिरि की गुहाएँ अत्यत साधारण है। पहली सदी से उनका प्रचलन एवं खोदने का कार्य समाप्त हो गया। इस कारण पूर्वी भारत मे ईसवी सन् के पश्चात् गुफाओ के कार्य-कलाप का अंत हो गया। उड़ीसा की जैन गुफाओ के अतिरिक्त पूर्वी भारत मे बिहार प्रदेश के राजगृह पर्वत मे खुदी सोन-भडार नामक गुफाएँ हैं, जो भिक्षुओं के निवास निमित्त बनी थी। सोन-भडार जैन गुफा है, जिसका चौकोर आकार है। यह ३३ फीट लंबी, १७ फीट चौड़ी तथा ११ फीट करीब ऊँची है। इस गुहा मे एक द्वार तथा खिडकी बनी है, जिसमे कलात्मक खुदाई का अभाव है। उसी के समीप दूसरी जैन गुफा है, जो वनावट मे सोन-भडार के सदृश है। इसकी छत नष्ट हो गई है।

यद्यपि उत्तरी भारत मे जैनमत पल्लवित तथा पुष्पित हुआ, किंतु दक्षिण तथा पश्चिम भारत मे यह फलवान हुआ। दक्षिण भारत के शासक राष्ट्रकूट तथा यादव शासन काल के जैन गुफाएँ एलोरा मे खोदी गई थी। यानी नवी तथा दसवी शती मे वास्तविक विहार (जैन श्रमणो का निवास) उत्कीर्ण न हुए थे।

एलोरा की जैन गुफाएँ

एलोरा के जैन गुफा समूह मे इद्रसभा (गुहा सख्या ३२) तथा जगन्नाथ सभा (गुहा सख्या ३३) नामक दो प्रमुख जैन गुफाएँ है। छोटा कैलाश (गुहा सख्या ३०) इन दोनो से पृथक् है और कैलाशनाथ (गुहा सख्या १६) की स्थिति के कारण छोटा कैलाश कहा जाता है। कैलाश मंदिर का छोटा अनुकरण है। गुहा संख्या १६ के चौथाई क्षेत्रफल मे खोदा गया है। यह ३६ फीट चौड़ा है जब कि ब्राह्मण गुफा सख्या १६ (कैलाशनाथ) ५५ फीट चौड़ा है। उपरियुक्त इद्रसभा एव जगन्नाथ सभा एक विशाल चट्टान को काट कर तैयार की गई हैं। इद्रसभा तो उच्चकोटि के कलात्मक उदाहरण उपस्थित करता है, जिसे जैन कलाकारो ने सबसे पहले तैयार किया। छोटे भाग मे आकार-प्रकार का जमघट है। इंद्रसभा के प्रवेशद्वार से अदर बड़ा-सा आँगन मे (५० फीट) मे पहुँचते हैं, जिसके मध्य मे एक विशाल चट्टान मे उत्कीर्ण देवमंदिर खड़ा है। वह द्राविड़ शैली का मदिर है। समीप मे स्थित आकारो के परीक्षण से

इसका समान अनुपात नहीं है। इसमे तीर्थ कर की प्रतिमा है तथा समीपस्थ ताख मे जैन साधुओं की आकृतियाँ खुदी हैं। गर्भगृह के स्तभ अलंकृत हैं। इन गुफाओं की खुदाई तथा प्रतिमाओं के जमघट के कारण वास्तविक उद्देश्य को कलाकार भूल-से गए है।

ये गुफाएँ देवमंदिर हैं. इनमें श्रमणों के निवास निमित्त कोई स्थान नहीं। केंद्र मे देवस्थान तथा पार्श्व मे उत्कीर्ण आकार या आकृतियाँ खुदी हैं। इनके देखने से पता लगता है कि संगतराश पर्वत के ऊपरी भाग से खुदाई की परपरा का अवलंबन करते रहे। यही कारण है कि गुहा के ऊपर का भाग पूर्णतः व्यवस्थित तथा आलकारिक रूप में खुदा है। ऊपरी मंजिल परिष्कृत है, किंतु नीचे के भाग केवल अवरुद्ध कर दिया गया है। बीच के भाग में स्तंभ-युक्त बरामदा है और सभामडप मे बाहर खंभों की स्तंभश्रेणी हैं। उसकी छत कमलपुष्प के रूप से अलकृत है। सामने के कमरे मे महावीर की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इंद्रसभा के देखने से कला की विशेषता, प्रस्तर की सुदर खुदाई तथा तकनीकी दक्षता का परिज्ञान हो जाता है। इसका ऊपरी भाग कला का अद्वितीय नमूना उपस्थित करता है। जगन्नाथ मंदिर दो मजिल का है। इंद्रसभा के सदृश बनावट होने पर भी इसमे योजना के नियमितता का अभाव है। इसमे तीन देवमदिर जमीन की सतह पर अव्यवस्थित रूप मे बने हैं। उनकी बनावट मे सतुलन नहीं है। नीचे का भाग इंद्र-सभा के समान खुदा है, जो क्षेत्रफल मे ५७ फीट लंबा तथा चालीस फीट चौड़ा है। ऊपरी छत को बारह अलंकृत स्तंभो से सँभाला गया है। गलि-यारे की दीवार मे महावीर-प्रतिमा खुदी है। जैन गुफाओ को बड़े सुंदर ढंग से सँवारा गया है, जो एलोरा के बौद्ध या ब्राह्मण गुफाओं में नहीं दीख पडता। जैनमत मे लोकोपकारिता का आचार ही इस बिडंबना का आधार माना जा सकता है। इंद्रसभा के परीक्षण से ज्ञात होता है कि इसी से ब्राह्मण गुफाओं की विशेषता एवं उनमे परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया गया।

बादामी की चालुक्य कला, राष्ट्रकूट का एलिफैंटा तथा एलोरा गुहाएँ एवं पल्लव के महाबलिपुरम् के रथ इंद्रसभा के अनुगामी हैं। एलोरा की जैन गुफाएँ अलकरणयुक्त होते हुए उनमें कल्पना का अभाव है। आध्यात्मिक भावों से भरे है। इन गुफाओं की खुदाई बौद्ध विहार की तरह न हो पायी। जैन गुफाएँ पर्वत की तलहटी (अधोभाग) से उत्कीर्ण कर ऊपर की ओर न

बनी थीं। यों कहा जा सकता है कि विहार की खुदाई से विपरीत दिशा में काम कर कलाकारों ने जैन तथा बौद्ध गुफाओं का एलोरा में निर्माण किया। बौद्ध गुफाओ में संगतराश निचले भाग से ऊपर की ओर बढते गए और संपूर्ण रूप से सुंदर गुहा (मंदिर) को तैयार किया। एलोरा की जैन तथा ब्राह्मण गुफाएँ (देवस्थान) आठवी से दसवी सदी तक तैयार की गई थी। जैन गुफाएँ नौवी सदी के अत या दसवी शताब्दी के प्रारंभ मे उत्कीर्ण हुई होगी। ब्राउन का मत है कि जैन गुफाओं के बाद ही भारत मे शिलाखंड को खोद कर गुहा-निर्माण का कार्य समाप्त हो गया। पर्वत के भीतर खोदकर अधेरे स्थान मे भिक्षुओ के निवास के लिए गुहा की आवश्यकता न रही। एलोरा की ब्राह्मण तथा जैन गुफाओ मे प्रकाशमय स्थान मे देवस्थान को स्थिर किया गया। पूर्ववत् गुहा-परंपरा का अत हो गया। धार्मिक विचाधारा मे भी परिवर्तन आया, जिस कारण वास्तविक रुप मे गुहा का प्रयोजन न रहा।

●

दसवाँ अध्याय

ब्राह्मण धर्म से संबद्ध गुफाएँ

महायान मत के उदय होने पर बौद्ध गुफाओं में जो परिवर्तन हुआ, उसका वर्णन किया गया है। कुषाणकाल के पश्चात् गुप्त सम्राटो ने भी वास्तुकला को प्रोत्साहित किया। सहिष्णु होने के कारण बौद्ध कला की उन्नति होती रही। बौद्ध गुफाओ (विहारों) के अनुकरण पर समतल भूमि पर गुप्त युग मे विहार बनाए गए। पर्वत खोद कर चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भी भिलसा (मालवा मध्य प्रदेश) के समीप उदयगिरि पर्वत के अधोभाग में दो गुफाएँ (देवस्थान) खुदवायी, जिनमे हिंदू देवताओ की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। प्राय: गुप्त युग से दसवी सदी तक जितनी ब्राह्मण धर्म सबंधी-गुफाएँ तैयार की गई थी, सभी मे देवता की मूर्ति स्थापित है। इसका कारण यह था कि महायान मत में विहार को चैत्य से मिला दिया गया और विहार के केंद्रीय कमरे में बुद्ध-प्रतिमा स्थापित की गई। यानी दोनो (चैत्य तथा विहार) का पृथक् अस्तित्व न रहा। इसी भावना का अनुकरण कर हिंदू शासकों ने जितनी गुफाएँ खुदवायी, सब में देवप्रतिमा स्थापित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण मतानुयायी राजाओ ने साधुओं के निवास के लिए स्थान (विहार) की व्यवस्था न की; क्योंकि बौद्ध मत के सदृश ब्राह्मण यति एक स्थान पर निवास नही करता था। ब्राह्मण मत मे विहार के लिए कोई योजना न थी। प्राचीन विहार हिंदुओं के लिए महत्त्वपूर्ण न थे। केवल देवस्थान का निर्माण आवश्यक कार्य हो गया। इसी कारण गुप्त, चालुक्य, राष्ट्रकूट एवं पल्लव आदि नरेशों ने गुफा-खुदवा कर देवता का निवास (देवस्थान) घोषित किया। दक्षिण मे जिस समय अजंता की बौद्ध गुफाए बन रही थी, उस काल मे तथा कालांतर में (दसवी सदी तक) ब्राह्मण गुफाएँ खोदी गई। एलोरा का कैलाशनाथ, बादामी की गुफाएँ तथा एलफैंटा उसके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

गुप्तकाल में ब्राह्मण गुफा-निर्माण का आरंभ माना जा सकता है। उदयगिरि (विदिसा, मध्यप्रदेश) गुफाएँ पूर्णत: उत्कीर्ण न थी किन्तु

खुदाई तथा प्रस्तर जोड़ कर उनका निर्माण हुआ था। पर्वत खोद कर उदयगिरि गुफा के सामने खंडित बरामदा तथा अंदर चौकोर कोठरियां बनी है। उसकी दीवाल पर चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का एक लेख (तिथि गु० स० ८२) चौथी शती का है। इसे अयथार्थ गुहा (False Cave) कह सकते है। उदयगिरि में कई मिथ्या गुहाएँ दीख पडती है। पूर्व गुफाओ से बनावट की पृथक् शैली प्रकट होती है। बाहर की ओर चौकोर स्तंभयुक्त बरामदा तथा भीतर कोठरी। वराह तथा शेषशायी विष्णु की प्रतिमाएँ गुफाओ में उत्कीर्ण हैं। कहने का साराश यह है कि गुप्तकाल मे देवस्थान-निर्माण की योजना चल पडी, जो कालातर मे विकसित होती गई। दक्षिण भारत मे धार्मिक भावना की जागृति होने के कारण पाँचवी सदी से देवस्थान (मंदिर) समतल भूमि पर बनाए गए, जिनका वर्णन तीसरे खंड मे किया जाएगा। दक्षिण तथा पश्चिम भारत में छठी सदी से प्रस्तर खोद कर नए प्रकार की वास्तुकला का शुभारम हुआ, जिसको राष्ट्रकूट नरेशो ने प्रोत्साहित किया। एलोरा तथा एलिफैंटा की ब्राह्मण गुफाएँ नए आकार-प्रकार को लेकर सामने आईं। उनकी योजना सर्वथा नवीन थी। यद्यपि मूलत बौद्ध कल्पना से इनका निर्माण सर्वथा पृथक् नही हैं, किंतु बनावट मे अतर है तथा पूजा निमित्त उनमे परिवर्तन लाया गया था। एलोरा पर्वत के पश्चिमी माथा को काट कर आधी मील तक ब्राह्मण गुफाएँ बनाई गईं। गुहा सख्या १५ से २९ तक सभी ब्राह्मण गुहाएँ है।

इस क्रम मे निम्न उल्लेखनीय है—

संख्या १४—रावण की खाई

सख्या १६—कैलाशनाथ (मदिर)

सख्या २१—रामेश्वर गुहा

संख्या २९—डुमर लेण (गुहा)
(सीता नहान)

इन ब्राह्मण गुफाओं मे आरभिक अवस्था मे बौद्ध विहार का अनुकरण मात्र है। बाहरी भाग मे स्तंभयुक्त बरामदा तथा भीतर कोठरी है। उदाहरण के लिए दस अवतार गुफा। इसके पश्चात् गुहा-निर्माण में परिवर्तन लाया गया और कोठरी की स्थिति पर्वतीय भाग से पृथक् हो गई। गुहा संख्या १४ तथा २१ (रामेश्वर) मे कोठरी के चारो ओर मार्ग बना है, जिससे कोठरी पृथक अस्तित्व रखती है। तीसरे प्रकार में देवस्थान अन्य उत्कीर्ण

भाग से गुहा मध्य में अलग खडा है। उसमें प्रवेश के लिए कई द्वार बने हैं (गुहा संख्या २९)। एलफैंटा भी इसी रूप में बना है। चौथी खुदाई की शैली सर्वथा भिन्न है। इसमें ब्राह्मण कलाकारों की कुशलता की चरम सीमा दीख पड़ती है। बौद्ध विहारो या चैत्यों में पर्वत के अधोभाग से खोद कर गुहा का निर्माण होता था। खोदते समय उस गुहा की पूरी योजना सामने रहती थी। यानी अधोभाग से ऊपर की ओर जाता तथा सारा आकार पर्वत से छिपा रहता था। माथे पर चैत्य वातायन को देख कर चैत्य का अनुमान लगाया जाता था। विहार के लिए द्वारमार्ग थे। एलोरा (गुहा संख्या १२) की तीन तल गुहा मे स्तंभयुक्त बरामदे दीख पडते हैं। एलोरा की गुहा संख्या १६ कैलाशनाथ मदिर के नाम से विख्यात है। इसमें मदिर के चबूतरे पर रावण कैलाश पर्वत को सिर पर धारण किए उत्कीर्ण है। कैलाश पर शिव-पार्वती बैठे हैं। अतएव, कैलाश के कारण गुहा को कैलाशनाथ का नाम दिया गया। इसकी वास्तुकला सर्वथा भिन्न तथा अद्वितीय है। कलाकारों के मानसपटल पर कैलाशनाथ का पूरा चित्र खिंचा था। उसी को याद कर पर्वत के ऊपरी भाग से खोदते सगतराश अधोभाग पर पहुँचे। यानी संपूर्ण मदिर देखा जा सकता है। पर्वत मे कोई भाग छिपा नही है। इस योजना को पूरा करना साधारण काम न था। पर्वत को इस प्रकार खोदा गया कि केंद्रीय भाग में शिव-मदिर है, जो ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। चबूतरे को चारो तरफ से अलकृत किया गया है। हाथियों तथा शेरों की पूरी आकृतियाँ चबूतरे की चट्टान पर खदी हैं। चारो तरफ बरामदे हैं, जिनमें अनेक देवप्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई है। मध्य मे खड़े होकर पार्श्व की कई मजिल की कोठरियाँ देखते है। सप्तमातृका की आकृतियाँ सुंदर ढग से बनी है। केंद्रस्थ मदिर के चारों तरफ बरामदे है, जिनमे शिव तथा विष्णु के अवतार की मूर्तियाँ खुदी है। पर्वत के समीप पहुँचते ही एक द्वारमार्ग से अंदर प्रवेश करते है। प्रवेशद्वार के पार्श्व दोनों तरफ परदा सदृश पर्वत की दीवाल खडी है जिस पर विष्णु के अवतारो की मूर्त्तियाँ खोदी गई है। द्वार से प्रवेश कर केंद्रस्थ मदिर के चारो तरफ रास्ता (प्रदक्षिणा पथ) बना है जो अन्य भवनों से कैलाशनाथ को पृथक् करता है। बाहर तथा भीतर की खुदाई (प्रतिमाओं का आकार) देखते बनता है। मदिर के बाहरी ओर प्रस्तर की दीवाल है, जो कैलाश के लिए परदा का काम करती है। उस पर दिग्पाल के आकार खुदे हैं, जो कैलाश की रक्षा करते है। त्रिपुरान्तक तथा लिंगोद्भव शिव की प्रतिमाए देवतागण मे प्रसिद्ध है। उसी की रक्षा के लिए दिक्पाल दीख पड़ते है।

परदे के बारह दिक्पाओं में अग्नि, इंद्राणी, यम, वराह या त्रिविक्रम की आकृतियां खुदी है। द्वार के समीप में गजलक्ष्मी तथा दुर्गा की प्रतिमाएँ कैलाश के गौरव को बढ़ा रही हैं।

मध्य स्थान में निर्मित मंदिर के पार्श्व में भवन दो मंजिल का है। जैसे गुहा संख्या १२ तीन तल है। पहली मंजिल मे सीढियो से प्रवेश कर एक बड़े स्थान पर पहुँचते हैं, जो ९७ फीट चौडा तथा ५० फीट गहरा है। चौदह स्तंभ छत को सँभाले है। इसे लंकेश्वर मंदिर कहते है। बाईं ओर छोटी सीढी का मार्ग है, जिसके सहारे चतुर्भुज आकार के विशाल कमरे मे पहुँचते हैं, जिसमे छह पक्तियों मे प्रत्येक मे नौ स्तंभ खड़े हैं। वह स्थान १०५ × ९५ फीट क्षेत्रफल मे है। ऊपरी छत्त को सहारा देने के लिए चौरासी खंभे हैं। इस मदिर मे शैव, वैष्णव तथा शाक्त मत से संबधित प्रतिमाए बनी हैं। इनमें गणेश, नरसिंह, त्रिमूर्ति, सूर्य, वराह आदि देवता की मूर्तियों का उल्लेख किया जा सकता है। दाहिनी ओर दीवाल में शिव की रावणनुग्रह मूर्ति बनी हैं। लकेश्वर मंदिर की दीवाल एव स्तभ पर सुंदर रीति से देवताओ की प्रतिमाए खुदी हैं।

मध्यभाग का मुख्य मदिर (कैलाशनाथ) रंगमहल के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस मंदिर का प्रमुख स्थान ५७ फीट × ५५ फीट क्षेत्रफल में है। सामने का छोटा आकार नंदी के लिए बना है। इस केंद्रस्थ मंदिर के चारों तरफ बरामदे की दीवाल देव प्रतिमाओ (शैव तथा वैष्णव) से भरी पड़ी हैं। भगवान् शिव के विभिन्न कार्यो का प्रस्तर में प्रदर्शन किया गया है (भैरव या महायोगी) कैलाशनाथ मदिर की मबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस गुहा में भित्तिचित्र बने है, जिनमे युद्ध का दृश्य है। ऐसा भित्तिचित्र अन्य स्थानो में कम मिलता है। कैलाश की विशेषताओं का अनुशीलन किया जाए, तो इसे प्रस्तर मे महाकाव्य कह सकते हैं। इससे उच्च कोटि का गुहा-निर्माण नही हो सकता है। सभव है, दूसरे कलाविद् उसकी कल्पना कर सकें, किंतु उसे कुशलतापूर्वक उसी दक्षता के साथ उत्कीर्ण कर सकेंगे, यह सदेहात्मक है। बरोदा ताम्रपत्र लेख मे कैलाशनाथ मदिर के वैभव, कला तथा आश्चर्यमय खुदाई की प्रशसा की गई है। इसकी सर्वोत्कृष्ट आकार दैवी-चिंतना का कार्य हो सकता है। मानव-कल्पना के बाहर की कृति एलोरा के कैलाशनाथ मे दीख पड़ती है। मनुष्य के हाथो इसका निर्माण संभव न रहा होगा। सह्याद्रि की पर्वतशिला को ऊपरी भाग मे मंदिर की पूरी योजना

तैयार कर खोदा गया था। मध्य भाग मे मंदिर चारों तरफ खुला मार्ग (प्रदक्षिणापथ) पार्श्व में गलियारे, मूर्त्तियों से भरे हुए द्वारमंडप, आँगन, ध्वजस्तंभ, चबूतरे से संबद्ध हाथियों क आकृतियाँ, अन्य देशमूर्ति तथा मनुष्यों के आकार आदि का उत्खनन साधारण मस्तिष्क का काम नहीं है। बुद्धि के साथ प्रयत्नशीलता एव लगन आदि गुण कलाकार के लिए नितांत आवश्यक था, जो उसे पूर्ण कर सके। संगतराश तथा मूर्तिकार के सतत् लगन एवं धीरता के कारण हजारो रूप, आकार (दैवी, मानुषी या अन्य प्राणियों का) खोदे जा सके। कैलाश राष्ट्रकूट वश के वैभव का द्योतक है। धार्मिक भावना के साथ धर्मोन्माद या हठधर्म के कारण ऐसा अद्वितीय निर्माण हो सका। कैलाश के निर्माताओं को छोड कर ऐसी दैवी विचार तथा उच्चकोटि की कलात्मक कृति की कल्पना का स्वप्न भी कोई न देख सका होगा।

इस कारण कैलाश वास्तु-जगत का चमत्कारिक कृति है। ब्राउन ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि पर्वत के ऊपरी भाग से लंबवत् चट्टान काट कर पहाड के अधोभाग पर पहुँचे तथा मध्य के दो सौ फीट लबा सौ फीट चौड़ा तथा सौ फीट ऊँची चट्टान को दूसरे भागों से पृथक् किया गया। शनैः-शनैः उसी मे विभिन्न आकार रूप तथा आकृतियाँ खोद कर कार्य सुसंपन्न हुआ।

देवस्थान के चारों तरफ पथ खोदने का कार्य गुहा १४ (रावण की खाई) तथा २१ (रामेश्वर गुहा) में दीख पडता है। रावण की खाई की साधारण योजना थी, जिसके अंदर चौकोर भाग है, जो ५२ फीट चौड़ा तथा ८७ फीट गहरा है। दो तिहाई भाग में स्तंभयुक्त कमरा है तथा शेष भाग मे देवस्थान है। पार्श्व की वीथी से देवमंदिर के प्रदक्षिणापथ तक पहुँच जाते है। बड़े स्थान (कमरा) के किनारे विशाल चट्टान को काट कर देवस्थान बना है, जो घनाकार है। इस देवमंदिर के द्वार के समीप कई आकृतियाँ खुदी हैं, जिनमें भवानी-प्रतिमा प्रमुख है। इसी दुर्गा को मंदिर समर्पित किया गया है। उस स्तंभयुक्त सभाभवन के दक्षिण में शैव तथा दाईं ओर (उत्तर दिशा में) वैष्णव-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।

एलोरा की गुहा (संख्या २१) को रामेश्वर गुफा कहा गया है, जिसके मध्य भाग मे देवस्थान है। उसी के चारो तरफ प्रदक्षिणा पथ दीख पड़ता है। खुदाई तथा तक्षण कला की बहुलता से यह अधिक अलंकृत है। मध्य भाग मे चबूतरे पर नंदी की आकृति है जो (चबूतरा) अत्यधिक खोदा गया है। उसी के ठीक सामने देवमंदिर का अग्रभाग है और छोटी दीवाल से पृथक् की गई है। उस दीवाल के मध्य मे दो स्तभ हैं, जिसे द्वार का भाग कह सकते है।

उसके बाद सभामंडप है, जो २५ फीट गहरा तथा ७० फीट चौड़ा है। सभी स्तंभ तकियानुमा आकार रखते हैं। उस सभामंडप के तीन ओर भिक्षुओं के लिए कोठरियाँ (Cells) बनी हैं। कोठरियाँ तथा सभामंडप का भाग पूर्ववर्ती गुहा के सदृश है। उनतीसवी गुहा (डुमर लेन) की बनावट अन्य गुफाओं से भिन्न है। इनमे देवस्थान का पृथक् अस्तित्व होते हुए, कमरों से चारों तरफ घिरा है।

इस गुहा की बनावट अन्य गुफाओ मे भिन्न है। इसमें तीन दिशा से प्रवेशद्वार है। (जैसा एलिफैंटा मे है) इसका कारण यह था कि पर्वतों की समाकृति ऐसी थी कि उसको ध्यान में रख कर नई योजना तथा नया मार्ग निकालना आवश्यक था। ऐसी गुफाओ मे विस्तृत क्षेत्र-फल है, उनके अंग भी विस्तीर्ण है। संभवत: इन गुफाओ में देवयात्रा के समय जनसमूह के स्थान का प्रबंध आवश्यक था, इसीलिए गुफाएँ सुविस्तृत खोदी गई थीं। प्रकाश के लिए भी खुदाई की योजना बनानी थी। यह मध्य भाग का एक बडा सभा-मंडप था, जिसमें वीथी स्तंभों के मध्य मे गुजरती थी। एलोरा मे डुमरलेन विस्तृत तथा प्रमुख देवमदिर था। पर्वत की दशा के ऊपर इसकी खुदाई निर्भर है। इसके बीचोबीच विशाल देवस्थान दीख पडता है। चारों दरवाजे पर द्वारपाल खडे है। इस देवस्थान तक पहुँचने के लिए सभामडप (चौकोर) भाग जो १५० फीट लंबा तथा ५० फीट चौडा है) में मध्य वीथी तथा पार्श्व वीथी के रूप मे स्थान पृथक् हो जाते है, क्योकि उस स्थान के स्तंभ ऐसा विभाजन करते हैं। तकियानुमा स्तंभ पद्रह फीट ऊँचे है, जिनका आधार पाँच फीट मोटा है। इस प्रकार उनतीसवी गुहा एलोरा की प्रमुख गुफाओं मे एक मानी जाती है।

डुमर लेन (गुहा) के सदृश एलिफैंटा तथा जोगेश्वरी गुहाएँ (बंबई के समीप) तैयार की गई थी। डुमर लेन के अनुकरण पर ही ये गुफाएँ खुदी हैं। बंबई के समीप एलिफैंटा गुहा उसके समान रूप रखती है। आठवी सदी के मध्य मे इस टापू पर गुफाएँ खोदी गई थी। सोलहवी सदी में पुर्तगाली लोगो ने इस टापू पर स्थित गुफाओं को नष्ट कर दिया। चूँकि उन्हें एक हाथी प्रस्तर का बना दीख पड़ा था, अतएव उस टापू का नाम एलिफैंटा रखा गया। एलोरा के डुमर लेन से छोटे पैमाने पर दोनों गुफाएँ निर्मित हैं। एलिफैंटा गुहा १३० फीट × १२९ फीट क्षेत्रफल मे विस्तृत है। पहाड़ की स्थिति के कारण इसे कुछ विभिन्न आकार में खोदा गया। इसमें देव-

मंदिर केंद्रस्थ स्थान पर दृष्टिगत होता है। एलिफैंटा देवस्थान मे प्रवेश करने के तीन मार्ग हैं। प्रमुख प्रवेश मार्ग से जाने पर पार्श्ववीथी से होकर मंदिर में पहुँचते हैं। मध्यवीथी में तकियानुमा शीर्ष युक्त स्तंभ की पंक्तियाँ हैं, जिनके एक छोर पर शिव मंदिर है। इसमे बडे दरवाजे है, जिनके द्वारपाल विशालकाय है। पार्श्ववीथी के चारों तरफ विस्तृत दिलहे है। इन दिलहों में शिव की लीला का (प्रस्तर खोद कर) प्रदर्शन किया गया है। दक्षिण की दीवाल के दिलहे पर अर्द्धनारीश्वर तथा शिव-पार्वती के विवाह का दृश्य उत्कीर्ण है। प्रस्तर की खुदाई में उच्चकोटि की कृतियाँ हैं। उस भाग के मध्य स्थान पर त्रिमूर्ति महेश का विशाल सिरोभाग खुदा है। गंभीरतापूर्वक देखने से वह शिव के तीन स्वरूप को बतलाता है—

१ अघोर शिव (भैरव) जिसकी मूँछे हैं तथा आँखे भयावह दीख पड़ती है।

२. पार्वती के सिरे का भाग। कानों मे कर्णफूल तथा कोमल चेहरा है।

३ शिव का शात रूप, जिसकी जटा स्पष्ट रूप से दिखलायी गई है। कुछ विद्वान् इसे त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश कहते रहे; किंतु गहराई से विचार करने पर यह शिव के तीन स्वरूप का द्योतक है। इसे महेश-प्रतिमा का नाम दिया गया है। यह शिव की उस सर्वशक्ति की अभिव्यक्ति करता है, जिसके द्वारा वह उत्पत्ति, रक्षा तथा सहार का कार्य करते है।

इस प्रकार की खुदाई से कलाकारो की कुशलता का परिचय मिलता है। खुदाई के परीक्षण से यह नही कहा जा सकता कि प्रस्तर माध्यम के कारण कलाकार ने सीमित रूप से कार्य किया था। परतु, सोनार की तरह प्रस्तररूपी धातु को गला कर अपने अनुकूल साँचे मे ढाला। उनमे कलाकार की आत्मा छिपी है। मुख्य भाग से जाकर पार्श्ववीथी मे पहुँचते हैं। इसी के बाईं तथा दाहिनी ओर शिव की अन्य दैवी लीलाएँ प्रदर्शित हैं। अंधकासुर बध, शिव-मूर्ति, गगाधर-मूर्ति और कल्याण सुदर मूर्ति आदि स्वरूपो को पार्श्ववीथी के विशाल प्रस्तर के दिलहों पर खोदा गया है। बंबई के सालसेट टापू मे जोगेश्वरी गुहा (देवस्थान) स्वस्तिकार खुदाई का अंत दीख पड़ता है। जोगेश्वरी की निर्माण-योजना तर्करहित है तथा विश्वासपूर्वक कार्य नही किया गया है। इस गुहा के भीतर ९५ वर्गफीट का ढका आँगन है, जिसके चारों तरफ स्तंभो के समूह सहित पार्श्ववीथी है।

मध्य कोठरी मे शिवलिंग स्थापित है। इसके स्तंभ एलोरा तकियानुमा शीर्षस्तंभ से मिलते-जुलते है। गुहा के प्रवेशमार्ग पर चार स्तंभो का

बरामदा है, जिससे अंदर जाते हैं। आँगन के तीन प्रवेश मार्ग से दूसरे बरामदे में पहुँचते हैं, जिसमें स्तंभश्रेणियाँ दीख पड़ती हैं। सभी द्वार, बरामदे और आँगन एक सीध में ही है। इस कारण जोगेश्वरी गुहा का विस्तार २५० फीट हो गया है। ऐसी लंबी तथा गहरी पर्वत की कटान अन्यत्र नहीं है। पश्चिमी भारत मे पर्वतशिला काट कर जितने देवस्थान बनाए गए, इनमे जोगेश्वरी विस्तृत गुहा कही जा सकती है। एलोरा तथा एलिफैंटा एवं जोगेश्वरी की खुदाई चालुक्यो के पश्चात् राष्ट्रकूटो ने संपन्न किया था। दसवीं शताब्दी तक गुहा-खनन का कार्य पश्चिमी भारत सह्याद्रि की शृंखला मे होता रहा।

●

तीसरा खंड
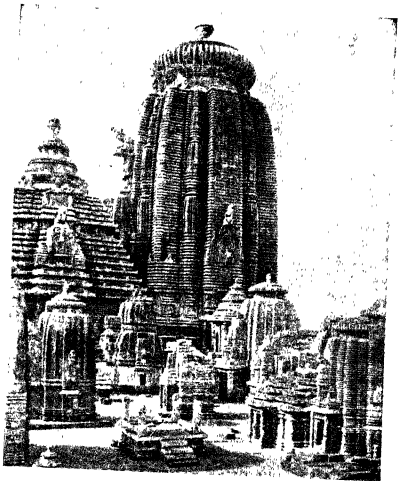
मंदिर

विषय-प्रवेश

भारतवर्ष की हजारो वर्ष की सस्कृति मे धर्म प्रमुख स्थान रखता है। धार्मिक विचार मानव-जीवन के कर्मो का संचालन करता है तथा मनुष्य का जीवन दर्शन उसी पर आधारित है। पुरुषार्थ मे मोक्ष की प्राप्ति सर्वोपरि समझ सारे कार्य उसी की उपलब्धि के निमित्त किए जाते हैं। वैदिक परपरा मे पुनर्जन्म का सिद्धान सभी को मान्य था। बृहदारण्यक उपनिषद् मे वर्णन आता है कि यति तपस्या का जीवन व्यतीत कर ब्रह्म मे लीन होने का प्रयत्न करते है, ताकि ससार के बधनो से मुक्त हो जाएँ। जिस मनुष्य को वेदात का परम ज्ञान प्राप्त नहीं होता, वह ससार मे पुन. जन्म लेता है। उपनिषदो मे विशेष-तया छादोग्य तथा बृहदारण्यक मे कर्म के सिद्धांत पर बल दिया गया, ताकि व्यक्ति को जीवन के लक्ष्य की ओर बढने का अवसर एवं प्रोत्साहन मिलता रहे।

वैदिक युग मे प्रकृति-देवो की पूजा का विधान था। दार्शनिक विचारो के साथ रूद्र तथा विष्णु-पूजा का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद मे रूद्र का वर्णन आता है। वह प्रकृति के देवता बनस्पति तथा पशु-चारण से संबधित थे। दूसरे देवता—विष्णु—यज्ञ के देवता माने जाते थे। वैदिक युग मे यज्ञ सस्था का विकास होता गया और विष्णु की एकता यज्ञ से स्थिर की गई।

यज्ञो वै विष्णु:

समस्त देवताओं में विष्णु श्रेष्ठतम समझे गए।

विष्णु परमः तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता:

(ऐतरेय ब्राह्मण १।१)

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पुराण के विष्णु की कल्पना वेदों से ली गई। वामन या वराह का उल्लेख भी ब्राह्मण ग्रंथो मे मिलता है। पांचरात्र ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि भागवत धर्म वेद से ग्रहण किया गया।

यह कहना उचित होगा कि कालातर में (ईसवी सन् के आरंभ से) देवताओ की पूजा जिस रूप में की जाने लगी. वह प्रकार वैदिक साहित्य मे नही मिलता। परतु, ज्ञानप्राप्ति के लिए मनन तथा देवता का चिंतन आवश्यक था। वैदिक दर्शन में शक्ति के लिए स्थान न होने पर भी देवपूजन को स्थान मिल चुका था। यही कारण है 'देवालय' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में आता है। यद्यपि प्राचीन भारतीय सस्कृति मे (बौद्ध युग से पूर्व) सामूहिक धार्मिक कृत्य का अभाव-सा था, किंतु व्यक्तिगत रूप मे देवपूजन की प्रथा वर्तमान थी। समाज मे देवता के रूप या उसके आलय (स्थान) की स्थिति अज्ञात न थी। वैदिक सस्कृति मे देवपूजा के लिए पुरोहित तथा क्षत्रियों के लिए धार्मिक स्थानो (देवमडप) की नितांत आवश्यकता थी। अतएव, वैदिक-कालीन देवालय को मदिर (पूजास्थान) कहना उपयुक्त होगा। पश्चिमी विद्वानो का अनुमान मात्र है कि वेदो मे देवालय (मंदिर) नामक संस्था का अभाव दीख पडता है, परतु उनके कथन मे कोई तथ्य नही है। मंदिरो का निर्माण देवालय के रूप मे वैदिक युग के पश्चात् अवश्यमेव होने लगा। महाभारत मे वास्तुकला का विशेष परिचय मिलता है। इन भवनो मे शिल्प-कला उच्च कोटि की थी।

> यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहित: सर्वशिल्पिभि·
> अतीव रम्य: सोऽप्यत्र प्रहसन्निव तिष्ठति
>
> (सभापर्व १८)

इष्टदेवो के स्थान निश्चित थे, जिन्हें देवस्थान, देवायतन, देवालय या मंदिर की संज्ञा दी जा सकती है। सभी का अर्थ है—रहने का स्थान। यह कहना उचित न होगा कि वैदिक परंपरा में मंदिर के लिए स्थान न था। यद्यपि पुरातत्व की खुदाई से उतने प्राचीन भग्नावशेष नही मिले हैं, जो वैदिक कालीन मंदिर का चित्र सामने उपस्थित करते. परंतु साहित्यिक प्रमाण अविश्वसनीय नही हो सकते।

प्राचीन भारत मे ईसापूर्व चौथी सदी से मंदिर-निर्माण का क्रम आरभ होकर मुसलमान काल से पहले अवरुद्ध हो गया। परंतु, मंदिरो की वास्तुकला पर कोई बाहरी प्रभाव न पड सका। सामाजिक विषयो के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि भारतीय जीवन में इस्लाम आदि का कुछ प्रभाव अवश्य हुआ। कला के क्षेत्र मे साहित्य तथा चित्रशैली पर बाहरी प्रभाव स्पष्ट है।

मुगलों के प्रभाव से ही मध्ययुग मे 'मुगल-कलम' के नाम से चित्रकला विख्यात हुई थी। आश्चर्य यह है कि वास्तुकला विशेष कर मंदिरो की स्थापत्यकला पर कुछ भी प्रभाव न पड़ सका। मंदिरो का निर्माण सर्वदा भारतीय परंपरा के अनुसार होता रहा। ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण उत्तर तथा दक्षिण भारत की स्थापत्यकला (विशेष कर मंदिर) विभिन्न रूप से सामने आती है, किंतु सांस्कृतिक विचार से उनमे विभेद नही है। इस मार्ग मे उच्च कोटि की बनावट, कुशलता तथा कौशल के पीछे भारतीय मनः-शक्ति काम कर रही थी। हिंदू विचारधारा मे धर्म के संमुख मानव-जीवन अप्रधान समझा गया है और उसमे ही मनुष्य के सारे प्रयास का आदर्श एवं प्रेरणा को ढूंढ़ सकते है।

राजपुताना मे चितौरगढ़ के समीप सकर्ष (बलदेव, तथा वासुदेव (कृष्ण) की प्रतिष्ठा का वर्णन मिलता है। निम्न अभिलेख से प्रकट होता है कि भगवान् शालिग्राम की पूजा के लिए शिला प्रकार (घेरा) तैयार किया गया, जिसे लेख मे नारायणवाटिका कहा गया है—

भगवद्भ्यां संकर्षण वासुदेवाभ्यां अनहिताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजा शिला प्रकारो नारायणवाटिका (घोसुंडी लेख—ए० ई० भा० १६)

मध्य भारत मे विदिसा के समीप एक विदेशी यवनदूत हेलियोडोरस द्वारा स्थापित स्तंभ प्रकाश मे आया है, जिस पर गरुड़ध्वज की स्थापना का उल्लेख है। उस स्थान पर देवमंदिर (विष्णु मंदिर) के भग्नावशेष दीख पड़ते हैं। इस कारण यह अनुमान सही है कि हेलियोडोरस ने विष्णु मदिर के संमुख गरुड (पक्षी) युक्त ध्वज की स्थापना की थी।

स्तभ-लेख निम्न प्रकार है—

देवदेवस वासुदेवसं गरुड़ध्वजे अयं कारिते इअ हेलियोदोरेण भागवतेन दिअस पुत्रेण तख्खसिलाकेन योनदूतेन आगतेन महाराजस अतिलिकितस उपता **सकासे रञो** (बेसनगर गरुड़स्तंभ-लेख, आ० स० रि० १९०९)

अतएव, ईसापूर्व सदियो में मंदिर-निर्माण के ऐसे प्रमाण तिरस्कृत नहीं किए जा सकते। साँची में भी ऐसे वास्तुकला के अवशेष मिले है, जो ईसवीपूर्व भारत में मंदिर-निर्माण के कथन की संपुष्टि करते है।

प्राचीनकाल में चौथी शती से गुप्तसम्राटो का शासन आरंभ होता है। उस युग में वैष्णवधर्म राजधर्म का स्थान ले चुका था। अतएव, भक्तिभावना से

प्रेरित होकर राजा तथा प्रजा ने देवता के स्थान की प्रतिष्ठा की। उसी को मंदिर कहेंगे। बौद्धकाल मे विहारों के केंद्रीय स्थान मे बुद्ध-प्रतिमा स्थापित होने लगी थी, जो गर्भगृह कहा जाता था। एलौरा मे ऐसी गुफाएँ वर्त्तमान हैं, जहाँ बुद्ध-प्रतिमा स्थापित है। पिछले पृष्ठो मे यह कहा गया है कि ब्राह्मण मत में भी ऐसी गुफाएँ तैयार हुई जिनमे हिंदू देवता की मूर्त्ति स्थापित है। एलोरा का कैलाशनाथ मदिर तथा एलिफैंटा के शिव मदिर का उल्लेख किया गया है। इससे पूर्व ही गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय ने उदयगिरि (विदिसा के समीप) में गुहा खोद कर विष्णु के बराह अवतार तथा शेषशायी विष्णु-प्रतिमा को स्थान दिया। उसी स्थान पर छोटे बरामदे सहित एक चौकोर कमरा भी दृष्टिगत हुआ हैं, जिसे प्राचीनतम मंदिर की बनावट मानते हैं। इस कारण गुहा के मूल आकार को ध्यान मे रखकर यह कहना उचित होगा कि ब्राह्मण मत मे बौद्ध देवस्थान का अनुकरण किया गया और कालातर मे परिवर्तन के साथ नए आकार प्रस्तुत किए गए।

सर्वप्रथम ब्रह्मा, विष्णु एव शिव को मदिरो मे स्थान दिया गया। परतु, विष्णु तथा शिव के समुख ब्रह्मा का स्थान हीन हो गया। पौराणिक युग मे ऐसा विश्वास पैदा हो गया कि ब्रह्मा की स्तुति के कारण ही दैत्यो का बल बढ़ता गया, जिन्होने देवताओ से प्रतिस्पर्द्धा की तथा कष्ट दिया। अतएव, उसी भावना के फलस्वरूप ब्रह्मा के प्रति भक्ति का अवसान होने लगा। मदिरों का विकास भक्तिभावना से सबद्ध था। अतएव, सगुण भक्ति की प्रेरणा से इष्ट देवों के लिए देवालय (मंदिर) की स्थापना आवश्यक कार्य हो गया। मदिर मे भक्तजन भगवान को अपनी पुकार सुनाते है। यदि यह कहा जाए कि ब्राह्मण मत मे सामूहिक पूजा का अनुकरण बौद्धो के सघ से हुआ, तो उसमें आपत्ति नही की जा सकती। भारतीय विचारधारा मे मनन-चिंतन एकाग्रचित्त से किया जाता है, जिसके लिए शात वातावरण तथा एकात स्थान चाहिए। व्यक्तिगत रूप में भी इष्टदव की पूजा करते हैं। बौद्ध संघ में चैत्य या विहार में एकाकी या सामूहिक पूजा की योजना थी। किंतु, उपदेश सामूहिक रूप से किया जाता था। सभवतः उसी प्रणाली का अनुकरण ब्राह्मण मत मे हुआ, जिसे मध्य युग में इस्लाम तथा ईसाई मतानुयायियो ने अपनी परंपरा से सबद्ध कर दिया। जुम्मे का नमाज तथा रविवार के दिन चर्च का कार्य उसी पद्धति का अनुकरण कहा जा सकता है। मंदिरो में सामूहिक पूजा के लिए विशेष स्थान है। वही भक्तजन कीर्तन कर इष्टदेव को प्रसन्न करने

का प्रयास करते हैं। मंदिर देवता का स्थान है। भक्तों की पुकार सुनने तथा नैवेद्य स्वीकार करने के लिए प्रतिमा मंदिर में प्रतिष्ठित है।

विष्णु की लोकप्रियता

ब्राह्मण मत में वैष्णव धर्म तथा शैव धर्म के ही अधिक अनुयायी या उपासक वर्तमान हैं। विष्णु वैदिक देवता हैं। अतएव, इस धर्म का मूल स्रोत विष्णु-संबंधी वैदिक सूत्रों में माना जा सकता है। भागवत धर्म के प्रारंभिक स्वरूप का परिचय महाभारत में मिलता है। इसका प्रमुख ग्रंथ गीता भी है। भगवद्-गीता के आधार पर भागवत धर्म की रूपरेखा स्थिर की गई। कृष्ण के उपदेश का सार यह है कि भक्ति से परमेश्वर का ज्ञान हो जाता है और भगवान के भक्त को जगत में सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए। भागवत में स्वयं विष्णु के मुख से कहलाया गया है, "मैं भक्त के अधीन हूँ। पूर्णतया परतंत्र हूँ। साधु भक्तों के द्वारा मेरा हृदय स्वीकृत है। भक्त मेरे प्रिय हैं"—

अहं भक्त पराधीनो ह्य स्वतंत्र इव द्विज
साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्त जन प्रियः।
(भागवत, ९।४।६३)

अतएव, भगवान् की लोकहितकारिणी कार्यक्षमता तथा भक्तप्रियता के कारण विष्णु लोकप्रिय देवता हो गए। वैष्णव लोगों की लोकोपकार वृत्ति भगवान् की सर्वोच्च आराधना है, इस कारण विष्णु मंदिरों का निर्माण आर्य संस्कृति में होने लगा। उत्तरी भारत में गुप्त युग से ही वैष्णव मंदिर निर्मित होने लगे और यह परंपरा बारहवीं सदी तक बनी रही।

शैव धर्म का संबंध अनार्य संस्कृति से मानते हैं। सिंधु घाटी में तत्संबंधी अवशेष मिले हैं। पशुपति शिव तथा अनेक लिंग की आकृतियाँ मोहेनजोदड़ो से उपलब्ध हुई हैं। यों तो आर्य संस्कृति में वैदिक रुद्र का विवरण मिलता है। रुद्र का संहार रूप वैदिक स्तुतियों में विशेष रूप से दिखलायी पड़ता है। इसी संहार से अपनी वंश-परंपरा तथा पशुधन बचाने के लिए मानव रुद्र की स्तुति करता रहा। आर्येतर जातियाँ शिव (रुद्र) की पूजा करती थीं, उसका प्रमाण वैदिक साहित्य में मिलता है। अथर्ववेद में देवताओं में रुद्र (महादेव = शिव) व्रात्यों का अधिष्ठाता बतलाया गया है। किंतु, रुद्र की स्तुति के समान ही परवर्ती युग में शिव-संबंधी मान्यताओं का समाज में समादर था। रुद्र तथा शिव का मिलन वैदिककाल में ही पाते हैं। उपनिषद्काल में (रुद्र) शिव को विष्णु के सदृश प्रतिष्ठित पाते हैं। महाभारत युग में आर्येतर

शिव (रुद्र) की महिमा सुप्रतिष्ठित हो गई, जो महेश्वर कल्याणकारी सर्व-व्यापक उपाधियों से विभूषित हुए। स्वय अर्जुन तथा कृष्ण शिव से मिलने हिमालय पर गए और वहीं उनकी स्तुति भी की। यानी शंकर का स्थान पूज्य हो गया था। शिव से ही पशुओं की उत्पत्ति बतायी गई है (महाभारत, वनपर्व ३८। अनुशासन पर्व अ० १४) पौराणिक साहित्य में शिव असुरो तथा देवताओं मे तेजस्वी कहे गए हैं। शिव परमयोगी है। उनका नाम महादेव है। शिव का लोकरक्षक रूप भी प्रसिद्ध है। भागवत मे कहा गया है कि लोकरक्षा के निमित्त वे शक्ति के साथ विचरण करते हैं। योगी स्वरूप तथा आदर्श प्रवृत्तियों के कारण भक्तो मे शिव की प्रतिष्ठा हुई। लिंगपुराण मे शिव-लिंग-पूजा का अतिशय माहात्म्य बतलाया गया है। इन सभी विषयो पर विचार कर भक्तजनो ने शिवमंदिर का निर्माण किया। ऐतिहासिक विश्लेषण से पता चलता है कि गुप्त युग (चौथी शती) मे वैष्णव मत की प्रधानता के कारण विष्णुमदिर की प्रमुखता रही। उत्तरी भारत मे यत्र तत्र वैष्णव वास्तुकला का विकास हुआ। उत्तर गुप्त युग मे हर्षवर्द्धन बौद्ध होकर इस प्रकार के कार्य से विमुख रहा। सातवी सदी से दक्षिण भारत मे शैव मदिर का शुभारंभ किया गया, जिसकी उत्पत्ति मद्रास के समीप मामल्लपुरम् मे दीख पड़ती है। यह कहना यथार्थ होगा कि विष्णुमंदिरो मे शिखर का आविर्भाव हुआ किंतु दक्षिण के शिव-मदिरो का शीर्ष (गुंबज) स्तूप के आकार से मिलता-जुलता है। मध्ययुगीन भारत मे विष्णुमंदिरो के साथ खजुराहो मे कंदरिया महादेव तथा भुवनेश्वर मे लिंगराज मदिर बनाए गए। आठवी शती के पश्चात् दक्षिण मे शैव मदिरो की प्रधानता है। इस प्रकार मदिरो के सर्वेक्षण से वस्तुस्थिति का परिज्ञान हो जाता है। इस्लाम के कारण १२ वी सदी के बाद उत्तरी भारत के मदिर-निर्माण मे बाधाएँ उपस्थित हुईं, किंतु दक्षिण भारत अछूता रहा और उस भूभाग मे मंदिर-स्थापत्य-कला का विकास होता रहा।

मंदिरों की आध्यात्मिक भावनाएँ

भारत की प्राचीन स्थापत्यकला मे मदिरो का विशिष्ट स्थान है। भारतीय विचारधारा तथा सस्कृति ने छोटी-मोटी बाहरी बातो को आत्मसात् कर लिया। इसी प्रकार भारतीय मदिर देश की परपरा तथा प्रतिभा की उपज हैं। प्राचीन भारत की कला मे धर्म के लोकप्रिय स्वरूप की छाप दृष्टिगोचर होती है। मंदिर का वास्तु न केवल साधारण जन के आवास से भिन्न है, अपितु गर्भगृह के ऊपर विमान की उच्चता आध्यात्मिक

भावना तथा विशिष्टता का प्रतीक है। मंदिर का शिखर दूर से ही उच्च स्वर मे ईश्वर की सर्वव्यापकता का उद्घोष करता है। समीप आते ही मानव भक्ति में विभोर हो जाता है। संसार की ओर से हट कर आध्यात्मिक भावना जग जाती है। मदिर की भित्तियो, स्तंभो तथा छतों पर उत्कीर्ण अथवा उभरी हुई आकृतियो के मध्य दर्शक अपने को भूल जाता है। देवी-देवताओं के संमुख भक्त नतमस्तक हो जाता तथा अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप कर निर्मल एवं पवित्र भावो के निमित्त जागरूक होता है। मंदिरों के विभिन्न स्थानो पर कलाकारों ने पशु, पक्षी, पुष्पलता, पौराणिक दृश्यों और लोककथाओं का प्रदर्शन कर सामाजिक चित्रण उपस्थित किया है तथा तरूणियाँ एवं कामोत्तेजक प्रसगो के द्वारा दुष्टो के आसुरी कर्मो को दिखाया है। भक्तों के सामने देवो के प्रणय चरित्र का चित्रण मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है। यानी मंदिर का स्थापत्य तथा शिल्प धार्मिक भावना का सचार करते हैं। भक्तो को यह आभास तक न होता कि जीवन मे अनास्था रखने से ही कार्य की सिद्धि होगी। भगवान् के पूजन से ही जीवन मे पवित्र स्रोत मिलेगा और संसार मे धार्मिक समुन्नति हो सकेगी। शिल्पियो मे आत्मत्याग की इतनी गहरी भावना थी कि कहीं भी उन्होने अपना नामोल्लेख तक न किया। यही कारण है कि कलाकृतियो के रचयिता के नाम अज्ञात है। मंदिरो की रचना-कला सामारिक तो थी नही, धार्मिक भावनाओं सहित आध्यात्मिक साधना का एक मार्ग बना। इन बातो को ध्यानपूर्वक सोचा जाए, तो प्रकट होगा कि मंदिर केवल पूजा-गृह ही नही थे, बल्कि सास्कृतिक जीवन के केंद्र भी थे। मंदिरो की स्थापना तथा निर्माण से केवल वातावरण ही परिवर्तित न होता, बल्कि आसपास को धार्मिक प्रवृत्तियों के जागरण मे सहायता भी करता था। मदिर अपनी विशालता तथा दृढ़ता से उन विचारो को स्थायित्व प्रदान करता, जिनका उद्देश्य आदर्शो तथा मूल्यो की रक्षा करना था। जिस भू-भाग में मदिर निर्मित होता, उस क्षेत्र मे बसी जनता की धार्मिक गतिविधि वही केंद्रित हो जाती। राजा तथा प्रजा समीप की भूमि को मंदिर के लिए दान दे कर धार्मिक पिपासा को शांत करती और स्थानीय जनता को प्रेरणा भी देती थी। आध्यात्मिक चिंतन तथा जीवन के मूल्यो की सार्थकता अथवा जीवन-दर्शन का ज्ञान भक्त-जन मंदिरो मे प्रवेश कर ही प्राप्त कर सकते है।

मदिर के रूपविधान की कल्पना एक युग का कार्य न था, किंतु कलाकार ध्यानावस्थित होकर नए-नए विचारों को लेकर अपनी कुशलता दिखलाते रहे।

प्रारंभ में चैत्य के आकार से उन्हें प्रेरणा अवश्य मिली होगी तथा गर्भगृह का नामकरण भी विहार में स्थित प्रतिमा-स्थान को लेकर किया गया, किंतु भारतीय वास्तुशास्त्र का भी प्रभाव कालांतर में पडता गया और उसी कारण से सारे देश में मंदिरो की विभिन्न रूपरेखा सामने आई। कलाविदों ने

मंदिर की मानव-देही कल्पना

मंदिर का मानव देही रूप
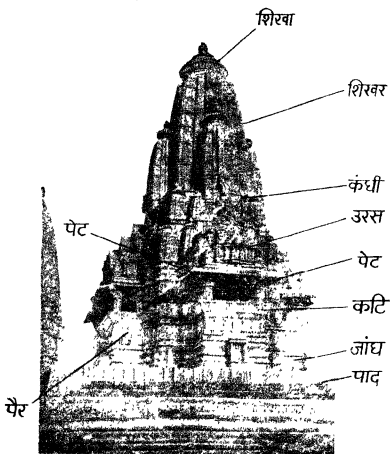
सही विचार किया कि जो परमात्मा मनुष्य के शरीर में अंतर्हित है, सूक्ष्म रूप

में विराजमान है, उसी (इष्टदेव की मूर्ति) की प्राणप्रतिष्ठा कर देवालय मे रखते हैं। अतएव, मूर्तिकारों ने उस देव की मानवाकृति (Anthropomorphic form) तैयार की, जिसे मंदिर के गर्भगृह में स्थापित किया गया। उसी विचार से प्रेरित होकर इस बात की कल्पना की गई कि मानव-शरीर के अंदर रहने वाले देव को बाहर प्रतिष्ठित करने के लिए मनुष्य की देही कल्पना का मूर्त रूप मंदिर तैयार किया गया.। अतः, यह कहना यथार्थ होगा कि देवता का आवास मंदिर को मनुष्य के शारीरिक अंगों के सदृश व्यक्त (प्रत्यक्षरूप) किया गया। उसी मे प्राणप्रतिष्ठा के पश्चात् उपासक पूजा-कार्य संपन्न करता है।

जिस चबूतरे पर मंदिर का निर्माण आरंभ होता है यानी सारे मंदिर का बोझ सँभालता है, वह पाद कहा जा सकता है। उसके ऊपर का भाग पैर एवं जाँघ का द्योतक है। जहाँ से मंदिर का भीतरी भाग दिखलायी पडता है, वही कटि स्थित है। भीतरी भाग पेट का रूप खडा करता है। छत के ऊपर छाती तथा स्कंध का संकेत मिलता है। शीर्ष तथा शिखा मानव का सर है यानी मंदिर का शीर्ष भाग मनुष्य के सिर के समकक्ष माना गया है। इस प्रकार मानव-देह की कल्पना लेकर मंदिर का निर्माण हुआ।

हिंदू धर्म में मंदिर का निर्माण पारलौकिक कार्य को ध्यान मे रख कर किया जाता है। भक्त इष्टदेव को पुकार सुनाने वहाँ एकत्रित

मंदिर की उपयोगिता होते है। अतएव, गर्भगृह के बाद ऐसे मंडप की आवश्यकता प्रतीत हुई, जहाँ भक्तजन आराधना कर सकें एवं उपदेश सुन सके। ऐसे मंडप के निर्माण से अन्य कार्यो मे भी सहायता मिली।

(१) **दरबार हाल**—शासकों के समुख प्रजाजन द्वारा कष्टों का वर्णन करना तथा निराकरण के मार्ग ढूंढने की प्रथा भी प्राचीन युग मे वर्त्तमान थी। उस कार्य के लिए मंदिर का मंडप ही समुचित स्थान था। वहाँ देवता के सामने राजा जनता को सुख पहुँचाने, सुधार लाने तथा नवीन योजना के संबंध मे वार्ता करता था।

(२) **विद्वत् परिषद्**—एकत्रित होकर सामाजिक तथा धार्मिक विषयो पर विवेचन करना अथवा मंदिरों के मंडप में शास्त्रार्थ करना था।

वादे वादे जायते तत्वबोधः

विवेचन करने से वास्तविक तथ्य का पता चलता है। अतः, मंदिरों में यह कार्य संपन्न होता था।

(३) **राजसभा का अधिवेशन-स्थल**—मंदिरो के मंडप मे राज-सदस्य एकत्रित होकर शासन-सबंधी विषयों पर चर्चा करते थे। आज भी पंचायतें मंदिरो के प्रांगण में बैठक बुलाती हैं तथा अनेक विषयों पर निर्णय लेती हैं।

(४) **व्यासकथा का स्थान**—धार्मिक प्रवचनों के लिए मंदिर स्थल को चुना जाता; क्योंकि वहाँ का वातावरण धार्मिक तो था ही, जनसाधारण इष्टदेव के सामने एकत्रित होकर शातचित्त से व्यास द्वारा कथित कथाओं का श्रवण करते रहे।

(५) **शिक्षा का स्थान**—इस विषय का सविस्तर वर्णन अगले पृष्ठो मे किया जाएगा, परंतु संक्षेप मे यह कहना उचित भी होगा कि मंदिरों मे शिक्षा की भी व्यवस्था थी। धनीमानी व्यक्ति मंदिर का निर्माण कराता और धर्म-ग्रथो के पठन-पाठन की व्यवस्था भी करता था। उसी के अनुकरण पर इस्लाम मे मकतब मसजिदो में स्थिर किए गए। गिरजाघरो मे पादरी बाइबिल पढाता है। उनकी संख्या बढ़ने पर शिक्षा-संस्थाएँ समीप मे तैयार हुईं और समीपस्थ गिरजाघर प्रार्थना के लिए सुरक्षित रखा गया। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरो मे शिक्षा देने की व्यवस्था थी तथा उसके निमित्त दान भी दिए गए।

●

दूसरा अध्याय

चैत्य तथा मंदिर

इस विषय की चर्चा की जा चुकी है कि 'चैत्यमंडप' बौद्धों के लिए पूजन-हेतु पर्वतों को उत्कीर्ण कर तैयार किए गए थे। कलाकार पर्वत की चट्टानों को खोद कर घोड़नालनुमा आकार तैयार करता, जिसके गोलाई भाग की ओर स्तूप की स्थिति रहती थी। अतएव, प्रारंभिक अवस्था में 'चैत्य' ही पूजा-स्थान निर्धारित किए गए। कालांतर में 'चैत्य' नामक गुहा की स्वतंत्र स्थिति समाप्त कर दी गई। सम्भवतः महायान मत में मूर्ति की प्रधानता होने से स्तूप को अनावश्यक समझा गया। अतएव, बौद्ध कलाकारों ने 'बिहार' तथा 'चैत्य' का सम्मिश्रण कर दिया। बिहार में निवास करने वाले भिक्षुओं को अन्यत्र जाने की आवश्यकता न रही। बिहार के केंद्रीय भाग में एक कमरे में ही बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की जाती, जहाँ भिक्षु अथवा उपासक पूजा निमित्त जाया करते थे। चूँकि स्तूप में भगवान् का भस्मपात्र रखा जाता था, यानी शरीर (धातु) अथवा राख डिबिया में रखी जाती थी, इसीलिए स्तूप पूजा का आधार हो गया। तक्षशिला से प्राप्त एक ताम्रपत्र लेख में वर्णन मिलता है कि पटिक नामक क्षत्रप शासक ने माता-पिता के पूजन तथा अपने परिवार, स्त्री एवं पुत्रसहित पूजन के निमित संघाराम में भगवान् शाक्य मुनि (बुद्ध) के शरीर (अवशेष) की स्थापना की।

पतिको तखशिलए नगरे—अत्र देशे पतिको अप्रठवित भगवत शकमुनिस शरिरं प्रतिथवेति सघरम सर्व बुधन पूजये मतपित पुययतो क्षत्रपस सपुत्रदरस।

(का० इ० ई० भा० २ पृ० २८)

शरीर के अवशेष को 'धातुगर्भ' भी कहने लगे। अत., जिस स्थान में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई, उसे 'गर्भगृह' का नाम दिया गया। ब्राह्मण मत में उस चैत्य' तथा 'धातुगर्भ' के समान 'मंदिर' तथा 'गर्भगृह' की प्रतिष्ठा की गई। कहने का तात्पर्य यह है कि 'चैत्य' के मूल विचार का

अनुकरण मंदिर में किया गया । विहार में केंद्रीय कमरा चौकोर होता, जिसकी ऊपरी छत समतल रहती । यह आकार ब्राह्मण धर्म मे ले लिया गया । पर्वत को शिलाओं के सहारे स्वतंत्र रूप से कमरा बनाया गया, जिसका प्रारंभिक रूप साँची के गुप्तकालीन पर्वत की गुहा मे (संख्या १७) देखते हैं । उदयगिरि पर्वत के दक्षिण किनारे पर दो स्तंभो वाला बरामदा है, जिसके साथ में खोदकर भीतर कमरा बना है । यही मंदिर के नाम से प्रसिद्ध हुआ । चैत्य भगवान् के प्रतीक (स्तूप) का स्थान था, उसी तरह मंदिर ब्राह्मण देवता के निवास का स्थान कहा गया है ।

चौथी सदी से भागवत धर्म के अभ्युदय के पश्चात् (इष्टदेव) भगवान् की प्रतिमा स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई । अतएव, वैष्णव मतानुयायी मंदिर-निर्माण को योजना करने लगे । साँची का दो स्तंभयुक्त कमरे 'गुप्त-मंदिर' का प्रथम चरण माने जाते हैं । चूंकि कमरे मे प्रतिमा की स्थापना की जाती थी, अत उसे 'गर्भगृह' की संज्ञा दी गई । मानसार मे वर्णन आता है कि मंदिर को राजपथ पर स्थापित किया जाए । यह विवरण बुद्ध तथा आनद के वार्तालाप की याद दिलाता है जिसमे बुद्ध ने कहा था कि चौराहे पर स्तूप निर्मित किए जाएँ । महापरिनिर्वाण सूत्त मे इसका विशद वर्णन मिलता है । सभव है, गुप्त युग मे उसी विचार से प्रभावित होकर उदयागिरि पर्वत खोद कर मदिर तैयार किया गया । कुछ गुफाओ का आकार बौद्ध गुहा से मिलता-जुलता है, किंतु चौकोर कमरा तथा समतल छत वाले (पर्वत मे खोदा) आकार को मंदिर कहा गया है । पर्वतमाला की परिस्थिति के अनुसार गुफाएँ खोदी जाती यानी गुहाद्वार की कोई निश्चित दिशा न थी । किंतु, वैष्णव मंदिर का द्वार सर्वदा पूरब दिशा मे होता है । पूर्वी दिशा मे द्वार रखने का विशेष उद्देश्य था । सूर्य का प्रकाश प्रातः पूरब दिशा से आता है (दिशा सापेक्षिक शब्द है । सभी के लिए पूरब या पश्चिम एक-सा नही होता) सूर्य की प्रभा मे कमल खिलता है, जिस पर लक्ष्मी आसीन होती है । कमलासन लक्ष्मी विष्णु की भार्या है । अतएव, शक्ति को ध्यान में रख कर मंदिर के द्वार की दिशा स्थिर की गई ।

यदि भारत मे प्रचलित वैष्णव तथा शैव मतो का इतिहास देखा जाए, तो प्रकट होता है कि उत्तरी भारत मे वैष्णव मत प्रधान रहा तथा दक्षिण भारत मे शैव धर्म की प्रमुखता थी । हैवेल का मत है कि दक्षिण के शैव मंदिरों में स्तूप के आकार का गुंबज अंगीकार किया गया । शिव योगीराज हैं । श्मशान

में रहते है. जहां शव की दाहक्रिया होती है। उसी राख (अवशेष) को पात्र में रखकर स्तूप के मध्य प्रतिस्थापित किया जाता था। संभवतः इस कारण शैवधर्म में स्तूप को आदरणीय स्थान मिला। यही कारण है कि दक्षिण के मंदिरों (द्राविड़ शैली) मे प्रायः स्तूपाकार शीर्ष (गुबंज) दीख पड़ते हैं।

फरगुसन के मतानुसार भारतीय मंदिरो के गुंबज देशज नहीं हैं, किंतु मेसोपटामिया से अनुकरण किएगए। इसमे कितना सार है, यह मंदिरो की शैलियों के विवरण से प्रकट हो जाएगा। भारतीय विद्वान् 'चैत्य' मे मंदिर की छिपी रूपरेखा को स्वीकार करते है, परंतु शिखर के विदेशी प्रभाव को सार-हीन मानते है।

अशोक के पश्चात् सार्वभाम राज्य की कल्पना राजनीतिक कारणो से सफलीभूत न हो पायी। उत्तर मे शुंगनरेश ने ब्राह्मण मत का पुनरुत्थान किया तथा मौर्यो के उत्तराधिकारी दक्षिण भारत के सातवाहन नरेश अपने को 'एक ब्राह्मण' कहते रहे। यद्यपि अमरावती के आकार-प्रकार का प्रोत्साहन उनसे अवश्य मिला था, पर वे वैदिक परपरा के अनुयायी थे। ईसवी सन् के आरभ से महायान मत का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने हीनयान की प्रतीकात्मक कला को नीचा दिखाया और प्रतिमा-पूजन का विधान किया। कनिष्क उसी परंपरा का पालन करता रहा। गंधार कला मे प्रधानतः बुद्ध-प्रतिमाएँ तैयार की गईं। कहने का तात्पर्य यह है कि हीनयान कलाकारो ने जिस जीवट तथा लगनपूर्वक सह्याद्रि मे गुफाएँ तैयार की थी, वह उत्साह न रहा। महायान वालों ने अजता के चैत्य स्तूप पर बुद्ध-प्रतिमा खोदी तथा पर्वत के अग्रभाग मे विविध बुद्ध-मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण कर महायान की योजना को सफल बनाया।

मदिर की प्रारंभिक अवस्था

तीसरी शती से उत्तरी भारत मे गुप्त वश का राज्य आरंभ होता है, जिनके समय में लंका से बल्ख तक का भाग गुप्तो के प्रभावमे आया। गुप्तनरेश परम वैष्णव थे। उनकी कृतियाँ उनके धार्मिक विचारो की बातें सुनाती है। चौथी शताब्दी तक पश्चिमी भारत मे क्षत्रपो का राज्य था, जिन्होने ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृति को अपनाया। किंतु, दयालुतावश कई गुफाएँ खुदवा कर भिक्षुओ के निवास के लिए दान भी दिया था। चौथी सदी के पश्चात् सारे भारत मे धर्म की लहर बदल गई। गुप्त राजाओं ने उदयगिरि में कुछ गुफाएँ तैयार करायी थीं, जिनमे विष्णु की मूर्त्तियाँ स्थापित की गईं। किन्तु, समतल

गुप्त-मदिर

भूमि पर ईंट-प्रस्तर जोड़ कर इमारतें भी तैयार हुईं, जिनकी स्थापत्य कला देशज थी। गुप्त सम्राट् धर्मसहिष्णु थे, अतः धनीमानी लोगों ने समतल भू-भाग पर ईंटका प्रयोग कर विहार आदि भी तैयार किया।

भागवत धर्म मे भगवान् के शारीरिक स्वरूप (Anthropomorphic Conception) का विचार व्यक्त किया गया है। भक्तो ने इष्टदेव की प्रस्तर-प्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा की और उस मूर्ति को मंदिर मे स्थापित किया। प्राणप्रतिष्ठा गुप्तकाल की नई कल्पना न थी। ईसवी पूर्व सदियो के लेखों में भगवान् बुद्ध के अवशेष को 'प्राणसमेत' कहा गया और ऐसे शरीर की स्थापना संघों में की गई थी— (का० इ० इ० भा० २ पृ० ४, २८, तथा ४८)

प्राण समेत शरिर भगवत शक मुनिस।

यह ब्राह्मण धर्म की कल्पना थी, जिसे बौद्धो ने अपनाया। चौथी सदी से प्रतिमा के प्राणप्रतिष्ठा-निमित्त मंदिरों का निर्माण हुआ। यानी पर्वतो में 'चैत्य' नामक आकार समाप्त हो गया। खुदाई के स्थान पर संरचनात्मक (इमारत) रूप सामने आया। यद्यपि उदयगिरि (विदिसा के समीप) मे चद्र-गुप्त द्वितीय ने वराह, विष्णु तथा शेषशायी विष्णु की प्रतिमा स्थापित की, गुहा खुदवाई, किंतु वह सर्वथा उत्कीर्ण नही है। उन्हे मिथ्या गुहा कह सकते हैं। सरचनात्मक कृतियों की बहुलता है। पाँचवी सदी के आरंभ मे तिगवा (जबलपुर, मध्यप्रदेश) तथा साँची (मंदिरो की संख्या १७) के आकार इमारती है; यानी निर्मित है, खुदे नही। स्तंभसहित बरामदे तथा भीतर चौकोर कमरा एवं समतल छत दीख पड़ते है। इन्हें गुप्तकाल के प्रथम सरचनात्मक (Structural) मंदिर कहेंगे। चैत्य को ग्रामीण झोपडी का विकसित आकार मानते है। उसी प्रकार आरंभ मे ईंट तथा काष्ट की कोठरी के मूल आकार का अनुकरण कर गुप्त कलाकारो ने प्रस्तर का परमपावन स्थान (मंदिर) निर्मित किया, जो 'गर्भगृह' के नाम से विख्यात हुआ। पाँचवी सदी से नए रूप मे आकार (इमारत) बनाए गए, उनकी दो विशेषताएं है—

(अ) सरचनात्मक (Structural) कार्य-पद्धति एवं

(ब) सौदर्यपरक (Aesthetic character)।

गुप्तकालीन मंदिरो की स्थापत्यकला मे इन्हीं विचारो पर कृतियाँ केंद्रित थी। मंदिरो के गर्भगृह ने चौकोर समतल छत से विकसित होकर शिखर का रूप धारण कर लिया। स्तभों मे पुष्पसहित पूर्ण कलश की आकृति तैयार हुई, जिसकी सुंदरता अद्वितीय है।

तीसरा अध्याय

गुप्तकालीन मंदिर

यह कहा जा चुका है कि गुप्त युग से ईंट का प्रयोग होने लगा और मंदिर समतल भूमि पर तैयार किए गए। यद्यपि मंदिरों मे विभिन्न देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित है, फिर भी सभी की वास्तुकला मे समता है। उनके सर्वेक्षण से निम्न बातें प्रकाश मे आई हैं—

१. गुप्त मंदिरों की स्थापना एक ऊँचे चबूतरे पर हुई थी।

२. मंदिर तक पहुँचने के लिए सीढियाँ बनी हैं।

३. प्रारंभिक मंदिर की छतें समतल (चिपटी) है, जिन्होंने कालांतर में विकसित होकर शिखर का रूप धारण कर लिया।

४. मंदिरों की बाहरी दीवालें सादी हैं।

५. गर्भगृह में एक द्वार रहता है। उसी गृह मे प्रतिमा स्थापित रहती है।

६. द्वार स्तंभ अलंकृत रहते हैं। इस स्तंभ मे पूर्ण कलश की आकृति दीख पड़ती है। उसी कलश से पुष्प बाहर निकले दृष्टिगोचर होते हैं। उन स्तंभो पर बेलबूटे भी उत्कीर्ण है। पूर्ण कलश तो वैभव का प्रतीक है। घट मे जल से कमल तथा जल से विश्व की उत्पत्ति हुई।

७. द्वार के दोनो पार्श्व में द्वारपाल के स्थान पर गंगा-यमुना की मूर्ति खोदी जाती थी। गंगा मकरवाहिनी तथा यमुना कर्मवाहिनी दिखलायी गई है। ब्राउन का मत है कि बौद्ध युग की यक्षिणी या सालभंजिका का समादर न रहा, उसके स्थान पर ब्राह्मण धर्म मे गंगा-यमुना को स्थान दिया गया।

८. गर्भगृह के चारो तरफ प्रदक्षिणापथ रहता है, जो छत से ढका है।

९. मंदिर के वर्गाकार स्तंभों के शीर्ष पर चार सिंह की मूर्तियाँ पीठ-से-पीठ लगे बनी हैं, जिन पर छत का भार रहता था।

१०. गुप्तकालीन मंदिरो के गर्भगृह मे प्रतिष्ठित प्रतिमा के केवल पूजन निमित्त आकार-प्रकार निर्मित थे। उस स्थान पर उपासक जनता के सभा-स्थल का सर्वथा अभाव था।

११. गुप्त मदिरो के दो वर्गीकरण हैं—

(अ) पूर्वगुप्तकालीन मदिर (३५०-५५० ई०)।

(ब) उत्तर—गुप्त युग (५५०-६०० ई०) के मदिर, जिनमे शिखर का प्रादुर्भाव हुआ।

तिगवा मंदिर मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले मे स्थित है। इसमे एक चोकौर कमरा (गर्भगृह) बना है, जिसमे शिवलिग स्थापित है। चिपटी छत है। बाहरी भाग मे कलात्मक ढग से बेलबूटे सहित स्तभ बना है, जिसमे पूर्ण कलश के अतिरिक्त चार सिह पीठ-मे-पीठ लगाए बैठे हैं। छत का भार उसी पर आधारित प्रतीत होता है। साँची के मदिर (सख्या १७) भी उसी के समान है। शिखर के अभाव के कारण इसे पाँचवी सदी के आरभ मे निर्मित मानते है। इसी श्रेणी मे भूमरा (नागोद रियासत, मध्यप्रदेश) का शिवमदिर तथा नाचवा (अजयगढ़, मध्यप्रदेश) के पार्वतीमदिर रखे जा सकते है। दोनो मे चिपटी छत तथा स्तभसहित बरामदा एक समान है। मदिर मे केवल गर्भगृह है और चारो तरफ चबूतरा प्रदक्षिणापथ की याद दिलाता है। द्वार स्तभ के दाहिने मकरवाहिनी गगा तथा बाई ओर कूर्मवाहिनी यमुना की मूर्तियाँ बनी है। मंदिर के चौखट अलकृत हैं तथा स्तंभ पूर्ण कलश के कारण गुप्तकालीन माने गए हैं। नाचना मदिर का वर्गाकार चबूतरा ३५ फीट चौड़ा है। इसमे ढँका प्रदक्षिणापथ बना है। नाचना का मंदिर भूमरा से अधिक कलापूर्ण है। इसमे चौखट के अतिरिक्त पार्श्व की दीवाल लतापुष्प तथा अन्य बनी आकृतियो से सुसज्जित हैं।

दूसरी श्रेणी मे उन मदिरो की गणना होती है, जो ईंट के बने हैं, परंतु छत के ऊपर चारो तरफ नए प्रकार के गुंबज का आकार बना है, जिसे 'शिखर' कहते है। 'शिखर' शब्द से मंदिर के गर्भगृह के छत की ऊपरी बनावट मे तात्पर्य है। छठी सदी से गर्भगृह की चिपटी (समतल) छत के ऊपर नया आकार बनने लगा। बनावट चारों दिशाओ से एक साथ आरभ होती है। वह क्रमश: सिमटी जाती है, चारो तरफ ऊपरी आकार की पक्तियाँ एक स्थान पर मिल जाती हैं जिसे भारतीय वास्तुकला मे 'शिखर' के नाम से पुकारते हैं। इस बिंदु के ऊपर दो आकार होते हैं। सबसे ऊपरी भाग को कलश तथा निचले भाग को आमलक कहते हैं। इस प्रकार का शिखर उत्तरी भारत

शिखर

के मदिरों मे पाते है, इसीलिए इसे 'आर्यशिखर' कहते हैं। भारत के मंदिरों मे कई प्रकार के शिखर होते हैं, जिनका विवरण अगले पृष्ठो मे दिया जाएगा।

गुप्तकालीन छठी सदी के मंदिरों मे शिखर का प्रादुर्भाव हुआ। इस वर्गीकरण मे भितर गाँव (कानपुर, उत्तर प्रदेश) तथा देवगढ़ (झाँसी, उत्तर प्रदेश) के मदिरो को स्थान दिया गया है। भितर गाँव मदिर की चौकोर समतल छत पर ७० फीट ऊँचा आकार (शिखर) बना है। ऊंचे चबूतरे पर इस मदिर की योजना तैयार की गई थी, जिसका व्यास ३६ फीट के बराबर है। इसके पूर्वी भाग मे एक स्तभयुक्त बरामदा है, जहाँ सीढ़ी के सहारे पहुँच सकते है। सामने पद्रह फीट वर्गाकार मे गर्भगृह निर्मित है, जिसमे प्रतिमा स्थापित की गई थी। इस मदिर की सुंदरता दीवाल पर खुदे पक्की मिट्टी के फलक (Terracotta) द्वारा बढ जाती है। कलाकारो की कार्य-कुशलता का यह फल था। झाँसी के देवगढ़ मंदिर मे हम गुप्त स्थापत्य कला की चरमोन्नति देखते हैं। उसका ऊपरी भाग पिरामिड के सदृश गुंबज वाला है। इसमे ४० फीट शिखर का अनुमान लगाया जाता है, जो भग्नावस्था में है। पाँच फीट ऊँचे चबूतरे पर गर्भगृह तैयार किया गया, जिसके चारो तरफ सीढ़ियाँ बनी हैं। इस मदिर के गर्भगृह में चारों दिशाओ से प्रवेशद्वार बने हैं। मदिर लबी ईंटो (१८½ × १०½ × ३ फीट) के क्षेत्रफल वाली सामग्री से बनाया गया है। देवगढ़ मंदिर के द्वार की खुदाई अत्यंत कलात्मक हैं। इसका अलंकरण अद्वितीय है। इसकी उच्च श्रेणी की कला, प्रौढ़ कार्य तथा अतीव गौरवमय परिमार्जन के गुणों से देवगढ़ गुप्तकाल की सर्वश्रेष्ठ कृति माना गया है।

गुप्तकालीन अन्य मंदिरो की बनावट मे भी परिष्कार है। तेली का मदिर (ग्वालियर) तथा सिरपुर का मदिर लबे शिखर वाली इमारतें है। ऊँचे चबूतरे पर बनी है जिसमे एक कमरा (गर्भगृह) तथा बरामदा दीख पड़ता है, उन पर ईंटो की खुदाई सतर्कतापूर्ण की गई है। देखने से पूरा मदिर एक ही आकार मे सपूर्ण भाव प्रकट करता है।

गुप्तकाल का प्रभाव समस्त उत्तरी भारत पर पड़ा और ईट का प्रयोग प्रधानतया सर्वत्र होने लगा। बौद्धधर्म के चार तीर्थों—कपिलवस्तु एव लुंबिनी, बोधगया, सारनाथ तथा कसिया मे मंदिर एव विशाल संघाराम (विहार) ईट के बने दीख पड़ते हैं। इन स्थानों पर भिक्षुओं के लिए विस्तृत क्षेत्र मे विहार बनाए गए। नालंदा का नाम भी इस प्रसंग में लिया जा सकता

है। उसके वर्तमान भग्नावशेष की विशालता का वर्णन सातवीं सदी मे चीनी यात्री ह्वेनसांग ने किया था। दो सौ फीट ऊँचे विहार का निर्माण साधारण काम न था। आज भी ईंट से तैयार मदिर तथा विहार की शृंखला यह बतलाती है कि पांचवी सदी मे प्रस्तर का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया। चैत्य या विहार नाम की गुहाएँ स्थगित हो गई। पहाडो को खोद कर गुहा निर्माण के कार्य का अंत हो गया और समतल भूमि मे ईंट के सहारे छोटी या विशाल इमारतें बनने लगी। यह सभी गुप्त स्थापत्यकला का प्रभाव था, जो पाँचवीं सदी के पश्चात् कार्यान्वित किया गया। बंगाल के राजशाही जिले मे स्थित पहाड़पुर का भी नामोल्लेख किया जा सकता है। विशाल विहार तथा मदिर एवं संबद्ध पक्की मिट्टी के टिकरे उसकी कला को व्यक्त करते है। गुप्त युग की एक विशेषता यह भी थी कि हिंदू (धर्म के) मदिरो की अधिकता के कारण विहार-निर्माण हीनावस्था को प्राप्त हो गया। उससे पूर्व बौद्ध कलाकार विहार तथा देवता के गर्भगृह को सबद्ध रखते थे, किंतु पाँचवीं सदी से वैष्णव मत के प्रचार के कारण भक्तजनो ने इष्टदेव की स्थापना गर्भगृह (मंदिर) मे की। विहार का प्रयोजन तथा आवश्यकता जाती रही। अतः, बौद्ध-परंपरा को गुप्तनरेशो द्वारा प्रोत्साहन न मिल सका। यही कारण है कि विहार का प्रचलन समाप्त हो गया। उस युग मे वर्णाश्रम धर्म के सिद्धात का बोलबाला था। भिक्षु बन कर ससार त्यागने की विचारधारा अवरुद्ध हो गई। ससार में रह कर भक्तजन पूजा के विधान से मोक्ष की कल्पना करने लगे। मंदिरो को ही उसके लिए सर्वथा योग्य स्थान समझा गया। इसीलिए मगध को छोड कर अन्य स्थानों में विहार की स्थिति हीन होती गई। नालंदा में वज्रयान शाखा तथा परमसौगत पालनरेशों के कारण इमारतो की भग्न शृंखला आज भी दीख पड़ती है।

पाँचवी सदी के मंदिरों मे बोधगया के मदिर की भी गणना होती है। बौद्ध साहित्य में इसे महाबोधि विहार भी कहा गया है। भारत के मंदिरों मे बोधगया एक आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक धार्मिक इमारत है। इसकी स्थापत्य कला अनोखी तथा विलक्षण है। यद्यपि गुप्त युग मे शिखर का आरंभ हुआ था, किंतु इसकी अपनी विशेषता है। इसी स्थान पर गौतम को ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे इसका बोधगया नामकरण हुआ। अशोक ने आठवें शिलालेख मे महाबोधि की धर्मयात्रा (तीर्थयात्रा) का उल्लेख किया है—

बोधगया मंदिर

सो देवानं पियो पियदसि राजा दसवस भिसितो संतो अयाय संबोधि। तेने सा धर्मयात्रा। (आठवां शिलालेख)

परतु, महाबोधि के मदिर-निर्माण का विवरण नही मिलता। इसे किस शासक या व्यक्ति ने निर्मित किया, यह विवादास्पद है। इस मंदिर की विशेषता के कारण नेपाल मे महाबोधि का मंदिर बनाया गया तथा इसी का अनुकरण वर्मा के पेगन स्थान पर किया गया। भगवान् के ज्ञानप्राप्ति का स्थल होने से बौद्ध लोगो का ध्यान सदा बोधगया पर था।

यह विहार (मदिर) समतल भूमि पर बना है, जिसका निचला भाग वर्गाकार है। ऊपर की ओर शीर्ष क्रमशः पतला होता चला गया है। सबसे ऊपर सभी आकार एक स्थान पर मिल गए हैं, जो नुकीला न होकर चिपटा है। वर्त्तमान मदिर के आकार से प्राचीनतम स्वरूप का अदाजा नही लगाया जा सकता। पाटलिपुत्र की खुदाई से एक 'मुहर' मिली है, जिसमे बोधगया मंदिर की प्रतिकृति है। आज का मदिर ५० फीट चौड़े चबूतरे पर खड़ा है, जिसकी ऊँचाई करीब २० फीट है। इस पर विशाल पिरामिड के आकार का गुंबज दीख पड़ता है। उसकी ऊँचाई १८० फीट है। चारो कोने में मध्य शिखर का लघु रूप तैयार किया गया और उस कारण ब्राह्मण धर्म का यह पंचायतन मदिर बन जाता है। प्राचीन मदिर मे कोने पर स्थित आकार का अभाव है, पर मदिर का शिखर ऊँचा है। इस मंदिर के पश्चिम बोधिवृक्ष तथा वज्रासन दिखलायी पड़ता है। ये सभी आकार-प्रकार वेदिका से घिरे हैं। पार्श्व के विहार या स्तूप नष्ट हो गए।

गुप्तकाल मे वैष्णव मत के प्रचार से जनता का ध्यान बौद्ध विहारों से हटता गया तथा लोग बिमुख होते गए। उस युग की निर्मित ईंट के विशाल आकार (इमारतें) भग्न हो गई हैं। उनकी उपयोगिताजाती रही। राजा तथा प्रजा उदासीन हो गए। पाँचवी तथा छठी शताब्दियों मे गंगा घाटी के अतिरिक्त सिंध के भू-भाग मे भी ईंट की इमारतें बनती रही। यद्यपि उस भाग मे मोहने-जोदड़ो की परंपरा से सभी परिचित थे, विशाल इमारतो का क्रम चलता रहा। उस भाग मे चबूतरे पर स्तूप का निर्माण तथा पार्श्व मे विहार की स्थिति विशेष उल्लेखनीय है। मीरपुर खास की खुदाई से कथित विषय पर प्रकाश पड़ता है। सिंध की इमारतें तथा अलंकरण गगा घाटी के नमूनो से मिलते-जुलते है। दोनों भू-भाग की इमारतो में ईंट को सुंदर रीति से खोद कर अलंकृत किया गया है। ईंट को अलंकारिक रीति से खोदने के कार्य मे सर्वत्र एकरूपता है। पक्की मिट्टी के फलक

(खंड) के आधार पर सभी ईंट की इमारतें पाँचवीं या छठी शती की ज्ञात होती हैं।

बोधगया के मंदिर के गर्भगृह में बुद्ध की विशाल प्रतिमा भूमि-स्पर्श मुद्रा में आसीन है। मंदिर का मुख्य प्रवेशद्वार पूर्वी दिशा में है। सूर्य की किरणों से ही .प्रकाश पहुँच पाता है, अन्यथा उसमे खिड़की का अभाव है। मंदिर के द्वार के समीप सीढ़ियाँ बनी है, जिनसे होकर पहली मंजिल पर पहुँचते हैं। वहाँ पर्याप्त क्षेत्रफल मे खुला स्थान है। उसी भाग के चारों कोने मे चार गुंबज हैं। इस प्रकार की मंदिर-निर्माण की योजना उस शताब्दी के अन्य मंदिरो में दृष्टिगोचर नही होती। इस कारण बोधगया मंदिर की विलक्षण कला है, जिसकी निर्माण रीति महाबोधि मंदिर मे ही सीमित है।

●

चौथा अध्याय

मंदिर-शिखर की विभिन्न शैलियाँ

पिछले पृष्ठो में इस विषय की वार्ता हो चुकी है कि गुप्त युग से ईंट के माध्यम से इमारतें बनने लगी। भारत के सभी भू-भाग मे इस सामग्री (ईंट) का प्रयोग होता रहा। उत्तरी भारत के मथुरा तथा सारनाथ मे ईसा पूर्व सदियों मे भी ईंट की इमारतें बनी, जबकि चुनार के समीप मे ही प्रस्तर-खदान वर्त्तमान था। धर्मराजिका तथा धमेक स्तूप उसके उदाहरण हैं। मध्य भारत मे विदिसा के समीप बेसनगर का मंदिर ईंट का ही बना था, जबकि उसी युग में स्तूप के अंड को प्रस्तर से आच्छादित किया गया और काष्ट की वेदिका का स्थान प्रस्तर ने ले लिया। ग्वालियर का तेली का मंदिर गुप्त-काल का ही है। पश्चिम में गधार तथा सिंध के क्षेत्रों मे ईंट का प्रयोग हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीनकाल से गुप्त युग तक इमारत तैयार करने मे पर्याप्त अंश मे एकरूपता थी। ईंट का सर्वत्र प्रयोग उस शृंखला की एक कड़ी थी। पश्चिम भारत की सह्याद्रि की गुफाओं के सदृश गुप्तनरेश द्वितीय चंद्रगुप्त ने उदयगिरि मे गुहा खुदवायी, परंतु स्थानीय कारणो से उसे कार्य करना पडा था। अधिकांश रूप मे गुप्त साम्राज्य का प्रभाव सर्वत्र विस्तृत रहा, इस कारण सभी क्षेत्रों मे राष्ट्रीयता की झलक दीख पडती है। समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त कर विजित राजाओं को मुक्त कर दिया। सिंहल तक द्वीपवासी उसके प्रभाव मे आए। उत्तर मे दैवपुत्र शाही नरेशों को परास्त किया। इस प्रकार एक प्रकार के सार्वभौम राज्य की स्थापना की। उसके उत्तराधिकारी पुत्र चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत मे शकों को परास्त किया। अपनी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटक नरेश से संपन्न किया। अतएव, पिता-पुत्र के प्रभाव तथा शक्ति के सचार के कारण प्राय: उत्तर एव दक्षिण भारत मे राष्ट्रीयता की भावना काम करने लगी। इमारतों को बनावट मे अधिक विभिन्नता न थी। ईंट का प्रयोग सब जगह होता रहा। इस प्रकार छठी सदी तक भारत की स्थापत्य कला मे अधिक मात्रा मे सादृश्यता का अनुभव किया जाता है।

उत्तरी भारत में हर्षवर्द्धन का राज्य वास्तुकला की दृष्टि से कोई विशेष स्थान नहीं रखता। सारा भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। साम्राज्यवाद का सपना भी कोई देख न सका। गुप्तों की धरोहर ज्यों-की-त्यों पड़ी रही। किसी शासक में वैसी क्षमता न रही। राष्ट्रीय चेतना का सर्वत्र अभाव दीख पड़ता है। स्थानीय परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न विचारकों ने नई दिशा दी। कला के क्षेत्र में भी आदर्शवाद का सिद्धांत समाप्त प्राय हो गया। इस कारण स्थापत्यकला में स्थानविशेष का प्रभाव दृष्टिगत होता है। सातवीं सदी से सारे भारत में वास्तुकला में नया मोड़ आया। उत्तर, मध्य तथा दक्षिण भारत की कलाकृतियाँ निजी विशेषता सहित उपस्थित की गईं। उन्हीं को शैलियों के नाम से वर्णन किया जाएगा। ये शैलियाँ विशिष्ट स्थान में पल्लवित हुईं। यही कारण है कि शिखर से संबद्ध शैलियों का ही वर्णन किया गया है।

सभी क्षेत्रों के नामकरण में भी विभिन्नता आ गई। अधिक भू-भाग में पवित्रतम स्थल (गर्भगृह) को विमान कहा जाता था। उसके ऊपर शुंडाकार को 'शिखर' कहते हैं। उसे 'मीनार' भी कहा जा सकता है। विमान के भीतरी भाग में इष्टदेव की प्रतिमा स्थापित की जाती है। उस के पूर्वी दिशा में एक प्रवेशद्वार रहता है। इस गर्भगृह के संमुख एक स्तंभसहित मंडप निर्मित है, जहाँ उपासक पूजा निमित्त एकत्रित होते थे। सातवीं सदी से मंदिर निर्धारित (Prescribed) स्वरूप में बनाए गए और शिल्पशास्त्र के आदेशों का कलाकारों ने अक्षरशः पालन किया। शिल्पशास्त्र में स्थापत्य-कला के संबंध में तीन प्रकार के शिखरों का उल्लेख मिलता है—

१. नागर,

२. द्राविड़ तथा

३. वेसर।

शिल्पशास्त्र में वर्णित शैलियों के समान कोई उदाहरण उपस्थित नहीं किया जा सकता। सभी नाम क्षेत्रीय आधार (भौगोलिक आधार) पर स्थिर हुए। पहली नागर शैली उत्तरी भारत में प्रयुक्त मिलती है। हिमालय से विंध्य पर्वतमाला के मध्य भाग में नागर शिखर दीख पड़ते हैं। द्राविड़ रीति का प्रयोग द्रविड़ देश (कृष्णा नदी से कन्याकुमारी तक का भाग) में होता रहा। सर्वप्रथम शिखर शैली पर मंदिरों का वर्गीकरण किया गया, किन्तु कालांतर में दोनों प्रकार के मंदिरों के मापचित्र तथा ऊँचाई में भी विभेद होता गया। उत्तर में-नागर तथा द्रविड़ देश में प्रचलित द्राविड़ शैली के

अतिरिक्त अस्पष्ट रूप में तीसरी वेसर शैली का उल्लेख मिलता है, जिस रीति का प्रयोग विंध्या तथा कृष्णा नदी के मध्य भू-भाग मे किया गया। इस भाग मे चालुक्य वश का राज्य विस्तृत था। अत, पुरातत्ववेत्ता उसे 'चालुक्य शैली' भी कहते है। परंतु, यह मिश्रित रीति अधिक समय तक काम न कर सकी। इसमें कुछ अवयव दोनो शैलियों से ग्रहण कर नए मिश्रित नाम (बेसर) से विख्यात हुआ। कई शताब्दियों के पश्चात् इसे कार्यान्वित नही किया जा सका। दसवी सदी के बाद भारत मे नागर तथा द्राविड मूल्यों को लेकर मंदिर तैयार किए गए। वास्तुशास्त्र मे वर्णन आता है कि नागर मदिर आधार से सर्वोच्च अश तक चार कोना (चतुष्कोण) है। परतु, इस प्रकार का उल्लेख (चतुष्कोण) सभी इमारतो के सबध मे प्रस्तुत किया गया है। इस कारण 'नागर शैली' मे इन चार-कोण अवयव को ध्यान में रख कर विशेष महत्त्वपूण नही कहा जा सकता। द्राविड़ रीति मे आठ-कोण आकार दीख पडता है तथा वेसर में गोल आकार। इनके आधार पर उन शैलियों का विशेष मूल्याकन नही किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में पृथक्-पृथक् शैली का प्रत्यक्ष रूप (आकार) देख कर ही उनकी विशेषता बतलायी गई।

इस विषय की चर्चा करने से पूर्व यह जानकारी आवश्यक है कि आठवी सदी से मदिर-निर्माण का नया युग (अध्याय) प्रारभ होता है। यों तो उस इमारत का नाम ही देवालय है, परंतु उस मे ताख, आला, शय्याकोष्ट तथा वेदी बने हैं, जिनमे भवत देवताओ की छोटी मूर्ति प्रतिष्ठापित करते रहे। इस कारण वह मंदिर देवसमूह का निवास बन गया। मध्य युग में मनुष्यों में धार्मिक एकाग्रता की भावना काम करने लगी और इस कारण वे अपने धर्म-कार्य (मंदिर-निर्माण) मे आगे बढ़ने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन में ईश्वरीय चिंतन, ध्यान एवं प्रार्थना को अधिक स्थान दिया गया और मंदिर-निर्माण से यह स्पष्ट हो गया कि भौतिक जीवन मे दैवी विचार की प्रमुखता है। आर्य शैली शिखर की उत्पत्ति का धार्मिक स्रोत भी मानते हैं। कोई बौद्ध स्तूप से भी इसके विकास का अनुमान करते है। वह अर्द्धगोलाकार से लंबा होता गया और ईसा की प्रथम सहस्राब्दि मे शिखर का रूप धारण कर लिया।

बौद्ध स्थापत्यकला को छोड़ कर ब्राह्मण तथा जैन वास्तुकला में विशेष अंतर नही है। हिंदू धर्म के दो प्रधान मतों—शैव तथा वैष्णव मे तनिक भी भेद नही है। केवल शिखर के ऊपरी भाग यानी कलसी पर उनके धार्मिक चिह्न से मंदिर के विषय में विशेष जानकारी हो जाती है। मंदिर मे कलस के

स्थान को त्रिशूल ने ले लिया है तथा चक्र की स्थिति से क्रमशः शैव या वैष्णव मंदिर का बोध हो जाता है। इन मंदिरों में वाहन के लिए प्रवेशद्वार के समुख छोटा-सा स्थान सुरक्षित दीख पडता है। शिव एवं विष्णु के वाहन होने से गर्भगृह के सामने नदी तथा गरुड़ की आसन मुद्रा मे आकृति बनी है। मदिर का प्रवेशद्वार सदा पूरब दिशा में रहता है। मंदिर की अन्य तीन दिशाओं की दीवाल पर देवतागण की मूर्ति स्थापित हैं।

भारतीय मंदिरों के निर्माता कलाविदो ने एक निश्चित योजना से कार्य आरभ किया था। उन्होंने विस्तृत रूप से सुर्रचित एवं प्रतिष्ठित नियमावली का आश्रय लिया, जिस कारण भारत के कोने-कोने मे स्थापत्यकला में सादृश्यता है।

पश्चिम मे गुजरात स लेकर पूरब मे भुवनेश्वर तक वही पद्धति काम में लायी गई है। उनके मूल मे विभेद नही है। इस तरह स्थापत्यकला मे समन्वय है, जिसे देशज कलाकारो ने कार्यान्वित किया था। देश के सौदर्य-परक कार्यो मे श्रेणीगण (शिल्पी) का विशेष हाथ रहा, जो भारत मे प्राचीन समय से ही शिल्प या दस्तकारी के कार्य मे लगे रहे। श्रेणी के सदस्य किसी-न-किसी शिल्प में दक्ष होते थे। एक स्थान पर निवास कर उन्होने किसी शैली को कार्यान्वित किया और कालातर मे वह स्कूल, शैली या पद्धति के नाम से विख्यात हुई। जिस स्थान पर अधिक समय व्यतीत हुआ, वह कला-केंद्र प्रसिद्ध हो गया। यही कारण है कि शिखर के अतिरिक्त खजुराहो, उड़ीसा या द्रविड शैलियों के मंदिरो का निर्माण हुआ।

मंदिर-निर्माण धार्मिक कृत्य होते हुए भी वास्तुशास्त्र को ध्यान में रख कर कलाविदो ने कार्य किया। यो तो मंदिरो की स्थापत्यकला देखने से ज्ञात होता है कि किसी तत्र-मंत्र या रहस्यमय विचारों का मदिरो मे प्रकटीकरण हुआ है अथवा किसी दैवी शक्ति के द्वारा इसकी रचना हुई है। अधिकतर लोग विश्वकर्मा की कृति मानते है, जिसमे सृजनशक्ति विद्यमान है। आज भी कला-कृतियो के प्रसग में विश्वकर्मा-पूजा विधिवत् मनायी जाती है। इस विचार के कारण भारतीय कलाकार प्राचीन परंपरागत रीति पर अमल करते हैं, विकास के पीछे दौडते नही। उनकी कृतियों मे पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को विवेकपूर्ण ढग से कार्यान्वित किया गया है। इस विषय को स्थापत्यकला में महत्त्व दिया गया था कि भार का वहन लंबवत् होता है। अतएव, प्रस्तर-पर-प्रस्तर रखने से निर्माण-कार्य सुगम हो जाता है। उसमें संबद्ध

परिमाण को केंद्रित कर निर्माण में सुगमता आ जाती है। इस कार्य मे सीमेंट या मूर्खी-चूने का प्रयोग अनावश्यक था। यही जान कर मंदिरों की स्थापत्य-कला मे उन साधनो का प्रयोग नहीं मिलता। उसे 'सूखा निर्माण' कह सकते हैं। कभी यह भी देखा गया है कि मंदिर के निश्चित स्थान पर सभी कार्य न होकर प्रस्तर-खदान में ही संगतराश प्रस्तर के टुकड़ों को उपयोगी बनाते हैं, ताकि खदान से निकाल कर प्रस्तर को मंदिर की इमारत में लगा दिया जाए। किसी कारणवश अथवा भूल के कारण किसी प्रस्तर पर पूरी खुदाई न हो पाती तथा असस्कृत प्रस्तर का मदिर-निर्माण में उपयोग हो जाता है। भुवनेश्वर के राजारानी मंदिर मे इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है। इसलिए मंदिर के आकार-प्रकार मे तर्क से काम लिया जाता था। देवतागृह की बनावट में धर्मभीरु समाज तथा निर्माता भौतिक विषयों पर ध्यान न देकर इष्टदेव की प्राणप्रतिष्ठा पर अधिक सतर्क रहता है।

उत्तरी भारत के मदिरों के दो प्रमुख लक्षण है। प्रथम उनकी योजना तथा द्वितीय ऊँचाई। छठी शताब्दी के मदिरो मे स्वस्तिकाकार योजना सर्वत्र दीख पडती है। इसके अतिरिक्त वक्ररेखीय ऊँचाई को भी एक विशिष्टता माना गया है। भारत के उत्तरी भाग मे सर्वत्र इन विशेषताओ सहित मंदिर मध्य युग तक बनते रहे। नागर वास्तुकला मे दोनो विशिष्ट बातें सदा दृष्टिगत होती हैं। वर्गाकार योजना के आरंभ होते ही दोनो कोने पर कुछ उभरा भाग प्रकट हो जाता है, जिसे 'अस्र' का नाम दिया गया है। इस समूह के (शैली के) प्रमुख मंदिरो मे देवगढ़ (झाँसी, उत्तर प्रदेश) का दशावतार, नाचना कुठारा का महादेव मंदिर तथा भित्तर गाँव (कानपुर) का (ईटो) के मदिरों का नमूना उपस्थित किया जा सकता है। इन सब मे नागर (आर्य) शिखर का आरंभ दीख पडता है। चौडी समतल छत्त से उठते हुए शिखर की प्रधानता है।

दक्षिण भारत के द्राविड़ शैली मे विमान के ऊपरी भाग पिरामिड की तरह ऊँचा होता चला जाता है। उसमे शिखर कई मंजिल के है। गर्भगृह की द्राविड शैली के शिखर की प्रतिकृति प्रत्येक मंजिल मे दीख पड़ती है, बौद्ध स्तूप से ऊपरी आकार का अनुकरण हुआ। उसमे गोली के आकार का शवकक्ष है। इस के कारण यह 'स्तूपी' या 'स्तूपिका' कहलाता है। शिखर, मजिल के ऊपर मजिल की बनावट तथा प्रत्येक ऊपरी भाग मे केंद्रीय शिखर की छोटी स्तूपी द्राविड़ शैली की विशेषता है। इस शैली की योजना मे भीतरी वर्गाकार गर्भगृह को विस्तृत चौकोर अहाते मे निर्मित करते थे, जिसकी छत प्रदक्षिणा पथ को ढ़क लेती है। बाहरी दीवार को स्तभो से ताक का रूप

दिया जाता है। गुंबदी भाग अर्द्धगोलाकार या रेल के डब्बे के ऊपरी हिस्से के सदृश गोल बनाया गया है। दक्षिण भारत के मंदिरों मे लबे गलियारा तथा विस्तृत स्तंभोयुक्त मंडप द्राविड़ शैली के आवश्यक अंग है। कालांतर मे मंदिरो को गोपुरम् से भी सबद्ध किया गया। कुछ विद्वानों का मत है कि द्राविड़ शैली का मूल कागडी घाटी (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त औदुंबर सिक्कों पर उत्कीर्ण कई मंजिल के आकार मे देखा जा सकता है। निचली बड़ी मजिल मे ऊपरी आकार घटता जाता है। इस प्रकार मंजिल के बाद मजिल की इमारत बन जाती है। यदि उत्तरी भारत के कला-नमूनों मे द्राविड शैली का मूल है, तो भी वह चौथी शताब्दी से पहले का अनुकरण नही माना जा सकता। द्राविड शैली मे विमान का आकार ही केंद्रक (Nucleus) बन गया। यदि उत्तरी भारत से इसे नकल किया गया और मंजिल वाली इमारत को द्राविड़ शैली मे कार्यान्वित किया गया, (जो द्रविड भूमि से बाहर है) तो यह विवादास्पद हो जाता है कि किस मार्ग से वह शैली दक्षिण पहुँची तथा उत्तरी भाग मे वह आकार-प्रकार ज्यों ज्यों क्यों हो गया ? उत्तरी भारत के विस्तृत भू भाग मे नगर शैली का वर्णन शिल्पशास्त्र में मिलता है, विंध्य से हिमालय तक के भौगोलिक क्षेत्र मे स्थानीय विभिन्नता का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। स्थानीय विभेद का यह अर्थ नही है कि मूल स्वरूप मे परिवर्तन आ गया अथवा विषय की दृष्टि से उसमे मौलिक लक्षणो का अभाव हो गया। यही कारण है कि भारत के प्राचीन मदिरो का एक साथ समूह रूप मे विवरण उपस्थित करना कठिन है। भौगोलिक दृष्टि से क्षेत्रीय शैली का वर्णन समीचीन होगा। उनकी विशेषता तथा स्थानीय प्रभाव का लेखा-जोखा सरल हो जाएगा।

●

पाँचवाँ अध्याय

उत्तरी भारत या आर्य शिखरयुक्त मंदिर

उत्तरी भारत में सातवीं शताब्दी के पश्चात् स्थापत्यकला शिखर सहित विकसित हुई। अतएव, उसे 'आर्यन शिखर वाले मंदिर' कहना यथार्थ होगा। इस शैली का विस्तार संपूर्ण उत्तरी भारत (उडीसा लेकर) में हुआ। यद्यपि अमुक शासक ने मंदिरो का निर्माण कराया था, परतु उसे (स्थापत्यकला) स्थानीय न मान कर भौगोलिक आधार पर समूह रूप मे व्यक्त किया जाएगा। किसी राजवंश के साथ ही उसका संबध नही है, अपितु उस शैली की लोकप्रियता के कारण पृथक् नाम करण किया गया। उदाहरण के लिए खजुराहों मध्य भारत में छत्तरपुर के समीप स्थित है, परंतु सौ वर्षों (९५०-१०५० ई०) में ही जो वास्तुकला सामने आई, वह स्थायी बन कर 'खजुराहो शैली' नाम से विख्यात हुई। उसी प्रकार उड़ीसा शैली के अनेक मंदिर भुवनेश्वर मे निर्मित हुए थे। भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही उनका नामकरण किया गया। उत्तरी भारत के मुख्यतया छह प्रदेशों में आर्यन शिखर का प्रयोग मिलता है। यह सत्य है कि सभी प्रकार के मंदिरों को उत्तरी भारत मे संमिलित करते हैं, किंतु सबमे कुछ-न-कुछ स्थानीय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण इतिहास में छह विभिन्न शैलियाँ प्रसिद्ध हैं—

(१) उड़ीसा शैली—पूर्वी भारत समुद्रीय तट पर उड़ीसा (प्राचीन कलिंग) प्रदेश है। इसमें एक स्थान पर मंदिरों का विकास हुआ। विशेषकर भुवनेश्वर नगर में, जिसे 'मंदिरों का नगर' कह सकते है।

उडीसा शैली के मंदिर समुद्र के किनारे भू-भाग में छह सौ किलोमीटर में विस्तृत हैं। यो तो समीप मे पुरी का जगन्नाथ मंदिर तथा कोणार्क के सूर्य-मंदिर का उल्लेख किया जा सकता है—किंतु बंगाल-उड़ीसा तथा बंगाल-बिहार की सीमा पर उसी शैली के मंदिर वर्त्तमान हैं।

(२) खजुराहो शैली—एक ही स्थान पर समूह मे मंदिरों का निर्माण हुआ। उनका विकास पूर्वी भारत से भिन्न था। अतः, मध्य भारत में जिस आकार-प्रकार को काम मे लाया गया, वह आज भी वर्त्तमान है।

(३) राजपुताना—उत्तर गुप्तकाल मे एक विशेपता लेकर मंदिरों का निर्माण राजपुताना में हुआ था। उनका परीक्षण हमारे सामने नई शैली उपस्थित करता है।

(४) गुजरात तथा काठियावाड़—राजपुताना से दक्षिण-पश्चिम में एक ऐसी शैली विकसित हुई, जिनकी कला अपनी विशेषता रखती है। मंदिरो के अवशेष से सभी बाते ज्ञात हो जाती है।

(५) ग्वालियर शैली — आर्यन शैली का सबसे दक्षिणी भाग मे ग्वालियर दुर्ग मे स्थितिवश कुछ नवीनता लिए मंदिर बने थे।

(६) वृंदाबन तथा मथुरा के मदिर—इन स्थानो पर जितने मंदिर तैयार हुए थे, उनको एक पृथक् समूह मे रखा जाता है।

उड़ीसा शैली

नागर शैली के मदिरों से मिलता-जुलता उडीसा में मदिर तैयार किए गए, जिसका मुख्य केंद्र भुवनेश्वर है। भुवन के ईश्वर से संबद्ध नगर मे इतने अधिक मदिर तैयार किए गए, जिसका दूसरा उदाहरण नही है। यह मंदिरों का नगर है तथा सजातीय इमारती समूह का अद्वितीय केंद्र है। अन्य स्थानों मे नागर शिखर के विकास मे स्थानीय प्रभाव दीख पडता है। उस कारण भुवनेश्वर को छोड कर ऐसा कोई नगर नही, जहाँ के मदिरों मे समानता है और उड़ीसा का कोई विशेष उल्लेखनीय प्रभाव नही रहा। सातवी सदी से तेरहवी शताब्दी तक उडीसा मे असंख्य मंदिरो का निर्माण हुआ, जिनमे अधिकतर सुरक्षित है। इसका कारण यह था कि शासकों ने स्थापत्यकला को प्रोत्साहित किया तथा इस्लाम का प्रवेश न हो सका, जिसके कारण छह शताब्दियों तक मदिरों का निर्माण अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।

उड़ीसा की नई राजधानी होने के पूर्व भी भुवनेश्वर का इतिहास गौरवमय है। अशोक ने इसके समीप पाँच मील की दूरी पर धौली पर्वत पर धर्म-शासन अंकित कराया था। राज्यारोहण के आठवें वर्ष मे उसने कलिंग पर

आक्रमण किया था और इस भू-भाग को जीतकर ही धर्मलेख खुदवाया होगा। अन्य स्थानों पर अशोक के चौदह लेख अंकित है। परंतु धौली पहाड़ी पर ११, १२ तथा १३ वें शिलालेखो के स्थान पर अन्य दो लेखो को स्थान दिया गया। अशोक ने (ई० पू० तीसरी सदी) दूसरे पृथक् लेख मे तोसली (स्यात् धौली का प्राचीन नाम) के महामात्र को संबोधित करते हुए यह घोषणा की कि समस्त प्रजा मेरी संतान है। भुवनेश्वर को सातवी सदी मे क्यों प्रमुखता मिली, यह कहना कठिन है। परंतु, धौली मे मठ का निर्माण होता रहा। भुवनेश्वर के समीप शिशुपाल गढ़ की खुदाई से कलिंग नामक नगर की स्थिति पर प्रकाश पडता है। वही खारबेल की राजधानी थी। हाथी गुफा लेख में वह 'कलिंगाधिपति' कहा गया है। भुवनेश्वर के समीप मे ही उदयगिरि खंडगिरि मे खारवेल के गुहालेख मिले है। इस प्रकार ईसवी पूर्व में भुवनेश्वर का भू-भाग प्रमुख स्थान रखता था।

ईसवी सन् के आरंभ से कुषाण तथा रोमन लोगो का संपर्क बढ़ गया। शिशुपालगढ की खुदाई से अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। चौथी शताब्दी के बाद गुप्त सम्राटो का वहाँ प्रभाव हो गया। समुद्रगुप्त इस भाग पर विजय करता काँची तक गया था। गुप्त कला शैली का प्रभाव वहाँ से प्राप्त-प्रतिमा समूह मे दीख पडता है। परतु, स्थापत्यकला मे गुप्त शैली के मंदिर अभी तक प्रकाश मे नही आए है। जिस शिखर का उदय गुप्तकाल मे हुआ, जिसे शिल्प-शास्त्र मे नागर शैली कहा गया है, उसी का विकास उडीसा मे सातवी शती के बाद हुआ और विशिष्टता के कारण पृथक् नामकरण हुआ—उडीसा शैली।

गौड़ राजा शशांक के विषय मे कहा जाता है कि उसने त्रिभुवनेश्वर नामक मंदिर का निर्माण किया था। उस समय पाशुपत मत की प्रधानता थी, जिसके कारण मंदिर-निर्माण मे अधिक बल मिला। यो तो पाँचवी शती से ही पाशुपत मत का प्रचार हो गया था, पर सातवी शती के पश्चात् शैव मंदिरों का निर्माण भुवनेश्वर मे हुआ। शशाक के अधीनस्थ शैलोद्भव शासकों ने सातवी सदी के प्रथम चरण से मदिर-निर्माण मे हाथ बटाया। इसके बाद भौमवश का शासन अधिक दिनों तक उड़ीसा मे रहा। उन्ही की लबी अवधि मे मंदिर-निर्माण का कार्य अविच्छिन्न रूप में निरतर चलता रहा। भौमों के उत्तराधिकारी सोमवशी नरेशों ने भी मंदिर का निर्माण कराया। ब्रह्मेश्वर मंदिर के एक लेख से इस कथन की पुष्टि होती है। ग्यारहवी शती से गंग वंश का शासन आरंभ हुआ, जिन्होने सोमवंश का अंत कर दिया और मंदिर-निर्माण

प्रकट होता है कि भुवनेश्वर मे स्वतंत्र रूप से स्थापत्यकला की प्रगति हुई। मंदिरो की योजना तथा बनावट के निरूपण मे उड़ीसा के मंदिर विशेष महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार के धार्मिक निर्माण परक इमारतों का विशिष्ट नामकरण भी हुआ। निम्नलिखित नामो का उल्लेख उड़ीसा की स्थापत्य कला के निमित्त मिलता है—

१. देवल गर्भगृह जिस मंदिर मे केवल गर्भगृह वर्त्तमान है। शिखर मंडित घनाकार भीतरी कक्ष को देवल या विमान कहते है।

२. गर्भगृह के संमुख प्रकोष्ट यानी सभा-भवन को जगमोहन कहा गया है।

३. नट मंदिर (नाट मंडप) नृत्य का स्थान

४. भोग मडप—रागभोग निमित्त स्थान जो बाद में बनाए गए।

५. मंदिर का पिष्ट—आधारस्थान, जो जमीन से अधिक ऊँचा नही होता।

६. स्तंभ का अभाव—साधारणतया उड़ीसा के मंदिरों मे स्तभ नही बनाए गए थे। किंतु किसी बड़े मंदिर मे बोझ को सँभालने के लिए इमारत के कोने मे चार स्तभ सयुक्त रूप से भारवाही के रूप मे स्थित हैं।

७. बाहरी अलंकरण की प्रधानता—देवल के भीतरी भाग पूर्णरूपेण सादे प्रस्तर के बने हैं। परतु मंदिर के बाहरी दोवारो में भलीभाँति गंभीर ढग से सुन्दर मूर्तियाँ तराशी गई हैं।

८. गोपनीय आकार-प्रकार—उड़ीसा के मंदिरो में बाह्य अलंकरण में गुह्य विषयों की खुदाई दीख पडती है। इनकी रहस्यमय वार्ता का वर्णन अगले पृष्ठो मे किया जायगा।

९. मंदिरों के परकोटा—उड़ीसा के मंदिर-लिंगराज तथा जगन्नाथ मंदिर के चारो तरफ ऊँची चहारदीवारी (परकोटा) बनी है, जिसमें चार दिशाओं में द्वार बने है।

१०. विमान के चारों भागो (गर्भगृह जगमोहन, नट तथा भोगमंडप) के ऊपरी भाग मे गुंबज (शिखर) हैं जो शिखरयुक्त गर्भगृह के आगे क्रमश: छोटे होते चले जाते है।

११. भुवनेश्वर के मंदिरो मे खंडगिरि तथा उदयगिरि के खदान से प्रस्तर लाकर प्रयोग किया गया था। चौका प्रस्तर मंदिर मे प्रयुक्त है, जिसमे मसाले

का अभाव है। सूखे प्रस्तर को पड़ा रखा गया है। एक के ऊपर दूसरे प्रस्तर रखने से भार संतुलित हैं। उनको लोहे के शिकजे से बाँध दिया गया है।

उड़ीसा के मदिरों का क्रमिक विकास तिथि (काल) क्रम के अनुसार उड़ीसा के मदिरों को तीन विभागो मे बाँटा गया है। उनमे प्रधान मंदिरो की तिथियाँ निम्न प्रकार है—

१. ७५० ई०-९०० ई० तक
   परशुरामेश्वर—भुवनेश्वर नगर में
२. ९०० ई०--११०० ई० तक
   मुक्तेश्वर—भुवनेश्वर
   लिगराज—भुवनेश्वर
   जगन्नाथ—पुरी
३. ११०० ई०—१२५० ई० तक
   अनंत वासुदेव—भुवनेश्वर
   राजारानी—भुवनेश्वर
   सूर्यमंदिर—कोणार्क

इन मंदिरो के परीक्षण से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम गर्भगृह का निर्माण हुआ था, जो पिष्ट पर तैयार किया गया था। इस प्राचीनतम परपरा में उड़ीसा के कलाकारो ने देवल के समुख दूसरा प्रकोष्ट जोड़ दिया, जिसे सभा-मडप या जगमोहन कहते है। वहाँ उपासक एकत्रित होकर पूजा का कार्य सपादित करता है।

मूल योजना मे गर्भगृह तथा अन्तराल (जगमोहन) के अदर का हिस्सा वर्गाकार है, किंतु बाहरी दीवार मे कई पुश्तानुमा (Buttress) प्रक्षेपण हर एक तरफ निकला दीख पड़ता है। यदि सभी दीवार के मध्यभाग में प्रक्षेपण हैं, तो उस स्थिति मे प्रत्येक दीवार तीन लबवत् भाग मे विभक्त हो जाती है, जिसे 'रथ' कहते है। तीन रथो के कारण वह 'त्रिरथ' नाम से संबोधित किया गया है। इस प्रकार दीवार मे प्रक्षेपण की सख्या के आधार पर पचरथ, सप्तरथ या नवरथ योजना के नाम से विख्यात है। प्रत्येक रथ को कई छोटी फलिकाओ मे विभक्त किया गया है। उड़ीसा के स्थानीय कलाकारों ने इन प्रक्षेपणो के कारण विभिन्न नाम से मंदिर के भागों का पृथक्-पृथक् नामकरण किया है, जिस कारण नई शैली चल पड़ी। ऐसा उपविभाग उड़ीसा के प्रायः प्रत्येक मदिर मे दीख पड़ता है। भुवनेश्वर के मंदिरों मे

विकास की प्रवृत्ति है। उसमें अधिक विस्तरण है। गहरी सूक्ष्मता तथा मंदिरों की ऊँचाई पर स्पष्ट रूप से बल दिया गया है। बाहरी दीवार का प्रचुर अलंकरण मंदिरों की विशेषता है। परशुरामेश्वर मंदिर में जो गर्भगृह की लंबाई तथा मंदिर की संपूर्ण ऊँचाई मे १ : ३ का अनुपात है, कालांतर में १ : ४ या १ : ५ हो गया। कोणार्क के सूर्यमंदिर मे १ : ७ का अनुपात है। मंदिर का बाहरी भाग प्रचुर मात्रा मे खुदा है। वहा अलंकरण के गहरे प्रदर्शन से कलाकार की कुशलता स्पष्ट हो जाती है। भुवनेश्वर के मंदिरो मे सबसे छोटा आकार मुक्तेश्वर मंदिर का है, जिसकी ऊँचाई ३५ फुट है तथा गर्भगृह साढे सात वर्गफुट है। इसकी सर्वांगीण सुंदरता के कारण मंदिर समूह मे श्रेष्ठ माना गया है। उडीसा मे कई मंदिर आकार तथा बनावट मे समान रूप से तैयार किए गए थे। ये आठवीं तथा नौवीं शताब्दियो में निर्मित हुए थे। नागर शैली का आरंभ उडीसा मे इन मंदिरों से प्रकट होता है। आर्य शिखर उत्तरी भारत मे विस्तृत हुआ। उसके पश्चात् उडीसा में विकास का युग आता है, जब उसमे विवर्धन हुआ। उसमें बुनियादी खाका का विस्तार ही शामिल नहीं है, अपितु ऊँचाई की भी वृद्धि हुई। दीवार को लंबवत् रूप मे कई उपविभाग मे बाँटा गया और त्रिरथ से नवरथ तक दीवार की योजना मे विकास होता रहा। रथ के प्रक्षेपण के साथ-साथ बाहरी दीवार को अंगशिखर से विभूषित करने का क्रम चल पडा। इस प्रकार उड़ीसा मे शिखरयुक्त मंदिरो का व्यक्तिगत स्वरूप विकसित हो गया। उन पर अंगशिखर के पाँच विभाग दृष्टिगत होते हैं। सबसे ऊपर गजसिंह की आकृतियाँ बनी हैं। उड़ीसा के मंदिरों में रेखा की बनावट निजी विशेषता रखती है। जो कटान या रेखा बुनियादी आकार में आरंभ होती है, वह सीधे लंबवत् पर्याप्त ऊँचाई तक चली जाती है। शिखा के समीप उसमें सुस्पष्ट वक्रता आ जाती है। उड़ीसा मे यह लक्षण दसवीं शती से आरंभ हुआ था।

भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मंदिर में (ई० स० ७५०) यही दो विभाग निर्मित हैं। अतएव, भुवनेश्वर के मंदिर का श्रीगणेश परशुरामेश्वर से हुआ, जिसका गर्भगृह २० फुट चौडा है। दोनों भागों की लंबाई ४८ फुट है, जबकि देवल का शिखर ही ४४ फुट ऊँचा है। इस मंदिर का गर्भगृह चौकोर है, किंतु जगमोहन में दो पंक्तियों में तीन-तीन स्तंभ दीख पड़ते हैं। उनके कारण सारा भाग मध्य वीथी तथा पार्श्व वीथी में बँट गया है। स्तंभ ऊपरी

बोझ को संभाल रहे हैं। परशुरामेश्वर मंदिर की भीतरी दीवार सादी है तथा बाहरी भ ग जटिल रूप से भली-भांति अलंकृत हैं। गर्भगृह तथा जगमोहन की स्थिति पृथक्-पृथक् समझी जाती है; क्योंकि दोनों भागों को एक साथ तैयार नहीं किया गया था। देवल में गर्भगृह सर्वप्रथम निर्मित हुआ। तत्पश्चात् जगमोहन की बारी आई। गर्भगृह तथा जगमोहन के ग्रंथिस्थान पर कुछ अंतर दृष्टिगत होता है, जो पृथकता का द्योतक है। इसीलिए दोनों की निर्माण-तिथियाँ विभिन्न मानी गई हैं।

इस निर्णय पर पहुंचने का एक यह भी कारण है कि दोनों भागों को समुचित रीति से जोड़ा नहीं गया है। यदि दोनो का निर्माण एक साथ ही हुआ, तो भेद के लिए कोई स्थान नही। दोनों में अनियमित रूप से जोड़ है। जगमोहन के बाहरी भाग पर जो खुदाई हुई है, वह गर्भगृह से भिन्न है। शैली तथा मूल विचार ही भिन्न-भिन्न हैं। कुछ खुदे चित्रों में विशेष कलात्मक गुण विद्यमान हैं।

परशुरामेश्वर मंदिर के प्रारंभिक निर्माण का एक यह भी प्रमाण है कि इमारत के निर्माण मे बडे प्रस्तर के टुकड़े का प्रयोग किया गया है। प्रस्तर के कोर को इस प्रकार गु था गया था जिसमे सीमेट, मसाले या गारे की आवश्यकता न रही। इस मंदिर के अर्द्ध स्तंभ पर गुप्तकालीन स्तंभो का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ विद्वान अयहोल की चालुक्य इमारत से भी इसे प्रभावित समझते हैं। यानी भुवनेश्वर की प्रारभिक अवस्था मे उत्तर तथा दक्षिण भारतीय स्थापत्यकला का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। यह कह सकते हैं कि परशुरामेश्वर मदिर उडीसा के मदिरो का प्रतिनिधित्व करता है।

उडीसा के मध्य युग मे दो प्रमुख गौरवमय मंदिरों का निर्माण हुआ था—

(१) भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर और

(२) पुरी का जगन्नाथ मंदिर।

भुवनेश्वर का लिंगराज भारत के मंदिर-निर्माण के इतिहास में श्रेष्ठ माना जा सकता है। यों तो लिंगराज उडीसा का प्रमुख मंदिर है तथा उड़ीसा शैली का सर्वोत्कृष्ट जीवित उदाहरण है। परतु पूर्ण विकसित होने के कारण इसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। लिंगराज मदिर ५२० फुट × ४६५ फुट क्षेत्रफल में विस्तृत परकोटे से घिरा है। इस घेरे के मध्य में लिंगराज मंदिर स्थित है तथा अन्य प्रतिकृतियाँ चारो ओर फैली हैं। इसके अवलोकन से बौद्धस्तूप तथा पूजास्तूप की याद आ जाती है। लिंगराज में

उड़ीसा मंदिर के चारों भागों का विकास स्पष्ट प्रकट होता है। (१) देवल या श्रीमंदिर या विमान यानी गर्भगृह (२) स्तंभयुक्त मंडल अथवा जगमोहन (३) नटमंडप (नृत्य का स्थान) तथा (४) भोगमंडप। इन चारों भागों को एक सीध तथा पंक्ति में बनाया गया है। पिछले दो मंडपों का निर्माण कालांतर में हुआ और इस कारण जगमोहन की पूरब दिशा में प्रवेश द्वार बना था। सबसे प्रभावोत्पादक श्रीमंदिर की मीनार है, जो पूरे नगर से दृष्टिगत होती है। मीनार का आधार एक किनारे पर ५६ फुट लंबा है। ५० फुट की ऊँचाई के बाद मीनार की परिरेखा, जो लंबवत् थी, भीतर झुकी दीख पड़ती है। उसकी ऊँचाई भूमितल से १६० फुट है। मीनार के ऊपरी भाग को आमलक शिला, कलश तथा ध्वज के आकार में विभक्त पाते हैं। लिंगराज में भगवान् शिव का त्रिशूल वर्तमान है। मीनार के मध्य भाग में ऐसी कटान है, जो बाहरी दीवार में ताख बना देती है। उस कोटरिका में सुंदर आकृतियाँ बनी दृष्टिगोचर होती हैं। चारो दिशाओं में सबसे ऊपरी प्रक्षेपण पर गजसिंह की आकृति है।

लिंगराज मंदिर मे विमान के साथ ही जगमोहन तैयार किया गया। वह वर्गाकार न होकर आयताकार निर्मित किया गया और ७२ × ५६ वर्गफुट के क्षेत्रफल मे विस्तीर्ण है। यह ३४ फुट ऊँचा है और उसकी मीनार मे ताख तथा खाँचा का समूह बनाया गया है। जगमोहन की मीनार १०० फुट ऊँची है। नट तथा भोगमंडपों को कालांतर में मंदिर के स्थापत्य मे इस प्रकार जोड़ा गया है कि जगमोहन की बनावट से पृथक् नहीं प्रतीत होता। इस विषय की चर्चा की जा चुकी है कि उड़ीसा शैली में मंदिरों की भीतरी दीवार सादी तथा अनलंकृत होती है। प्रत्येक मंडप मे चार स्तंभ वर्तमान हैं, जो ऊपरी बोझ को सँभाल रहे हैं। सभी दीवार से समान अलंकार रहित नहीं है, किंतु खुदे हैं। बाहरी दीवार पर गोपनीय शृंगारिक दृश्यों का प्रदर्शन है। इसे देखते आश्चर्य होता है कि कलाकार ने जिस पवित्र भावना के साथ भीतरी अंश को आडंबरहीन बनाया तथा आदर्श रूप में संयम रख सके उन्होंने बाहरी भाग को क्यों कर सुनियोजित रूप में खोदा? तक्षण कला की प्रचुर तथा भव्य दृश्य देख कर भी मीनार के शीर्ष पर स्थित प्रस्तर आकर्षक हो जाता है। इस प्रकार लिंगराज मंदिर का गौरवमय आकार-प्रकार दर्शनीय है। यह उड़ीसा शैली के प्रौढ़ मंदिरों का श्रेष्ठतम उदाहरण है। कुमारस्वामी ने लिंगराज की तिथि ई० स० १००० मानी है। भुवनेश्वर नगर आठ हजार मंदिरों से घिरा था। वर्तमान समय मे भी पाँच सौ

मंदिर अच्छी या बुरी दशा मे स्थित है। लिंगराज का गौरव तथा विशिष्टता अद्वितीय है। किंतु उडीसा के अन्य मंदिर भी वैसी बनावट रखते हैं। उसकी श्रेष्ठता की समता नही कर सकते। भुवनेश्वर से छप्पन किलोमीटर दूर हिंदू जनता के प्रधान तीर्थस्थान पुरी मे भी भगवान् जगन्नाथ का मंदिर स्थित है। लिंगराज की तरह विस्तीर्ण तथा चारों तत्त्वों सहित जगन्नाथ का मंदिर बनाया गया था, जो परकोटा से चारों ओर घिरा है। उसके चारकोने घेरे में दो चहारदीवारी मौजूद हैं, जिनके प्रत्येक दिशा में बडे-बडे द्वार बने हैं। पूर्वी मार्ग-द्वार के सामने अरुण स्तंभ खड़ा है। जगन्नाथ का मंदिर लिंगराज के समान मध्य युग मे निर्मित हुआ, जिसकी योजना सर्वथा मिलती-जुलती है। यद्यपि पुरी का मदिर प्रभावोत्पादक है, विशाल स्वरूप वाला तथा परम पवित्र है, तो भी महिमा में लिंगराज से घट कर है। जगन्नाथ मंदिर के चारों भागो की संमिलित लंबाई ३१० फुट तथा चौड़ाई ८० फुट है। मीनार २०० फुट ऊँचा है। स्थापत्यकला की दृष्टि से भुवनेश्वर का लिंगराज जगन्नाथ से अधिक गरिमामय है। जगन्नाथ मदिर के ४४० × ३१० वर्गफुट के घेरे मे छोटी रूपरेखा वाले अनेक मदिर बने है। पुरी में ये छोटे मंदिर ऊँची सतह पर निर्मित है।

अनंत वासुदेव के अतिरिक्त जगन्नाथ भी वैष्णव मदिर है, जिसमें कृष्ण, वलराम एव सुभद्रा की काष्ठ-प्रतिमाएँ स्थापित की गई हैं। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि ये बौद्धमत के त्रिरत्न के द्योतक है। छोटे मंदिर वे प्रधान स्तूप के समीप पूजा स्तूप का स्थान ले सकते है। मंदिर की दीवारों मे विष्णु के अन्य अवतारों की प्रतिमाएँ हैं। नरसिंह मूर्ति के प्रतिमा प्रस्तर पर ऊपरी भाग मे पाँच ध्यानी बुद्ध की मूर्तियां खुदी हैं। इसी प्रकार वराह-प्रतिमा के शिरोभाग पर दो ध्यानी बुद्ध दीख पड़ते हैं। विष्णु की प्रतिमा भी वरद मुद्रा मे है। वैष्णव प्रतिमाओ मे मुद्रा का अभाव रहता है। अत: इनके परीक्षण से यह सुझाव रखा जा सकता है कि मूल बौद्ध मंदिर को तेरहवी सदी मे वैष्णव मदिर में परिवर्तित कर दिया गया। किन्तु कोई अन्य सबल प्रमाण नही है।

ग्यारहवी सदी के बाद भुवनेश्वर के अन्य प्रधान मंदिरों मे मुक्तेश्वर भी प्रसिद्ध है। इसके परीक्षण से उडीसा शैली की स्थापत्यकला के विकसित स्वरूप का ज्ञान होता है। इसकी योजना पंचरथ रीति पर तैयार की गई थी। यह परशुरामेश्वर मदिर के समीप ही मे सिद्धारण्य नामक स्थान

पर स्थित है। मुक्तेश्वर मंदिर के समीप तोरण है, जिसमें दो अलंकृत स्तंभ हैं। जिसका आधार चौकोर है, पर ऊपरी भाग सोलह कोण का है। शिखर पर आमलक दीख पड़ता है। यह मंदिर नीची कुरसी पर निर्मित है। जगमोहन उड़ीसा के पीढ़ा देवल की विशेषता रखता है। गुंबज मे कई कतारें हैं, जो क्रमशः घटती जाती हैं। सबसे ऊपर पवित्र कलश का स्वरूप है, जहाँ सिंह की आकृतियाँ बनी है। तक्षण कला के प्रसंग मे भी यहाँ विकास दीख पड़ता है। केतु को नवग्रह में संमिलित करना, कार्तिकेय तथा गणेश से क्रमशः मुर्गे एवं चूहे (के वाहन) का मेल इस मंदिर की विशेषता है।

उड़ीसा मंदिरों की विकास-शृंखला में भुवनेश्वर के सिद्धेश्वर, केदारेश्वर तथा ब्रह्मेश्वर मंदिरों के नाम लिए जाते हैं। सिद्धारण्य के समीप में प्रथम दोनो मंदिर मध्यम ऊँचाई रखते हैं। मुक्तेश्वर के सदृश सभी योजना मे पंचरथ स्वरूप के साथ निर्मित हुए। कुरसी से ही रेखा आकार को लेकर आरंभ हुए तथा प्रत्येक राहापग (प्रत्येक दीवार के सामने का प्रक्षेपण), से संलग्न गर्जसिंह की आकृतियाँ हैं, जो पिछली उड़ीसा शैली के गुण को प्रकट करता है। परशुरामेश्वर तथा मुक्तेश्वर में गर्जसिंह का अभाव है। सिद्धेश्वर एवं केदारेश्वर मंदिरो की चारो दीवारों पर गर्जसिंह की आकृतियाँ बनाई गई हैं। धार्मिक भावना से संबद्ध पूजा मे कलश (पूर्णघट) की पवित्रता मान कर शिखर के ऊपरी अश पर कलश का आकार स्थिर किया गया था।

ब्रह्मेश्वर मंदिर सिद्धेश्वर एवं केदारेश्वर समूह से भिन्न है। अभिलेख के आधार पर पता चलता है कि यह ग्यारहवी सदी में निर्मित हुआ। इसमें पंचायन समूह का आकार वर्त्तमान है। पहले के मंदिरो से ब्रह्मेश्वर मे विकसित रूप देखते हैं। इसकी दीवार के किनारे गोलाकार होने से सुंदर दीख पड़ते है तथा रेखा नीचे से शीर्ष भाग तक सीधी चली जाती है। इसकी परिरेखा भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर से मिलती-जुलती है। जगमोहन की भी बनावट सुंदर है। अन्य उड़ीसा मंदिरो की तरह सबसे ऊपर आमलक-शिला वर्त्तमान है।

तीसरे समूह के अंतिम उल्लेखनीय मंदिर 'राजारानी' के नाम से प्रसिद्ध है। उड़ीसा के अन्य मंदिरो से यह असाधारण बनावट रखता है। मंदिर पीले बालुदार प्रस्तर का बना है, जिसे 'राजानिआ' कहते हैं। इसी कारण यह राजारानी नाम से विख्यात हो गया। भुवनेश्वर के अन्य मंदिर-समूहों से

राजारानी मंदिरों की बनावट में विकसित स्वरूप देखते हैं। साधारण समाकृति में गर्भगृह वर्गाकार बना है, परतु कई प्रक्षेपण के कारण बाहरी आकार गोल हो गया है। उड़ीसा के अन्य मंदिरो से ऊँचे धरातल पर यह निर्मित है, जो उडीसाशैली से भिन्न है। मीनार से शिखर की प्रतिकृतियाँ भी संबद्ध हैं। मंदिर की दीवार प्रचुर मात्रा में सुंदर रीति से अलंकृत है। अगशिखर को ध्यान मे रख कर मध्य भारत के खजुराहो शिखर के समान राजारानी का रूप हो जाता है। मंदिर की बाहरी दीवार नागकन्या, वृक्षिका, शालभजिका, मिथुन आदि की आकृतियों से अलंकृत है।

उडीसा की स्थापत्यकला की सबसे बड़ी उपलब्धि कोणार्क का सूर्यमंदिर है। यह शब्द कोण + अर्क से बना है, जिसका भाव है—कोण पर सूर्यमंदिर। यह संभव है कि सूर्य की किरणें इस स्थान पर पहुँच कर दक्षिणायन हो जाती हों। इस कारण उस स्थान का कोणार्क नाम पडा। परतु, भौगोलिक स्थिति ऐसी नहीं है। कर्क रेखा इस स्थान के उत्तरी भाग से गुजरती है। यह स्थान कर्क रेखा पर स्थित भी नही है। यही पुरी से ३२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यह मंदिर नरसिंह देव प्रथम (तेरहवी सदी) के शासनकाल में निर्मित हुआ था। मंदिर के भग्नावशेष से ही संतोष करना पड़ता है। वर्षा के कारण काला होते जाने से इसे लोग 'काला पगोडा' 'कहते हैं। कोणार्क सूर्य-रथ के आकार को ध्यान मे रखकर तैयार किया गया था, जिसकी बुनियाद मे सात अलंकृत घोड़े रथ खीचते-से ज्ञात होते हैं। मंदिर ऊँचे धरातल (जगती) पर खड़ा है, जिसमे दस फुट ऊँचे अलंकृत बारह पहिए दिखलायी पड़ते हैं। उसका धुरा ११ इंच तथा सोलह डंडो का वह पहिया है। यहाँ उड़ीसा शैली के चारों (देवल, जगमोहन, नट एव भोग) आकार बने थे, परंतु वर्त्तमान समय मे सबद्ध दीख नहीं पड़ते। संपूर्ण इमारत ८६५ फुट लबे तथा ५४० फुट चौडे प्रागण में बनी है। पूरब दिशा से मदिर में प्रवेश करते है। देवल तथा जगमोहन ऊँचें चबूतरे पर स्थित हैं। इसका पूरा आकार पहिये सहित प्रचुर मात्रा मे अलकृत है। छोटी सीमा मे इतना गभीर अलंकरण आश्चर्य का विषय है। चारो दिशाओ मे केंद्रीय रथ के अनेक प्रक्षेपण बने हैं। मीनार के भग्न हो जाने से इसकी गरिमा नष्ट हो गई है। जगमोहन के ऊपरी भाग मे पिरामिड ऐसा छत तीन आकार सहित निर्मित है। गुंबज के साथ विशाल आमलक शिला दीख पड़ती है। मीनार से संबद्ध प्रस्तर जमीन पर गिरे पड़े है। इसके मूल रूप को ध्यान मे रख कर यही कहना पडता है कि किसी प्रतिभावान कलाकार ने इसकी योजना बनायी होगी।

इसके स्थापत्य में पिछले सैकड़ों वर्षों के अनुभव का उपयोग किया गया होगा। इसलिए इसके प्रत्येक आकार में सामंजस्य तथा मेल है। सभी एक साथ बंधे हैं। धरातल से देवल की मीनार २२५ फुट ऊँची रही होगी। मंदिर की बुनियाद में दो छोटे मंदिरनुमा आकार हैं। गर्भगृह में मानवीय आकार की काले प्रस्तर की सूर्य-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसके विशाल बाह्य भाग में मानव *तथा पशुओं की आकृतियाँ खुदी हैं। शिल्पियों ने लोककथाओं का खुल कर* प्रयोग किया है।

यद्यपि इस स्थान पर उड़ीसा के मंदिरों के बाह्य भागों पर खुदी आकृतियों का विवरण उपस्थित किया जा रहा है, किंतु यह रीति उडीसा शैली में सीमित न थी। मध्य युग के भारतीय मंदिरो में शृंगारिक मूर्तियों की बहुलता दीख पड़ती है। बाह्य दीवारों पर दो प्रकार की खुदाई की गई है—

उड़ीसा-मंदिरों पर शृंगारिक प्रदर्शन

१. धार्मिक भावना से प्रेरित होकर कलाकार भगवान् के विभिन्न रूपों या स्वरूपो की मूर्तियाँ उत्कीर्ण करता रहा।

२. सासारिक प्रकरण को लेकर ऐसी आकृतियाँ बनायी जाती, जो अधार्मिक होते हुए भी विषय-वस्तु से बहुत दूर थी।

इनके देखने से पता चलता है कि कई शताब्दियों के अनुभव द्वारा उनकी खुदाई हुई, जिसमे तत्कालीन मानव-जीवन की बातें उत्कीर्ण रहै। इसमें व्यक्तिविशेष से कोई सबंध न था, वरन् सामूहिक जीवन का प्रदर्शन था। उस प्रसग मे यह नही कहा जा सकता कि धार्मिक विषय या मूर्ति-संबधी कला परिपक्व थी और उच्च कोटि की थी, अपितु सासारिक विषयो पर उसी श्रेणी तथा कलात्मक रीति से कार्य किया जाता था। इसमें कलाकार के निजी जीवन से कोई सबध न था।

मंदिरों की बाह्य दीवार पर उत्कीर्ण आकार या चित्र नाना विषयो के परिचायक थे। उनमे ऐतिहासिक विषय, कथानक, वर्णनात्मक, संगीत प्रदर्शन विभिन्न दशा एवं शृंगार मे व्यस्त मिथुन तथा गृहस्थ जीवन की झाँकी देने वाले विषय खुदे हैं। दिक्पाल तथा मिथुन जोड़ा को अधिक स्थान दिया गया है। मंदिरो की बाह्य खुदाई के देखने से प्रकट होता है कि आकृतियां संपूर्ण मंदिर के दीवार पर फैली हैं।

उड़ीसा शैली के मंदिरों की बाह्य दीवार पर खुदे आकार कलाकार के मस्तिष्क के विचारों को व्यक्त करते हैं। दीवारों पर ताख या गहरे स्थान पर

मूर्तियों को खोदा गया है, जो मंदिर के अंग सदृश हैं। यदि सूक्ष्म तौर पर विचार किया जाए, तो यह कहना यथार्थ होगा कि भारतीय कला में मिथुन का जोड़ा वर्जित न था। यह सोचा न करते कि कामवासना से मनुष्य में शक्ति का संचार होता है। धार्मिक साधना तथा आध्यात्मिक जीवन में कामामत्त विचार के लिए प्रमुख स्थान न था। यों तो एलोरा मे शिव-पार्वती आलिंगन मुद्रा में प्रदर्शित हैं। मिथुन-भावना को साधारण जीवन मे सदा स्थान दिया गया है। अत:, इसके पीछे कोई रहस्य या गोपनीयता के विचार बलवान नहीं थे। उडीसा शैली के मंदिर की बाह्य दीवारो पर कामशास्त्र में वर्णित कामासक्त तथा शृंगारिक अथवा विविध भांति के सभावित यौन-कर्मों का प्रदर्शन लिंगराज, जगन्नाथ तथा कोणार्क के मंदिरों में देखे जा सकते है। इसमे कला के कौशल का प्रश्न नही है, वरन् कलाकारो के मस्तिष्क की उपज है। उनके अवलोकन से प्रकट होता है कि यौन-कर्मों मे मिथुनयुग्म सर्वथा लीन नही है। उसके पीछे कोई शरारत नही दीख पडती, अन्यथा उनमें कर्म के प्रति अनुराग या आसक्ति नहो है। इस तरह के अश्लील प्रदर्शनों के तीन कारण हो सकते हैं—

१ तंत्रमत का प्रभाव,

२ मिथुनयुग्म का सर्वोपरि स्थान और

३. उपासको को उपदेश।

मध्य युग मे तंत्रयान या मंत्रयान का प्रसार पूर्वी भारत मे हो गया था। तंत्र मार्ग मे शक्ति-पुरुष के मेल को महासुख कहते रहे। कामासक्त प्रदर्शनों मे यह विचार काम करता रहा, जो कलाकार की आसक्ति का परिचायक था। अंतिम सुझाव रखा गया है कि उपासको को यह प्रदर्शन उपदेश करता था कि बाह्य जगत मे अपवित्रता एव अश्लीलता है। इन्हें त्याग कर ही भगवान के दर्शन से कल्याण होगा। यही विचार सर्वोत्तम प्रकट होता है।

मध्य भारतीय अथवा खजुराहो शैली

मध्य युग मे खजुराहो चंदेल राजाओं की राजधानी रही। यह मध्यप्रदेश के छत्तरपुर से चालीस किलोमीटर तथा महोबा से छप्पन किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। खजुराहो नाम के विषय मे विभिन्न मत हैं। कहा जाता है कि महल के द्वार के दोनों पार्श्व मे खजूर के वृक्ष थे। एक अभिलेख (गंगदेव शिलालेख) मे खजूर वाहक नाम का उल्लेख है। मुसलमान लेखक अलबेरुनी

ने इसे खजुराह लिखा है तथा इब्नबतूता ने खजुराओ के नाम से इसका उल्लेख किया है। इसी नाम के सागर के किनारे छोटा-सा ग्राम था, जो मंदिर-समूह के कारण संसार मे विख्यात है। बुंदेलखंड के जेजाक भुक्ति के शासक चंदेल नाम से विख्यात थे, जिनका राज्य नवी से तेरहवी सदी तक विस्तृत रहा। दसवी सदी के मध्य मे चंदेल शासन प्रभावशाली एवं शक्तिशाली हो गया। खजुराहो के लेख मे वर्णन आता है कि यशोवर्मन ने कालिंजर को जीत लिया तथा एक विशाल विष्णु मंदिर बनवाया। उसका पुत्र धंग (९५०-१००२ ई०) बडा ही प्रतापी योद्धा था। खजुराहो लेख मे उसकी उपलब्धियों का वर्णन मिलता है। उसने गुर्जर प्रतिहार शासक को परास्त किया। खजुराहो के अनेक मंदिरों के निर्माण का श्रेय धंग को ही है। उसके पौत्र विद्याधर को मुसलमान लेखकों ने महाशक्तिशाली शासक कहा है। ई० स० १०२२ के समीप महमूद के आक्रमण से विद्याधर को झुकना पडा और उसी समय से खजुराहो का महत्त्व जाता रहा। चंदेल नरेशों ने महोबा, अजगढ़ तथा कालिंजर को केंद्र बना कर युद्ध किया था।

चंदेलनरेश शैवमत के अनुयायी थे, किंतु किसी अन्य धर्म के विरोधी नही थे। अतः वैष्णव तथा जैन मंदिर भी खजुराहो मे निर्मित हुए थे।

मध्य प्रदेश के छत्तरपुर मे स्थित खजुराहो के मंदिर नागर वास्तु शैली के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। चंदेल राजा महान् निर्माता तथा कला के आश्रयदाता थे। खजुराहो के समस्त मंदिरों का निर्माण ई० स० ९५०-१०५० के मध्य हुआ था। ये मंदिर आर्य शिखर शैली के गौरवमय उदाहरण उपस्थित करते है।

मध्य प्रदेश शिखर मंदिरो का केंद्रस्थल रहा है और यहाँ मध्य युग से सोलहवी सदी तक आर्य शिखर सहित मंदिरों का निर्माण हुआ था। यद्यपि उडीसा शैली में भी आर्य शिखर वाले मंदिर बने थे, किंतु मध्य प्रदेश के मंदिरों मे सार्थक रूप मे अनेकरूपता दृष्टिगत होती है। इसी प्रदेश मे स्थित ग्वालियर तथा नाचना कुथारा के शिखरयुक्त मंदिरो का उल्लेख किया गया है। उसी प्रसंग में इस अवधि के प्राचीन मंदिरों मे रीवा के समीप महादेव वैद्यनाथ का उल्लेख किया जा सकता है। इन मंदिरो में प्रारंभिक अवस्था के शिखर वर्त्तमान थे, जो भग्नावस्था में पड़े हैं। मध्य भारत के प्रायः मंदिर पंचरथ बनावट के हैं। उड़ीसा के असमान खजुराहो मंदिरों का निर्माण अल्पकाल में ही हुआ था।

खजुराहो के मंदिरों की निजी विशेषता है। स्थापत्यकला की दृष्टि से इस शैली मे निम्नलिखित गुण वर्त्तमान हैं—

(१) परकोटा का अभाव—खजुराहो शैली के मंदिर घेरा मे बने नही थे।

(२) ऊँचे प्रस्तर का चबूतरा—प्रत्येक मदिर का निर्माण ठोस प्रस्तर के सीढ़ीदार चबूतरे पर हुआ था। पूजानिमित्त उस सीढ़ी से मंदिर तक सरलता-पूर्वक पहुँच जाते है। इसके देखने से प्रतीत होता है कि मंदिर का कोई भाग पृथक् अस्तित्व नही रखता, बल्कि सभी एक साथ बँधे है। एक दूसरे से ओत-प्रोत होने के कारण सुसहत वास्तु का रूप ले लेते है।

(३) मंदिर का कोई भाग बहुत ऊँचा नही है। सौ फीट से नीचे ही ऊँचाई है।

(४) मदिर तीन भागो मे बँटा है—

(अ) गर्भगृह

(ब) मंडप—सभामंडप (वर्गाकार है) स्तभयुक्त है।

(स) अर्द्धमडप—प्रवेश बरामदा, जो चारकोना है।

(५) गर्भगृह के समीप गलियारा को अतराल कहते है, जो इसे मंडप से जोड़ता है।

(६) विकसित मंदिरो मे गर्भगृह के चारो तरफ प्रदक्षिणापथ का स्थान सुरक्षित है तथा बाजू के भाग को महामडप कहते है। यानी प्रदक्षिणापथ से संयुक्त महामडप है। इसमे खिड़कियाँ खुलती हैं।

(७) खजुराहो के मदिरो में अर्द्धमंडप से गर्भगृह ऊँचा होता चला गया है यानी ऊँचा उठने का क्रम निश्चित कर दिया गया है।

(८) खजुराहो समूह के मदिरो का बाह्य अलंकरण चारो तरफ बाहरी दीवार के ताख या खोल मे जहाँ मोड़ या उभार दीख पड़ता है, मनुष्य के अर्द्ध आकार मे चित्रवल्लरी, उत्कीर्ण हैं। उस चित्रवल्लरी मे मानव की शोभा-यात्रा दीख पडती है, जिसका अत अज्ञात है। मदिर के अंतर्भागों की बाह्य दीवारो मे गवाक्ष है और उनमे मूर्तियो की समानातर पक्तियाँ उत्कीर्ण है। उनके देखने से कला की पराकाष्ठा मालूम पडती है। खजुराहो के कंदरिया महादेव मदिर की दीवार पर साढे छह सौ आकृतियाँ अथवा मिथुन युग्म बनाए गए हैं।

(९) प्रत्येक भाग के ऊपर मीनार है, अर्द्ध मंडप पर छोटा जो क्रमशः ऊँचा होता चला जाता है।

(१०) उरुशृंग की बनावट – गर्भगृह की मीनार पर चारों तरफ शिखर-नुमा आकार को उरुशृंग कहते है। मंदिर शिखर के निचले भाग से शिखर-नुमा आकार (अंगशिखर) आरंभ होकर ऊपर उठता है और दूसरे उरुशृंग के स्थान तक समाप्त हो जाता है। यह बनावट चारों तरफ मुख्य मीनार के दीवार से जुड़ी रहती है। अंगशिखर की बहुलता ही खजुराहो शैली की विशेषता है। सभी सहसंबद्ध हैं।

खजुराहो मंदिर का शिखर
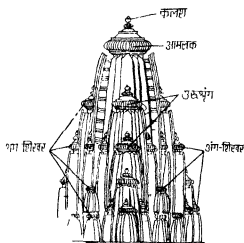
(११) मंदिर की पूरब दिशा मे प्रवेश द्वार—इस द्वार तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं, जो धरातल से ऊँचाई पर स्थित हैं।

(१२) गुलाबी या मटियाले रंग के प्रस्तर - खजुराहो के समीप चालीस किलोमीटर पर स्थित पन्ना की खदान से गुलाबी या हल्के-पीले रंग के प्रस्तर सुलभ हैं, जिनका प्रयोग मंदिर-निर्माण में किया गया है।

(१३) खजुराहो समूह की अंतस्थ दीवारो की खुदाई—खजुराहो शैली के मंदिरो की आंतरिक दीवार प्रचुर मात्रा में खुदी हैं।

(१४) शिखर पर आमलक, उस पर स्तूपिका और कलश सभी मंदिरों पर बनाए गए हैं।

(१५) खजुराहो मंदिरो मे मडप २५ वर्ग फुट में विस्तृत है, परंतु इस छोटे भाग में ऊपरी छत को सभालने के लिए स्तंभ खड़े किए गए हैं। चार स्तंभ पर प्रस्तर को शहतीर द्वारा संपूर्ण बोझ को उठाया गया है। स्तंभ के सिरे पर विरूप वामन-आकृतियाँ है। ऐसा लगता है कि वे छत को सहारा दे रही हैं। खजुराहो समूह यानी आर्य शिखर के स्तंभो के अलंकरण मे विकृत रूप वाले वामन तथा शार्दूल की विशेष स्थित पायी जाती है। उसके निचले भाग में स्त्रियो की आकृतियाँ उत्कीर्ण है, जो आकर्षक तथा अतीव सुंदर है एव नृत्य की मुद्रा में प्रकट होती है। मदिरों की भीतरी छतें भी चमत्कार-पूर्ण ढंग से सुशोभित है। ब्राउन का मत है कि दूसरे कलाकार ने ही भीतरी छत का अलकरण किया होगा। स्थापत्यकला की दृष्टि से मंदिर के भीतरी प्रस्तरो की पृथक् खुदाई की गई, तत्पश्चात् निर्माण करते समय उन्हें समुचित स्थान पर ठीक-ठीक बैठा दिया गया। इसी प्रकार मंदिर के प्रत्येक टुकड़े को अलग ही सुसंस्कृत कर सुसज्जित किया गया और समयानुकूल उन्हें उठा कर उचित जगह पर जोड़ दिया गया। इस प्रकार मंदिर के भीतरी भाग का अलंकरण संपन्न किया गया था। सभी बातों पर विचार करने से प्रकट होता है कि ऐसी जटिल परिकल्पना मे धीरता के साथ तथा चतुराई से प्रस्तर की खुदाई स धारण बात न थी। मदिर के भीतर अंधकारमय स्थिति से समस्या और उलझती रही, तो भी भारतीय कलाकारो ने कमाल दिखाया।

खजुराहो के बिखरे ग्रामीण क्षेत्र मे तीस मदिर है, जिनमे कुछ भग्न है। वही तीनो मतो—वैष्णव, शैव तथा जैन के मंदिर विद्यमान हैं। शैवमत का प्रधान मदिर कदरिया महादेव तथा विश्वनाथ के नाम से विख्यात है। वैष्णव-मदिरो मे चतुर्भुज ही वर्त्तमान है। पार्श्वनाथ का मदिर जैन मत के प्रसार की याद दिलाता है। सभी मदिरो मे मध्य भारतीय मंदिरो के गुण वर्त्तमान है। योजना तथा बनावट मे समानता होते हुए खजुराहो शैली के नाम से उल्लिखित किए गए हैं। ऊँचे चबूतरे पर निर्मित मदिर मे मुख्य शिखर से सबद्ध अंगशिखर की पुनरावृत्ति विशेष उल्लेखनीय है। इसकी बनावट के कारण ही मध्य भारत के मंदिर पूर्ण रूप से विकसित समझे जाते हैं।

खजुराहो के इतिहास मे बामन तथा आदिनाथ के मंदिर प्राथमिक अवस्था के द्योतक हैं। बनावट समान है। गर्भगृह योजना मे सप्तरथ प्रकार

का है। इनकी मीनार की परिरेखा विच्छिन्न नही है, यद्यपि अंगशिखर (उरुशृंग) की परिकल्पना यथावत् है। गर्भगृह की दीवारें सुंदर रीति से गढ़ी गई तथा खुदी हैं। आदिनाथ मंदिर पार्श्वनाथ के पार्श्व में निर्मित है। इसके मंडप तथा अनुलग्न प्रस्तर के स्थान पर ईंट दीख पड़ती है। वामन-मदिर से भी इसका शिखर ऊँचा है। यही दोनों मंदिरों के आधार पर खजुराहों के मंदिरों मे विकास का क्रम आरंभ हुआ, जिसने पूर्णता को प्राप्त कर लिया।

दूसरे समूह में (शिखर तथा अंगशिखर की पुनरावृत्ति) उन मदिरों की गणना होती है, जिसमें उरुशृंग गुच्छा के रूप में मीनार से जुड़े हैं। देवी जगदंबा, चतुर्भुज, पार्श्वनाथ, विश्वनाथ तथा अंतिम सीढ़ी पर कंदरिया महादेव मदिरों का उल्लेख किया जाता है। मूलत: सभी एक समान बनावट तथा रचना शैली के हैं। इनमे सभी गुण विद्यमान हैं, जिनका उल्लेख किया जा चुका है। दूसरे समूह के अंतिम चार मंदिरो मे अंदर गर्भगृह की परिधि में प्रदक्षिणापथ संयुक्त मंडप है। मंडप मे ही तीन ओर वातायन है। विश्वनाथ तथा चतुर्भुज मदिरो की बनावट एक समान है। प्रत्येक कोने पर पूरक छोटे मदिर बने है, जिससे इसे पचायतन कहते है। विश्वनाथ ८७ × ४६ वर्गफुट मे तथा चतुर्भुज मदिर ८५ × ४४ वर्गफुट में विस्तृत है। विश्वनाथ मदिर पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि उसे १००० ई० मे बनाया गया था। देवी जगदंबा का क्षेत्रफल ७७ × ५० वर्गफुट है और सभी भाग अनुपात से बने हैं। इसमें प्रदक्षिणापथ का अभाव है। जैन मंदिरो की योजना भी अधिक भिन्न नही है। बाह्य दीवार के पुश्ता तथा ताख मे मूर्तियाँ बैठायी गई हैं। उनसे मंदिर की बनावट मे कोई रुकावट नही पैदा हो सकी। इसी कारण प्रक्षेपण भव्य रीति से खुदे हैं। वहाँ स्तंभयुक्त बड़े ताख मे प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। दूसरे जैन मदिर जिननाथ का है, जो ६० फुट लंबा तथा ३० फुट चौड़ा है। प्रत्येक दिशा मे प्रक्षेपण के कारण कुछ भाग बाहर निकले है। अंदर एक आयताकार कमरा है, जिसमे दो खंड हैं (१) गर्भगृह (२) स्तंभयुक्त बरामदा। इन दोनों को घिरे हुए प्रदक्षिणापथ हैं।

खजुराहो का सबसे प्रमुख मंदिर कंदरिया महादेव का है। संभवतः यह नाम (कंदरिया) कंदर्पी का विकृत रूप है। कंदर्प कामदेव का दूसरा नाम है और शिव ने उसका विनाश किया, अतएव कंदर्पी कहलाए। उस कथानक के स्मरण मे कंदरिया महादेव का मंदिर निर्मित हुआ था। इसकी लंबाई १०२

फुट, चौड़ाई ६६ फुट तथा शिखर की ऊँचाई १०१ फुट है। मंदिर की प्रत्येक इंच दीवार आकृतियों से भरी है। उस खुदाई में मकर, विद्याधर, संगीतज्ञ, बाघ तथा कामासक्त मिथुन आकृतियां स्पष्ट हैं। बाह्य भाग में देवी, देवता, प्रेमी एवं प्रेमिका तथा देवदूत के रूपचित्र उत्कीर्ण हैं। यदि कंदरिया मंदिर के अर्द्धमंदिर के स्वरूप को सोचें, तो प्रकट होता है कि प्रस्तर की राजगीरी की एक विशाल राशि है, जो क्रमशः चोटी की ओर ऊँची होती जाती है। इसके गर्भगृह की सप्तरथ योजना मंदिर की पूर्णता पर प्रकाश डालती है। कंदिरया महादेव मंदिर मे नौ सौ के आसपास रूपचित्र खुदे हैं, जो आदमकद हैं। इससे स्थापत्यकला को सुंदरता ही नहीं मिली, बल्कि प्रस्तर आकृतियो मे जीवन भी भर दिया गया है। रूपचित्र सजीव और प्राणदायक प्रतीत होते हैं।

कंदरिया महादेव का मंदिर एक ऊँचे प्रस्तर पर बना है, जहाँ सीढ़ी के सहारे पहुँच जाते है। देखने से उसकी मर्यादा झलकती है। मंदिर का प्रवेश-द्वार अतीव भव्य रीति से खुदा है। सामने के प्रवेशमार्ग से चौकोर अर्द्ध-मंडप भाग मे चले जाते हैं। तत्पश्चात् वर्गाकार मंडप है। मंडप के बाजू का भाग गर्भगृह के चारों तरफ विस्तृत है तथा बार्जा के वातायन (खिड़की) से जुड़ जाता है। इसमे विभिन्न प्रकार की बनावट एक सतह मे नही है। अर्द्ध-मडप से ऊँचा मंडप स्थान है। उससे अंतराल की स्थिति ऊंची है। वहाँ से कुछ सीढियाँ चढकर गर्भगृह मे पहुँचते है। इस प्रकार सभी समतल मे नही है। यह कहा जा सकता है कि मध्य भारत मे स्थापत्यकला की जो शैली विकसित हुई, उसका समापन कदरिया महादेव मंदिर मे पाते है। यह खजुराहो के मदिरों का मुकुटमणि है।

इसकी दीवारों पर अत्यंत सुंदर मूर्तियाँ उकेरी हैं। दसवी सदी मे योगिनी संप्रदाय का जोर था। इस पर वाममार्गी विचारों का प्रभाव पड़ा। उनके विचार में जीवन का क्रम शाश्वत् रूप मे चलता है। भौतिक जीवन का विनाश होता है। शिव शक्ति का मिलन जीवन का उद्देश्य है। उस आध्यात्मिक मिलन का सासारिक रूप मैथुन है। गुप्त तंत्र मे दीक्षित होकर मैथुन आदि वामाचार की क्रिया करते हैं। इस प्रकार कंदरिया महादेव के मंदिरों पर उकेरे मिथुन या युग्म प्रेमी की आकृतियाँ विद्यमान हैं। नायिकाएँ शृंगारिक मुद्राओं मे उत्कीर्ण हैं। तरह-तरह के शारीरिक प्रसाधन, प्रियतम को प्रसन्न करने की मुद्राएँ आदि, बाँसुरी की तान, पाँवों में नूपुर धारण

करना, सुरमा लगाना, दर्पण मे मुख देखना— शृंगारिक शिल्प की पराकाष्ठा बतलाते हैं। उनसे प्रगाढ़ तन्मयता तथा आनंद की चरम सीमा व्यक्त हो रही है।

मध्य भारत के मंदिरों का विवरण समाप्त करते समय जबलपुर के समीप मंदिर भेड़ाघाट पर स्थित चौसठ योगिनी का उल्लेख आवश्यक है। चौकोर मंदिरों के अतिरिक्त गोलाकार मंदिर का यह नमूना है। गोलाकार आंगन के चारो तरफ प्रार्थना निमित्त स्तंभश्रेणियाँ सहित स्थान है, जिसमें योगिनियाँ स्थापित की गई हैं। उस स्थान पर अस्सी प्रार्थना-स्थल हैं। मध्य मंदिर में उमामहेश्वर की प्रतिमा स्थापित है। खजुराहो के चौसठ योगिनी मंदिर की बनावट चार कोना है। वह चतुष्कोण भाग १०२ × ६० वर्ग फुट मे फैला है। चौंसठ वाह्य पूजा स्थल दीख पड़ते हैं। सभी पर शिखरनुमा मीनार हैं। नागर शिखर के ऊपरी भाग मे दो आमलक हैं। इस प्रकार मध्य भारत में खजुराहो शैली की ही प्रधानता रही।

राजपुताना और मध्य भारत शैली

राजपुताना मध्य भारत तथा समीपवर्ती प्रदेशो में प्रथम सहस्राब्दि तक मंदिर-निर्माण का कार्य प्रगति पर रहा। उस भाग मे गुप्तकालीन परंपरा कार्य कर रही थी। छठी शती तक गुप्तनरेशो ने स्थापत्यकला के विकास मे हाथ बँटाया था। उस स्वर्णयुग मे कला ने जो गरिमा का स्थान प्राप्त कर लिया था, वह इतिहास के पृष्ठो मे लिखा है। गुप्तयुगी निर्माण का प्रभाव कालातर मे हुआ और राजपुताना या मध्य भारत मे स्थापत्यकला गुप्तकाल के निर्माण की अनुगामिनी हुई। गुप्त शासन मे पश्चिमी मालवा की राजधानी उज्जयिनी को गुप्त सम्राट् द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने दूसरी राजधानी घोषित की। उसके राजसभा में नवरत्न रहते थे। कविकुल शिरोमणि कालिदास की कृतियों में तत्कालीन समाज का चित्र सामने आता है। उस स्वर्णयुग में साहित्य के साथ कला भी चरमोन्नति को प्राप्त कर चुकी थी। कला के स्वभाविक गुण के कारण आनंद, हर्ष एवं उल्लास का वातावरण पैदा हुआ और कलाकारों ने शताब्दियों तक मनोरम एवं सुंदर कल्पनायुक्त कला का विकास किया। कला ही मनुष्यो के आतरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है। यह सही है कि गुप्तकाल में मनुष्यों का कल्पना एवं विचार सौंदर्य मृदुलता, कोमलता तथा मधुरता से भरा पड़ा था। साहित्य के उच्च भावात्मक

विचारों के वातावरण मे दृश्य कला पर प्रभाव न पड़ना ही अस्वाभाविक था। कालिदास के काव्यों में ही कला संबंधी विचार भरे पड़े हैं।

गुप्त सम्राटों ने कलाप्रेमी होकर इसके संवर्द्धन में हाथ बँटाया तथा मंदिर का निर्माण किया। द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने विदिसा के समीप गुहा खुदवा कर शेषशायी विष्णु तथा वराह-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। उसके पुत्र प्रथम कुमारगुप्त के शासन मे मंदसोर (दशपुर, मालवा राजस्थान) मे सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ था।

श्रेणीभूतै: भवनमतुलं कारितं दीप्त रश्मे।

(का० इ० इ० भा० ३, पृ० ८१)

द्वितीय चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्वयं विष्णुध्वज की स्थापना की थी, जो आजकल मेहरौली (दिल्ली के समीप) मे स्थित है। स्कंदगुप्त द्वारा ऐसे कार्यों का विवरण गुप्तलेखो मे मिलता है। उसी युग मे एरण मे भी स्थापत्य-कला की प्रगति धीमी न रही। इससे यह प्रमाणित होता है कि गुप्तकाल में राजा, प्रजा तथा जनता धार्मिक कार्यों में रत रहा करती थी। यही कारण है कि गुप्तयुग के कला-परंपरा का मध्य युग में अनुगमन किया गया।

ऐसी श्रेष्ठ कलाकृतियाँ ऐसे भाग में विकसित हुई थी, जिन पर इस्लाम का आक्रमण होता रहा। मुल्तान तथा सिंध पर अधिकार करने के पश्चात् उनका ध्यान राजपुताना की ओर केंद्रित हो गया। गुप्त शासन का अंत हो जाने पर राजपुताना का भूभाग गुर्जर प्रतिहारो के अधिकार मे आ गया था। उनके लेख बतलाते है कि जोधपुर के समीप प्रतिहारनरेश ने 'सिद्धेश्वर महादेव' का मदिर-निर्माण किया था—

पुष्करिणी कारिता यन श्रेतौ तीर्थ्ये च पत्तनम्।

सिद्धेश्वरो महादेवः कारितः तुंग मंदिरः॥

बाउक की जोधपुर प्रशस्ति, (देखिए प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन भा० २, पृ० ३४७)

भोज की ग्वालियर प्रशस्ति मे भी वर्णन मिलता है कि गुर्जर प्रतिहार-नरेश ने अपने अंत पुर मे भगवान् विष्णु का मंदिर बनवाया था—

अत पुरपुरं नाम्ना व्यधामि नरकद्विष·।

(वही भा० २, पृ० ३७८)

इन सब उद्धरणों से पता चलता है कि राजपुताने मे मदिरो का निर्माण मध्य युग (१० वी सदी) तक होता रहा। आठवीं, नवीं शताब्दियो में गुर्जर प्रतिहार राजा भी स्थापत्यकला मे सहायता करते रहे।

इस्लाम के भारत में प्रवेश हो जाने पर उत्तर-पश्चिम दिशा से आक्रमण होने लगे। गुर्जर प्रतिहार नरेश राजपुताने में उनकी प्रगति में बाधक थे। अतः, युद्ध होता रहा। ग्वालियर प्रशस्ति में वर्णन आता है कि आठवी सदी में नागभट्ट प्रथम (प्रतिहार राजा) ने म्लेच्छों (मुसलमानों) को परास्त किया था। इस प्रकार युद्ध चलता रहा। गुर्जर प्रतिहार राजाओं की राजधानी कन्नौज हो जाने पर इस्लामी सेनाओं को साहस मिला। पश्चिमी भारत, राजपुताना तथा मध्य भारत मे प्रवेश कर उन्होने धार्मिक केंद्रों का विनाश किया और उसी सिलसिले में मदिरो को नष्ट-भ्रष्ट किया। राजपुताने में मंदिरो के ध्वंसावशेष उस कहानी को सुनाते हैं। अतएव, उत्तर गुप्तयुगीन (८ वीं से ११ वीं सदी तक) स्थापत्यकला के नमूने बहुत कम मिलते हैं। उस काल के मंदिरो की बनावट या शैली का अनुमान दिल्ली तथा अजमेर की इस्लामी इमारतो के समीप में बिखरे भग्नावशेष से हो जाता है।

लेखो के आधार पर ज्ञात होता है कि छब्बीस मदिरो को नष्ट कर दिल्ली की मसजिद कुतुब के लिए जगह बनायी गई या उसी भू-भाग पर मसजिद बनी। उसके स्तभों की संख्या २४० है। मंदिर के दो स्तंभों को जोड कर मसजिद का अकेला स्तंभ तैयार किया गया है। अजमेर की इमारत बड़ी है, जिसमें एक हजार स्तंभों का प्रयोग हुआ है। अनुमानतः पचास मंदिरों को मलवे से उठाकर उनको मसजिद में स्थिर किया गया था। इस कारण दिल्ली से राजपुताने तक देशज भव्य इमातों का अभाव है। उन मंदिरों के प्रस्तर-स्तंभो एवं सामग्रियों का उपयोग ईस्लामी इमारत बनाने में किया गया। मेहरौली तथा अन्य मजजिदो में प्रयुक्त सुंदर स्तंभो को देखने से उत्तर गुप्तकालीन मंदिरों की महिमा का परिज्ञान हो जाता है। उन मंदिर-सामग्रियों को हटा कर नई इमारतों को अधिक भव्य बनाने के लिए ही स्थान-स्थान पर स्तभ आदि को जोड़ दिया गया, ताकि वह दृष्टि से ओझल हो जाय।

राजपुताने में जयपुर के समीप वैराट् में प्राचीनतम मंदिर के अवशेष मिले हैं। चितौरगढ़ के नजदीक नागरी के मंदिर मे शिखर तथा आमलक प्रकाश में आए हैं। इससे प्रकट होता है कि पाँचवी शती के गुप्त शिखर का वहाँ अनुकरण किया गया था। कालातर में जो मदिर निर्मित हुए, उनके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं है। आठवी शताब्दी के पश्चात् निर्मित मंदिरों की वास्तुकला का परिज्ञान हो जाता है। जोधपुर से उत्तर-पश्चिम ५६ किलोमाटर की दूरी पर ओसिया नामक स्थान है। यह समृद्धशालीनगर था; जहाँ ब्राह्मण तथा जैन

मंदिरो को मिला कर बीस मंदिर निर्मित हुए थे। आठवी-नवी सदी के मंदिरों (बारह संख्या में) में शिखरों का विकास दिखलायी पडता है और उनमे स्थानीय गुणों का अभाव है। दूसरे समूह के मदिरो मे स्थानीय विशेषताए स्पष्ट हो गई हैं। वे मंदिरो मे एक दूसरे से भिन्न है, यानी कोई दो मदिर एक-जैसा नही है।

हरिहर नामक मंदिर योजना मे पचरत्न प्रकार का है। इसे पंचायत भी कहते है। शिखर के ऊपरी भाग मे आमलक बना है। झालरापाटन के मदिर मे विक्रम सवत ८७२ (ई० स० ८१५) लेख खुदा है, जिससे ज्ञात होता है कि गुर्जर प्रतिहार नरेश द्वितीय नागभट्ट के समय मे तैयार हुआ था। उसी प्रकार ओसिया का महावीर मदिर वत्सराज (द्वितीय नागभट्ट के पिता) के शासनकाल में निर्मित हुआ। उन लेखो मे राजपुताने के राजपूत मदिरो के इतिहास पर प्रकाश पडता है। डा० स्टेलाक्रामृश ने उनका अध्ययन कर अपना विचार प्रकट किया है कि यद्यपि ओसिया मदिर छोटे आकार के है तथापि बनावट की स्पष्टता तथा अनुपात मे आदर्श उपस्थित करते है। इमारतो के प्रकरण या मूल विषय के विचार में सुदर नमूना उपस्थित करते है। ओसिया के पचायतन मदिरों मे केंद्रीय तथा पार्श्व के देवस्थानो को देखने से प्रकट होता है कि शिखर वाले मदिर-समूह (भग्न हो जाने पर भी) प्रमुख स्थान रखते है। सभी बातो मे सार्थकता दीख पड़ती। इस स्थान के सूर्यमदिर के प्रारभिक बनावट मे एक और मंडप की वृद्धि हुई है। इस मंडप मे स्तंभ-युक्त खुला कमरा है, जिसके आगे छत मे ढाल है और सामने ड्योढ़ी है। इसमे अलंकृत तोरण है जिससे खुले अर्द्धमंडप, सभा एवं गर्भगृह की ओर रास्ता जाता है। यह ओसिया के मंदिरों का सिरमौर माना जाता है और भव्यता के लिए विख्यात है।

ओसिया मे कई ऐसे मदिर स्थित हैं, जिनकी योजना शिखर-शैली से भिन्न है। इनकी निजी बनावट है। यद्यपि भग्नावस्था मे कुछ मंदिर हैं, उसमे चार कोना आयात का स्वरूप दीखता है। ओसिया की छोटी स्तंभयुक्त ड्योढी मध्य भारत के मदिरों के अंतराल के समान है। सामान्यत. राजपुताना तथा मध्य भारत मे शिखर का आरंभ समकालीन है। मुख्य शिखर से अंगशिखरो का संवद्ध गुच्छा इनकी विशेषता है।

ओसिया के पिछले मदिरो को राजपूत शैली के (विशिष्ट प्रकार के) क्रमिक विकास मे महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस श्रेणी मे —

(१) महावीर मदिर,

(२) सचिय माता मंदिर तथा

(३) पिपला माता मंदिर की गणना होती है। इनमे अंगशिखर (शिखर-नुमा आकार) की सख्या कम है, परंतु स्पष्टतया उसकी अभिव्यंजना करते हैं। राजपुताने के मंदिरो की यह एक विशेषता रही है। इन मदिरों की मूल योजना मे स्तंभ तथा तोरण का समावेश संगठित रूप मे किया गया है। सचिय माता मंदिर के केंद्रीय मंडप में आठ कोण वाले स्तंभ खडे है। इसका आरंभ प्रायः ग्यारहवी शताब्दी मे हुआ, जिसका विकास पिपलामाता मदिर मे देखते है। वहाँ सुव्यस्थित ढग से मंडप मे तीस स्तभ हैं, जो ऊपरी बोझ को सँभाले है। राजपूत शैली का यह विशिष्ट लक्षण है तथा आबू पर्वत के मदिरों मे स्पष्ट एव विकास को प्राप्त किया है। ओसिया के मंदिरों के दरवाजो मे कलाकारो ने अपनी कल्पना तथा कुशलता का परिचय दिया है। इसका एक और कारण यह भी है कि प्रवेशद्वार सीधा गर्भगृह मे खुलता है, इसलिए कलाकारों का ध्यान केंद्रित हो गया। उस स्थान को ईश्वरीय मान कर कलाविदो ने प्रतीक तथा प्रतिमा के द्वारा चित्रित किया, अलकृत किया या वर्णित किया। उत्कीर्ण लोकवार्ता एव पौराणिक कथाओं को जनसाधारण के लिए प्रस्तुत किया गया है। द्वार के ऊपरी चौखट नवग्रह (रवि, चंद्र, मगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु) की आकृतियो से सुशोभित है।

ओसिया के प्रवेशद्वार के चौखट नए ढंग से उत्कीर्ण है। गुप्त युग के चौखटो के निचले भाग मे वाहनसहित गंगा-यमुना की आकृतियाँ गुप्तमंदिरों के द्वार की विशेषता बतलाती है। किंतु, इस भू-भाग के मंदिर के दरवाजे नवीनता लिए चित्रित है। दरवाजे के दोनों पार्श्व चौखटो के ऊपरी कोने में गगा-यमुना की आकृतियाँ खुदी दीख पडती है। सभवतः उत्तर गुप्तकाल (छठी सदी के पश्चात्) से यह तरीका अपनाया गया और देवियो की प्रतिमाओं को निचले भाग से ऊपरी कोने मे स्थित किया गया। यह तो निश्चित है कि स्वर्णयुग के विचारों का प्रस्फुटन उत्तर-गुप्तकाल मे भी दीख पड़ता है। यद्यपि नए वास्तु-अलकरण का आरभ गुप्त युग मे हुआ और नए रचनात्मक या मौलिक प्रेरणाओ का शुभारभ उस युग की विशेषता है, परंतु उसकी अभिव्यक्ति तथा पुष्पण छठी सदी के पश्चात् हुआ, जिस पर स्थान एवं काल का प्रभाव स्पष्ट है। सभी पुष्पित भावनाओं का स्वागत ओसिया के मंदिर में देखते हैं अथवा उनका स्पष्टीकरण हुआ। इस सांस्कृतिक प्रवाह को क्षेत्रीय नहीं कह सकते, अपितु यह भारत के अधिक भू-भाग मे प्रतिध्वनित हुआ। प्रथम

सहस्राब्दि के उत्तरार्द्ध में सृजनात्मक विचारों का अत्यंत उत्कर्ष हुआ तथा उच्च श्रेणी के कलात्मक उदाहरण प्रस्तुत किए गए। भारतवर्ष के स्थापत्य-कला के इतिहास में यह महत्वपूर्ण समय माना जा सकता है, जिस समय से पर्वत-चट्टानों को खोदकर भवन बनाने का कार्य प्रायः समाप्त हो गया और निर्माणपरक (Stuctural form) इमारतों का श्रीगणेश हुआ। इससे भारतीय कला के उत्तरोत्तर उत्साह तथा प्रगति की सफलता के चित्र सामने आते हैं।

राजस्थान के जैन मंदिर

भारतवर्ष में ऐसी कोई स्थापत्यकला की शैली नहीं है, जिसे जैन-शैली कहा जा सके। किंतु, राजपुताने मे जैन मंदिर-समूह की निजी विशेषता है। जिस समय बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मानुयायी पर्वत खोद कर इमारतें तैयार करने लगे, उसी युग में जैनियों ने भी अपने पूजास्थल को निश्चित किया। पर्वतों को खोदकर या प्रस्तर को जोड़ कर इमारतें तैयार की। उन सबका लक्षण एक-सा था और वे उस काल की विशेषताओं से युक्त थे। जैन कलाकारो ने पर्वती स्थानो मे जैन मदिर खोद कर उसके शिखर पर भी जैन देवालयों का निर्माण किया, जिससे वह स्थान 'मंदिर-नगर' बन गया। भारत मे प्राचीन जैन मंदिरों की बहुलता नही है, जितनी अधिकता मध्ययुग (१५वी सदी) में दीख पड़ती है। स्यात् इसका यह कारण हो सकता है कि जीर्ण मंदिरो के स्थान पर जैनियों ने नए मदिर बनवाए। अतः, भग्नावशेष का भी अभाव है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि पुराने मंदिरो को धर्मान्ध जनता ने नष्ट कर दिया।

राजस्थान के जैन मदिरों मे ओसिया के महावीर मंदिर के अतिरिक्त कुंभारिया के जैन मदिर उल्लेखनीय हैं। इनकी विशेषता यह है कि जो आकार प्रकार अथवा लक्षण दक्षिण राजस्थान के जैन मंदिरों में आरंभ हुआ, वही विकसित होकर समष्टि जैन तीर्थों मे स्थायी हो गया। इसमे दोहरा आमलक तथा अगशिखर युक्त शीर्ष-शिखर दीख पड़ता है। इसे मध्य भारतीय शैली का अनुकरण मान सकते हैं। उस समूह मे आबू पर्वत पर नेमिनाथ तथा पार्श्व-नाथ मदिरों की शिल्पी विशेषता है। पार्श्वनाथ मंदिर में स्तंभ अत्यत उत्कृष्ट ढंग पर बने हैं, जिन स्तंभो के शीर्ष गौरवमय हैं। उनका लावण्य अद्वितीय है। सभी स्तंभ केंद्रीय मीनार को संभाले हुए है। उसी क्षेत्र में आलंकारिक मेहराब बने हैं। स्टेलाक्रामृश ने उनकी मनोहारिता का वर्णन किया है (आर्ट ऑफ इंडिया, पृष्ठ २१०)। पार्श्वनाथ मंदिर मे राजस्थान के मकरान नामक स्थान से

उपलब्ध संगमरमर को अद्वितीय रूप मे प्रयोग किया गया है। जैन मंदिरों को काले तथा सफेद संगमरमर प्रस्तर से सुसज्जित किया गया। कुंभारिया के जैन मंदिर समूह मे जो विशिष्टताएँ वर्त्तमान है, उनका विकसित रूप आबू पर्वत के समीप निर्मित चार मंदिरो मे देखते हैं, विशेषतया देलवाडा उल्लेखनीय है। गुजरात के प्रथम सोलंकी शासक भीमदेव के मंत्री विमलशाह ने देलवाड़ा (११वी सदी) मे विमलसाही नामक प्रथम जैन मंदिर बनवाया था। यह मंदिर ९८ फुट लंबे और ४८ फुट चौड़े क्षेत्रफल मे विस्तृत है तथा ऊँची चहारदीवारी मे घिरा है। इसमे पचास से भी अधिक कक्ष हैं, जिनमे किसी तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसमे सूक्ष्म अलंकरण-कार्य दीख पड़ते हैं। जैन मंदिरों मे प्रचुर अलंकार के कारण यह सर्वोत्तम माना गया है। इसके पश्चात् आबू पर्वत पर तेजपाल का मंदिर स्थापत्यकला की सुंदरता लिए निर्मित हुआ था। तेजपाल का मंदिर विमलसाही की ही स्वाभाविक परिणति है। इसके उत्कीर्ण शिल्प नमूनो मे सजीवता का अभाव है, परंतु कारीगरो ने सफाई तथा बारीकी मे कुशलतापूर्वक उसे पूरा कर दिखाया है। मंदिर की एक विशेषता ठोस संगमरमर का लटकन है, जो स्फटिकमणि से निर्मित प्रकट होता है। उसे चारो तरफ गोलाई मे खोद कर पुष्प बनाया गया है। अनेक आकृतियाँ लंबवत् प्रस्तर पर उत्कीर्ण हैं। उसकी सुंदरता वर्णनातीत है। गर्भगृह मे नेमिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित है तथा कक्ष के द्वार मंडपो पर उस देव की जीवन-कथाएँ अंकित है। आबू पर्वत पर जैन मंदिर का समूह है। पर्वत के शिखर पर मंदिर-निर्माण का होड़-सा लग गया था; क्योंकि ऊँचे पर्वत पर स्थान को पुण्यतर तथा देवतागण के लिए पवित्रतम मानते थे। जैन कला मे मंदिर को एक ऊँचे परकोट से घिरा रखते तथा चारों तरफ कोठरियाँ बना रहती थीं। आँगन मे परंपरागत स्थापत्यकला का अनुसरण करते थे। उन अंधेरी कोठरियो मे जैन साधु-संत या देवतागण की बैठी प्रतिमाएँ स्थापित दीख पड़ती है। १४५ फुट लंबे तथा ९५ फुट चौड़े आँगन मे सारी कोठरियाँ बनी है। विमल मंदिर का बाहरी भाग अत्यंत सादा है, किंतु अंदर का स्थान अलंकृत है। उस मंदिर की पूर्वी दिशा मे प्रवेशद्वार है, जिससे छह स्तंभो की मीनार सहित डयोढी सलग्न है। उसके पश्चात् छत से ढँका आँगन है। उसी से सबद्ध स्तंभो से निर्मित द्वार मंडप है। जिसके सामने गर्भगृह है। सम्मुख का कक्ष मध्यवीथी का काम करता है। उस भाग की दो पंक्तियों मे स्तंभ वर्त्तमान है, जिसकी एक दिशा मे तीर्थमंदिर स्थित है। उस

भाग के विस्तार का परिज्ञान उन स्तंभो की दूरी से हो जाता है। मध्यवीथी व्यास मे २५ फुट है और स्तंभो की बंडेरी सतह से बारह फुट ऊँची है। उन पर अवलंबित मीनार ३० फुट ऊँची बनी है। उस स्तंभ के ब्रैकेट के चारों भाग में वामन-आकृतियाँ बनी है, जो विमल शैली के मदिरो की विशेषता बतलाती हैं।

विमलमंदिर के अंदर के समस्त भाग, स्तंभ तथा छत के भीतरी भाग के संगमरमर को शिल्पकारो ने इस सुदरता से सुशोभित किया है, सजाया है, अलंकृत किया है, जिसे अद्वितीय कहेगे। मीनार के भाग को समविंदु वृत्त मे विभक्त किया गया है। मानव तथा पशु की आकृतियाँ खुदी है। कुछ ऊँची ढलाई पर ताम्र बनी है, जिनमे नर्तकी की मूर्त्तियाँ दीख पड़ती है। स्थापत्य-कला की विशेषता के कारण आबू पर्वत का जैन मदिर (विमल) उस सीमा तक प्रसिद्ध नही है, जितना इसकी मौलिकता तथा तक्षण की तरंगो (लहर) ने इसे विख्यात किया।

आबू पर्वत के समीप अगलगढ मे हिंदू मंदिरो की शृंखला इसी स्थापत्य-लक्षणो के साथ बनी है। रानापुर (जोधपुर) मे सर्वाधिक संपूर्ण चतुष्कोण मंदिर है, जिसमे जैनियो के प्रथम तीर्थ कर ऋषभनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित हैं। परकोटे से घिरे मदिर मे प्रवेश के लिए पूरव दिशा मे दो कमरे बने हैं। वे चौकोर तथा वर्गाकार है। इस चतुष्कोण स्थल के पश्चिमी भाग मे गर्भगृह है। उसके सम्मुख मंडप एवं डयोढी बनी है। तीनो आकार स्तंभ श्रेणीयुक्त विहार से घिरे हैं। दीवार मे अनुबद्ध आकार-प्रकार एक ही समय मे निर्मित न हो पाए। मदिर मे प्रयुक्त प्रस्तर खडो से यह निष्कर्ष निकलता है कि गर्भगृह काले प्रस्तर द्वारा पहले निर्मित हुआ, तत्पश्चात् स्तभावालि युक्त विहार का निर्माण सफेद संगमरमर मे हुआ। आदिनाथ मदिर के समीप में बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का सुदर मदिर विमलशाही का अनुकरण ही है।

राजस्थान मे ११वीं सदी के पश्चात् भी कई मदिर तैयार किए गए, जिनमे चित्तौर का कालिका माता मदिर तथा बरौली का शिवमंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। उदयपुर के समीप एकलिंग महादेव का मदिर दर्शनीय है। आठवी सदी मे बप्पारावल ने इसका निर्माण किया था। मध्ययुग में राजस्थान की धनीमानी जनता ने मंदिर-निर्माण मे हाथ बटाया था और अपार धनराशि

व्यय की। उदयपुर से ५६ किलोमीटर दूर जगदंबा या अंबिका का प्रसिद्ध मंदिर ११वीं सदी में बनाया गया था। यह मंदिर डेढ सौ फुट के विशाल पर-कोटे के घेरे में स्थित है। यह खजुराहो मंदिर शैली का है। गर्भगृह तथा सभामंडप के बाहरी भाग पर सुर, सुंदरी या देवता की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण है। स्थापत्यकला की दृष्टि से यह मंदिर अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

●

छठवां अध्याय

पश्चिमी भारत-गुजरात तथा काठियावाड़

मध्ययुग मे गुजरात तथा काठियावाड़ के प्रदेश में स्थापत्यकला की अतीव प्रगति हुई। आश्चर्य यह है कि महमूद गजनी ने ई० सन् १०२५ मे काठियावाड के सोमनाथ पर आक्रमण किया और मंदिरों को नष्ट किया। परंतु, उसके स्वदेश लौट जाने पर पश्चिमी भारत मे वास्तुकला की ओर जनता ने विशेष ध्यान दिया यानी उत्साह कम होने के स्थान पर अत्यधिक बढ गया। दिल्ली के सुल्तान के अधिकार करने से पहले (यानी ई० सन् १३००) काठियावाड़ तथा गुजरात मे इमारतो का अधिक निर्माण हुआ। कुछ ध्वंस इमारतों का संस्कार हुआ और अधिक संख्या मे सोलंकीनरेश के प्रोत्साहन से इमारतें तैयार की गईं। उसका श्रेय वहाँ के धनीमानी व्यक्तियो को है, जिन्होने व्यापार से धन उपार्जन करके मंदिर-निर्माण मे व्यय किया। गुजरात, काठियावाड़, कच्छ तथा राजपुताने के पश्चिमी भाग पर सोलंकी राज्य करते रहे, जिनकी राजधानी अनहिलपाटन (वर्तमान अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम) थी। इस वंश के शासक शैव थे, किंतु धार्मिक इमारतो पर इन्होने अधिक ध्यान न दिया था। गुजरात के कलाकारों ने अपनी कुशलता तथा प्रौढ़ अनुभव का भी परिचय दिया। वहाँ की धार्मिक जनता ने असंख्य द्रव्य व्यय कर संगमरमर का प्रयोग किया। इससे मनुष्यों के आध्यात्मिक विचार तथा भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति होती है। सोलंकी नरेशों के अदम्य उत्साह के अतिरिक्त उनके राज्यपाल तथा मंत्रियो ने भी उदारता का परिचय दिया। इस कार्य मे उन्होंने विपुल धनराशि को लगाया। कई पदाधिकारी जैनमतानुयायी थे, तोभी उनलोगों ने जैन मंदिर के अतिरिक्त हिंदू मंदिर के निर्माण मे अथक परिश्रम किया था। उन दानियो में वास्तुपाल तथा तेजपाल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सोलंकी मंदिर-निर्माण एक समूह का कार्य न था, अपितु सारे समुदाय की कार्यनिष्ठा तथा प्रत्येक व्यक्ति की लगन, उसकी सफलता के कारण थे। उस समय धन-संग्रह का विशेष मार्ग ढूँढ़ा गया था। मंत्री या राज्यपाल 'भूमिकर' का कुछ अंश मंदिर-निर्माण के लिए पृथक्

'कर' देते थे तथा जनसाधारण भी उस पुण्य कार्य के लिए विशेष 'कर' एकत्रित करने के लिए कटिबद्ध था। इस कार्य में कुशल कलाकारों तथा शिल्पियों का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा। यद्यपि किसी प्रकार के स्थापत्य का मूल आकार (Prototype) या नमूना उनके संमुख न था, तथापि स्थानीय लोक-जीवन तथा परंपरा एवं पौराणिक कथाओं की जानकारी के आधार पर उन्होंने वास्तुकला को आगे बढ़ाया। संभवत. उन्हें शिल्प के नियमों का ज्ञान था अथवा उनको धार्मिक वास्तुशिल्प के विषय में कहा गया, ताकि स्थापत्य के कार्य में वे सुचारु रूप से सफल हो सकें। करीब ढाई सौ वर्षों (ई० सन् १०२५-१२९८) में इस भू-भाग में नागर शैली के मंदिर सर्वाधिक विकसित हुए। लेकिन, तेरहवीं सदी के अंत में मुसलमान विजेताओं ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अणहिल्लापाटन के चालुक्य (सोलंकी) नरेश स्थापत्यकला के संरक्षक थे तथा उन्होंने इमारतों के विकास में हाथ बटाया। उनके सांस्कृतिक जीवन की उच्चता तथा लगन स्थापत्य-कार्य की भव्य कार्य-पद्धति से प्रमाणित हो जाती है।

गुजरात के सोलंकी मंदिरों में तीन खंड होते हैं, यद्यपि प्रारंभ में यह योजना दो भागों में विभक्त थी। तीर्थमंदिर (गर्भगृह) सभा मंडप के कक्ष से इस प्रकार जुड़े है कि सारी इमारत समानांतर रेखाओं के भीतर सन्निहित हो जाती है। तीन भाग निम्न प्रकार हैं:—

(१) पीठ,

(२) मंडोवार—पीठ के ऊपर तथा शिखर के नीचे का भाग और

(३) मीनार या शिखर—ऊपरी भाग।

पीठ में परंपरागत खुदाई सुरुचिपूर्ण है। मंदिर की पीठ का ऊपरी भाग पूरी इमारत के आधार का काम करता है। उसमें कई ढलाइयाँ वर्त्तमान हैं। वे सभी अलंकरण से युक्त है, जिन्हे परंपरागत विचार से स्थिर किया गया है। उस ढलाई में सबसे नीचे राक्षस (शृंगसहित सिर) है और ऊपर गजपीठ दीख पड़ता है। तत्पश्चात् अश्व की आकृतियाँ है। सबसे ऊपर मनुष्य की आकृति है। मध्य का दूसरा मंडोवर मंदिर का प्रमुख भाग समझा जाता है। संपूर्ण उन्नयन की योजना उसी पर आधारित है। इसमें लंबवत् दीवार पर नाना प्रकार की खुदाई की गई है। इस दीवार के ताख तथा प्रकोष्ठ में समस्त देवताओं की निम्न उद्‌भूत प्रतिमाएँ एवं संत लोगों की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। तीसरा तथा अंतिम स्थान कलशरूपी मीनार का है। उस शिखर के चारों तरफ उरुशृंगों का समूह बनाया गया है।

पश्चिम भारत में इमारतों के निर्माण की प्रगति का एक और कारण माना जा सकता है। उस भाग में वंशपरंपरागत संगतराश थे, जिनकी अभिरुचि मंदिर-निर्माण मे ही सीमित थी। यहाँ के मंदिरपीठ (चबूतरा) के दो उप-विभाग हैं। निचला पीठ ऊपरी चबूतरे से चौड़ा है तथा प्रदक्षिणापथ का काम करता है। यह संचारीपथ ढँका हुआ है। उसके मध्य में गर्भगृह निर्मित है। शिखर की प्रत्येक दिशा में चैत्य के आकार का अलंकरण बना है। पश्चिम भारत (काठिवाड़ तथा गुजरात) मे नागर शैली के मंदिरों को सोलंकी या चालुक्य शैली के नाम से पुकारते है, जो अनहिलपाटन में शासन करते थे। सोलंकी शैली से पूर्व की इमारत गुजरात-काठिवाड़ में नही के बराबर है। इसलिए सोलंकी मदिर व्यक्तिविशेष के कार्य माने जा सकते है। कुछ विद्वानों का विचार है कि सोलंकी शैली काठियावाड़ के गोप मदिर का परिवर्तित रूप है। परतु, वास्तुकला की दृष्टि से दोनो शैलियाँ पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखती हैं।

इन मंदिरो के अदर का भाग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस स्थान मे खुदे स्तभों की प्रमुखता है। उनके निर्माण का कार्य इस रूप मे संपन्न किया गया कि मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी के स्थान स्पष्ट रूप से पृथक् हो जाते हैं। स्तभ नीचे कुछ मोटे हैं और ऊपर की ओर (सिरे पर) पतले हो गए हैं। स्तभो के सिरे पर वामन की आकृतियाँ हैं, जो बडेरी को उठाए दीख पड़ती हैं। उनमे ब्रैकेट (दीवारगीर) है और दोनों सिरे के मध्य स्त्रियों की उभरी प्रतिमाएँ बनायी गई है। गुजरात के मंदिरों की भीतरी विशेषताएँ, स्तभों की खुदाई और प्रवेशद्वार के अलंकरण दर्शकों को आकृष्ट करते हैं।

आर्य शैली के मंदिरों की बाहरी तथा भीतरी खुदाई एवं अलंकरण मे पर्याप्त अतर है। बाहरी गोपनीय अलंकरण की एक निश्चित योजना थी। उडीसा की तरह गुजरात के मदिरो के भीतर मार्ग एवं कक्ष में अलंकरण का अभाव है। शेष भाग पर आलंकारिक प्रदर्शन है। सभवतः गुजरात के कलाकारो ने इस प्रकार मदिर-निर्माण की योजना बनायी थी, जिसमें भीतरी कक्ष सादा हो। व्यर्थ के अलंकरण मे दर्शकों का ध्यान प्रतिमा से हट जाने का भय था। इतना होते हुए भी भीतरी कक्ष को अलंकृत किया गया। इसका यह कारण हो सकता है कि कलाकार सदा ही निर्देशों या नियमों के पालन मे दत्तचित्त नही थे। अतएव, सादी दीवार के विचार को प्रमुखता देकर भी भीतरी कक्ष सुशोभित किया गया। मंदिरो के भीतर प्रवेश करते ही कलाकृतियों की न्यूनता प्रकट होती है। भीतरी कक्ष में प्रकाश की भी कमी मालूम

पड़ती है। इन सभी बातो को पश्चिमी भारत के मंदिरों में विशेष तौर पर देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। किंतु, सभामंडप में प्रकाश की प्रचुरता है तथा स्तंभो का अलंकरण अत्यंत गंभीर है। उसी से गूढ़-मंडप होकर मध्यबीथी में प्रवेश किया जाता है, जिसकी आलंकारिक क्रिया धूमिल दीख पडती है। आश्चर्य तो यह है कि मंदिर के सहायक कक्षों मे घना अंधेरा होने पर भी कलाकारों ने छत मे जरदोजी का ऐसा काम किया है, मानो कोई व्यक्ति दिन के प्रकाश मे उन्हे देखने का प्रयत्न करेगा या दिन की रोशनी से वह सभी प्रकाशित हो जायगा। इसका क्या रहस्य था, यह समझना कठिन है। बाह्य रोशनी के सहारे ही साधारण व्यक्ति उन्हे देख सकता था, अन्यथा नही। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकारो ने उन्हे देवतागण द्वारा अवलोकार्थ तैयार किया हो।

काठियाबाड के गोप नामक स्थान पर कुछ मंदिर है, जिनकी शैली असाधारण है। विद्वानो का मत है कि इस भू-भाग का यह प्राचीनतम मंदिर है। यह इमारत दोहरे चबूतरे पर बनी है, जिसमे ऊपर चबूतरे का व्यास छोटा है। यह प्रदक्षिणा-पथ का काम करता है। मंदिर की दीवारे लंबवत् खड़ी हैं और सर्वथा सादी (अनलकृत) हैं। केवल सिरे पर एक गहरी लकीर का निशान बना है। चबूतरे के परीक्षण से प्रकट होता है कि दूसरे चबूतरे की दीवार लकड़ी की बनी होगी। मंदिर की दीवार के अतिम छोर पर गहरा कार्निश दीख पड़ता है, जिस पर सीढ़ीदार छत की बनावट है और अतिम सिरे पर गुंबज बना है। सिरे के सीढ़ीदार भाग पर दो चैत्यनुमा मेहराब निर्मित हैं। चैत्यनुमा मेहराब की बनावट सुंदर है, जिसमे खुदाई का काम किया गया था। इस प्रकार गोप मंदिर की असाधारण बनावट है, जिसकी समता करना कठिन है। कुछ लोग इसे कश्मीर के मार्त्तंड मंदिर के सदृश मानते हैं। सीढ़ीदार गुंबज और उसमे चैत्यनुमा मेहराब में दोनों की समता देखी जा सकती है। कुमार-स्वामी ने उस सिद्धात का समर्थन करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि कश्मीर में सूर्यपूजकों ने मार्त्तंड मदिर का निर्माण किया और वहीं से आकर पश्चिम भारत में उस शैली का प्रसार किया (हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड इडोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ८२)। डॉ० संकलिया ने गोप मंदिर पर गंधार प्रभाव का अनुमान लगाया है (आर्कलॉजी ऑफ गुजरात ऐड काठियावाड़, पृष्ठ ५७-५९) गोप मंदिर की इमारती बनावट के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत के प्राचीनतम मंदिर के आकार-प्रकार से गोप की शैली मिलती-जुलती है।

गोप शैली के मंदिर-समूह के परीक्षण से उस भू-भाग में स्थापत्यकला की प्रगति का मूल्यांकन किया जा सकता है। विलेश्वर का शिवमंदिर उस क्रमिक विकास में अंतिम स्थान रखता है। सभी मंदिरो का गर्भगृह छत से ढँके प्रदक्षिणमार्ग से निर्मित किया गया है, जिनके सिरे पर गुंबज बना है। उनकी सीढ़ीनुमा बनावट मे पंक्तियाँ घटती हुई दीख पडती है और हर दिशा मे चैत्य मेहराब से सुशोभित है। इससे विदित होता है कि प्रारंभिक दशा में भी काठियावाड मे वास्तुकला-कृतियो का शुभारंभ हो गया था। गोप मंदिर में भी शिखर वर्तमान हैं।

नागर शैली के मंदिरों का विकास काठियावाड़ तथा गुजरात मे क्रमशः होता रहा। दसवी सदी तक इसकी पूर्णता मानी जा सकती है। ये प्राय राजपूत मंदिरों के समान हैं, क्योकि दोनो भूभाग मे मंदिर-निर्माण मे एकरूपता एवं समकालीनता है। सोलंकी शैली के अनेक विशिष्ट मंदिरों में गुजरात के नीलकठ महादेवमंदिर की भी गणना होती है।

उसी के समकालीन काठियावाड का नवलाखा मंदिर भी कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ माना गया है। इसमे तीर्थमंदिर तथा स्तभमडप एक साथ गहरे रूप से संबद्ध है। इसका सभामडप दो मंजिल का है, जो ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। सभी परकोटे के घेरे मे है। इसका शिखर ऊरुशृंग के सहित सुशोभित है। स्तंभो की स्थिति इस प्रकार है कि मध्य वीथी अन्य भागो (पार्श्ववीथी) से पृथक् हो जाती है। काठियावाड़ के मंदिरो मे मीनार ऊरुशृंग के सहित भी मूलतः गुप्त शिखर से मिलता है। स्तंभों मे पुष्पावली तथा पूर्णघट की स्थिति यह प्रमाणित करती है कि यहाँ गुप्त स्थापत्यकला का प्रभाव था। यह ज्ञात है कि पाँचवी सदी तक गुप्त वश का राज्य काठियावाड़ में था। गुप्तसम्राट् स्कंदगुप्त की प्रशस्ति गिरनार पर्वत पर खुदी है। इस कारण गुप्त कलाकार पश्चिम भारत मे अपना प्रभाव छोड़ गये, यह आश्चर्यजनक नही है। किराडु का विष्णुमंदिर प्राचीनतम इमारत है। इसमें सोलंकी स्थापत्य-कला की विशेषता वर्तमान है। वहाँ सोमेश्वर मंदिर सबसे विशाल है, जिसे सुरक्षित देखते हैं। इस मंदिर के पीठ में परंपरागत ढलाई दृष्टिगत होती है, जिसमे शृंगयुक्त सिर, हस्ति, अश्व तथा मानवाकृति क्रम से बनी है। काठियावाड मे भावनगर के लगभग १०७ फुट ऊँची शत्रुंजय पहाड़ी पर पालिताना स्थित है जिस स्थान पर शताब्दियों तक जैन श्रावक मंदिर निर्मित कराते रहे। चार सौ फुट चौड़ी घाटी मंदिर-शिखरो से भरी है। सभी

अलग-अलग अहाता से घिरा है। इस पहाड़ी पर पाँच सौ से अधिक मंदिर है। इस्लाम के मूर्तिभंजकों ने पालिताना के मंदिरों को काफी क्षति पहुँचाई।

काठियावाड़ के बारहवी सदी के मंदिरों में रूद्रमल तथा सोमनाथ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये स्थापत्यकला की प्रगति के नमूने हैं तथा धनीमानी लोगो ने दोनों मंदिरो के साथ अपना आर्थिक संबंध स्थायी रखा। सिद्धपुर में रूद्रमल का मंदिर पूर्ण कर प्रतिष्ठित किया गया। बारहवीं सदी के मध्य मे गुजरात के प्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज (ई० सन १०९४-११४२) ने इसे समर्पित किया था। इसकी गणना भारत के प्रसिद्ध धार्मिक तथा प्रचुर अलंकृत मंदिरों में होती है। गुजरात के लोकगीतों में इसकी कीर्ति एवं प्रशसा गायी जाती है।

सोमनाथ के मंदिर के साथ इस्लाम-धर्मावलंबियों का इतिहास संबद्ध है। ग्यारहवी सदी में इसे भग कर मुहम्मद गजनी ने धार्मिक तृष्णा को शात किया था, पर काठियावाड की जनता ने इसका जीर्णोद्धार तथा सस्कार भी किया। अहमदावाद के एक धनी महाजन ने १७ वी सदी के आरंभ मे चौमुखी मंदिर का निर्माण करवाया था। सामान्य हिंदू मंदिरों से भिन्न इसके अंतराल भाग मे चारो दिशाओ से प्रवेशद्वार है। इसमे तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ स्थापित है। इस प्रकार पश्चिमी भारत मे मदिरो का संस्कार तथा निर्माण अठारहवीं सदी तक होता रहा। परंतु, तेरहवी सदी तक उसमे तीव्रता थी। पश्चिम भारत के मंदिरों के निर्माणकाल पर विचार किया जाय, तो ज्ञात होता है कि दसवी से तेरहवी सदी तक सोलकी शासन-अवधि में सभी मंदिर तैयार किए गए थे। उनका विस्तार गुजरात से राजस्थान तक हुआ था।

दसवी सदी- दिलमल कसरा (गुजरात)

ग्यारहवी सदी—नवलक्खा (काटियावाड़) सूर्यमंदिर (गुजरात)
विमल (आबू पर्वत) राजस्थान

बारहवी सदी—रूद्रमल (गुजरा) सोमनाथ (काठियावाड़)

तेरहवी सदी —तेजपाल मदिर, आबू, राजस्थान।

पाटन (सोलकी राजधानी, गुजरात) से चौबीस किलोमीटर की दूरी पर अनेक मदिर-समूह मे बने हैं। दसवी सदी के मदिरों का निर्माण साधारण रूप में हुआ था, जिसमें विमान तथा स्तंभसहित खुली ड्योढ़ी वर्त्तमान है। इस समूह के मदिर प्रत्येक दशा में पूर्ण हैं और उनके देखने से विकास की प्रगति का परिज्ञान हो जाता है।

●

सातवां अध्याय

उत्तरी भारत की अन्य शैलियां

ग्वालियर तथा वृंदावन के मंदिर

ग्वालियर दुर्ग के मंदिर उस प्रदेश के समीपस्थ देवालयो से भिन्न हैं। इसी तरह इसे स्थान से डेढ सौ किलोमीटर दूर मथुरा तथा वृंदावन के मंदिर भी स्थानीय विशेषता सहित तैयार हुए थे। दुर्ग के भीतर अनेक मंदिरो मे कुछ ही प्रमुख हैं। उन मंदिरों का निर्माण ११वी सदी मे हुआ। प्रधान मंदिर 'सासबहू' के नाम से विख्यात है। उसी स्थान पर 'तेली का मंदिर' कुछ पहले निर्मित हुआ। इसमे केवल गर्भगृह के सामने ड्योढी है, जिसमे पवित्र स्थान में जाने का प्रवेशमार्ग है। इसमे कोई वर्गाकार योजना नही है। बाहरी आकार सर्वथा आयताकार है, जिसका कमरा क्षेत्रफल मे ६० × ४० फुट है। ऊपरी भाग भी आयताकार होता चला गया है। तेली के मंदिर ऐसा अन्य हिंदू मंदिर नही दीख पडते। इस तरह का आर्य शिखर भुवनेश्वर (उडीसा) के बिट्टलदेवल में दीख पडता है। सास-बहू मंदिर की बनावट से मंदिर-स्थापत्यकला मे कोई नवीन विचार उपस्थित नही होते है और न नए ज्ञान की वृद्धि होती है। इसमे मंडप के अतिरिक्त शिखरयुक्त विमान नष्ट हो गया है, जो १५० फुट ऊँचा रहा होगा। इस कारण सास-बहू का मंदिर एक ऊँचे टीले (सामग्रियो का ढेर)-सा प्रतीत होता है। माप योजना मे यह १०० फुट लबा, ६३ फुट चौडा तथा ८० फुट ऊँचा बना होगा। यह तिमंजिला मडप चारों दिशाओ मे खुले बरामदे की अवस्था में प्रतीत होता है। प्रत्येक मंजिल मे विशाल बडेरिया तथा सहायक स्तंभ दीख पड़ते है। भग्नावस्था मे योजना की परिकल्पना से उसके मूल आकार का अंदाजा लगाया जा सकता है। बाहरी आकार से भीतर की दशा का अनुमान नही लगाया जा सकता। प्रत्येक मंजिल का भीतरी भाग एक विशाल केंद्रीय कक्ष (प्रकोष्ठ) के रूप मे बना है। अतः, इसके परीक्षण से विदित होता है कि स्थापत्यशिल्पी बिना मेहराव अथवा अन्य तरीको की सहायता लेना नही चाहते थे। उन्होने स्तंभ तथा शहतीर के संयोग से ही सारा कई मंजिल मंदिर खड़ा कर दिया। कमरे के ऊपर कमरा तथा चारों तरफ खुले बरामदे देकर कई मंजिल की इमारत तैयार की। इस कार्य मे मध्य के चार विशाल पायो (स्तंभो) का उल्लेख आवश्यक है, जिन पर

इमारत का प्रस्तर बोझ टिका था। संभवतः इसका अनुकरण इस्लामी मसजिद की बनावट मे किया गया। उन मसजिदों के केंद्रीय भाग में विशाल स्तंभ सारे बोझ को सँभाले रहते हैं।

मथुरा तथा वृंदावन ने कृष्ण की लीलाभूमि होने के कारण भक्तों का ध्यान आकर्षित किया और कालांतर में बहुत पीछे मंदिर निर्मित्त किए गए। इस स्थान पर मंदिर-निर्माण में सिकरी के लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। इनकी स्थापत्यकला अन्य मंदिरों से भिन्न है, यद्यपि उन मंदिरों के विभिन्न नाम है—

१. गोविंद देवी मंदिर,
२. राधावल्लभ मंदिर,
३. गोपीनाथ मंदिर,
४. जुगलकिशोर मंदिर और
५. मदनमोहन मंदिर।

परंतु, सभी मे भगवान् कृष्ण एवं राधा की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। इनकी शैली स्थानीय रूप मे विकसित हुई और वृंदावन के अतिरिक्त अन्यत्र उसका अनुकरण नहीं हुआ। इनका निर्माण सोलहवीं सदी मे हुआ था। मुगलकाल में स्थानीय हिंदू शासकों ने इसमे हाथ बटाया। महाप्रभु चैतन्य के आगमन से वृंदावन में नया उत्साह था। अतः, कृष्णपूजा के निमित्त, कीर्तन के लिए तथा लीला के सपादन-निमित्त मंदिर तैयार किए गए। सभी मंदिर स्वस्तिकाकार हैं। इनमे छतों ने नीचा न होकर ऊँचा मेहरावी रूप ले लिया है, जैसा उस युग की मसजिदों में दीख पड़ता है।

कश्मीर के मंदिर

भौगोलिक स्थिति के कारण कश्मीर का स्थापत्य निजी विशेषता रखता है। यद्यपि यह भाग ऊँचे पर्वतों से घिरा है, परंतु मध्य एशिया तथा ईरान का मार्ग यहाँ से जाता है। आवागमन के कारण उन प्रदेशों की संस्कृतियों का इस घाटी में प्रवेश हुआ, जिस कारण कश्मीर की वास्तुशैली प्रभावित हुई। अतएव, यहाँ की इमारतें विदेशीय शैली से संबद्ध हैं। कश्मीर का राजा ललितादित्य मुक्तापीड़ (ई० स० ७२४-७६०) ने कश्मीर में भवन-निर्माण का आरंभ किया और उस काल को कश्मीर-स्थापत्य का स्वर्णयुग कह सकते है। इस काल की इमारतों में ब्राह्मण धर्म के मंदिरों की प्रमुखता एवं विशेषता है। जिस आकार-प्रकार की इमारतें बनती रही, उसी रीति का बोल-

वाला रहा। इस्लाम के आने से पूर्व कश्मीर में दो विभिन्न संस्कृतियां प्रचलित थीं—

१. बौद्ध—२००-७०० ई० और

२. पौराणिक—७००-१२०० ई०।

जैसा कहा गया है, वास्तव मे मंदिर-निर्माण का महान युग आठवीं सदी से आरंभ हुआ, जिस समय घाटी मे विशाल मंदिरो का निर्माण हुआ। इन मंदिरों का निर्माण प्रस्तर को तराश कर विशाल पाषाण-खंडों से हुआ था। मंदिर-निर्माण का कार्य प्रायः दो सौ वर्षों तक चलता रहा। तत्पश्चात् ह्रास का युग आता है। विदेशी प्रभाव के कारण ये उत्तरी भारत के मंदिरों से पृथक् अपना स्थान रखते है। इनमे भारतीयपन का सर्वथा अभाव है। स्तंभ की स्थिति, दीवार की सतह की बनावट तथा अधिरचना की ऊँचाई की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भारत की स्थापत्य शैली मे कश्मीर की निर्माण-पद्धति यूनानी-रोमन रीति से मिलती-जुलती है। उस पर्वतीय प्रदेश में विदेशी अधिक समय तक शासन करते रहे। इस कारण अफगानिस्तान के यूनानी बौद्ध (Greeco-Buddhist) स्थापत्य से मंदिरो का विकास हुआ। कश्मीर के मंदिरों के स्तंभ रोमन के डारिक स्तंभो के सदृश बने है। दूसरी विशेषता मंदिरो के छत की है, जो लकड़ी या प्रस्तर से तैयार हुए। रोमन इमारतो मे जिस प्रकार चूने-गारे का प्रयोग किया जाता था, वही रीति कश्मीर के स्तंभों मे अपनायी गई। श्रीनगर से दूर परिहासपुर के मंदिर में वही विधि दिखलायी पड़ती है।

कश्मीर के प्रमुख मंदिरों में मार्त्तंड का सूर्यमंदिर उल्लेखनीय है, जिसे ललितादित्य ने तैयार किया था। इसकी स्थापत्यकला अत्यंत उच्च कोटि की है। इसकी शैली पर कालांतर में अनेक मंदिर बनाए गए। वानगढ तथा अवंतिपुर के मंदिर उसी शैली के हैं। मार्त्तंड का सूर्यमंदिर यह स्वयं घोषित करता है कि बौद्ध प्रभाव का लोप हो गया था। उसका स्थान हिंदू धर्म ने ले लिया था। पौराणिक देवताओं के मंदिर बनने लगे थे। इन मंदिरों की विशेषता यह है कि अहाते के बीच में गर्भगृह बना है तथा उसके चारों तरफ स्तंभयुक्त बरामदे हैं। यह यूनानी खंभों की याद दिलाता है। इस मंदिर मे सभामंडप के लिए स्थान था। गर्भगृह के सामने कोई कक्ष न था, बल्कि चारो तरफ बरामदा वर्त्तमान है। नवी सदी से अवंतिवर्मन ने एक नए युग का आरंभ किया, जिसकी स्थापत्यकला वैष्णवधर्म से संबधित है। श्रीनगर से तीस किलोमीटर की दूर अवंतिपुर में आज भी विष्णुमंदिर अंशतः विद्यमान है।

यह मंदिर अधिक परिपक्व तथा परिष्कृत कला का नमूना है। मंदिर के चारो तरफ स्तभों की श्रेणी है। प्रवेशद्वार के सामने गरुड की कास्यप्रतिमा स्तंभ पर प्रतिष्ठित है। शंकरवर्मन द्वारा निर्मित दसवी सदी का शिवमंदिर मार्त्तंड मंदिर के समान है। स्थापत्य शैली मे पहले की अपेक्षा अधिक स्तंभ जुड़े हैं। इन्हें विशालकाय चट्टानो को तराश कर बनाया गया है।

पूर्वी भारत के मंदिर

यद्यपि पूर्वी भारत विशेषकर बंगाल महान सभ्यताओं का केंद्र रहा है, किन्तु प्राचीन वास्तुकला के उदाहरण नही के बराबर है। इस प्रदेश की जलवायु तथा वनस्पति के कारण इमारतें ध्वंस हो गई और अवशेष नष्ट हो गए। प्राचीन समय की इमारतों मे पहाड़पुर (जिला राजशाही, बागलादेश) का नामोल्लेख किया जा सकता है। उस स्थान की खुदाई से ऐसे मंदिर के भग्नावशेष प्रकाश मे आए है, जिनका दूसरा उदाहरण भारतीय पुरातत्व को ज्ञात नही है। यह एक विशाल स्थापत्य का नमूना है, जो उत्तर-दक्षिण ३५६ फुट तथा पूरब-पश्चिम ३१४ फुट माना गया है। इस स्थान पर पुराने समय मे सोमपुर महाविहार का निर्माण हुआ था। इस मंदिर मे अनेक चबूतरे दीख पडते हैं। वहाँ प्रदक्षिणा दीर्घा वर्त्तमान है, जो इमारत के चारो तरफ विस्तृत मुंडेरे से घिरा है। पहले तथा दूसरे चबूतरे पर जाने के लिए उत्तर दिशा मे सीढियाँ बनी हैं। पहाड़पुर के मंदिर, जो गूढ योजना सहित निर्मित प्रतीत होता है, का अध्ययन उसे साधारण स्थापत्य-कला की कृति घोषित करता है। शिल्पकारो ने उस मंदिर के मध्य भाग की योजना ही सोची थी, जिसमें लबान् में विकसित होने की कल्पना थी। उसके मध्य मे वर्गाकार मिट्टी का ढेर था, जो चबूतरों से ऊपर उठा दीख पड़ता है। उसी को धूरी मान कर सारी इमारत की योजना सपन्न की गई। सीढ़ी की स्थिति के आधार पर यह कहना यथार्थ होगा कि दूसरे चबूतरे तक इस मंदिर का निर्माण हुआ था। उसी सतह पर केंद्रीय टीला ईंट से ढकी जमीन दृष्टिगत होती है। मंदिर की दीवार सूखे ईंट से बनी है और गारे के सहारे जोडी गई थी। इस सामग्री से निर्मित मंदिर आज भी जमीन की सतह से ७० फुट ऊँचाई पर वर्त्तमान है।

यह मंदिर धर्मपाल (आठवी सदी) के शासनकाल में तैयार हुआ था। उसने इसके समीप एक विशाल मठ की स्थापना की थी। मार्शल का मत था कि मंदिर 'गर्भचैत्य' से युक्त था, जिसको श्री राखालदास बनर्जी

खाली छत वाला प्रकोष्ठ कहते हैं (आ० स० ऑफ इंडिया १९२५ ई, पृष्ठ १०९)। यह कहा जा चुका है कि भारतीय पुरातत्व में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं है। वास्तुशास्त्रों (वृहत्संहिता अ० ५२, मत्स्यपुराण अ० २६९) मे सर्वतोभद्र नामक इमारत का वर्णन आया है, जिसमें चौकोर गर्भगृह होता है और प्रत्येक दिशा में प्रवेशद्वार वर्त्तमान हैं। चारों कोने में छोटी कोठरियाँ हैं, जो चतुःशाला गृह के नाम से विदित हैं। पहाड़पुर का मंदिर इसी सर्वतोभद्र आकार का प्रतीत होता है। इसमें कई चबूतरे हैं, जो एक मंजिल इमारत की ऊँचाई रखते हैं। चारों तरफ पूजागृह हैं। पहाड़पुर के मंदिर दो विभिन्न लक्षणों से युक्त हैं, जो भारतीय मंदिर में प्रमुख समझे जाते हैं—भद्र एव रेखा शैली के हैं। उड़ीसा मे भद्ररेखा शैली के मंदिर वर्त्तमान है। पहाड़पुर की योजना को ध्यान में रख कर एशिया के दक्षिणी-पूर्वी द्वीपसमूहों में इमारतों का निर्माण हुआ था। वर्मा के पेगन मंदिर और मध्य जावा का चंडी सेवू आदि मंदिर उसी रीति से बने हैं।

बाकुंडा तथा वर्दवान जिलो मे जो खंडहर मिले है, उनके परीक्षण से पता चलता है कि भुवनेश्वर की मंदिर शैली पर वहाँ इमारतें बनी थी। वर्दवान जिले मे स्थित मंदिर को पालनरेशों ने १० वी सदी मे निर्मित किया था। उसके समकालीन बाकुडा के बेहुलारा तथा सिद्धेश्वर मंदिर इस शृंखला के सबसे सुंदर मंदिर हैं। ईंट के बने इस मंदिर के सारे बहिरंग पक्की ईंट से ढके हैं, जिनमे चित्रों का अलंकरण है।

प्राचीन स्थापत्य कृतियो के अतिरिक्त देशी शैली के भी मंदिर मिले हैं, जो लोक वास्तुकला से मिलते हैं। दक्षिण बंगाल मे इनका अधिक प्रचलन था। यह शैली बगाल में प्रचलित बांस के छप्पर वाली झोपड़ियों के अनुकरण हैं। इन मंदिरो मे ईंट या प्रस्तर के बने दोनों ओर ढालू छज्जे निकाले गए हैं, ताकि वर्षा का पानी आसानी से बह जाए। संभवतः ऐसे मंदिर मल्ल राजाओं के शासन में बने होंगे, जो मंदिर बनवाने के शौकीन थे। ईंट से निर्मित मंदिरों के बाहरी भाग मे उभरी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ के चौकोर खंड जुड़े हैं। इनमे धार्मिक तथा पौराणिक कथाओं के दृश्य प्रदर्शित हैं।

दक्षिणी नागर शैली के मंदिर

भारत में विंध्या के दक्षिणी भू-भाग को मंदिरों का क्षेत्र कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। उत्तरी भारत मे भी मंदिरों का निर्माण प्राचीनकाल मे हुआ था, परंतु इस्लामी आक्रमणों के कारण वे ध्वंस कर दिए गए। उनके भग्नावशेष

उस कहानी को सुनाते हैं। दक्षिण भारत की स्थिति भिन्न थी। उस भाग की स्थापत्य कृतियों पर बाहरी आक्रमण का बुरा प्रभाव न पड़ सका और सुरक्षित रही। यही कारण है कि दक्षिण के मंदिरों के गौरवमय इतिहास का जीवित दृष्टांत सामने दीख पड़ता है। दक्षिण में हजारों मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें अधिक सुरक्षित हैं। बड़े प्रसिद्ध मंदिरों के अतिरिक्त छोटे स्थानों पर भी मंदिर बनाए गए, जिस कारण तीर्थस्थानों की संख्या बढ़ती गई। उत्तरी भारत की तुलना में दक्षिण के हजारों मंदिर प्रचुर मात्रा में अलंकृत नहीं हैं, तो भी दक्षिण भारत के मंदिर अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और कला के सुंदर नमूने हैं। कलाशैली के विकास तथा सर्वोच्च उदाहरण के अवलोकन से यह कहना उचित होगा कि दक्षिण भारत की संस्कृति से उनका गहरा संबंध रहा है।

दक्षिण भारत में मंदिर स्थापत्य के आरंभ के उदाहरण मैसूर के बीजापुर जिले के अंतर्गत ऐहोल के पाषाणनिर्मित मंदिर मे मिलते हैं। यदि गंभीरता-पूर्वक विचार किया जाय, तो प्रकट होता है कि उत्तरी भारत के 'नागर शैली' का विस्तार कृष्णा तुंगभद्रा घाटी मे भी हुआ। नागर शैली के इस विस्तार के भी दो उपविभाग किए जा सकते है। सबसे प्रथम विस्तार कृष्णा-तुंगभद्रा घाटी मे हुआ जहाँ द्राविड शैली के साथ ऐहोल के मंदिर, पट्टादकल तथा आलमपुर की स्थापत्यकला नागर रीति के साथ संपन्न हुई है। यही दोनों शैलियों (नागर तथा द्राविड़) का संगम मिलता है। खानदेश के समीपवर्ती भू-भाग मे भी नागर शैली की इमारतें वर्त्तमान हैं। दोनो शैलियो की विशेषताएँ तथा तत्त्वों के संमिश्रण से चालुक्य शैली का जन्म हुआ। यही आगे चल कर एक स्वतंत्र एवं शक्तिशाली शैली के रूप मे सामने आता है। बीजापुर जिले का ऐहोल नामक स्थान इमारतो का संग्रहालय है, जिसमें कुछ उसके प्राचीन गौरव को बतलाती हैं। इन मंदिरों का निर्माण ४५० ई० से ६०० ई० के मध्य चालुक्य राजाओ ने कराया था। इसी काल में उत्तरी भारत में गुप्त सम्राटों ने मंदिरों का निर्माण कराया। संभवतः आर्यन शिखर (नागर शैली) का प्रभाव दक्षिण पहुँचा। इसी कारण ऐहोल के मंदिरों में मिश्रित शैली मिलती है। इस स्थान के सत्तर मंदिरो में नागर स्थापत्य के विचार अनेक इमारतो में प्रकट हो रहे हैं। ऐहोल के मंदिर को चालुक्य स्थापत्यकला का जन्मदाता कह सकते हैं। ऐहोल के मंदिर के गर्भगृह त्रिरग्न योजना पर बने हैं। उस पर छोटा शिखर है और मंदिर के सामने के भाग में स्तभयुक्त कमरा है। नागर शैली के प्रारंभिक शिखर की रूपरेखा ऐहोल के मंदिरों में वर्त्तमान है।

ऐहोल मे स्थापत्य कार्य का उत्साहवर्द्धक आरंभ दो सदियों तक चलता रहा। बादामी से सोलह किलोमीटर दूर पट्टादकल मे आज भी मंदिरों का जमघट है। इसमे कई मंदिर उत्तरी यानी नागर वास्तु शैली के है, जो पाँचवी सदी में बने थे। शेष मंदिर दक्षिण (द्राविड) शैली के हैं। इनमें सातवी सदी में निर्मित नागर शैली के पापनाथ मंदिर का नाम लिया जा सकता है। यह स्थापत्य कला मे अन्य मदिरो मे उत्तम तथा प्रभावोत्पादक है। पापनाथ का मंदिर विशाल ठोस चट्टानों से निर्मित है। दीवारें एवं स्तंभ विशालकाय दीख पड़ते हैं। इसके ५० वर्ष बाद निर्मित संगमेश्वर तथा विरुपाक्ष के मंदिर द्राविड़ शैली के महत्त्वपूर्ण नमूने है। काशी विश्वनाथ के मंदिर का भी उल्लेख करना आवश्यक है। इस प्रकार के मंदिरों में गर्भगृह त्रिरत्न योजना सहित बनाया गया, जिसके ऊपरी भाग में शिखर विद्यमान है। यह सभी ऐहोल तथा उत्तरी भारत के स्थापत्य मदिरो के नमूनों के समान है। दक्षिण भारत की आरभिक शिखर शैली में आमलक भी दीख पडते हैं। पट्टादकल के पापनाथ मंदिर मे ढका प्रदक्षिणा मार्ग है, जिससे संबद्ध दो प्रकोष्ठ हैं। एक को अंतराल तथा दूसरे को सभामंडप कहा जा सकता है। गर्भगृह की छत चिपटी है, जिसके ऊपर शिखर स्थित है। अन्य बनावट तथा तत्त्वों को ध्यान मे रख कर यह कहना यथार्थ होगा कि नागर शैली की मीनार को छोड कर समस्त आकार द्राविड़ रीति के विरुपाक्ष मदिर के सदृश है। सगमेश्वर मंदिर में दक्षिण वास्तुकला का रूप देखते है। तुगभद्रा के पश्चिमी किनारे पर आलमपुर मे छह मंदिरों का समूह है, जो पापनाथ से मिलता-जुलता है। दक्षिण भारत मे नागर वास्तुकला के विस्तार मे शिखर की प्रधानता है, जो स्थानीय अन्य आकार-प्रकार से उसे पृथक् करता है। इसमे मुख्य मीनार के साथ अंगशिखर की आवश्यकता का अनुभव उस रूप से नहीं किया गया। परंतु, उड़ीसा तथा दक्षिण की नागर शैली में मुख्य शिखर से अगशिखर को गौण स्थान दिया गया है। इस कारण कालांतर मे अग शिखर अप्रधान हो गए और स्वतंत्रता खो बैठे। स्टेलाक्रामृश इस आकार को संग्रथित रूप मानती हैं, जिसमें दोनो को (मुख्यतया अंगशिखर) मिश्रित करने का सफल प्रयत्न किया गया (हिंदू टेम्पुल्स भाग १, पृष्ठ २१-९)। इसमें एक की ऐसी प्रधानता हो गई कि शिखर की अन्य छोटी प्रतिकृतियाँ बाधा नही उपस्थित कर सकी। मंदिरो में उरु-शृंग इमारत (मदिर) के निचले भाग में स्थित रहते हैं। दक्षिण के शिखर के साथ इसका लंबवत् रूप निचले कारनिस से सीधे मीनार के ऊपरी भाग तक एक सीध में पहुँच जाता है। इसकी विशेषता यह हो जाती है कि इस गुंबदी

प्रतिकृति की नई परिधि के भीतर सारी इमारत तैयार की गई है। उसके बाहर कोई भी बनावट नही दीख पड़ती। ऐसा दीख पड़ता है कि उरुशृंग एक सीध मे जुड़े हैं। उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। इस कारण वे मुख्य मीनार से अलग नही किए जा सकते। सिरे पर आमलक शिला के समीप सभी पंक्तियाँ मिल जाती हैं।

पिट्टादकल के दस मंदिरो मे चार आर्य शैली तथा छह द्रविड़ पद्धति से निर्मित हुए थे।

आर्य शिखरयुक्त—

१. पापनाथ (ई० स० ६८०)
२. जंबूलिंग
३. करसिद्धेश्वर
४. काशी विश्वनाथ

द्रविड़ शिखरसहित—

१. संगमेश्वर (ई० स० ७२५)
२. विरुपाक्ष
३. मल्लिकार्जुन
४. गलगनाथ
५. सुमेश्वर
६. जैनमंदिर

थोड़े समय मे वास्तुशिल्प का अधिक कार्य हुआ था। कहा जाता है कि चालुक्य राजाओं की बढ़ती शक्ति के कारण बाहरी कलाकारों को बुला कर स्थानीय शिल्पियों को सहायता पहुँचायी गई, ताकि कार्य शीघ्र संपन्न हो सके। इन मंदिरों की सुंदर बनावट विशेष कर विरुपाक्ष मंदिर का निर्माण इस कारण सफल हुआ कि चालुक्य वास्तुशिल्पियो ने लगन से काम किया। इस परिस्थिति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सातवी सदी में चालुक्य तथा पूर्वी समुद्रतट पर शासन करने वाले पल्लव राजाओं से घनिष्ठ संपर्क हो गया था। यही कारण था कि मैसूर के भाग मे इमारतो की प्रगति रही तथा स्थापत्य कृतियाँ प्रभावित हुईं। इस प्रकार दक्षिण के ऐहोल, पिट्टादकल तथा आलमपुर नगरों के मंदिरों का विवरण यह बतलाता है कि चालुक्य राज्य में ऐसा संगम था, जहाँ आर्य शिखर तथा द्रविड़ शैली के मंदिर निर्मित किए गए।

●

आठवाँ अध्याय

द्राविड़ पद्धति

दक्षिण भारत के सांस्कृतिक प्रवाह के साथ स्थापत्यकला का घनिष्ठतम संबंध रहा है। उस भाग में स्थापत्य कृतियों पर बाहरी आक्रमण का प्रभाव न पड़ सका। अतएव, दक्षिण भारत के मंदिर भारतीय पल्लवशैली के मंदिर वास्तुकला का गौरवमय इतिहास प्रस्तुत करते हैं। दक्षिण के हजारों मंदिर सुरक्षित है तथा भारतीय स्थापत्यकला के सुंदर नमूने हैं। दक्षिण भारत में एक नई शैली का विकास हुआ, जिसे द्राविड शैली का नाम दिया गया है। वह आर्य शैली से सर्वथा भिन्न है। इस पद्धति यानी मंदिर की स्थापत्य शैली का विस्तार मुख्यतया तमिलनाडु राज्य तथा आंध्र प्रदेश मे हुआ। तंजौर, मदूरै, श्रीरंगम्, चिदंबरम् तथा रामेश्वरम् आदि स्थानों पर इस रीति के विशाल मंदिर विद्यमान है। अनेक समकेंद्रिक प्रांगण, भव्य शिखर तथा सहस्र अलंकृत स्तंभों सहित पद्धति का विकास हजार वर्षों के स्थापत्यकला का परिणाम है। द्राविड़ स्थापत्यकला के नमूने छठी सदी से मिलते हैं। यदि इस पद्धत्ति के विकास के युग पर विचार किया जाय, तो इसे पाँच उपविभागों में विभक्त कर सकते हैं। निम्नलिखित पाँच महान राजवंशो ने इस विकास मे योग दिया—

(१) पल्लव कालीन रीति	(ई० स० ६००-९००)
(२) चोल कालीन पद्धति	(ई० स० ९००-११५०)
(३) पांड्य कालीन पद्धति	(ई० स० ११५०-१३५०)
(४) विजयनगर पद्धति	(ई० स० १३६०-१५६०)
(५) मदूरा के नायक	(ई० स० १६००-१७००)

दक्षिण भारत में पल्लव शासन मध्य युग मे संक्रमण की अवधि है। इसी युग में द्राविड़ स्थापत्यकला का शुभारंभ हुआ। दक्षिण भारत मे सातवाहन वंश के उत्तराधिकारी पल्लव राजा सातवी सदी से शासन करते रहे। पल्लव स्थापत्यकला का केन्द्र कांची के समीप मे स्थित था। इस शताब्दी के पल्लव युग मे पर्वत खोदकर रथ से आरंभ होकर द्राविड़ शैली के मंदिरों का विकास

सफलतापूर्वक हुआ, जिसके उत्थान में अनेक राजवंशों ने हाथ बटाया। इसका फैलाव सीमित रहा और विशेष राजवंश के पैतृक संपत्ति के रूप में यह कालांतर में विकसित होता रहा। इस प्रकार अंतिम अवस्था को पहुँच सका। दक्षिण में शक्तिशाली बन कर तीन शताब्दियो तक पल्लवनरेशो ने वास्तुशिल्प को प्रोत्साहित किया था। उनकी सपूर्ण कृतियाँ दो श्रेणी या (अवस्था) में बाँटी जाती है खुदाई एवं बनावट—(Excavated and Str.ıctural)। प्रथम अवस्था के भी दो उप-विभाग हैं।

(१) महेंद्र शैली—सातवी सदी के आरभ में जिस स्थापत्यकला का प्रादुर्भाव हुआ, वह प्रस्तर चट्टानों को खोदकर तैयार हुई। उन खोदी हुई इमारतों को 'रथ' कहा जाता है। चूँकि महेन्द्र के उत्तराधिकारी नरसिंह वर्मन पल्लव नरेश की पदवी महामल्ल थी, अतः रथो को मामल्ल स्थापत्य वर्ग में भी रखा जाता है। सौ वर्षों (ई० स० ६१०-६९०) मे सारा कार्य संपन्न हुआ। इस अवधि में भी दो प्रकार की स्थापत्य शैलियाँ प्रचलित हुईं, जो आगे चल कर एक साथ मिल गईं। महामल्ल उपाधि के कारण समुद्र-किनारे पर स्थापित नगर मामल्लपुर (वर्त्तमान महाबलिपुरम्) के नाम से विख्यात हुआ। यह नगर मद्रास से ६० किलोमीटर दूर स्थित हैं, जहाँ आरंभिक दोनो रीतियों का प्रचलन रहा—मंडप तथा रथ।

(अ) मंडप—ये मंडप १५ या २० फुट के बराबर ऊँचे हैं। इन मंडपो में खंभो की सुंदरता, छज्जो की बनावट तथा स्थापत्य के साथ मूर्तिकला का मेल दर्शनीय है। मंडप पर्वत खोद कर तैयार किए गए, जिनके स्तंभ अलंकृत हैं। आधार मे सिंह की आकृतियाँ हैं, जिस कारण उन्हे 'सिंहस्तंभ' कह सकते है। उन मंडपों के भीतर कोठरियाँ भी हैं।

(ब) दूसरी रीति की स्थापत्यकला के उदाहरण को 'रथ' कहते हैं। यह वास्तव मे उन विशाल मंदिर-रथों के समान है, जिन पर देवमूर्तियाँ यात्रा मे निकाली जाती हैं। जैसे जगन्नाथपुरी का रथ। महाबलिपुरम् मे इस रथ शब्द का कुछ विभिन्न प्रयोग है। इसे एकाश्म मंदिर (Monolithic Ratha) कह सकते हैं।

(स) राजसिंह समूह—पल्लव स्थापत्यकला की दूसरी श्रेणी को महामल्ल के उत्तराधिकारी राजसिंह के साथ संबंधित कर उसे राजसिंह वर्ग (शैली) कहते हैं। यह स्थापत्यकला दो सौ वर्षों (८ वी तथा नौवी सदी) तक प्रचलित

रहो। इस स्थापत्य शिल्प की विशेषता यह है कि राजसिंह वर्ग की सभी इमारतें प्रस्तर टुकड़ों को जोड़कर (Structural forms) तैयार हुई थी।

सातवी सदी के पूर्वार्द्ध मे महेंद्र बर्मन ने कार्य आरंभ किया। इसके द्वारा प्रस्तर चट्टान को खोदकर स्तंभयुक्त कमरा (मंडप) तैयार किया गया। अदर की ओर कोठरियाँ दीख पड़ती हैं। मंडप को उनकी ड्योढ़ी मान सकते हैं। प्रत्येक स्तंभ सात फीट ऊँचा है। उसका मध्य भाग चौकोर है। महेंद्र वर्मन वर्ग के मंडपों में स्तंभ कारनिस रहित हैं। त्रिचनापल्ली के पर्वत मे खुदा मडप अत्यंत सादा है। कालातर में कार्निस (कपोत प्राचीन नाम) को ऐसा अलंकृत किया कि अंतर से स्तभ मे आकार जोड़ा गया, जिसे 'कुडु' कहते हैं। वह बौद्ध गुफाओं के चैत्य मेहराब के समान है। किंतु, उसे छोटा रूप देकर (कुडु को) अलकरण का साधन बना लिया गया। उस अवधि मे अन्यत्र भी मडप बने थे, जो एक के ऊपर दूसरा स्तंभ युक्त प्रकार था। बौद्ध विहारो मे उसकी एकता या उनका अनुकरण मान सकते हैं। भैरवकोडा मे ऐसे अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। इस स्थान के स्तभ परिष्कृत रूपरेखा के है, जिन्हे द्राविड़ रीति का प्रतिनिधि मानना उपयुक्त होगा। सिंह आधार उनके वश (सिंहविष्णु) का प्रतीक समझा गया है। मामल्ल वर्ग की दूसरी अवस्था मे 'रथ' को स्थान दिया गया है। नरसिंह वर्मन (ई० स० ६४०-६६८) इस स्थापत्यकला का सरक्षक था। इसकी शासन-अवधि मे मडप के साथ 'रथ' की प्रधानता थी। समुद्र-किनारे महाबलिपुरम् मे दोनो अवस्थाओं के स्थापत्य उदाहरण तैयार किए गए थे। यह नगर पल्लव राजधानी काचीपुरम् का बदरगाह था, जहां से दक्षिण भारत के शासको ने एशिया के पूर्वी द्वीपसमूह पर आक्रमण किया था। पल्लव स्थापत्य शैली का विस्तार भी इसी मार्ग से वृहत्तर भारत मे हुआ। महाबलिपुरम् के समुद्र-किनारे इमारती कडे प्रस्तर का पर्वत है, जो उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत है। यह आधा मील लबा, चौथाई मील चौड़ा तथा सौ फुट ऊँचा था। इस स्थान का प्रस्तर कड़ा (Granite Stone) होते हुए भी समुद्री हवा के कारण नष्ट होता चला जा रहा है। समुद्र के किनारे की इमारतें प्राचीन कही जाती हैं, किंतु इनका मूल आकार नष्ट हो गया है।

महाबलिपुरम् मे दस खुदे मंडप हैं जिनमे धर्मराज, महिषासुर पंच पाडव वराह उल्लेखनीय हैं, जो मुख्य पर्वत मे खुदे है। प्रायः सभी मडप सामने २५ फुट चौड़े और २० फीट ऊँचे हैं। कोठरियों सहित मडप २५ फुट गहरे हैं, जिनमे स्तभ की ऊँचाई नौ फुट है। कोठरियाँ चौकोर एवं १० × ५ वर्ग

फुट क्षेत्रफल में बनी हैं। सामने का माथा कुडु सहित बने हैं। मंडपों की यही विशेषता है कि सभी शिल्प कला के सुंदर अलंकरण से युक्त है। मंडपों के स्तंभ प्रचुर मात्रा में खुदे भी हैं।

महेंद्र शैली की दूसरी अवस्था (Phase) मे रथों का निर्माण हुआ। इनको बालू के भीतर किस उद्देश्य से खोदा गया था, यह एक रहस्य है। सभी रथ अकेला, बिना लक्ष्य के खडे हैं, जिनकी अदरूनी खुदाई असमान है। इनसे मदिर-निर्माण मे कितना उत्साह एव प्रोत्साहन मिला होगा, यह अज्ञात-सा है। रथ की ऐसी बनावट इमारतो की रहस्यमय कल्पना थी, जिसे अभी तक गूढतम समझते हैं।

महाबलिपुरम् के रथ अतीव विशाल चट्टान से निर्मित न हुए; क्योंकि उनका क्षेत्रफल सीमित था। ये ४२ फुट लंबे, ३५ फुट चौड़े तथा ४० फुट ऊँचे आकार में है। उनकी संख्या सात होने से 'सात पगोडा' (Seven Pagodas) के नाम से विख्यात है। ब्राउन का मत है कि दोनों बौद्ध मठ तथा चैत्य-मंडप के अनुकरण पर तैयार हुए है। सात पगोडा निम्नलिखित हैं—

(१) द्रौपदी रथ,

(२) अर्जुन रथ,

(३) धर्मराज रथ,

(४) नकुल-सहदेव रथ,

(५) भीम रथ,

(६) गणेश रथ और

(७) किनारे का मंदिर।

द्रौपदी रथ सबसे छोटा है, सादा यानी अलकरणरहित है तथा पूर्णतया खुदा है। एकाश्म रथों का स्थापत्य प्राचीन बौद्ध विहारों पर आधारित होने के कारण चौकोर या आयताकार है। ब्राउन ने इनका उल्लेख 'विहार रथ' के नाम से किया है। सभवतः वर्गाकार आँगन मे स्थित कोठरी के स्वरूप से रथ का विकास हुआ। ऊँचाई में ये पिरामिड या गोली के आकार के हैं। प्रायः सभी रथ दो मंजिल के है। प्रत्येक छत पर उन्नतोदर (Convex) रूप मे कार्निस दीख पड़ती है, जिसे चैत्य वातायन सदृश मेहराव से अलकृत किया गया है। दक्षिण भारत में उसे 'कुडु' कहते हैं। रथ की निचली दीवार मे भित्तिस्तंभ बने हैं तथा ऊपरी मंजिल छोटे मंडप से घिरी है। नकुल-सहदेव रथ योजना में

चौकोर था, परंतु कुछ आयताकार भी बने हैं। सभी रथों की परिकल्पना एक-सी नही है। ऊपरी भाग मे गुंबज को 'स्तूपी या स्तूपिक' कहते हैं। गुंबज मेहराबी आकार के भी हैं। इसी को ध्यान मे रख कर मूलतः द्राविड़ शैली के दो प्रकार—(१) मीनारसहित विमान तथा (२) विशाल मार्ग द्वार गोपुरम् विकसित हुए थे।

धर्मराज रथ वर्गाकार है और संभवतः इसी से द्राविड विमान का प्रादुर्भाव हुआ। इसमे जमीन की सतह का कक्ष वर्गाकार है, जिसके चारों तरफ स्तंभ सहित खुला बरामदा है। इसी आकार-प्रकार के ऊपरी भाग मे गुंबज है, जो शुंडाकार है (सूच्याकार प्रस्तर स्तभ) जो क्रमशः ऊपरी भाग में पतला होता चला गया तथा जिसके सिरे पर (टोपी की तरह) गोल अष्ठकोण स्तूपिका दीख पड़ती है। प्रत्येक मंजिल दूसरी से पृथक् है। उनमे उन्नताकार चैत्यनुमा मेहराब (कुडु) बने हैं। देखने मे पता चलता है कि ऊपरी मंजिल गर्भगृह का काम करती है तथा नीचे का बरामदा प्रदक्षिणा मार्ग प्रकट होता है। इस प्रकार धर्मराज रथ तो विशिष्ट तौर पर द्राविड विमान का रूप उपस्थित करता है। गणेश रथ चौकोर होकर आकर्षक तथा दिलचस्प है। ऊपर मंजिल का सिरा गोली के आकार सदृश शवकक्ष से ढँका है। इसमें छोटे पैमाने पर गोपुरम् का आकार अपनी विशेषता लिए बनाया गया है। चौकोर योजना मे प्रवेशद्वार उपयुक्त माना जाता है और गोली के आकार की छत भी उपयोगी सिद्ध होती है। महाबलिपुरम् के वर्गाकार तथा चौकोर प्रकार के रथ साथ-साथ विद्यमान हैं, जिनकी स्वतंत्र कल्पना ज्ञात होती है। विद्वानो का मत है कि द्राविड़ मंदिर के दो प्रमुख तत्वो का मूल मामल्लपुरं के रथो मे निहित है। राजसिंह (पल्लव) शैली मे प्रस्तर चुनकर निर्मित इमारतों मे कांचीपुरम् का कैलाशनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। इसमे द्राविड़ शैली की सभी विशेषताएँ सुव्यवस्थित ढग से व्यक्त की गई हैं। राजसिंह पल्लव ने महाबलिपुरम् के समुद्र-तट के मंदिर तत्पश्चात् कांची के कैलाशनाथ मंदिर का निर्माण करवाया।

दक्षिण भारत के नगरो मे कांचीपुरम् की भी प्रसिद्धि है। इसके वैभव के कारण चौथी सदी मे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने कांची पर आक्रमण किया था तथा विष्णुगोप नामक राजा को परास्त किया। सातवी सदी से पल्लवो की राजधानी कांची विद्यालयो तथा मंदिरों के लिए विख्यात है। यहाँ शैव तत्पश्चात् वैष्णव मत का प्रचार था। यही कारण है कि शैव मंदिर (कैलाशनाथ) तथा वैष्णवमंदिर (वैकुंठ पेरूमल) का निर्माण हुआ था। महाबलिपुरम्

की भाँति कांचीपुरम् भी द्राविड़ स्थापत्य का उद्गम स्थल है। यहाँ पल्लव स्थापत्य के सभी अंग विद्यमान है—

(१) पतला शिखर (विमान के ऊपर),

(२) खंभेदार सभामंडप,

(३) अंतराल और

(४) आयताकार आँगन तथा ऊँचा परकोटा।

कैलाशनाथ मंदिर बुर्जियों से मंडित परकोटे से घिरा है। आयताकार आँगन के पश्चिमी किनारे पर गर्भगृह बना है। विमान की छत चिपटी है। स्तंभदार मंडप तथा पिरामिड के समान ऊपर पतला होते शिखर (स्तूपी) सहित गर्भगृह बना है। इस स्थान पर भी सिंह वाले भित्तिस्तंभ दीख पड़ते हैं। विमान यानी गर्भगृह का शिखर अधिक विकसित है तथा ठोस और ससगत रूप मे बना है। कैलाशनाथ मंदिर में गोपुरम् का आरंभिक रूप दृष्टि-गोचर होता है। इस मंदिर के परीक्षण से प्रकट होता है कि एकाश्म रथ एवं तट मंदिर से अधिक विकसित रूप का शिखर कांचीपुरम् के स्थापत्य की एक विशेषता है, जो सुव्यवस्थित एवं उचित अनुपात में तैयार किए गए। कांचीपुरम् के कैलाशनाथ की बनावट मंदिर की जटिल अवस्था का द्योतक है। मंदिर में दो प्रकार के प्रस्तर प्रयुक्त हैं। आधार कड़े प्रस्तर तथा ऊपरी भाग बालूदार प्रस्तर द्वारा निर्मित है। वह द्राविड शैली का समष्टि रूप में उदाहरण उपस्थित करता है। *'विमान'* तथा *'स्तंभयुक्त मंडप'* द्राविड़ मंदिर का आवश्यक अंग हैं। विमान के संमुख निर्मित मंडप पृथक् अस्तित्व रखता था। किंतु, समयांतर में दोनों को एक कक्ष से संबंधित कर दिया गया, जिसे 'अंतराल' कहते हैं। मंदिर के पूर्वी प्रवेशद्वार से आँगन में पहुँच जाते हैं। द्वार के पार्श्व में आयताकार दोमंजिला बनावट है, जिसके ऊपरी भाग में मेहराबदार गोल शिखर है। मुख्य मंदिर का यह सहायक प्रकोष्ठ है, जो प्रवेशमार्ग के भवन के निमित्त उपयोगी है। इसी को गोपुरम् का आरंभिक रूप मानते हैं। अतः, द्राविड़ शैली के वास्तविक स्वरूप कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में पाते हैं। इसमें

(१) विमान (स्तूपी सहित),

(२) स्तंभयुक्त मंडप,

(३) गोपुरम् तथा

(४) परकोटे से घिरे आँगन का निर्माण, सभी आवश्यक तत्त्व विराजमान हैं।

राजसिंह ने लगभग ई० स० ७८० में बैकुंठ पेरुमल का वैष्णव मंदिर तैयार किया था। यह पल्लव शैली का अधिक विकसित उदाहरण है। यह मंदिर परकोटे से घिरा है, जिसकी पूर्वी दीवार में ड्योढ़ी है। परकोटे की बाहरी दीवार भित्तिस्तंभ तथा ताख सहित दीख पड़ती है। अंदर की ओर स्तंभी श्रेणी वाले मठ बने है, जो विमान तथा मंडप से खुले मार्ग द्वारा पृथक हैं। इसे अलग करने वाले रिक्त स्थान को प्रदक्षिणा के लिए उपयोग करते है। मंदिर का मडप स्तंभो सहित वर्गाकार कक्ष है, जिसमें गर्भगृह में जाने का मार्ग बना है। गर्भगृह की योजना वर्गाकार है, जिसके ऊपरी भाग मे पिरामिड सदृश चार मंजिल का बुर्ज है और उसको आठकोनी स्तूपिका है। सबसे ऊपर कलसी बनायी गई है। प्रत्येक मंजिल गर्भगृह के सदृश है। सबसे नीचे छत से ढका प्रदक्षिणा-मार्ग भी है। ऊपर प्रदक्षिणा-पथ के साथ खुला बरामदा भी वर्त्तमान है। बाहरी ओर मंजिल में गोल कार्निस है। भूमि सतह पर स्थित कक्ष के भित्तिस्तंभों के मध्य भाग अलंकृत भी हैं। इस प्रकार पेरुमल मंदिर में कक्ष, अर्द्धमंडप, गर्भगृह सभी मिलकर सुसंहत वास्तुरूप धारण करते हैं। इस क्रम से द्राविड शैली के मंदिर वास्तविक रूप धारण करते जा रहे थे।

आठवी सदी से पल्लव वंश की अवनति होने लगी। स्थापत्य-कार्य शिथिल हो गया। तो भी वास्तु-कार्य में उत्साह-भंग न हो पाया और उत्तर पल्लव-युग मे कांची के शासक नंदिवर्मन तथा उत्तराधिकारियो ने मुक्तेश्वर एवं मातंगेश्वर मंदिरों का निर्माण किया। देखने से विदित होता है कि ये राजसिंह शैली के अनुरूप ही थे। पल्लव-युग में द्राविड़ मंदिरो के विकास-क्रम में पट्टादकल के विरुपाक्ष मंदिर का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि यह नगर चालुक्य राज्य सीमा मे स्थित था, किंतु चालुक्यनरेश विक्रमादित्य द्वितीय (ई० स० ७३३-७४६) के शासनकाल में निर्मित हुआ। उस पर द्राविड़ शैली के प्रभाव का कारण यह था कि चालुक्य राजा ने पल्लवों की कांची पर तीन बार आक्रमण किया। विजय के फलस्वरूप विरुपाक्ष मंदिर तैयार किया गया, अतः द्राविड़ शैली का प्रभाव स्वाभाविक रूप में ज्ञात हो जाता है। पट्टादकल के विरूपाक्ष तथा कांची के कैलाशनाथ मंदिरो में समान योजना एवं बनावट में एकरूपता है। देखने से कांची के मंदिर का वह दूसरा रूप प्रकट होता है। विद्वानो का मत है कि विरूपाक्ष मंदिर ने एलोरा के कैलाशनाथ गुहा मंदिर को प्रभावित किया, जिसमें पर्वत की खुदाई तथा तकनीकी क्रिया के कारण विभेद दीख पड़ता है। एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर को राष्ट्रकूटनरेश

कृष्ण ने (ई० स० ७५८-७७३) पूरा कराया। राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग चालुक्य का उत्तराधिकारी था और उसके कार्यों को राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण ने पूरा किया था। एलोरा मंदिर का आँगन ३०० × २०० वर्गफुट मे विस्तृत है। विमान तथा मंडप हैं। चारों तरफ प्रदक्षिणा-पथ तथा पार्श्व मे खुदी मूर्त्तियो से भरा लंबा बरामदा है। प्रवेशमार्ग पर दो मंजिल का कक्ष है, जिसे गोपुरम् का मूल रूप कह सकते हैं।

दक्षिण भारत के चोल मंदिर

दक्षिण भारत मे पल्लव शासन का ह्रास हो जाने पर चोलवंश का उदय हुआ। नौवी शदी के पश्चात् चोल राजा दो सौ वर्षों तक शासन करते रहे। चोल शासन का प्रभुत्व केवल दक्षिण भारत मे ही सीमित न रहा, वल्कि इनकी महान शक्ति का प्रभाव उत्तरी भारत की गगा घाटी तथा दक्षिण मे लंका द्वीप तक विस्तृत हुआ। भारत के पूर्वी समुद्र-किनारे पर इनकी शक्ति का अत्यधिक विस्तार हुआ, इसी कारण मद्रास के पूर्वी समुद्र-तट को 'चोलमडल' कहा जाता है। उसे अंग्रेजी मे 'कारोमंडल' कहते है। यही इनकी सामुद्रिक शक्ति का विकास हुआ तथा चोलनरेशो ने वर्मा एवं मलाया के भू-भाग और एशिया के दक्षिण पूर्वी द्वीप समूह को अपनी शक्ति द्वारा प्रभावित किया। उस शक्तिशाली साम्राज्य मे अनेक भव्य एवं विशाल मंदिर तैयार किए गए, जो दक्षिण की द्राविड शैली के सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करते हैं। पल्लव राज्य की स्थापत्यकला का विकसित रूप चोल मंदिरो मे देखते हैं।

संगमकाल के चोलनरेश करिकाल के कल्पित वैभव के विषय मे कुछ कहना उचित न होगा। नौवी शती के पूर्वार्द्ध विजयालय नामक राजा ने तंजौर के समीप छोटा-सा राज्य स्थापित किया, जो उसके उत्तराधिकारियो के शासन मे विशाल साम्राज्य बन गया। परातक ने मदुरै तथा लंका पर विजय प्राप्त की। वह शैव मतानुयायी था, अतः चिदंबरम् के मंदिर को सोने से ढँक दिया। त्रिचनापल्ली जिले मे स्थित कोरंगनाथ का मंदिर इसी ने बनवाया था। उसका पुत्र राजादित्य राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के साथ युद्ध मे मारा गया। उसी का पुत्र सुंदर चोल साहित्य का बडा सरक्षक हुआ। चोलो का राज्य राजराजा प्रथम (ई० स० ९८५) के शासन मे चरम सीमा को पहुँच गया था। वही चोल वंश का सबसे प्रतापी एवं शक्तिशाली राजा माना जाता है और उसके शासन में साम्राज्य का चरमोन्नति हुई। उसकी संरक्षता मे

साहित्य, धर्म एवं कला का अक्षुण्ण विकास हुआ। राजराजा प्रथम ने केरल, पांड्य, सिंहल के शासकों को पददलित कर गंगवाड़ी, मैसूर तथा पर्वतीय प्रदेश को रौंद डाला। इसने समीपवर्ती द्वीपसमूहों को भी अधिकार में कर लिया। शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर उसने तंजौर में विशाल मंदिर का निर्माण किया, जो बृहदेश्वर अथवा राजराजेश्वर नाम से प्रसिद्ध है।

११वीं सदी के प्रारंभ में उसके उत्तराधिकारी राजेंद्र नरेश (ई० स० १०१२-४४) ने चालुक्य राजा जयसिंह को परास्त किया। पूर्वी चालुक्य राज्य, कलिंग, दक्षिण कोशल तथा बंगाल के पाल साम्राज्य पर आक्रमण कर विजयी बना था। इस प्रकार उसने चोल तथा चालुक्य के मिश्रित राज्यों पर शासन किया। चोलवंश के प्रायः सभी शासक स्थापत्य-कार्य में दिलचस्पी लेते रहे। शैव मतावलंबी होने के कारण अनेक मंदिरो का निर्माण किया, जो द्राविड़शैली के उत्तम नमूने समझे जाते हैं। तंजौर, कांची, मदुरै, चिदंबरम् तथा दारासुरम् के मंदिरों का नामोल्लेख समीचीन होगा।

पल्लवमंदिरों की तुलना में चोलमंदिरों की प्रमुखता है। कांचीपुरम् का पल्लवमंदिर कैलाशनाथ का विमान महत्त्वपूर्ण है। लेकिन, गोपुरम् का आरंभ (छोटा रूप मे) दीख पड़ता है। किंतु, चोलमंदिरों में विमान विशाल पैमाने पर तैयार किया गया और गोपुरम् भी बड़ा बनाया गया था। राजराजा तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में तंजौर, दारासुरम् तथा गंगैकोंडा चोलपुरम् मे बृहदाकार मंदिर तैयार हुए थे। गोपुरम् का आकार क्रमशः बृहत् होता गया और उत्तरार्द्ध चोल राज्यकाल मे गोपुरम् विशाल आकार का हो गया एवं उसकी तुलना में विमान छोटा दीख पड़ने लगा। इस प्रकार चोलमंदिरों के गर्भगृह के शिखर एवं गोपुरम् पहले से बृहदाकार हो गए। द्वारपाल के संबंध मे भी ऐसी बातें कही जा सकती हैं। पल्लवमंदिरो के द्वारपाल मनुष्य के प्राकृतिक स्वरूप में, दो भुजाओं वाले तैयार किए गए थे, जो चोल-युग मे भयंकर मुखाकृति तथा चार भुजासहित निर्मित हुए। तंजौर तथा गंगैकोंडा चोलपुरम् मंदिरों मे द्वारपालों के सिरे पर त्रिशूल बना है। मुख से हाथी के दाँत निकले दीख पड़ते हैं। गोल आँखें तथा वक्र भौंहें दर्शकों में भय उत्पन्न करती हैं। उनके हाथ भी तर्जनी मुद्रा तथा विस्मय अवस्था में बनाए गए है। अतएव, पल्लव तथा चोलमंदिरों के अवलोकन से ही उनकी तिथियाँ निश्चित हो जाती हैं—

पल्लव मंदिर	चोल मंदिर
१. विमान की प्रमुखता	१. विमान की विशालता
२. गोपुरम् का आरंभ	२. गोपुरम् का वृहत् रूप
३. मनुष्य के आकार के द्वारपाल	३. भयंकर आकृति वाले द्वारपाल
४. दो भुजाएँ वाले मनुष्य	४ चार भुजाओं सहित द्वारपाल
५. समतल भूमि पर स्थित मंदिर	५ चबूतरे पर निर्मित मंदिर
६. सिंह सहित स्तंभ जिसमे जानवर बैठा है या अलंफ ले रहा है।	
७ मंदिरों मे सिंह एवं अन्य लोकातीत जानवरों को स्थान दिया गया था।	७. दो कुडु जिस पर सिंह का सिर बना है
	८. स्तंभावलिसहित पृथक् मंडप का निर्माण
	९. विस्तृत आँगन
	१० दिक्पाल की स्थिति
	११. शार्दूल अलंकरण की परंपरा
	१२. पल्लव-युग में विभिन्न चोल-स्तभो की बनावट है। उनमें सिंह के आकार का अभाव है। चोल-युग मे स्थापत्य शिल्पी स्थापन के गुणग्राहक थे। उन्हे स्तंभ सँवारने की कला ज्ञात थी। इस कारण किसी वास्तु-अंश को वे समुचित स्थान पर रखते थे। किसी प्रकार के लोकातीत पशु के लिए चोल स्थापत्य शैली में स्थान न मिल सका।

चोलवंशी राजाओं द्वारा निर्मित मंदिर तीन प्रमुख स्थानों पर स्थित हैं, जिनकी बनावट, आकार तथा सुंदरता दर्शनीय है।

१. तंजौर का बृहदेश्वर मंदिर (राजराजा द्वारा निर्मित)
२. गर्गकोंडा चोलपुरम् का वीर राजेंद्र प्रथम द्वारा निर्मित तथा द्वितीय बृहदेश्वर मंदिर
३. दारासुरम—राजराजा द्वितीय द्वारा निर्मित ऐरावतेश्वर

तंजौर का बृहदेश्वर (शिव) मंदिर चोल साम्राज्य के वैभव का द्योतक तथा दक्षिण भारत के वास्तुशिल्प की एक ऐतिहासिक घटना बतलाताहै। यह इसके निर्माता राजराजा (ई० स० ९८५-१०१२) के गौरव को प्रतिध्वनित करता है। शासक की कीर्ति का परिज्ञान विशाल मंदिर की चारो दिशाओ मे खुदे लेखो के अध्ययन से हो जाता है। राजा ने मंदिर के गुंबज को सोने मे ढंक दिया था।

बृहदेश्वर मंदिर कड़े प्रस्तर के चट्टानो से बनाया गया, जो समीप के स्थानो में अप्राप्य है। उसकी विशालता का अनुमान क्षेत्रफल से ही हो जाता है। यह वर्गाकार १५० फुट ऊँचे चबूतरे पर तैयार किया गया। उसके गर्भगृह की ऊँचाई सौ फीट है, जिसके सिरे पर दो सौ फीट ऊँचा विमान दीख पड़ता है। यह मदिर ५०० × २५० वर्ग फुट क्षेत्रफल मे विस्तृत परकोटे से घिरा है। इसके पूर्व दो सौ पचास वर्गफुट का बाहरी आँगन तैयार किया गया था, जिसमें निवास निमित्त कोठरियाँ तथा छोटे-छोटे पूजामंदिर बनाए गए थे। पूर्वी दीवार मे गोपुरम् बना है, जो पीछे जोड़ा गया था। इसी से सबद्ध छोटा गोपुरम् है, जिससे होकर मुख्य आँगन में पहुँचते है। इस भाग मे स्तभ सहित विहार बने है और सबसे पीछे गर्भगृह पर राजसी विमान ऊपर उठता चला गया है। उस मदिर समूह मे पृथक् विशाल मडप, स्तंभ सहित ड्योढ़ी तथा नदी के लिए तीर्थमंदिर बनाया गया है। सभी आकार-प्रकार अपनी प्रमुखता रखते हैं तथा कार्य एव स्थापत्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इतना होने पर भी विमान की विशालता, गौरव एवं विशिष्टता मे किसी प्रकार की न्यूनता दृष्टिगोचर नही होती। द्राविड़ स्थापत्य के इतिहास मे बृहदेश्वर मदिर अपना गौरव रखता है तथा युगातकारी घटना है। इस मंदिर के विमान के निम्न तीन विभाग हो सकते हैं—

(१) गर्भगृह का घनाकार अश, जिसमे प्रदक्षिणा-पथ ढँका है।
(२) विशाल पिरामिड के आकार का उपविभाग, जिसके भीतर तेरह

ह्रासमान (क्रमशः घटता हुआ) मंडल हैं, उसके शीर्ष भाग की चौड़ाई आधार की एक तिहाई है।

(३) विमान के सिरे-भाग पर बनी गुंबदी स्तूपिका है।

विमान में क्षितिज के समानांतर गहराई तथा बाहर ऊभरे भाग हैं, जो संपूर्ण पिरामिड अंश मे दीख पड़ते है। लंबत् भाग में भारी कार्निस बने है। इस प्रकार ऊपरी तथा निचले गहरे भाग में मूर्तिया बनी हैं। पूरी मीनार सुदृढ़ तथा स्थायी विचार को ध्यान में रखकर निर्मित है। ब्राउन के मत में तंजौर मंदिर का विमान भारतीय स्थापत्य शिल्प की कसौटी है।

बृहदेश्वर के मदिर के प्रांगण मे सुब्रह्मण्य देव का मदिर अत्यंत कलापूर्ण ढंग से बना है। प्रचुर मात्रा मे अलंकरण के कारण यह दर्शकों को आकर्षित करता है। यह कहना उचित होगा कि मुख्य मंदिर को छोड़ कर अन्य स्थापत्य के नमूने कालांतर मे जोड़े गए थे।

मदिर के आंगन में ऊँचे चबूतरे की दीवार पर दो पंक्तियों में देवी-देवताओं की आकृतियाँ बनी है। गणेश, विष्णु, श्रीदेवी, भूदेवी और लक्ष्मी की प्रतिमाएँ हैं। वीरभद्र, दक्षिणामूर्ति कालातक तथा नटेश मूर्तियाँ शैवधर्म की प्रधानता बतलाती हैं। हरिहर, अर्द्धनारीश्वर चद्रशेखर गंगाधर तथा आलिंगन चद्रशेखर की प्रतिमाएँ शैवमत की प्रमुखता के द्योतक हैं। सरस्वती, महिषमर्दिनी आदि देवियो की मूर्तिया भी दूसरी पंक्ति में बनी हैं।

पूर्वी भाग मे सीढ़ियों द्वारा मंदिर में प्रवेश करते हैं। उसके बाद स्तंभों-युक्त मंडप बना है। प्रवेशद्वार के ऊपर पास-पास दो गोपुरम् बने हैं। पहला विशाल है, किंतु दूसरा अधिक अलंकृत है। दूसरे गोपुरम् के प्रारंभ मे दो द्वार-पाल रक्षा कर रहे हैं। उस पर शिव की जीवनलीलाओं का प्रदर्शन भी है। शिव-पार्वती-विवाह, मार्कण्डेय की रक्षाएँ, अर्जुन को पाशुपतशस्त्र-का दान, आदि प्रदर्शन दीख पड़ते हैं। गर्भगृह के समीप का स्थान अंधकारमय है, किंतु तक्षण कला के सुंदर नमूने खुदे हैं। इसके पश्चिम व.क्षसहित विष्णु, दक्षिण में शिव नटराज त्रिशूल तथा तलवार सहित, भयंकर चेहरा, दसभुजी शिव एवं उत्तर दिशा में पद्मासना देवी प्रतिमाएँ मदिर की शोभा बढा रही हैं। नटराज-प्रतिमा में पल्लव की परंपरा विद्यमान है। चोल-युग के सर्वोत्तम कलात्मक दृष्टात एक सौ आठ नृत्य-मुद्रा के प्रदर्शन से मिलते हैं। यह मंदिर की पहली मंजिल की दीवार पर खुदे हैं। इस प्रदर्शन से भारतीय संगीतकला का

उत्तम इतिहास ज्ञात हो जाता है। संभवत. चिदंबरम् के गोपुरम् पर खचित नृत्य-मुद्राओं का वृहदेश्वर मंदिर का प्रदर्शन पूर्व रूप ही माना जा सकता है।

तामिलनाडु के तिरुचिरापल्ली जिले में नगर से छयानवे किलोमीटर दूर पूर्व तथा तंजौर से छप्पन किलोमीटर उत्तर-पूर्व की ओर गगैकोंडा चोलपुरम् नामक स्थान है, जिस स्थान पर राजेन्द्र चोल प्रथम (ई० स० १०१२-४४) ने वृहदेश्वर भगवान् का दूसरा मंदिर बनवाया था। यह गंगैकोठा चोलेश्वर नाम से भी विख्यात है। चोलनरेश ने उत्तरी भारत में गंगा घाटी तक विजय करने के स्मारक मे इस मंदिर का निर्माण किया था। उस स्थान के भग्नावशेष मंदिर के गौरव की कहानी सुनाते हैं। भीतरी परकोटे की दीवार का गोपुरम् भी नष्टप्राय हो चला है। बाहरी दीवार का गोपुरम् दीख नहीं पड़ता। यह मंदिर भी तंजौर मंदिर की योजना के सदृश तैयार किया गया। यह मंदिर ३४० फुट लंबा तथा ११० फुट चौड़ा आयतेकार विशाल आँगन में निर्मित हुआ, जिसमे १७५ × ९५ वर्ग फुट क्षेत्रफल मे महामंडप बना है तथा उसका विमान सौ फुट ऊँचा है। पूर्वी भाग में प्रवेशद्वार है, जिसके दोनों तरफ दो विशालकाय द्वारपाल हैं। महामंडप अधिक ऊँचा नही है जिसमे डेढ़ सौ स्तंभ चार फुट ऊँचे चबूतरे पर खड़े हैं। विद्वानो का मत है कि द्राविड़ शैली के सहस्रस्तंभावलि सहित मंडप का पूर्व रूप गगैकोडाचोलपुरम् के महामंडप में पाते हैं। यहाँ गर्भगृह तथा मंडप को जोड़ने वाले कक्ष में दो पक्तियों में पाया खड़े हैं। इसका विमान १६० फुट ऊँचा है। इस चोल-मंदिर मे इतने अधिक अलकरण हैं कि ब्राउन ने इनको नारीवत् यानी शृंगारिक माना है तथा पूर्व के वृहदेश्वर मंदिर पुरुष-शक्ति का द्योतक समझते हैं। इन मंदिरों को द्राविड़ स्थापत्य शैली का उत्कृष्ट नमूना कह सकते हैं। स्थापत्य शिल्प की गरिमा का परिज्ञान वृहदेश्वर मंदिरों के अध्ययन से हो जाता है।

शैव-मंदिर होने के कारण वृहदेश्वर मंदिर की दीवारें शिव के विभिन्न कार्यों के प्रदर्शन से सुशोभित हैं। अनुग्रह तथा रौद्र भाव की प्रतिमाएँ खुदी है। शिव-परिवार का भी अंकन मिलता है। देवी तथा विष्णु की मूर्तियों को भी स्थान दिया गया है। दीवारों की ताख पर शिव की नाना भावयुक्त प्रतिमाएँ शैवमत की प्रधानता बतलाती हैं।

राजेंद्र चोल के शासन के पश्चात् साम्राज्य की विस्तार-योजना प्रायः समाप्त हो गई। मंदिर-निर्माण-कार्य का ह्रास होता गया। इस अवनति काल में भी कुंभकोनम् के समीप ही दो मंदिर बने थे—

(१) दारा सुरम् का ऐरावतेश्वर और

(२) त्रिभुवनम् का त्रिभुवनेश्वर मंदिर।

इन मंदिरों की अवस्था हीन होती चली गई। इनमें अलंकार तथा आभूषणों का अधिक प्रयोग मिलता है। बारहवीं सदी में चोल की हीनावस्था में जिन मंदिरों का निर्माण हुआ, उन्हें उत्तर-चोलयुग की कृति कहने में अत्युक्ति न होगी। चोल की अवनति के बाद पाड्य राजाओं ने दक्षिण पर शासन किया। उनके प्रभुत्व का बोलबाला होने पर चोल शैली के दो वर्तमान मंदिरों की बनावट पुराने स्थापत्य शैली की ही है। इनमें विमान बृहत् होते गए। विमान तथा मंडप के चारों तरफ अनेक गौड़ मंदिर बने है, जो सभी चहारदीवारी के भीतर स्थित है। समकेंद्रित परकोटे मौजूद हैं, जिनमें गोपुरम् बने है। दारासुरम् के मंदिर के प्रत्येक परकोटे में गोपुरम् वर्तमान है। इसमें गर्भगृह के सम्मुख एक निर्मित मंडप रथ के आकार का बना है, जिसे हाथी खींच रहे हैं। इसी कारण मंदिर को ऐरावतेश्वर का नाम दिया गया है, इस युग मे मुख्य मंदिर को छोड़ कर गौड़मंडप कक्ष, या छोटे मंदिरों पर अधिक ध्यान दिया गया। यही कारण है कि कालांतर में गोपुरम् विशालतर हो गया तथा गर्भगृह ने छोटे आकार का रूप धारण कर लिया। इस मंदिर की बाहरी दीवार की ताख पर तंजौर तथा गंगैकोंडाचोलपुरम् मंदिरों के सदृश मूर्त्तियाँ उकेरी गई हैं। इसमे दोहरा स्तंभ निर्मित हैं, जिनके मध्य में सिंह सिर युक्त कुडु बनाए गये थे। परकोटे की दीवार भीतर मंडप-क्रम से सुंदर दीख पड़ती है। मंडप के ऊपरी भाग नटराज-सभा के नाम से प्रसिद्ध है। इस मंदिर की ताख मे ऋषियों की आकृतियाँ शांति एवं प्रशांति का संदेश दे रही है। परंतु, तंजौर के मंदिर में वीरोचित भाव प्रकट होते हैं। चोल-युग मे संगीत तथा नृत्य के संरक्षक सभी नरेश थे, इस कारण मंदिरो मे संगीत-वाद्य तथा नृत्य का प्रचुर प्रदर्शन है। चिदंबरम् के मंदिर में भी संगीत के स्थान आदि का अंकन भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार किया गया है।

चालुक्य अथवा होयसल शैली

शिल्पशास्त्र मे इस विषय की चर्चा की गई है कि तीन प्रकार की वास्तु शैलियाँ प्रचलित थीं। आर्य शैली उत्तरी भारत में तथा द्रविड़ पद्धति दक्षिण में प्रयुक्त रही। मध्य भाग यानी विंध्या तथा कृष्णा नदी के मध्य भू-भाग में एक अंतवर्त्ती शैली वर्त्तमान थी, जिसे बेसर रीति का नाम दिया गया था। प्रथम सहस्राब्दि के पश्चात् इस शैली का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे चालुक्य वंश से संबद्ध कर चालुक्य शैली कहने लगे। इस वंश का राज्य उपरियुक्त भू-भाग में कई सौ वर्षों (छठी से १२वी शती तक) तक विस्तृत रहा तथा अपनी शक्ति एवं प्रभाव से स्थापत्य कार्य को भी प्रभावित किया। इनके वैभव तथा सर्वोपरि सत्ता के कारण वास्तुशिल्प के साथ चालुक्य नाम जोडना न्यायोचित भी था। दसवी सदी के बाद ही चालुक्यों के स्थान को द्वार समुद्र के होयसलनरेशों ने ग्रहण किया यानी साहस तथा पौरुषेय कार्यों द्वारा होयसल की प्रभुत्ता के सभी कायल हो गए। दो सौ वर्षों (११वी से १३वी सदी) में ही अदम्य उत्साह तथा परिश्रम के अनेक मंदिर निर्मित किए गए, जिस का कोई पूर्व उदाहरण (नज़ीर) नही बतलाया जा सकता। इसी अवधि में ही चालुक्य शैली परिपक्व हो गई। स्थापत्य-कार्य का विकास एक निश्चित दिशा में हुआ। अतएव, बेसर या चालुक्य पद्धति को 'होयसल शैली' कहने लगे।

दक्षिण भारत के पूर्वी भाग में द्राविड़ पद्धति तथा पश्चिमी प्रदेशों में चालुक्य अथवा होयसल शैली का प्रचार एवं प्रसार हुआ था। इस शैली की उत्पति तथा विकास की खोज सातवीं सदी के चालुक्य शासन में किया जा सकता है। उनके तीन ऐतिहासिक नगरों—ऐहोल, पट्टादकल तथा बादामी में आर्य (नागर) तथा, द्राविड़ शैलियों के मंदिर एक साथ ही निर्मित हुए थे।

इनमें मूलत: कोई विभेद न था, किंतु प्रथम सहस्राब्दि मे जिस धर्म तथा स्थापत्य शिल्प का प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ, उसी के उपविभाग द्राविड़ और चालुक्य शैली के नाम से विख्यात हुए। ई० स० ४००-६०० तक का काल प्रतिष्ठित युग कहा गया है, जिसमें बौद्ध धर्म का ह्रास तथा ब्राह्मण मत की उन्नति हुई। कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में बौद्ध परंपरा को हिंदुओं (ब्राह्मण मतानुयायी) ने अपनाया। पाँचवी तथा छठी सदियों में चैत्य एवं विहार का

निर्माण होता रहा। ब्राह्मण कला मे गुहा की खुदाई को अधिक बल मिला, जहाँ बौद्ध तकनीकी-सिद्धांत पर कार्य होते रहे। समतल भूमि पर निर्माण-कार्य को भी शक्ति प्रदान की गई। इस प्रकार खुदाई तथा बनावट (Excavated and Structural) की दिशा मे पर्याप्त प्रगति हुई। पल्लवकाल से पूर्व प्रचलित वास्तु के उदाहरण बीजापुर जिले के ऐहोल, पट्टादकल तथा वादामी मे मिलते हैं। इनका वर्णन पिछले पृष्ठों मे किया गया है। दसवी सदी के पश्चात् चालुक्यों द्वारा निर्मित आकार-प्रकार एक पृथक् स्थान रखते है। इनसे मैसूर की चालुक्य पद्धति का परिज्ञान हो जाता है, जैसे महाबलिपुरम् समूह के मंदिरों द्वारा द्राविड़ शैली की विशेषताएँ विदित हो जाती हैं।

मैसूर मे चालुक्य स्थापत्य उदाहरणो को देखने से ज्ञात होता है कि छठी सदी के मध्य मे पुलकेशिन प्रथम ने कदम्बवश को जीत लिया और वास्तुशिल्प का कार्य जोरों पर चल पडा। एक ऐहोल मे ही ७० चालुक्य मंदिर है। इसी के समीप पट्टादकल तथा बादामी मे भी मदिर तैयार किए गए थे।

दसवी सदी से तेरहवी सदी तक विकसित स्थापत्य को चालुक्यों की शैली कहते हैं। इसे होयसल शैली भी कहा गया है।

यद्यपि मध्य काल मे राष्ट्रकूट-नरेशो ने अधिकतर गुफाएँ खुदवाई (एलोरा गुहा) किन्तु इमारती ढग (Structural) का कार्य पीछे न रहा। एलोरा मे उसकी चरम सीमा देखते है। पश्चिमी भारत में राष्ट्रकूट वश के ह्रास होने पर तैल द्वितीय नामक व्यक्ति ने प्राचीन चालुक्य वंश का पुनरुत्थान किया। मैसूर का भाग (कन्नडदेश) दसवी सदी के बाद नए चालुक्य शासक के अधीन हो गया जिसकी राजधानी 'कल्याणी' स्थिर की गई (विदर से ७२ किलोमीटर पश्चिम)। दो शताब्दियो तक चोल वंश का पूर्वी दक्कन में शासन रहा, जिनके समकालीन चालुक्य तथा उनके स्थानापन्न होयसल पश्चिमी भाग में राज्य करते रहे। जिस अवधि मे चालुक्य मैसूर में साम्राज्य को दृढ़ कर रहे थे, उसी समय कलात्मक कार्य की तीव्रता दीख पड़ती है। मैसूर नगर से ८८ किलोमीटर दूर श्रावण बेलगोला में गगवंशी नरेश वास्तुशिल्प को प्रोत्साहित करते रहे। चद्रगिरि मे गोमतेश्वर की विशाल-काय ५६ फुट ऊँची एकाश्म प्रतिमा तैयार की गई। चोल शैली के अनुसार वहाँ जैनियों ने मंदिर-निर्माण किया। यहाँ विशाल मंदिरों का अभाव है। तोभी ७० फुट लंबा तथा ३६ फुट चौड़े क्षेत्र में मंदिर खड़ा है। इसके ऊपरी भाग में पिरामिड-रूप का शिखर (द्राविड़ शैली) है, जिसके सिर पर गोल गुंबज दीख पड़ता है।

चालुक्य मंदिरों में द्राविड़ शैली के सदृश दो उपविभाग हैं—

(१) विमान तथा

(२) मंडप।

विमान मे कई मंजिल के पिरामिड गुंबज वर्त्तमान हैं। शीर्ष पर गोलाकार स्तूपिका है। लेकिन मंडप की छतें चिपटी है, जो स्तंभों पर आधारित हैं। कालांतर मे विमान की ऊँचाई कम होती गई और उसमें अलंकृत ताखों की संख्या नीचे-ऊपर बढ़ती गई। चालुक्य मंदिरों में गर्भगृह से संबद्ध ढका प्रदक्षिणा-मार्ग का अभाव है। इनके मडप विमान से भी अधिक चौड़े हैं। परकोटे के बाहरी दीवार की बनावट में नागर तथा द्राविड़ रीति का संमिश्रण है। इसीलिए पिछले चालुक्य वंश की शैली वास्तुशिल्प को आर्यशिखर (नागर) तथा द्राविड़ शैली के मध्यवर्त्ती मानते हैं। इसमें नागर शिखर का *गौण स्थान रहा। द्राविड़ कल्पना ही चालुक्य शैली का केंद्रक (Nucleus) बनी* रही और उसी आधार पर भविष्य मे विकास हुआ। भारतीय वास्तुकला में चालुक्य मंदिर आलंकारिक तथा अत्यंत शोभनीय उदाहरण उपस्थित करते हैं।

हैदराबाद के कक्कानुर स्थान पर चालुक्य शैली के अनेक मंदिर मिलते हैं, जिनमें कालेश्वर का मंदिर प्रमुख माना जाता है। द्राविड़ पद्धति से इसमे विकसित स्वरूप दीख पड़ते है। इसमें विमान मंडप तथा दोनों को जोड़ने वाला कक्ष है। नंदी का प्रकोष्ठ सामने है। इसकी बाहरी दीवार में भित्तिस्तंभ बने हैं। इस प्रकार आकृतियो के स्थान पर इमारती अभिप्राय (Motive) का समावेश हैदराबाद के द्राविड़ मंदिरो की विशेषता है। प्रत्येक मंजिल में तिकोना छज्जा निकला दीख पड़ता है। विद्वानो का मत है कि चालुक्य या होयसल शैली के गुंबज की पट्टियाँ उसी (छज्जा) से उत्तेजित हुई थी। धारवार जिले में लोकिगुंडी में स्थित जैन मंदिर चालुक्य शैली का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मुक्तेश्वर मंदिर उसी पद्धति का संस्कृत रूप है। हुबेरी का सिद्धेश्वर तथा सोमेश्वर मंदिर उसी के समान है। ऊँचे चबूतरे पर मंदिर-निर्माण का केंद्रीय योजना इटगी (हैदराबाद) के महादेव मंदिर से आरंभ हुआ। इसी कारण १२वीं सदी के अभिलेख मे इस मंदिर को 'देवालय चक्रवर्ती' कहा गया है। १२वीं सदी में चालुक्य राज्य में अनेक मंदिर बने, जिनमें काशी विश्वेश्वर प्रधान माना जाता है। आधार से शिखर तक बाहरी सतह प्राचुर्य रूप में अलंकृत है।

इस शैली के अधिकांश मंदिर मैसूर प्रदेश में निर्मित हुए, जहाँ चालुक्य शैली की चरमोन्नति हुई और कलाकार सौंदर्य-भावना-संबंधी कार्यों में अग्रणी थे। उन्होंने वहाँ की स्थापत्य एवं कला की परंपरा को उत्तेजित किया, जिस कारण चालुक्य-होयसल शासन को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। उस स्थान के राजगीरों ने हलके नीले-काले मिश्रित क्लोराइट रंग वाले प्रस्तर का प्रयोग किया था। संभवतः इस साधन (प्रस्तर) के परिवर्तन से मैसूर के मंदिर ऊँचे ढंग से परिष्कृत किए गए। मंदिरों में तकनीकी विकास दृष्टिगोचर होता है और साथ में छोटे प्रस्तर के टुकड़ों को भली-भाँति सँवारा गया है। इस प्रकार मैसूर के सौ मंदिरों में प्रायः अस्सी चालुक्य-होयसल शैली के हैं। चालुक्य-होयसल शैली को निम्न चार विशेषताओं से सलग्न पाते हैं—

(१) योजना तथा इमारती समाकृति,

(२) सतह की दीवार का अलंकरण,

(३) शिखर की बनावट और

(४) स्तंभ की शैली।

मंदिरों का अध्ययन यह बतलाता है कि दक्षिण भारत में चालुक्य-होयसल योजना में मुख्य कक्ष परकोटे से घिरा रहता है। उस परकोटे में क्रमशः कोठरियाँ बनी हैं, जिनमें स्तंभसहित बरामदे भी वर्त्तमान है। उस कक्ष मे तीन उपविभाग हैं—गर्भगृह प्रकोट से तथा ड्योढ़ी नवरंग (स्तंभसहित कमरा) से जुड़े हैं। इसके सामने एक चारों दिशाओं से खुला स्तंभों सहित विशाल मंडप है, जिसे मुख-मंडप कहते हैं। होयसल शैली के मंदिर इससे कुछ भिन्न हैं। इनमें एक गर्भगृह नहीं है, अपितु दो, तीन या चार गृह बने हैं। यानी होयसल मंदिरों की योजना सर्वथा विभिन्न स्वरूप रखती है। पहले के मंदिर में गर्भगृह की दीवार मे सीधे या कोण के रूप में घुमाव दीख पड़ता है, परंतु होयसल मंदिर की दीवार इस प्रकार स्थान-स्थान पर मुड़ी हैं कि ताख के अतिरिक्त तारा की आकृति बन जाती है। चालुक्य मंदिर अष्टभद्र योजना के आधार पर निर्मित हुए थे, जिनमें ज्यामिति के विभिन्न आकार बने हैं। होयसल पद्धति की भी यही विशेषता है।

होयसल मंदिर आयताकार चबूतरे पर निर्मित नहीं है। उस चबूतरे में कई प्रक्षेपण है तथा किनारे बाहर की ओर निकले हैं। यानी वह आयताकार नहीं है। चबूतरा पर्याप्त लंबा-चौड़ा है और चारों ओर सीढ़ियाँ बनी हैं।

होयसल के किसी मंदिर में भीतरी प्रदक्षिणा-पथ नहीं है, इसलिए चबूतरे का वहिर्भाग प्रदक्षिणा के निमित्त प्रयुक्त होता है।

मंदिरों के विमान की दीवारें तीन उपविभाग मे विभक्त है, किंतु कार्निस से जुडी हुई हैं। इन तीनों विभागो में पट्टियाँ इस प्रकार खुदी हैं कि उनकी कल्पना अनुप्राणित प्रकट होती हैं। इन खुदी पट्टियो में सबसे नीचे हाथियों का जुलूस बनाया गया है। उसके ऊपर अश्व की पंक्तियाँ हैं, जो गतिशीलता के द्योतक है। सबसे ऊपरी पट्टियों पर लतापुष्प, कीर्तिमुख तथा सूर्य के स्वरूप खुदे हैं। मनुष्य के आँख की सीध में पौराणिक दृश्य प्रदर्शित हैं। सबसे ऊपर हंस की पंक्तियाँ वर्तमान हैं। उसी स्थान पर द्राविड़ शैली के मंदिरों मे इस प्रकार का अलंकरण नही है। होयसल कलाकार ने दीवार के भित्तिस्तंभ तथा ताख पर देवताओ की मूर्तियाँ खोदकर अपनी शिल्पकुशलता का परिचय दिया है। उनके अवलोकन से प्रतिमाओं को मंदिर का हिस्सा कहना अनुचित होगा। सभी तक्षण कला के भव्य नमूने प्रकट होते है।

होयसल मंदिर के शिखर की प्रमुखता तथा बनावट ही उसकी विशेषता का मूलभाव (Key-note) माना जा सकता है। अष्टभद्र प्रणाली के कारण गुंबज की दीवार मे लंबी धारी दीखने लगती है। शिखर की वृद्धि को समभाव करने के लिए पड़ी लकीरें है। उनकी गढ़न से ऐसा परिवर्तन हो जाती है कि संपूर्ण मीनार के एक के पश्चात् दूसरा तीसरा कतार-ही-कतार नजर आता है। इस कारण सर्वोपरि स्थित कलसी छत्रवत् हो जाती है। शिखर के खड़े या पड़े रचना से ताख तथा मंदिरनुमा आकार बन गया है। इस बनावट से शिखर की गढन की सुंदरता बढ़ जाती है किंतु, इमारती योजना मे यह अर्थहीन हो जाता है तथा आकार रहित भी प्रतीत होता है।

होयसल शैली के स्तंभ भी अपनी विशेषता रखते है। यद्यपि इसे द्राविड़ स्तंभो का विकसित रूप कह सकते है, किंतु होयसल स्तंभ के शीर्ष चार वर्ग मे ब्रैकेट तैयार करते हैं। भारतवर्ष मे मंदिरो के स्तभों को खराद पर रख कर समुचित आकार का तैयार करते है। यह एक विशाल लंबे प्रस्तर का बनाया जाता है और संगतराश उसे अलंकृत भी करते हैं। प्रस्तर को अनुपात मे रख कर खराद पर डालकर उसे वांछित स्वरूप का तैयार करते हैं। इस प्रकार स्तंभ (Shaft) तथा शीर्ष (Capital) दिखने लगता है। उसी को चौकोर चौकी पर खड़ा करते हैं। संगतराश को स्वतंत्रता रहती है कि वह स्तंभ को

गहरा, उन्नतोदर कोणयुक्त या गोल परिरेखा तैयार करे। भारतीय प्राचीन शैली को ध्यान में रख कर कारीगर उसके ऊपरी भाग (शीर्ष से नीचे) को घंटा-नुमा तैयार करता था। यद्यपि प्रस्तर को खराद कर स्तंभ बनाने का कार्य दक्षिणी कारीगर को ज्ञात था, किंतु होयसल शासन में निर्मित मैसूर के मंदिरों में यह विशिष्टता स्पष्ट दीख पड़ती है। संभवत. बड़े पैमाने पर कारीगर कार्य में लग जाते और बहुमात्र उत्पादन मे सफलता प्राप्त करते रहे। स्तंभों के ऊपर ढलुवा ब्रैकेट भी अलग से लगाया जाता था। इस ब्रैकेट मे कलाकार मूर्तियों को खोद कर स्थित कर देते, इसलिए वह मदनक प्रतिमा कही गई है। होयसल मंदिरों का विश्लेषणात्मक अध्ययन से संदेह का स्थान नहीं रह जाता कि इस रीति के मंदिर पिछली चालुक्य शैली की एक शाखा हैं।

यह कहा जा चुका है कि मैसूर के क्षेत्र मे होयसल चालुक्य राजाओ के सामंत थे, जिन्होने बारहवी सदी मे सत्ता छीन कर अधिकार अपने हाथ मे ले लिया। होयसल राजाओं के मंदिरो की थोडी चर्चा हो चुकी हैं, जो ई० स० १०५०-१३०० के मध्य निर्मित हुए थे। उनकी स्थापत्यकला का स्तंभयुक्त चपटी छत वाले तथा उत्कीर्ण मूर्तियो सहित गुफा मंदिरो का काफी प्रभाव पड़ा। होयसल मंदिरो मे स्थापत्य की जगह मूर्तिकला पर अधिक बल दिया गया। इन मंदिरो मे संबद्ध मूर्तियो की विशेषता यह है कि सभी मुलायम प्रस्तरो में खुदे है, जिनके दाने ग्रेनाइट (कडा) या बलुए प्रस्तर की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। मैसूर प्रदेश मे इस प्रकार का प्रस्तर बहुतायत से मिलते है, जिनका प्रयोग मंदिर निर्माण-कार्य मे किया गया। होयसल मंदिरो की योजना दक्षिण भारत के मंदिरो से अधिक भिन्न नही है। हेलबिद का होयसलेश्वर मंदिर चालुक्य-होयसल शैली का सर्वोत्कृष्ट नमूना समझा जाता है।

इसमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि विमानो मे आड़े खडो की श्रेणियां बनती गई, किंतु उसका आकार छोटा होता गया। इनको उत्तरोत्तर छोटा करते गए एवं आडी रेखाओ के ह्रास की अवस्था मे पक्तियो में मूर्तियो पर अधिक ध्यान दिया गया। होयसल शिल्पकारो ने स्तंभों, छतो, द्वारों, दीवारों तथा भित्तिस्तभो को प्रचुरता से अलंकृत किया और इन सब से संबद्ध मूर्तियों को उत्कीर्ण किया।

बेलूर के चन्नकेशव मंदिर की बृहत् योजना थी। उसके समीप अन्य मंदिरों को एक परकोटे के घेरे मे रखा गया, जिसका आंगन ४२५ फुट x

३८० फुट क्षेत्रफल में है। इसी के समकालीन हेलविद का होयसलेश्वर मंदिर भी बना था। प्राचीन राजधानी द्वार समुद्र के भू-भाग में मैसूर के हसन जिले के साधारण ग्राम मे स्थित है। उस स्थान के भग्नावशेष से प्रकट होता है कि यह स्थान स्थापत्य कार्यों का प्रधान केंद्र था, जहां जैन तथा ब्राह्मण धर्म के मंदिरों का निर्माण हुआ था।

केशव मंदिर ऊंचे चबूतरे पर बना है, किंतु नीचा एवं समतल है। इसमें विमान का अभाव है। इसके समीप मे छोटे मंदिर तथा द्वारपाल बने हैं। होयसल मंदिर के सदृश केशव मंदिर दर्शकों का ध्यान आकर्षित करता है। मुख्य मंडप के बाहरी स्तंभों से लगी टोडियों में मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। होयसल मूर्तिकला मे नारी को मांसल तथा सजीव प्रदर्शित किया गया है। इन प्रतिमाओं का 'मंडनिकाए' कहा जाता है। इनके कारण मंदिर के बाहरी भाग की सुंदरता बहुत बढ़ गई है। मुख्य मंडनिका का भीतरी भाग स्तंभो पर टिका है। उन स्तंभो तथा छतो एवं प्रस्तर के शहतीरो पर इतना अधिक अलंकरण है कि कोई भी स्थान मूर्तियों से रिक्त नहीं है। इस शिल्प-संपदा से स्थापत्य कार्य गौण पड़ गया है। सभी स्तंभो की टोडियां सुंदर मूर्तियों से अलंकृत हैं। इनमें नख से शिख तक गहनों से सजी नर्तकियां विलासपूर्ण मुद्रा में दीख पड़ती हैं।

जैसा कहा गया है कि कक्ष के स्तंभ खराद कर बनाए जाते थे, यही दशा बेलूर के चन्नकेशव मंदिर की है। विशाल प्रस्तर खंडो को छेनी से मोटे तौर पर इच्छित आकार में गढ दिया गया है, तत्पश्चात् खराद पर चढ़ा कर तैयार किए गए हैं। छेनी से पुनः नक्काशी की गई है। प्रायः होयसल स्तंभों को इसी रूप से सजाया जाता था। केशव मंदिर के मध्यवर्ती मंडप की छत को भी अतीव सुंदर रीति से खोदा गया है। उसमें अठकोण का छोटा गुंबज बना है। बीच मे कर्णफूल की तरह विशाल लटकन है। इसके देखने से होयसल मंदिरों के भीतरी अलंकरण का परिज्ञान हो जाता है। इसमे स्तंभों को बहुत बारीकी से तराश कर पौराणिक दृश्यों का अंकन किया गया है।

१२ वीं सदी का होयसलेश्वर मंदिर बेलूर मंदिर की तरह गुंबजहीन है। अन्य होयसल शैली के मंदिरो की तरह गर्भगृह से जुड़ा विशाल स्तंभ सहित कक्ष है। पूरब मे नंदी मंडप निर्मित है। इसकी विशेषता यह है कि समान आकार के दो मंदिर परस्पर जुड़े हैं। यह सत्य है कि इस मंदिर की विशाल योजना थी, पर ऊपरी मीनार के अभाव में यह अपूर्ण प्रकट होता है। इन जुड़े मंदिरों मे मंडप आमने-सामने बने हैं। नंदी के मंडप की स्थिति से

पूरा मंदिर विशाल तथा अतीव सुंदर दीख पड़ता है। इसकी बाहरी दीवार तारे के आकार में निर्मित है। भीतरी भाग न्यून कोण के आकार का है, किंतु स्तंभ मंडप की सतह लंबवत् है। ज्यों-ज्यों मंदिर में प्रवेश करते जाते हैं, एक के बाद दूसरे की तीसरे सुंदर रीति से तराशे पहल सामने दृष्टिगोचर होते हैं। दीवार की तह मे छह आड़ी उत्कीर्ण पट्टियां है जिनमें सिंह, गज आदि जानवरों तथा राजहंसो की आकृतियाँ एवं महाभारत और रामयण के कथानक खोदे गए हैं। इन पट्टियो की ऊपरी दीवार पर मानवमूर्तियों के पट्ट-पर-पट्ट बने है। केंद्रस्थल पर देवता की चित्रवल्लरी उच्च उद्भृत शैली से उकेरी गई हैं। भारतवर्ष में ऐसे मंदिरो का अभाव है, जो होयसलेश्वर मंदिर के तक्षण कला की समता कर सकें। इनमें मूर्तिकला के सर्वोत्कृष्ट, मनोहारी तथा भव्य नमूने सामने आते हैं। भारत के मंदिरों मे प्रस्तर में इस प्रकार का खर्चीला उदाहरण अन्यत्र ज्ञात नही है। मंदिर की भीतरी बनावट इतना संकुचित तथा पेचीदा है कि स्तंभों के जमघट एवं समीपवर्ती होने के कारण वह स्थल मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी में विभक्त हो गया है। साधारण दर्शक को संपूर्ण स्थल ऐसा अस्तव्यस्त प्रकट होता है कि सांस लेने तथा संचार के निमित्त रिक्त स्थान नहीं दीख पड़ते। हेलविद का होयसलेश्वर मंदिर आकर्षण का केंद्रबिंदु था, जिसकी तकनीकी कुशलता, पटुता कल्पना एवं धार्मिक चैतन्यता का दूसरा दृष्टांत उपस्थित नहीं किया जा सकता।

मैसूर से चालीस किलोमीटर दूर सोमनाथपुर का केशव मंदिर होयसल शैली के पूर्ण विकसित स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है। अन्य मंदिरों की तरह यह मंदिर एक विशाल प्रांगण के मध्य स्थित है। इसमें तीन गर्भगृह हैं। किंतु, तीनों एक पंक्ति मे न होकर कोनाकोनी जुड़े हैं। तीनों पर विमान है, विमान की पूरी ऊँचाई में उत्कीर्ण खंडों की श्रेणियाँ एक के उपर एक चली गई है, जिनमें मंदिरनुमा आकृतियाँ हैं। होयसलेश्वर मंदिर के सदृश बाहरी दीवार मे पट्टियों पर अश्वों, गजों तथा महाकाव्य एवं पौराणिक कथाओं का चित्रण है। उनके ऊपरी प्रस्तर-पट्टियों पर देवी-देवताओं मूर्तियाँ उकेरी गई है। सोमनाथपुर का मंदिर स्तंभावलि सहित सभामंडप की छत मे शिल्प के लिए विख्यात है। पाषाणखंडों से निर्मित गुंबद के मध्य शीशे की झाड़ सदृश लटकी हुई झाड़ बनायी गई है। इनके अतिरिक्त अन्य होयसल मंदिर बारहवी तथा तेरहवी सदियों में बने थे। धारवाड़ जिले में कालांतर में जो मंदिर निर्मित हुए, उनमें नई विशेषता लक्षित होती है। छज्जा बाहर की ओर निकला है, जो कभी मुड़ा है अथवा सीधा। छज्जे का वास्तु-सौंदर्य

और भी निखर जाता है। इत्तगी, लकुंडी, कुरुवट्टी (उत्तरी मैसूर) के मंदिर परवर्त्ती चालुक्य तथा होयसल शैली की पराकाष्टा के उदाहरण हैं। मैसूर में १२ वी सदी के अनेक मदिर है, जिनमे दाम्बल का डोडाबास्पा मंदिर विशेष उल्लेखनीय है।

पांड्य मंदिर के गोपुरम्

भारत के सुदूर दक्षिण में तमिलदेश मे दो सौ वर्षों तक (ई० स० ११५०-१३५०) तक पांड्यवंशी नरेशों ने शासन किया। दक्षिण भारत के प्रत्येक राज्यवंश ने अपनी अवधि मे स्थापत्यकला में विशेष योगदान दिया और नए-नए आकार-प्रकार के मदिर तैयार किए। पल्लवों ने 'रथ' एवं 'सिंह-स्तंभ' का निर्माण कराया, तो पल्लव शासन के पिछले युग में गोपुरम् का शुभारभ कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर में किया गया। चालुक्य-होयसल शैली के पट्टादकल के विरुपाक्ष मंदिर मे भी प्राथमिक रूप देखते हैं, किंतु स्थापत्य की जगह उसी से सबद्ध मूर्तिकला पर विशेष ध्यान दिया गया। उन मदिरों की बाहरी दीवार पर पट्ट-पर-पट्ट उत्कीर्ण है, जिनमे पशु-पक्षी के अतिरिक्त रामायण महाभारत की कहानियाँ खुदी है। मंदिर की मनोहारी मूर्तिकला अपनी निजी विशेषता रखती है। ११ वी सदी मे तजौर तथा गंगैक चोलपुरम् मे चोल राजाओ ने जिस रूप मे विशाल मंदिर तैयार कराया, पिछली सदी मे उस आदर्श की सुरक्षा न हो सकी। चोल राज्यवश के उत्तराधिकारी पांड्य हुए। उसके पश्चात् पाड्य लोगो ने नवीन विचारधारा से काम लिया। मंदिर-निर्माण-कार्य मे उनका तनिक भी योगदान नही है, तौभी द्राविड़ शैली के मंदिरो के स्थापत्य को गहरे रूप में प्रभावित किया। इसके शासन से पूर्व कलाकारो ने मदिर की बनावट मे ही अपनी कुशलता एवं प्रतिभा का परिचय दिया--विशेषतः चोल मंदिर विमान के निर्माण में। उसी के पश्चात् ही पांडय नरेशो के मस्तिष्क मे इस बात की जानकारी आंदोलित हो उठी कि दक्षिण भारत मे प्राचीन पुण्य एवं कलापूर्ण भव्य मंदिरो की बहुलता है। अतएव, उस परंपरा का अनुसरण न कर तथा नए मंदिरों का निर्माण अनावश्यक समझ कर, स्थापत्य की ओर यानी विमान को अधिक सौंदर्यमय तैयार करने की नीति से पांडय राजा उदासीन हो गए। उनका विचार था कि नए मंदिरों का निर्माण न कर प्राचीन मंदिरों

के समीप क्षेत्र को स्थापत्य की दृष्टि से अधिक सुंदर तैयार किया जाय। अतः, विद्यमान मंदिरों की वृद्धि न कर उनको सुंदर, भव्य तथा आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया। इस कारण गर्भगृह को स्पर्श तक न किया गया और चारों तरफ परकोटे तथा विशाल शिखरसहित द्वार यानी गोपुरम् का निर्माण करवाया। इस शब्द (गो + पुर) को वैदिक युग के ग्रामीण गाय-द्वार के आधार पर गढ़ा गया। नगरद्वार तथा कालांतर मे मंदिरों के द्वार से संबद्ध किया गया।

गोपुरम् या द्वार शिखर ईंट-गारे से बने थे और अनेक खंडों की पर्वत शृंगाकार इमारत थे। पांड्य युग में मदिरों के बड़े आयताकार द्वार से ऊपर पंक्ति पर पंक्ति की बनावट क्रमशः चौड़ाई मे कम होती गई। उसी ने गोपुरम् का वास्तविक रूप धारण कर लिया, जो विशाल आकार की डेढ़ सौ फुट ऊँचाई तक उठते गए हैं। इस शिखर के समतल शीर्ष पर बेलनाकार छत वर्त्तमान है, जिसके किनारो पर त्रिभुजाकार या गोलाकार छज्जे भी बने हैं। गोपुरम् की सारी सतह पर पौराणिक देवी-देवताओ, असुरो तथा गंधर्वो आदि की सजीव मूर्तिया खुदी है। तेरहवी सदी मे गोपुरम् का समष्टि रूप पूर्ण विकसित दशा मे दीख पड़ता है। द्वार की अधिरचना यानी गोपुरम् का रूप विमान से भी अधिक आकर्षक तथा शानदार है। बाहरी दीवार में मंडपनुमा आकार को भी स्थान दिया गया, जो एक के ऊपर दूसरा, तीसरा बनता गया है। उस स्थान की खुदाई के गोपुरम् के बाहरी भाग पर उत्कीर्ण किया गया। इस प्रकार गोपुरम् का परिमाण बढ़ता गया और लंबवत् ऊँचा हो गया। पांड्य शासन में निर्मित गोपुरम् पिछले द्रविड़ शैली के मंदिरों के नमूना बन गए। उनके अलंकरण में भित्तिस्तभ को भी स्थान मिला। वह क्रमशः दक्षिण भारत के स्थापत्य का आदर्श बन गया। श्रीरंगम् का जंबुकेश्वर मंदिर पांड्य-कालीन (१२ वी सदी का) गोपुरम् से युक्त है। चिदंबरम् का गोपुरम् पांडय शैली का प्रतिरूप है, जिसे सुंदर पाड्यनरेश ने बनवाया था।

द्रविड़ शैली के मंदिरों में दूसरी नवीनता स्तंभ तथा उनके शीर्ष का है, जिसे पांड्यनरेशों ने समाविष्ट किया था। स्तंभ शीर्ष में पुष्प आकार जोड़ कर अधिक सुंदर बनाया गया था और वह शीर्ष से लटकता दीख पड़ता है। दक्षिण भारत की शैली मे समकेंद्रिक परकोटें बनने लगे, जो प्रमुख मंदिर के चारों तरफ निर्मित किए गए। उनमें सबसे भीतरी परकोटे का निर्माण पाडय राजाओ ने किया था।

पांड्यकालीन गोपुरम् कई मंजिल के बनाए गए थे। निचली दो मंजिलें लंबवत् ठोस प्रस्तर की बनी हैं, जिससे गोपुरम् की नीव स्थायी रूप में मजबूत है। उसकी ऊपरी अधिरचना मे हल्के सामग्री ईंट तथा सीमेंट का प्रयोग किया गया है। यह भाग कई कक्ष के है तथा क्रमशः ऊपर की दिशा में वे छोटे होते गए है। गोपुरम् का शीर्ष भाग अनुपात में आधार का आधा है और शीर्ष में पचीस कोण का ढ़ाल है। इस तरह बारहवी सदी के पश्चात् द्राविड़ शैली के मंदिरो में दो मीनारें दीखने लगी—

(१) विमान तथा

(२) गोपुरम्।

विमान की चौकार योजना आरंभ हुई थी, जिसके सिरे पर गोलाकार गुंबज है, लेकिन गोपुरम् का प्रारंभिक परिकल्पना आयताकार है तथा शीर्ष आकार भी उसी रूप का ही है। इसकी तुलना बौद्ध चैत्य कक्ष से कर सकते हैं।

गोपुरम् का आकर तथा स्वरूप स्थिर हो जाने पर उनके बनावट मे अंतर नहीं आ सका। उसे स्थायित्व मिल गया। पाड्य-युग के गोपुरम् परंपरागत प्रकार के मिलते हैं, उनका अलंकरण वास्तुशिल्पीय रीति के हैं। बाहरी सतह पर कालांतर मे आलंकारिक प्रकार जोड़े गए। पांड्य काल मे मंदिर-निर्माण का प्रश्न ही न रहा। दारासुरम् का ऐरावतेश्वर मंदिर चौदहवी सदी का है जिसे पांड्यों के अंतिम काल मे माना जा सकता है। उनमे स्तंभ तथा शीर्ष की बनावट उस युग में ही पूर्ण हुई। संक्षेप मे यह कहना युक्तिसंगत होगा कि पांड्य युगी गोपुरम् ने पिछले दक्षिण भारतीय मंदिरों के आदर्श उपस्थित किया।

विजयनगर तथा मदुरै मंदिर

भारत के इतिहास में चौदहवी सदी का युग एक विचित्र तथा अभारतीय संस्कृति का काल था, जिस समय खिलजी वंश का शासन दिल्ली में स्थापित हो गया था। इस ऐतिहासिक घटना के उल्लेख का विशेष कारण यह है कि दक्षिण में खिलजी सुल्तान अलाऊद्दीन ने सुदूर दक्षिण तक हिंदू राजाओं को परास्त कर इस्लाम की दुंदुभी बजायी थी। वह यादव, काकतीय, होयसल तथा पांड्य राजाओं पर विजय प्राप्त कर असंख्य धनराशि दिल्ली ले गया। यह पराजय दक्षिण के शासक तथा भारतीय संस्कृति के लिए अपमान का

कारण था। वहाँ के राजनैतिक जीवन मे उथल-पुथल हो गया और जनजीवन संकटमय हो गया। इस्लामी विजेता ने शासको के गर्व तथा प्रतिष्ठा को धूल मे मिला दिया। लोकजीवन मे इस अनर्थकारी घटना से दक्षिण की जनता अपने को अरक्षित तथा सारे प्रदेश को नेता रहित समझने लगी। पिछले सहस्रों वर्षों से जो संस्थाएँ पल्लवित एवं पुष्पित हो रही थीं, उनकी दुर्गति होने लगी तथा वे विनष्ट हो गई। दक्षिण की जनता को इस बात की पिपासा थी कि कोई उन्हें अराजकता से बचावे, अंध व्यवस्था को दूर करे तथा अधोगामी संस्कृति मे नवजीवन लावे। उन्हे ऐसे नेता की परम आवश्यकता थी, जो प्रबल शक्तिमान होकर विधर्मी प्रभाव से उन्मुक्त करे तथा अंधकार में प्रकाश दिखलावे। कहने का सारांश यह है कि धार्मिक क्षेत्र में जनता की भावना की सुरक्षा सर्वोपरि प्रश्न था। चौदहवीं सदी से पूर्व दक्षिण के शासको ने स्थापत्य शिल्प को प्रमुखता दी थी। द्रविड़ शैली के मंदिरों में विमान तत्पश्चात् गोपुरम् की योजना कार्यान्वित हुई। इसका यह अर्थ नही कि चौदहवी सदी से मंदिरों का निर्माण समाप्त हो गया, किंतु तत्कालीन वातावरण में नवीन स्थापत्य विचार को राजदरबार मे स्थान न मिल सका। वर्तमान मंदिरो मे परिस्थिति एवं आवश्यकतानुसार परिवर्द्धन होने लगे। नवीनता की जगह संरक्षण, संस्कार तथा संवर्द्धन की ओर शासकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

दक्षिण भारत के संकटमय जीवन मे विजयनगर के राजाओं ने आशा का संचार कर प्राचीन संस्कृति का पुनर्जागरण करना श्रेयस्कर समझा, धार्मिक जीवन मे दान की पवित्रता पर जोर दिया गया। लोकजीवन में विश्वास पैदा हो जाय कि समाज के अच्छे दिन वापस आ गए। धार्मिक क्षेत्र मे पूजा-पाठ, यज्ञ एवं कर्मकाड की प्रधानता हो गई। अतएव, चौदहवीं सदी मे द्राविड स्थापत्य में पूजाविधि की वृद्धि के कारण अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए। विशाल प्रागण में मुख्य देवालय के साथ-साथ अन्य देवी-देवताओ के लिए छोटे देवालय बनाए गए। उनमें सबसे प्रमुख मुख्य देवता की देवी का मंदिर होना था। इसकी मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करने की आवश्यकता है। शत्रु का संहार दुर्गा के साथ संबद्ध रहता है। शिव की संहार-मूर्ति देवी दुर्गा मानी गई हैं, अतएव धार्मिक जगत मे शक्तिपूजा को ही प्रधानता रही है। प्रागैतिहासिक युग से देवी (शक्ति) पूजा का विवरण

पाया जाता है। दक्षिण की जनता शत्रु के आक्रमण की प्रखरता देख चुकी थी। अधोमुखी समाज के जागरण के लिए शक्ति-संचार की आवश्यकता थी। अतएव, विजयनगर काल से यानी चौदहवीं सदी से दक्षिण भारत में मुख्य देवता की शक्ति के मंदिर बनने लगे। मदुरै का मीनाक्षी मंदिर भगवान शिव की पत्नी (मीनाक्षी) का है। दूसरा मंदिर कन्याकुमारी का है। इस युग में मंदिरों में विशेष अनुष्ठान (शत्रु की पराजय अथवा विशेष कार्य निमित्त पूजा प्रकार) के लिए मंडप तथा खंभेदार कक्ष बनाए गए, जिससे मंदिर की विशालता बढ़ती गई।

मंदिरों में देवी की प्रधानता होने के कारण वैवाहिक मंडप (कल्याण मंडप) बनाना जरूरी हो गया। यह खुली स्तंभावलि सहित अलंकृत मंडप होता था। उसमें एक वेदिका पर समयानुकूल देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। विजयनगर के मंदिर स्तंभों का अलंकरण प्रचुर मात्रा में गहराई के साथ किया गया है। ठोस प्रस्तर के टुकड़ों को तराश कर स्तंभों तथा स्थूणों पर मनुष्य, देवी, देवता की प्रतिमाएँ एवं पैर उठाए विचित्र पशुओं की आकृतियाँ बड़ी दक्षता से तराशी गई हैं। विजयनगर के मंदिरों के स्थापत्य का परीक्षण तत्कालीन सामाजिक जागरण को परिलक्षित तथा सर्वोत्कृष्ट आलंकारिक नमूना उपस्थित करता है। मंदिर के अवलोकन से प्रकट होता है कि जनता पुनरुत्थान की ओर अग्रसर थी। मंदिर से संबद्ध कक्ष उनके धर्मोत्साह की कथा सुनाते हैं। राजकीय सहायता के कारण मंदिरों में स्थापत्य में स्वच्छंदवाद की झलक दीख पड़ती है। विजयनगर के मंदिरों में स्तंभों की बनावट तथा प्रकार को प्रमुखता दी गई है। स्थापत्य-योजना का प्रधान कार्य स्तंभों से संबद्ध है। प्रत्येक स्तंभ में मुख्य भाग से लगे मंदिर-नुमा अलंकरण दीख पड़ते हैं। स्तभों के ढाल पर अलंकृत ब्राकेट हैं, जिन्हें शीर्ष भी कह सकते हैं। प्रत्येक दीवारगीर में सुंदर गढ़े पुष्प लटक रहे हैं, जैसे उलटी कमल की कली हो।

विजयनगर शैली के मंदिर समस्त दक्षिण भारत में पाए जाते हैं, जहाँ द्रविड़ शैली की प्रधानता रही है। विजयनगर की राजधानी हम्पी जो उजाड़ नगर है, में सर्वोत्कृष्ट मंदिर बने थे। इस विध्वस्त नगरी के सर्वोत्तम स्मारक विट्ठल तथा हजारा राम मंदिर ही हैं। विट्ठल मंदिर में (विष्णु विठोबा,

पंठरपुर के प्रसिद्ध देवता) प्रतिमा की स्थापना की गई है, जिसे १५१३ ई० मे विजयनगर के सम्राट कृष्णदेव राय ने निर्मित कराया था। मुसलमानों के आक्रमण के कारण वह मंदिर पूर्णतया तैयार न हो सका। यह मंदिर ५०० फुट × ३१० फुट क्षेत्रफल के आँगन में स्थित है।

विट्ठल मंदिर के तीन उपविभाग है—

(१) गर्भगृह,

(२) मंडप तथा

(३) अर्द्धमंडप—सामने खुली ड्योढ़ी।

तीनों भाग मिलकर १३५ × ६७ फुट आयताकार क्षेत्र मे विस्तृत है। ड्योढी मे पाँच फुट की ऊँचाई पर सारी स्तभावलि तैयार की गई है। ५६ स्तभो के अर्द्धमंडप मे बारह फुट वाले विशाल खभे खडे हैं। इन स्तंभों को कडे प्रस्तर से गढ कर तैयार किया गया था, जिनमे तक्षण कार्य सुविधा से एवं स्थायी रूप से हो सके। स्तभ का वल्ल तथा शीर्ष की खुदाई पृथक् ढग से की गई है। पाये भी चार या पाँच फुट की ऊँचाई तक प्रचुर ढग से उत्कीर्ण है। स्तंभ की पीठिका भी सुदर रीति से खुदी है। बल्ला (Shaft) भी भव्य ढग से वारीकी के साथ तथा अतीव अलंकृत भाव मे खुदे है। उनमे देवी-देवता की प्रतिमाएँ, अर्द्ध प्राकृतिक तथा आधे मनगढत रूप मे जानवरो की आकृतियाँ दीख पडती है। उस पर विशाल दीवारगीर बने है। वहाँ प्रस्तर भी गहराई मे खोदे गए है। उन पर छत आधारित है। उसे कमलपुष्प की तरह अलंकृत किया गया है। यह कहना अनुचित होगा कि सभी पाये एक ही रीति से खुदे है। किसी मे तो आकृतियाँ उभरी हुई है और कुछ प्रस्तर के अलकृत भाग है। थोडा भाग साधारण ढग से बना है। संपूर्ण रूप से विचार करने पर उनमे समरूपता नही है, तौभी स्तभो की प्रधानता या प्रतिष्ठा मे कमी नही आई है। आधारस्तंभो की बनावट एक-सी है और बड़ी कुशलता के साथ निष्पादित की गई है।

विजयनगर के मदिरो के प्रागण मे मुख्य मदिर से पृथक् एक कल्याण-मडप बनाया गया है, जहाँ देवी-देवता का विवाह कल्पित रूप मे सपन्न किया जाता है। यह विवाह-मंडप चारो तरफ से खुला है, जो अर्द्धमडप से छोटा है, किंतु मिला हुआ है। इस मडप मे उत्कीर्ण मूर्तियो सहित अड़तालीस स्तभ हैं। मंदिर के पूर्वी द्वार से सटे एक अन्य प्रकोष्ठ है, जो वास्तुशिल्प की दृष्टि से अद्वितीय है। यह मंदिर के रथ के आकार का है। रथ के पहियो को देखने से

पता चलता है कि वास्तविक रूप में पहिया घूमता है। इसकी विशेषता यह है कि पूरा रथ एक ही प्रस्तर-चट्टान से बना है। विजयनगर के स्थापत्य का यह अनुपम उदाहरण है और इसकी स्थिति से मुख्य मंदिर की शोभा द्विगुणित हो जाती है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि विजयनगर के राजाओं ने मंदिर के घेरे मे अनेक मंडप निर्मित किए। उनके विशाल स्तंभों की संगतराशी समीप के प्रस्तर के खदान के कारण सरल हो गयी थी। कड़े प्रस्तर(Granite) खदान से लाकर मंदिर के आँगन मे ही स्तंभ के रूप मे गढ़ते थे। यही कारण था कि हम्पी के मंदिरो के विशाल स्तंभ अखडित प्रस्तर (Monolithic) के बने थे। मंदिरो मे दो रंगीन स्तंभ दीख पडते हैं। एक गहरा हरा(क्लोराट) रंग वाला तथा दूसरा साधारण, जिसे छेनी से सरलतापूर्वक गढा जाता था। इस प्रकार पार्श्व मे दो रंग वाले प्रस्तर की इमारते खडी दीख पडती है। हरे प्रस्तर को स्पष्ट रूप से सोच-विचार कर भद्दी रीति से तराशा गया है। ऐसा मालूम पडता है कि बचकाना कल्पना है। परंतु, दूसरे प्रकार के प्रस्तर को छेनी से कलात्मक ढंग से काटा गया है। देखने से प्रकट होता है कि किसी कुशल शिल्पी ने परंपरागत भाव तथा दीर्घ अनुभव सहित यह कार्य संपन्न किया है।

हम्पीनगर के विजयनगर सम्राटों के राजमहल के भू-भाग तथा अन्य राजकीय इमारतो की स्थिति का पता चला है। राजधानी की नगर-योजना सतुलित नहीं है, तोभी एक स्थल को दुर्ग स्थल मानते है तथा राजकीय भवनों के परकोटे के भीतर छोटा, किंतु अत्यंत अलकृत, मंदिर का भी परिज्ञान होता है, जहाँ राजघराने के व्यक्ति पूजा निमित्त एकत्रित हुआ करते थे। यह मंदिर 'हजार राम' के नाम से प्रसिद्ध है। १५२० ई० मे कृष्णदेव राय ने इसका निर्माण राजपरिवार के लिए ही किया था। इसका विवरण स्थानीय अभिलेख से मिलता है। इस मंदिर के मुख्य तथा सहायक भाग विट्ठल मंदिर के सदृश है। मंदिर का प्रवेशद्वार पूरब दिशा मे है, जिसकी छत चिपटी है। वहीं से सभामंडप मे प्रवेश करते हैं, जिसके चार काले मध्यवर्ती स्तंभों का असाधारण आकार एव बनावट उल्लेखनीय है। स्तभ के बल्ले को (Shaft) ज्यामिति के विभिन्न आकार तथा बेलनाकार बनावट से अलंकृत किया गया है। उस सभामंडप के दो अन्य प्रवेशद्वार हैं, जो आँगन से संबंधित हैं। इसी मडप के एक कोने मे स्थित गर्भगृह मे भगवान रामचंद्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसका विमान या शिखर तीन पंक्तियो मे विभाजित

है, जिसका शीर्ष गुंबदी आकार का है। हजारराम के मुख्य मंदिर का विमान अंशतः प्रस्तरों तथा ईंटों से बना है।

हम्पी के समकालीन अन्य मंदिर तामिलनाडु प्रदेश में बेलौर, कुंभकोनम्, विरंजीपुरम् तथा श्रीरंगम् मे विद्यमान है। हम्पी से डेढ़ सौ किलोमीटर दूर ताड़पत्री दो मंदिरो के लिए विख्यात है। विरुवेंकट स्वामी तथा रामेश्वर मंदिर सोलहवी सदी के प्रथम चतुर्थांश (२५ वर्ष) में निर्मित हुए थे। अपनी बनावट के कारण वे विशेषतया उल्लेखनीय हैं। उनकी स्थापत्य शैली कुछ असाधारण दीख पड़ती है। द्राविड शैली के मंदिर के विमान का आधार प्राय: सादा रहता है और शिखर (विमान) को ही प्रचुरता के साथ अलंकृत करते रह। किन्तु, ताडपत्री के मदिरों मे विमान के आधार-प्रस्तर भी असंयत रूप मे उत्कीर्ण फलकों से भरे पड़े है। आलंकारिक विशेषताओ को ध्यान मे रख कर मैसूर के मध्ययुगी मंदिरो से इनकी समता की जा सकती है। इतिहासकारो के लिए हम्पी नगर विशिष्ट महत्त्व रखता है। विजयनगर की स्थापत्य-गौरव के उदाहरण उस स्थान पर दृष्टिगत होते है।

मदुरै का मीनाक्षी देवी मंदिर

मध्य युग मे भारतीय इतिहास की अनेक घटनाएँ महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं, जिनके द्वारा सास्कृतिक क्षेत्र मे उथल-पुथल हुआ। दक्षिण भारत मे खिलजी-आक्रमण के कारण तथा मलिक काफूर के भयंकर दमनचक्र ने सामाजिक जीवन को आदोलित कर दिया था। विजयनगर के सम्राटो ने लोकजीवन के पुनर्जागरण मे हाथ बँटाया तथा दक्षिण भारत के इतिहास मे नया मोड़ पैदा किया। सारे भू-भाग मे आशा की लहर दौड़ पडी थी। परतु, काल के थपेड़े ने विजयनगर के नरेशो का विनाश कर दिया। १५६५ ई० के तैलीकोटा के युद्ध मे दक्षिण के मुसलमान सुल्तानों के संघ द्वारा विजयनगर राज्य का अंत कर दिया गया। कला के क्षेत्र में ह्रास आना स्वाभाविक था। जो स्थापत्य-परंपरा हिंदू-नरेशो के संरक्षण में पुष्पित हुई थी, उसे छोटे राज्यों का मुँह देखना पड़ा। विजयनगर के विनाश होने तथा इस्लामी दबाव के फलस्वरूप सुदूर दक्षिण मे रियासत स्थापित हुई, जिसकी राजधानी मदुरै मे स्थिर की गयी। कतिपय छोटी रियासतो ने स्थापत्य शिल्प को प्रोत्साहित किया। उन्ही छोटे राज्यों मे तामिलनाडू के मदुरै क्षेत्र मे फैली रियासत ने अपना प्रभुत्व कायम रखा। दक्षिण भारत के इतिहास में मदुरै के नायक राजाओं का विशिष्ट

स्थान है तथा स्थापत्य शिल्प मे उनकी अपनी देन भी है। नायक वंश में तिरुमलै नायक का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिसने १६२३-१६५९ ई० तक शासन किया तथा उसी की संरक्षता मे सुंदर एवं भव्य इमारतें बनायी गईं।

तामिलनाडु प्रदेश में संपूर्ण तमिल देश मे नायक राजवंश का राज्य कुमारी अंतरीप तक विस्तृत रहा। नायक नरेशों ने पांड्य स्थापत्य नीति को अपनाया, उनका अनुकरण किया। जिस गोपुरम् को पाड्यकालीन मंदिरो मे स्थान मिला था, उस सिद्धात के आधार पर द्राविड मदिरो के विकास मे सहयोग दिया। नायक राजाओं ने जिस शैली को जारी रखा, उसी का आज तक अनुकरण होता है। धार्मिक इमारतों मे मदुरै की शैली ही सर्वत्र कार्यान्वित की गई। नायक शासनकाल मे मंदिरो में विमान तथा गोपुरम् की वृद्धि हुई। तत्कालीन मदिरो के देखने से नायक स्थापत्य के क्रमिक विकास का पता चलता है। उस विकास-परियोजना के आधार पर तिथियाँ निर्धारित की जा सकती है। विजयनगर राजाओ के शासन मे यज्ञो, उत्सवो तथा धार्मिक कार्यो के प्रसार के कारण तत्कालीन मंदिरो मे विस्तार की लहर दौड पडी थी। देवयात्रा की भी प्रणाली अपनायी गई, जिसके निमित्त मदिरो की स्थापत्य-योजना मे परिवर्द्धन करना पडा था। नायक शासनकाल मे मदिरो के कई परकोटे बने और दो घेरे के मध्य आवासीय भवन, हाट तथा गौड देवी-देवताओ के छोटे मदिर बनाए गए। अतएव, मंदिरो से संबद्ध स्थापत्य की रूप-रेखा अत्यंत विस्तीर्ण हो गई। मदुरै के मंदिर को केंद्रस्थ मान कर समीपवर्ती भूभाग मे समान रूप से अनेक मदिर निर्मित हुए, जिनमे मदुरै को छोड़ कर श्रीरंगम्, (त्रिचो के समीप) तिरुवारूर, रामेश्वरम्, चिदबरम्, तिरुनेवेली, श्रीविल्लीपथुर मे भी मदिर बनाए गए थे। मदुरै के मीनाक्षी मदिर को आदर्श मान कर निर्माण-कार्य सपन्न किया गया था।

मदुरै मे दो मदिर एक स्थान पर ही बने थे—भगवान सुंदरेश्वर तथा उनकी मीन आंख वाली पत्नी (मीनाक्षी) का युगल मदिर। इसका विशाल क्षेत्र ८५० × ७२५ वर्गफुट मे विस्तृत हैं, जिस परकोटे मे (घेरे में) सभी मंदिर तथा अन्य आकार घिरे हैं। मीनाक्षी मंदिर ही सर्वप्रसिद्ध है। इसके पूर्वी मुख्य द्वार से प्रवेश कर स्तभावलि सहित गलियारा होकर दूसरे द्वार तक पहुंच जाते हैं, जिसके ऊपर गोपुरम् बना है। इसी तरह का गोपुरम् अन्य

तीनों दिशाओं (पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण) में दीख पड़ते हैं। बाहरी दीवार से संबद्ध गोपुरम् से सभी छोटे हैं। पहले तथा दूसरे घेरे के मध्य ढँका आँगन है। तीसरे तथा अंतिम भीतरी अहाते में एक प्रवेशमार्ग है। उसके पूर्वी भाग में देवगृह है। इस मंदिर के तीन उपविभाग हैं—(१) गर्भगृह (२) अंतराल तथा (३) सभामंडप। गर्भगृह का विमान पार्श्व के विमान से ऊँचा है। परकोटे के बाहर ढँका प्रांगण है, जिसके स्तंभ प्रचुरता से उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार मदुरै मंदिर के तीनो अहातों के अंदर स्थित सभी प्रांगणों एवं कक्षों मे दो हजार स्तंभ वर्तमान है। इनकी बनावट तथा अलकरण विजयनगर मंदिर के स्तंभ से मिलता-जुलता है।

मदुरै का मीनाक्षी मंदिर इस स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करता है। कलात्मक दृष्टि से सर्वाधिक सुंदर स्तभ स्दामी सिगोतनम् के हैं। स्तभो पर जो मानव-मूर्तियाँ उत्कीर्ण है, वे सभी मनुष्य-आकार से बड़ी हैं। मुख्य मंदिर के दक्षिण मे एक सुदर पुष्करणी है, जिसके जल मे दक्षिणी गोपुरम् प्रतिबिंबित होता है। इस मंदिर मे कुल ग्यारह गोपुरम् है, किंतु दक्षिणी द्वार का गोपुरम् सबसे विशाल है, जिसकी ऊँचाई दो हजार फीट है। इसके शीर्ष पर बेलनाकार छत है। इसकी पूरी सतह पर अगणित देवी-देवताओ, पर दार साँपो तथा दिव्यजीवो की अनेक प्रतिमाएँ ही उनके मूल अभिप्राय (Motives) को व्यक्त करती है। मुख्य द्वार के सामने बडा अहाता है, जहाँ पुडु मंडप नामक इमारत तिरुमल्ल नायक ने बनवाया था, जिसमे अस्थायो रूप से उत्सव के अवसर पर देवप्रतिमाएँ रखी जाती है। मंदिर की योजना में इस मडप के स्तंभ अपना सानी नही रखते। मंडप मे स्थित स्तंभो के बल्लो (Shafts).पर नायक राजाओ की आदमकद (मानवाकार) मूर्तियाँ बनायी गई है। श्रीरगम् तथा तजौर के वृहदेश्वर मंदिरो मे दानकर्त्ताओं की प्रतिमाएँ स्तभो से जुडी हैं।

मदुरै मंदिर की विशेषता इसके क्रमिक विस्तार मे ही परिलक्षित होगी। मंदिर से संबद्ध, यज्ञों एवं उत्सवों को संपन्न करने के हेतु उसका विस्तार किया गया। भक्तगण देवता की अतुलनीय शक्ति का विचार कर मंदिरो की बनावट मे वृद्धि करने लगे। देवता की आध्यात्मिक शक्ति के कारण ही अंधकारमय गर्भगृह मे प्रतिमा प्रतिष्ठित करते, जहाँ उपासक भक्तिभावना को

अर्पित करते थे। इसी कारण गर्भगृह के भीतरी कक्ष मे सभी का प्रवेश वर्जित था। दूसरे समय देवता के पार्थिव शरीर की कल्पना कर उसके अमूर्त रूप को मूर्तिमान करते थे। उस प्रतिरूप को धर्मानुष्ठान तथा उत्सव एवं राजकीय समारोह मे देवयात्रा मे निकालते थे। इस विभेद के कारण देवता को भीतरी ढँके गर्भगृह मे स्थापित करते जिसके बाहर जनता (उपासकों) के लिए खुला कक्ष रहता था। इस देवस्थान के बाहरी भाग में समकेंद्रित खुला प्रांगण होता है, जिसे 'प्रकारम्' कहा गया है।

मंदिर मे गर्भगृह तथा ड्योढी सर्वप्रथम निर्मित होते थे। बाहरी भाग मे चिपटी छत से ढँका प्रकोष्ठ बनाया जाता, जिससे विस्तार का कार्य बढता जाता था। मदिर के विस्तार का दूसरी सीढी आयताकार परकोटे को मानते हैं। दो परकोटे के मध्य मे पर्याप्त क्षेत्र आँगन के रूप मे व्यवहृत किया जाता। इन आंगनो मे स्तभसहित मडप या सहायक देवस्थान तैयार किया जाता था। इस तरह कई परकोटे बनाए जाते और दो चहारदीवारी के बीच खुला आंगन रहता था जिसमे अर्द्धधार्मिक इमारतें वस्तु सग्रह के लिए स्थान तथा आवासीय भवन भी रहता था। इस दीवार मे चार प्रवेशमार्ग रहता, जिस प्रवेशद्वार पर क्रमश. बडे गोपुरम् निर्मित किए जाते थे।

श्रीरंगम् का रंगनाथ मंदिर

नायक शासन मे श्रीरगम् वा रंगनाथ मदिर द्राविड शैली का सबसे विशाल मदिर माना जाता है। यह स्थान कावेरी नदी की दो शाखाओ के मध्य टापू मे स्थित है, जो नायको की दूसरी राजधानी तिरुचिपल्ली से चार किलोमीटर दूर है। इस मदिर मे विष्णु भगवान की शेषशायी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। दक्षिण भारत के तीन प्रसिद्ध वैष्णव मदिरो मे— बैकुंठ पेरुमल्ल (कांचीपुरम्), पद्मनाभ स्वामी (त्रिवेंद्रम्) तथा श्रीरंगम्—इसकी गणना होती है। बैकुंठ पेरुमल्ल मंदिर मे भी शेषशायी विष्णु की प्रतिमा स्थापित है। श्रीरंगम् मदिर का गर्भगृह ही पुराने स्थापत्य शिल्प का नमूना है, किंतु अन्य सभी बनावटें कालातर मे जोड़ी गई थी। श्रीरंगम् के मंदिर मे सात परकोटे है, जिसमे समकेंद्रिक सात अहाते है। इस मंदिर मे २१ गोपुरम् बने हैं। अहाते मे आवासीय भवन, हाट तथा पूजा के लिए विविध कक्ष

भी तैयार किए गए। इस प्रकार मंदिर के अहातों में नगर बसाया गया है। बाहरी परकोटे की दीवार २८८० फुट लंबी तथा २४७५ फुट चौड़ी है और मुख्य मंदिर के चारों ओर एक के बाद दूसरे अहाते हैं। परकोटे मे गोपुरम् बने हैं।

स्थापत्य की दृष्टि से मंदिर का सहस्र स्तंभोंवाला सभामंडप सबसे सुंदर है, जो चौथे प्रागण में स्थित है। एकाश्म कडे प्रस्तर (ग्रेनाइट) से निर्मित स्तभ विशालता एवं भव्यता के कारण दर्शकों को आकर्षित करते है, मंत्रमुग्ध दर्शकवृंद आनंद से विभोर हो जाता है। तीसरे अहाते में गरुड़मंडप स्तंभावलि से युक्त है तथा समीप मे 'सूर्य पुष्करणी' नामक तालाब बना है। मदिर का गर्भगृह ग्यारहवी सदी मे बनाया गया था, किंतु परकोटे तथा सभामंडप सत्रहवी या अट्ठारहवी सदी मे जोडे गए। तेरह द्वार मार्गों में कुछ विस्तृत है तथा खुदाई के कारण दर्शनीय है। रंगनाथ मंदिर से सबद्ध अभिलेखो का अध्ययन यह बतलाता है कि तेरहवी सदी में पाड्य नरेश एव चौदहवी शताब्दी मे विजयनगर के शासकों ने श्रीरंगम् मंदिर के स्थापत्य मे वृद्धि की थी। यह कहा जा चुका है कि विजयनगर के राजाओ ने रंगनाथ मदिर स्तभ श्रेणियों का मडप तैयार किया था, जिसमे जगी घोडो की आकृतियाँ बनी थी। उनकी ऊँचाई ९ फुट तक मापी गई है। समस्त अश्व महित स्तभावलि तकनीकी का भव्य उदाहरण उपस्थित करती है, जिसकी बनावट प्रस्तर की न होकर लोहे की प्रकट होती है। श्रीरंगम् का यह 'अश्व-कक्ष' दक्षिण के स्थापत्य शिल्प मे अत्यंत प्रसिद्ध है तथा घोडे का आकृतिमय स्तभ श्रीरगम् मे सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर चुका है। इससे प्रकट होता है कि रगनाथ मदिर से संबद्ध अन्य इमारतो के निर्माण का कार्य विजयनगर काल से ही चल रहा था। अहातो के देखने से ज्ञात होता है कि चौथे आँगन से इमारतों का बनना आरभ हुआ था। इसकी बाहरी दीवार १२३५ फुट × ८४९ फुट क्षेत्रफल मे विस्तृत है, जिसकी तीन दिशाओ मे गोपुरम् हैं।

श्रीरंगम् से दो किलोमीटर दूर जंबूकेश्वर नामक मदिर है। यह छोटे आकार का है, जिसमे चार ही परकोटे है, जिसकी पूर्वी दिशा मे मुख्य गोपुरम् बना है। सामने एक सौ बीस स्तंभो वाला गलियारा है। चारों तरफ स्तभावलि के बीच केंद्रीय आँगन है, जहाँ शैवमत के चारो प्रतीक—लिंगम्, नंदी, द्वारस्तंभ तथा पवित्रपात्र के लिए स्थान सुरक्षित है। मध्य भाग मे स्तंभावलि से कुछ

दूरी पर खभों के समूह दीख पडते है, जो बीच आँगन के बाहरी भाग में खड़े हैं। स्तंभों के शीर्ष में ब्रीकेट है, जिनमें व्याल की आकृति खुदी है। उन पर शहतीर तथा छत आधारित हैं। इस प्रकार मध्य तथा पार्श्व वीथी पृथक् हो जाती हैं। सोलहवी सदी का कोई अन्य द्रविड शैली का मंदिर जबूकेश्वर से अधिक भव्य नही है।

रामेश्वरम् मंदिर

दक्षिण भारत मे सेतुबंध रामेश्वर नामक स्थान पूर्वी समुद्र-किनारे स्थित है, जहाँ से भगवान रामचंद्र ने लका की विजययात्रा सपन्न की। वह एक छोटा-सा द्वीप है, जो छिछले समुद्र द्वारा भारत से पृथक् किया गया है और पवन के पुल द्वारा भारत से वहाँ पहुँचते है। द्रविड शैली का दूसरा विख्यात मदिर रामेश्वरम् का है, जिसे नायक शासनकाल मे बनाया गया था। तंजौर या मदुरै मदिरो के सदृश इस मदिर की सुव्यवस्थित योजना समझ मे नही आती। तजौर का मंदिर रामेश्वरम् का आधा ही है, तथापि उनमे स्थापत्य सत्ता सम्मिलित रूप मे प्रकट होती है। मीनाक्षी मदिर की तरह रामेश्वरम् मदिर मे दो देवालय हैं, जो एक के भीतर एक तीन दीवारो से घिरे है। सबसे बाहरी दीवार ८८० फुट ऊँची, ६७३ फुट चौड़ी तथा २० फीट ऊँची है। इसमे सत्तरहवी सदी के चार सुंदर गोपुरम् है। मंदिर का सबसे महत्त्व पूर्ण, वैभवपूर्ण एव भव्य खड चार हजार फुट का स्तंभो वाला गलियारा है, जो मंदिर को घेरे हुए है। गलियारे की चौड़ाई १७ से २१ फुट तक मापी गई है। उसकी ऊँचाई २५ फुट है। स्तंभो को प्रचुरमात्रा मे अलकृत किया गया है, वे अच्छे अनुपात मे बने है तथा सुव्यवस्थित रूप मे कुशलतापूर्वक गलियारे मे स्थिर किए गए है। गलियारे से ५ फुट ऊँचाई से आरंभ कर १२ फुट लबान मे उनको गढ कर तैयार किया है। यदि एक कोने से खडे होकर देखें और सापेक्ष महत्त्व पर विचार किया जाय, तो एक पक्ति मे अनगिनत मालूम पडते हैं। लगभग सात सौ फुट लबी स्तंभावलि दर्शक को चकित कर देती है। बाहरी दिशा से मदिर सादी दीवार से ही घिरा मालूम पड़ता है। उसमे पूर्वी दिशा मे एक गोपुरम् बनाया गया है। दूसरे परकोटे के प्रमुख द्वार पर भव्य गोपुरम् है, जो ग्यारह मजिल का बना है और जिसकी ऊँचाई १५० फुट है। बाहरी दीवार की उत्तर तथा दक्षिण दिशाओ मे विशाल गोपुरम् बनाए जा रहे थे, किंतु उनके निचले भाग बन कर ही छोड दिए गए यानी वे असमाप्त है।

दक्षिण आरकाट जिले मे स्थित चिदंबरम् में नटराज मंदिर अपनी स्थापत्य-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस मंदिर मे कई इमारतें है, जिनका निर्माण अलग-अलग युग मे हुआ था। यद्यपि पूर्वी गोपुरम् तेरहवी सदी, पार्वती मंदिर चौदहवी सदी तथा उत्तरी गोपुरम् १६ वी सदी मे निर्मित हुए थे। परतु, उनकी रचना मे अद्भुत तादात्म्य एवं एकता है। सहस्र स्तंभों वाला सभा-मंडप (राजसभा) के लिए यह मंदिर विख्यात है। इस मंदिर-निर्माण के पीछे एक कथानक प्रसिद्ध है कि दसवी सदी के चोलराजा परंतक ने भगवान शिव का दिव्यदर्शन किया, जो पार्वती-सहित डमरू लेकर नृत्य कर रहे थे। राजा ने शीघ्र ही कनक-सभा बना कर उसकी स्मृति मे मंदिर-निर्माण किया। मुख्य गर्भगृह मे नरेश की प्रतिमा स्थापित है। मुख्य देवालय से पृथक् कई इमारतें बनी है। इस मंदिर मे ग्रेनाइट प्रस्तर के छप्पन स्तंभ जुड़े है, जिनकी ऊँचाई आठ फुट है। सभी स्तंभ अतीव सुंदर रीति से खुदे हैं। जिस दासा पर स्तंभ खड़े है, वह सभी अलंकृत है। वहाँ नाना मुद्रा मे नृत्य करती नर्तकियों की आकृतियाँ उकेरी गई है।

चिदंबरम् के गोपुरम् की भित्तियो पर नाट्यशास्त्र के तांडव लक्षण प्रकरण के १०८ करण (हाथ एवं पैर का विन्यास) एक दूसरे के ऊपर क्रमशः बनाए गए है। इनकी खुदाई शिलापट्टो पर की गई है। नर्तकी के साथ ही एक ओर वादक तथा दूसरी ओर ताल देने वाली आकृतियाँ बनी हैं। पूर्वी तथा पश्चिमी गोपुरम् पर नृत्यों को बोधगम्य करने के लिए नाट्यशास्त्र के आनुपठित श्लोकों को भी उत्कीर्ण किया गया है। दक्षिण भारत के तिनेवेल्ली मंदिर भी गोपुरम्, तालाब तथा मंडप (तीनों प्रकार) से युक्त हैं। बाहरी परकोटे में चार गोपुरम् हैं तथा दूसरे अहाते से सबंधित अन्य गोपुरम् बने हैं। आयताकार क्षेत्रफल (५८० × ७५६ फुट) से मंदिर विस्तृत है।

केरल तथा दक्षिण कन्नड के मंदिर

दक्षिण भारत के विभिन्न भू-भाग मे स्थित द्रविड शैली के मंदिर के अतिरिक्त दक्षिण-पश्चिमी तटवर्ती केरल राज्य मे भी विभिन्न शैली के मंदिरों का निर्माण हुआ। उनमे प्रस्तर, काष्ठ तथा खपरैल की सामग्रियो का प्रयोग किया गया है; क्योंकि उनकी प्राप्ति सरल थी। वहाँ के मंदिर त्रिकोणाकार है; छाजन वाले है, इसलिए द्राविड़ मंदिरो से कुछ भिन्न है। संभवतः उनमे देशी शैली का भी समावेश किया गया है। मंदिर एक पाषाणपीठ पर बना है तथा चारो तरफ आयाताकार दालान वर्त्तमान है। उनकी छत ढालू

होती है, जो खपरैल के सहारे बनी है। भौगोलिक कारणों से इस प्रकार का आयोजन किया गया तथा भीषण वर्षा के प्रकोप से मंदिर बचे रहे। छतें अनेक मंजिल की होती है। इस कारण रिक्त स्थान पर पौराणिक कथानकों का प्रदर्शन दीख पड़ता है। केरल की राजधानी त्रिवेंद्रम् में भगवान विष्णु का 'पद्मनाभ स्वामी' नामक मंदिर द्राविड शैली प्रसिद्ध मंदिर है। पश्चिमी तट पर सबसे निचले भाग (त्रिवेंद्रम् से अस्सी किलोमीटर दूर) शचींद्रम् में एक मंदिर बनाया गया था, जो द्राविड शैली का अत्युत्तम देवालय माना जाता है। इसमे गोपुरम्, पुष्करणी तथा स्तंभो-वाला गलियारा मौजूद है। शची-द्रम् मंदिर मे लकडी का प्रयोग नही के बरावर है। लकड़ी की तरह छत की बनावट धरनों पर टिकी हैं। चिपटी नहीं है। ये १६ वी सदी की द्राविड शैली के मंदिरो के सुंदर उदाहरण उपस्थित करते हैं।

●

प्राचीन भारत
के
मंदिर स्थान
सिन्ध
ओसिया
आबू
वृंदावन
गंगा-नदी
चित्तौर
उदयपुर
वाराणसी
ग्वालियर
खजुराहो
भुवनेश्वर
कोणार्क
पुरी
बंगाल की खाडी
अम्बरनाथ
बम्बई
पिटदकल
अयहोल
मद्रास
बादामी
कांची
महाबलिपुरम
तंजौर
अरब
सागर
मदुरा
रामेश्वरम्
हिन्द महा-
सागर

परिशिष्ट

स्तूप में शरिर-स्थापना-संबंधी अभिलेख

पीपरावा, बस्ती, उत्तर प्रदेश ई० पू० तीसरी सदी
भाषा प्राकृत, लिपि ब्राह्मी—

(१)

सुकिति भतिनं सभगिनिकनं सपुतदलन इय सलिल निधने बुधस भगवते सकियान।

शाक्यवंशी भगवान बुद्ध का भस्मपात्र सुकीर्ति नामक भ्राता," बहन, पुत्र तथा स्त्री के साथ दान किया गया।

(२)

मिनकोट भस्मपात्र अभिलेख मिलिंद के समय का बिजौर (सरहदी सूबा)
भाषा प्राकृत (ई० पू० पहली सदी) लिपि-खरोष्ठी

मिनेद्रस महरजस करिअस दिवस ४+४+४+१+१ प्राणथमेद प्रति-थविन

प्रणसभेद शरिर इदं भगवतो शकमुनिस वियक मित्रस अप्रचरजस इमे शरिर पलुग भुद्रओ न सक रे अत्रित। स शरिअत्रि कलद्रे नो शथ्रो न पिडोयकेपि पत्रि गिमयभि

तरु ये पत्रे अपोमुअ वषये पचमये ४+१ वैश्रखस मसम दिवस पंचविश्रये इयो प्रित्रियावित्रे विजयामित्रेन अप्रयरजेन भग्रवतु शकिमुनिसं सम संबुध स शरिर।

(सारांश अनुवाद)

महाराजा मिलिंद के समय कार्तिक मास चतुर्दशी को भस्मपात्र की (भगवान शाक्यमुनि) प्राणप्रतिष्ठा की गई। उसके सामंत प्रतापी विजयमित्र के द्वारा। उसके भग्न होने पर वैशाख मास के पचीसवें दिन पुन स्थापित किया।

(३)

स्वात भस्मपात्र का आधार अभिलेख स्वात नदी की घाटी (उत्तर-पश्चिमी प्रांत) प० पाकिस्तान ई० पू० प्रथम शताब्दी—

भाषा प्राकृत, लिपि खरोष्ठी,

थे उदोरेन मेरिदखेन प्रतिठाविद्रइमे शरिर शक मुणिस भग्रवतो बहुजन हितये।

लोक के हित के लिए मेरिडर्ख थियोडोरास ने भगवान बुद्ध के शरिर (धातु-पात्र) को प्रतिस्थापित किया।

(४)

भट्टीप्रोलु भस्मपात्र लेख

भट्टीप्रोलुस्तूप, कृष्णा जिला मद्रास प्रदेश (तामिल- नाडु)

भाषा प्राकृत, लिपि ब्राह्मी, तिथि ईसा पूर्व दूसरी सदी

कुर पितुनो च कुर मातु च कुरप सिवष च मंजुष पणति फालिग समुंग च बुध सरिणाण निखेतु

कुर-पिता तथा कुर माता तथा कुर शिव द्वारा निर्मित पाषाणपिटक (मंजुषा) जो बिलौर प्रस्तर ढकन सहित था। बुद्ध के धातु (शरिर = भस्म) रखने के लिए बनाया गया था।

(५)

तक्षशिला लेख

तिथि—ई० पू० पहली सदी, स्थान तक्षशिला रावलपिंडी

भाषा प्राकृत लिपि खरोष्ठी

मरिखेन सम्यकेन थुवो प्रतिस्तवितो (का० इ० इ० भा० २)

मरिख नामक व्यक्ति ने भली-भाँति स्तूप की स्थापना की।

(६)

बुद्ध की अवशेष-स्थापना का उल्लेख अभिलेखो मे मिलता है। पहली सदी के क्षत्रप रजुबल तथा सोडास के मथुरा सिंह स्तंभ लेख मे निम्नलिखित वर्णन मिलता है। (भाषा प्राकृत तथा लिपि ब्राह्मी)

थ्रे निसिमे (= स्तूप) शरिर प्रतिठावितो भग्रवतो शक मुनिस बुधस भगवान् शाक्य मुनि बुद्ध का अवशेष (शरिर = धातु) स्तूप मे प्रतिष्ठापित किया गया।

(७)

कलवान ताम्रपत्र लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान तक्षशिला, रावलपिंडी जिला,

भाषा प्राकृत, लिपि, खरोष्ठी,

कलवान ताम्रपत्र मे भी शरिर (धात)-स्थापना का उल्लेख है—

छड शिलए शरिर प्रइत्तवेति गहस्युवमि

भगवान् बुद्ध के अवशेष को शासक अयस ने भ्राता-भगिनि-दुहिता के साथ गृह स्तूप स्थापित किया था।

पहली सदी में उपरिलिखित अवशेष कहाँ से प्राप्त हुए, जिसकी स्थापना स्तूप में की गई ? यह अनिर्वचनीय है। इस संबंध में तर्क से काम नहीं लिया जा सकता। विश्वास करना पड़ता है।

(८)

तक्षशिला चाँदी-पत्र पर अंकित लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान तक्षशिला रावलपिंडी,

भाषा-प्राकृत लिपि-खरोष्ठी,

१३६ अयस अषडस मसस दिवसे १५ इश दिवसे प्रदिस्तवित भगवतो धतुओ उरसकेण इंतहि पुत्रेण वह लिए तेण इमे प्रदिस्तवित भगवतो धतुओ धमरइए तक्षशिलाए तणुवए बोधिसत्व गहमि।

इस लेख में वर्णन है कि राजा अयस शासन के १३६ वें वर्ष आषाढ मास १५ दिन भगवान बुद्ध के धातु (अवशेष राख) तक्षशिला के धर्मराजिक स्तूप मे स्थापित किया गया। वह स्तूप अशोक ने बनवाया था। स्यात् उसकी मरम्मत कर उरशा देश के निवासी इतप्रिय के पुत्र द्वारा धातु स्थापित किया गया।

(९)

कुर्रम ताम्रपत्र लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान पेशावर के समीप, भाषा प्राकृत, लिपि खरोष्ठी

थुंवमि भग्रवतस शक्य मुनिस (धातु) शरिर प्रदिठवेदि।

स्तूप मे भगवान् का अवशेष स्थापित किया गया।

(१०)

खवट कांस्यपात्र लेख

तिथि—पहली सदी, स्थान खवट (अफगास्तिान)

भाषा प्राकृत, लिपिखरोष्ठी

वग्रमारे ग्रविहरम्मि थुस्तमि भगवद शक्य मुणे शरिर परिठवेति,

वग्रमार नामक विहार के स्तूप में भगवान् शाक्य मुनि बुद्ध का अवशेष स्थापित किया गया।

इस प्रकार ईसा पूर्व चौथी सदी से ईसवी सन् की दूसरी शती तक स्तूप में बुद्ध के शरिर (अवशेष = भस्म) की स्थापना का वर्णन मिलता है। इस वार्ता के ऐतिहासिक विवेचन मे जाना सभव नही है। इस बात पर बल देना आवश्यक है कि अभिलेखो मे उल्लिखित विवरण के अतिरिक्त शरिर (अवशेष) की स्थापना (स्तूप मे) का विवरण अन्यत्र नहीं मिलता।

परिशिष्ट २

वेष्टनी एवं तोरण-अंकित लेख

प्राचीन भारत का इतिहास अभिलेखो के सहारे निर्मित किया गया है। वेदिकाओ पर अकित लेखो से कतिपय ऐतिहासिक बातो का परिज्ञान हो जाता है—

१. राजा का नाम—जिसके शासन मे अमुक कलात्मक कार्य सपन्न हुआ हो।

२. दानकर्ता शासक का नाम।

३. व्यक्तिविशेष, जिसने किसी प्रकार का दान किया हो।

४. कलाकार का नाम।

५. स्थानविशेष की चर्चा।

६. किसी धार्मिक घटना का उल्लेख।

७ विशिष्ट ऐतिहासिक विषय का वर्णन।

८. देवताविशेष का नामोल्लेख।

९. सामाजिक बातों का विवरण।

अभिलेखो के परीक्षण से प्रकट होता है कि लेख, तोरण-स्तंभो, वेदिका स्तभ, सूची, उष्णीम पर अकित है। प्रायः सभी लेखो के अत मे 'दान' शब्द से उसकेसंबंध मे स्पष्ट हो जाता है कि अमुक वेदिका का भाग किसी व्यक्ति द्वारा दान दिया गया। भरहुत-तोरण के स्तभ पर निम्न लेख खुदा है, जिससे प्रकट होता है कि यह तोरण शुगकाल (ईसापूर्व दूसरी सदी) मे प्रस्तर का निर्मित हुआ। इसे धनभूति नामक नरेश ने तैयार करवाया था। (भाषा प्राकृत, लिपि ब्राह्मी)

सुगनं रञा रञो गागीपुतस विसदेवस पौत्रेण गोती पुतस आगरजुस पुतेण वाछि पुतेन धनभूतिन कारितं तोरना सिला कमतो च उपण ।

शुंग राजाओ के शासन मे गार्गीपुत्र विश्वदेव के पौत्र गौत्री के पुत्र, अङ्गारधू के पुत्र वात्सी का पुत्र धनभूति द्वारा प्रस्तर निर्मित स्तंभ बनाया गया ।

अधिकतर अभिलेख बेष्टनी के स्तंभ पर अंकित हैं, जिनके अध्ययन से अनेक बातो का पता लगता है । एक स्थान पर 'वेदिसा अनुराध्यदान' (विदिसा का निवासी अनुराध द्वारा दान किया गया) तथा 'विदिसा अय माया दान' वाक्य से व्यक्ति द्वारा दान का विवरण मिलता है । इसी प्रकार—

''पुरिकाय दायकन दान' वाक्य से पुरिक के दायकन के दान का पता चलता है । इसी से पुरिक तथा विदिसा नगरों का परिज्ञान हो जाता है कि वहाँ के निवासी दानी थे ।

'नासिक गोरखितय थंभो दानं' लेख मे प्रसिद्ध नासिक का उल्लेख है । एक स्थान के वेदिकास्तंम्भ पर बुधरक्षित नामक कलाकार का नामोल्लेख है । (बुध राखितस रुपाकार कस दानं) कही भिक्षुणी द्वारा दान का वर्णन है ।

बुध रखितये (नाम) दानं भिछनिए (भिक्षणी द्वारा)

स्तंभ के अतिरिक्त सूचीदान का भी उल्लेख है ।

अय जातो सेपेठकिनो सूचिदानं (आर्य सेपेठकि का दान)

भरहुत के सूचि पर अंकेत लेखों से ऐतिहासिक घटनाओं का भी बोध होता है । माया के सपना को व्यक्त करते लेख खुदे है—

भगवतो रूकदंत । भगवान के जन्म का द्योतक है । माया ने हाथी का सपना देखा था । वही हाथी रू=आवाज कर रहा है । इसी प्रकार के अन्य सूचि के मध्य फलक में जेतवन विहार का दृश्य वर्णित है—

जेतवन अनाथपीडिको देति कोठिसन्थतेन केठा

अनाथपीडिक ने जेतबन का समर्पण किया । उस (स्थान) को कोटिस (स्वर्णमुद्रा) से खरीद कर श्रावस्ती के सेठ अनाथपीडिक ने राजा जेत से विहार-निर्माण के लिए भूमि खरीदी तथा उस भू-भाग पर स्वर्णमुद्राओं को फैला दिया । वही उस भूमि का मूल्य था ।

पश्चिमी तोरण के कोने के स्तंभ पर जो लेख अंकित है, वह स्पष्ट बतलाता है कि अजातशत्रु (मगध के राजा) ने बुद्ध के पदचिन्ह की पूजा की।

अजातशत्रु भगवतो वन्दते।

दक्षिण फाटक के स्तम्भ पर निम्न लेख—

'राजा पसेनजित कोसलो' अंकित है। कोसल के राजा प्रसेनजित ने भगवान के पूजानिमित्त यात्रा की थी। इस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान लेखो के अध्ययन से हो जाता है।

भरहुत वेदिका-स्तभो पर मानुषी बुद्ध के नाम अंकित हैं—

भगवतो कसपस बोधि

भगवतो शक मुनिनो बोधि

भगवतो ककुसधस बोधि

इसमे काश्यप, गौतम बुद्ध तथा ककुसंद नामक मानुषी बुद्धों के नाम अलिखित हैं।

'भगवतो धर्मचक्र' वाक्य से चक्र की दैवीशक्ति का आभास मिलता है।

'इस शालगुहा' लेख से इंद्र की गुहा का भाव व्यक्त हो रहा हैं।

'यक्षिनी मुदसना' द्वारा सुदर्शना पक्षी का पता चलता है। पश्चिमी तोरण के स्तंभ पर एक धार्मिक लेख खुदा है, जिसमे सुधर्मा देवसभा मे बुद्ध की चूडा का पूजन हो रहा है। नर्तकियाँ नाच रही है। लेख है—

सुधम्मा देवसभा भगवतो चुडा महो।

इस भरहुत वेदिका से संबधित अधिकाश भागो पर लेख अंकित है, जो किसी-न-किसी विषय की चर्चा करते हैं।

कालातर मे इस प्रकार के अभिलेखो का अभाव है। जो लेख अंकित हैं, वे किसी शासक से ही सवध रखते हैं। सांची के दक्षिणी तोरण पर तीसरी बंडेरी पर लेख खुदा है। उसमे वर्णन आता है कि सातकर्णी (सातवाहन राजा) के शासन मे विदिसा के हाथीदांत के कारीगर द्वारा तोरण निर्मित हुआ। सांची की वेदिका पर गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का लेख खुदा है, जिसकी भाषा सस्कृत है तथा गुप्त संबत ९३ (= ४१२ ई०) में उत्कीर्ण हुआ था। उसमे अमरकादर्व द्वारा साची (काकनाद बोट) के

महाविहार में चारों दिशाओ से आने वाले भिक्षुओं के भोजन निमित्त पचीस दीनार (स्वर्णमुद्रा) के दान देने का विवरण है। वह दान सूर्यचंद्र की अवधि तक के लिए दिया गया, जिसकी आय से भिक्षुओ को भोजन दिया जाय तथा दीपक जलाया जाए।

उत्तर गुप्तकाल मे स्तूप से जनता का ध्यान हट गया और स्तूप-संबंधी किसी प्रकार निर्माण-कार्य समाप्त हो गया। अतएव, तत्संबंधी अभिलेखों का अभाव है।

●

परिशिष्ट ३

प्रदक्षिणा-पथ

भारतीय संस्कृति मे देवस्थान या किसी पवित्र आकार-प्रकार के चारो तरफ जाकर प्रणाम करना श्रेयस्कर माना गया है। इसीलिए उसे (प्र) दक्षिणा-पथ कहते हैं। भगवान् बुद्ध की धातु की प्रतिष्ठा स्तूप के मध्य मे की जाती थी, अतएव स्तूप के चारो तरफ घूम कर प्रवेशद्वार (तोरण) से बाहर निकल जाना पुण्य-कार्य माना गया है। इस उद्देश्य को ध्यान मे रख-कर स्तूप से कई फुट की दूरी पर वेष्टनी तैयार की जाती, ताकि दोनों प्रकार के बीच के भाग को उपासक प्रदक्षिणा के लिए उपयोग कर सके। जितने स्तूप भरहुत, बोधगया, सांची या अमरावती मे निर्मित हुए थे, सभी के चबूतरे की परिधि से संबद्ध प्रदक्षिणा-पथ बने हैं। उसी से होकर सीढ़ी द्वारा मेधि तक पहुंचते हैं। इस परंपरा को उत्तर-मौर्य युग में भी अपनाया गया।

शुंगकाल मे सहयाद्रि शृंखला में जितने चैत्यमंडप बनाए गए थे, उनके चापाकार के मध्य में ऊंचे ढोलनुमा आधार पर स्तूप खुदा है। उसकी प्रदक्षिणा के लिए दीवार तथा चैत्यस्तंभो के मध्य में चार फीट चौड़ा स्थान है, जिसे पार्श्ववीथी कह सकते है। बाईं ओर से प्रवेशद्वार होकर पार्श्ववीथी मे घुस कर उपासक स्तूप के समीप पहुंच जाता है। स्तंभों के कारण स्तूप को स्पर्श करना संभव नही है। अतएव, उपासक दाईं ओर से घूम कर बहिर्द्वार से चैत्यमंडप के बाहर चला आता है। इस पूरे मार्ग को प्रदक्षिणा-पथ कहते हैं। इस प्रकार चैत्य के चापाकार भाग को पार कर उपासक स्तूप की पूजा करते हैं। स्तूप के सम्मुख तथा दोनो पार्श्व के स्तंभो के बीच का स्थान भिक्षुओं के लिए (पुजारी) सुरक्षित रहता है। उसे मध्यवीथी कहना उचित होगा।

मंदिरो के निर्माण में इस विषय पर ध्यान रखा जाता था कि उपासक गर्भगृह की परिक्रमा कर सके। इस कारण गर्भगृह में प्रतिमा की स्थापना की

जाती तथा उसके बाहर प्रदक्षिणा-मार्ग बनाया जाता। खजुराहो शैली के मंदिरों में अंदर ही परिक्रमा की योजना बनी है। उड़ीसा शैली के मंदिरों में चहारदीवारी (परकोटा) तथा मंदिर के बीच चौड़ा मार्ग वर्त्तमान है, जिसे प्रदक्षिणापथ कहा जाता है। इसी मार्ग से परिक्रमा करते उड़ीसा मंदिरों की बाहरी दीवार पर उकेरी शृ गारिक आकृतियो को देखते हैं। उनका दार्शनिक उद्देश्य था और वे तांत्रिक प्रभाव को व्यक्त करते हे। दक्षिण भारत के मंदिरों में आँगन के मध्य मंदिर निर्मित है तथा प्रदक्षिणा-पथ भी बना है। मध्य युग के मंदिरों में ढका प्रदक्षिणा-मार्ग बनने लगा और गर्भगृह के चारो तरफ का गलियारा इसी प्रदक्षिणा के लिए प्रयुक्त होने लगा। रंगनाथ मंदिर तथा रामेश्वरम् के मंदिर में यह स्पष्टतया देखे जा सकते हैं।

●

स्तूप तथा पूजा-स्मारक स्तूप

पिछले पृष्ठों मे स्तूप के आकार का वर्णन किया गया है तथा उससे सबंधित शरिर (धातु) स्थापना की भी चर्चा हो चुकी है। अतएव, स्तूप को शारीरिक, परिभागिक तथा निर्दे शिक धातु-संबधी स्तूप कहते हैं। तीसरे प्रकार के स्तूप को स्मारक या मनौती स्तूप भी कह सकते है। इनसे शरिर (धातु) स्थापना का तनिक भी संबंध न था। धनीमानी व्यक्ति बडे आकार अथवा निर्धन छोटे आकार का स्तूप बनाता था। मुख्य स्तूप के पार्श्व मे ऐसे स्तूप बनाए जाते थे। तक्षशिला, महाबोधि, सारनाथ, नालंदा, साची, अमरावती आदि स्थानो पर निर्मित प्रमुख स्तूप के चारो तरफ पूजा (स्मारक) स्तूप देखे जा सकते हैं। यह क्रम बारहवी सदी तक चलता रहा। यद्यपि प्रतीक-प्रधान हीनयान मत का प्रचार न था, तथापि मनौती स्तूप (Votive Stupa) का क्रम (परंपरा) समाप्त न हो सका। समतल भूमि पर अनेक छोटे स्तूप (ईंट के) बनाए गए है। मध्य युग में गृह मे रखने के निमित्त छोटे प्रस्तर को काट कर पूजानिमित्त स्तूप बनने लगे। इतना ही नही, धातु (ताम्र या कांसा) का भी प्रयोग इन स्मारक छोटे स्तूपो के निर्माण मे होने लगा। नालंदा तथा कुर्कीहर (गया जिला, बिहार) से धातु-स्तूप उपलब्ध हुए हैं, जो पटना संग्रहालय मे सुरक्षित हैं। इनके परीक्षण से प्रकट होता है कि हीनयान का ह्रास होने पर भी स्तूप-पूजा की परंपरा समाप्त न हो सकी। प्रमुख स्तूपो के समीप स्थानों के अतिरिक्त (जहाँ ईंट का स्तूप है) गृह मे स्थापित योग्य प्रस्तर तथा धातु के स्तूप बनाए गए। पूर्व मध्य युग में महायान या वज्रयान की बुद्धप्रतिमा के सिरे प्रस्तर स्तूप का आकार खुदा दीख पड़ता है, जो मूल स्तूप की मूल भावना से रहित था। संभवतः बौद्धमत के अनुयायियो के लिए प्रतीक का काम करना था। किरीट-मुकुटयुक्त बुद्ध-प्रतिमाएँ स्तूप की स्थिति से ही अन्य मूर्तियो से पृथक् की जाती हैं। संभवतः इस रीति को ब्राह्मण मत ने भी अपनाया और शिवमंदिर के चारों ओर छोटे शिवलिंग स्थापित किए गए। जैसे नेपाल के पशुपतिनाथ का मंदिर, काशी विश्वनाथ मदिर जो पार्श्व में शिवलिंगों से घिरे हैं।

●

परिशिष्ट ५

सामाजिक बातों का परिज्ञान

स्तूरों की वेष्टनियों के विभिन्न भागो तथा तोरण की बंडेरियों पर खुदी आकृतियो का गहरा अध्ययन सामाजिक अवस्था पर प्रकाश डालता है। उनकी आकृतियो के अध्ययन से तत्कालीन समाज मे प्रचलित बातो का परिज्ञान हो जाता है। भारतीय साहित्य में महान व्यक्तियों या अवतारो के संबंध में उल्लेख मिलता है कि उनका सासारिक व्यक्तियो की तरह माता के गर्भ से जन्म (Biological Birth) नही होता, बल्कि अवतरण होता है। संसार के कल्याण के लिए वह महान देव स्वरूप अवतरित होते हैं। राम एवं कृष्ण के सबंध मे ऐसी बाते रामायण तथा महाभारत मे उल्लिखित है। इसी प्रकार गौतम सिद्धार्थ के लिए भी ऐसी बातें प्रकाश मे आई हैं। भरहुत तथा साची के प्रदर्शनो मे माया का सपना यह घोषित करता है कि तुषित स्वर्ग मे भविष्य-वाणी हुई और उसके अनुसार बोधिसत्व सफद हाथी के रूप मे माया के गर्भ मे आए। उसी भविष्य घोषणा को ध्यान मे रख कर मायादेवी का सपना प्रदर्शित है। मायादेवी सोयी है। एक सफेद हाथी (खुदे चित्र मे रंग नही पहचाना जा सकता) माया की आकृति के सिरे पर खुदा है। इसमे हाथी के प्रवेश के कथानक से जैविक-जन्म की बातें अविश्वसनीय हो जाती हैं। वह हाथी दैवी प्रतीक माना गया है। इस कारण उसे अमरावती प्रदर्शन मे रथ पर बैठा दिखलाया गया है। दूसरी बात यह है कि बुद्ध लोकप्रिय देवता थे, जिनकी पूजा जलचर, जानवर, पक्षी, मनुष्य तथा देवगण समान रूप से करते थे। उनके जीवन को आदर्श मान कर समाज मे कार्य होता था। उनके उपदेश से ही सभी अहिंसक हो गए तथा अहिंसा धर्म का पालन करने लगे।

वेष्टनियों पर प्रदर्शित आकृतियों के देखने से प्राचीन वस्त्राभूषण का परिज्ञान हो जाता है। वस्त्र तीन ही रूप मे प्रयुक्त है—

(१) पगड़ी

(२) छोटी धोती—गाँठ सामने तथा

(३) चादर।

इसके अतिरिक्त शरीर पर अन्य प्रकार के वस्त्रों का अभाव-सा है। इस कमी की पूर्ति आभूषणों से की जाती थी। उन रूपों में जो आभूषण दीख पड़ते हैं, उनका आज भी उपयोग किसी-न-किसी ढंग में हो रहा है। स्त्री अथवा पुरुष दोनों आभूषण पहनते थे। गले में दो प्रकार के आभूषण थे, एक जो गर्दन मे चिपका रहे तथा दूसरा रामनामी या हार अथवा मटरमाला। सब में लाकेट नीचे लटका रहता था। बाँहों मे भुजदंड तथा कलाई में कड़े स्पष्ट दीख पड़ते हैं। स्त्रियों की कलाई मे चूड़ियों की भरमार है। भरहुत की यक्षिणी के हाथ-पैर में मोटे-मोटे अनेक कड़े दीख पड़ते हैं। कान के कर्णफूल झुमकनुमा वृत्ताकार, त्रिरत्न के आकार के सुंदर कर्णफूल देखते बनते हैं। करधनी का तरीका विचित्र था। कई लरों का आभूषण, जिसमे मूल्यवान प्रस्तर जड़े थे, धोती की गाँठ के ऊपर रहता था। भरहुत के श्रीमां-देवता की करधनी अद्वितीय है। पायल कई ढग के थे। भरहुत मे यक्षिणी के पैरों मे पन्द्रह कडे को मिला कर पायल बना है। आज भी मारवाड की स्त्रियाँ या मध्य प्रदेश रीवा के समीप के लोग हाथों मे वैसा आभूषण पहनते है। इस प्रकार वस्त्राभूषण की सजावट के साथ माथे के बालो का सँवारना भी एक कलाप्रिय विषय है। उस समय दो रीति से काम लिया जाता था—

(१) माथे के पीछे गाँठ बाँधना तथा

(२) लंबे बालों को चोटी बना कर रखना (एक वेणी)

वर्त्तमान काल मे भी ये दोनों रीतियाँ समाज मे प्रचलित हैं। स्त्रियों के शृंगार का प्रदर्शन गोदना से भी दीख पड़ता है। भरहुत की यक्षिणी के वक्षस्थल तथा गालो पर गोदने का चिह्न है। उसमे पुष्प तथा पक्षी, (मोर, सुग्गा) गण के रूप बनाए गए हैं।

समाज मे मनोरंजन का भी आयोजन होता रहा, जिसका प्रमाण भरहुत के प्रदर्शन से मिल जाता है। भरहुत वेदिका-स्तंभ पर नर्तकियों का नाच दिखाया गया है। अमरावती की वेष्टनी पर तुषित नामक स्वर्ग में बैठे बोधिसत्व के संमुख नृत्य करती आकृतियाँ खुदी है। भरहुत-वेदिका पर बंदरों द्वारा हाथी के नचाने का दृश्य खुदा है। बंदर डाक्टर के रूप मे दिखाया गया है, जो दाँत निकाल रहा है। उसी भरहुत-वेदिका के स्तंभ पर नट की कला प्रदर्शित है

(Acrobatic scene)। यवमझकीय जातक में समाज के बुरे लोगों को दंड देने का कथानक उल्लिखित है, जिसका प्रदर्शन भी है। संदूक मे उन्हें बंद कर न्यायाधीश के संमुख उपस्थित किया गया और कुत्सित विचार वाले व्यक्तियो को दंड दिया गया। सक्षेप में यह कहना उचित होगा कि स्तूप की वेदिकाओं तथा तोरण पर खुदे चित्र तत्कालीन समाज की बातों को भी बतलाते है।

●

परिशिष्ट ६

बृहत्तर भारत में स्तूप की परंपरा

प्राचीन काल मे भारतीय सस्कृति का विस्तार देश की भौगोलिक सीमा के बाहर भी हुआ, जिसे बृहत्तर भारत की संज्ञा देते है। भारत के समीपवर्ती देशो अफगानिस्तान, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन तथा नेपाल मे भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। दक्षिण-पूर्व एशिया के देश बर्मा, थाइलैंड, कबोडिया तथा जावा-वालि आदि द्वीपसमूहो मे भी सास्कृतिक प्रवाह पहुँचा था। उसके विस्तृत इतिहास मे जाना अप्रासगिक होगा। बृहत्तर भारत की वास्तु-कला मे स्तूप महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह स्तूप की परंपरा भारतीय है, क्योकि इसका सीधा संबध बौद्ध धर्म से है। धर्म-प्रचार के साथ बौद्धकला का भी अनुकरण उन देशो मे हुआ। अतएव, प्राचीन समय से ही स्तूप का निर्माण होता रहा। परिस्थितियो तथा स्थानीय भावनाओ को लेकर उस (स्तूप) की बनावट मे यत्रतत्र अंतर दीख पडता है। पर, मूलत. कोई विभेद नही है। स्तूप-निर्माण की भावना धर्म से ही प्रेरित थी, परतु यह सत्य से परे है कि प्रत्येक स्तूप में भगवान बुद्ध का अवशेष निहित था। अभिलेखो मे (जिसकी चर्चा की गई है) शरिर के (अवशेष भस्म) प्रतिष्ठा या स्थापना का विवरण मिला है, किंतु उसकी ऐतिहासिकता संदेहपूर्ण है। चूँकि अशोक ने स्तूपपूजा की परिपाटी चलायी तथा चौरासी हजार स्तूपो का निर्माण किया था, उसी विचारधारा को लेकर स्तूप पूजा का आधार बन गया। उत्तर-मौर्य युग मे समतल भूमि पर निर्मित स्तूपो को प्रस्तर से आच्छादित किया गया तथा काष्ठ को हटाकर स्थान स्थान पर प्रस्तर की वेष्टनी स्थिर की गई। यानी शुंगकाल में स्तूप तथा तत्सबधी आकार-प्रकार को स्थायी रूप देने का प्रयत्न हुआ। पश्चिमी भारत मे सह्याद्रि शृ खला मे चैत्य-मंडपो मे स्तूप की खुदाई ही प्रस्तर खंड मे सरल समझी गई, अतएव मौर्यकालीन स्तूप-परंपरा का विकास दीख पड़ता है। घोड़नुमा आकार के चाप सिरे पर स्तूप खोदा गया, जिसकी पूजा होती रही। इनमे शरिर (धातु) रखने या स्थापित करने

का प्रश्न ही नहीं उठता। कहने का तात्पर्य यह है कि स्तूप वास्तुकला का उदाहरण होते हुए भी प्रमुखतया पूजा-प्रतीक था। इसी धार्मिक विचार को लेकर बृहत्तर भारत मे भी स्तूप निर्मित किए गए। मूल आकार (Model) तथा विचार भारतीय था। स्थान के कारण कुछ परिवर्तन आ गए। यानी अफगानिस्तान, सिंहल, नेपाल, बर्मा या जावा के स्तूप सर्वथा एक-से नहीं है। सभी मे भिन्नता है।

ईसवी सन् के आरंभ से उत्तर-पश्चिम भारत में कनिष्क का शासन था, जो बौद्ध था। अतएव, राजाश्रय पाकर अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम प्रदेश मे स्तूप बनाए गए। यद्यपि उत्तर-पश्चिमी भारत मे इस्लाम के प्रचार से प्राचीन इमारतों का भग्नावशेष ही है, किंतु उनके ध्वस इमारतों के परीक्षण से पता चलता है कि पेशावर, रावलपिंडी मानिक्याला, तख्तेबहाई तथा अफगानिस्तान के संघारामों में स्तूप की प्रमुखता है। संघाराम के केंद्रीय भाग में स्तूप निर्मित था। मानिक्याला स्तूप में धातु की स्थिति थी, यह ठीक कहा नहीं जा सकता। किंतु, तख्तवाहाई (तक्षशिला के समीप) के मध्य स्तूप पूजा के लिए निमित्त था। पर्वतों पर या तलहटी मे जितने संघारामों को चीनी यात्री (ह्वेनसाग) ने देखा था, सब के केंद्रीय भाग में स्तूप खड़ा है। चौकोर (५५ फुट × ४५ फुट) आँगन मे सुंदर स्तूप बना है। उसमें छह श्रेणियों वाला छत्र बना है, जो ५० फुट ऊँचा है। इस प्रकार गाधार के भू-भाग मे भारतीय यूनानी शासन होने पर भी स्तूप का कार्य स्थगित न हो सका। कनिष्क ने भी उस कार्य में पूरी सहायता की। अशोक ने धर्मराजिका स्तूप (तक्षशिला) का निर्माण किया था, उसी की रीति पर अन्य स्तूप तैयार किए गए।

नेपाल के बौद्ध स्मारक

नेपाल सदा से भारतीय संस्कृति का एक अग रहा है और ईसापूर्व तीसरी सदी में समनदेई में अशोक ने बुद्ध के जन्मस्थान की स्मृति मे स्तंभ खड़ा किया एवं लेख उत्कीर्ण कराए। गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे नेपाल का उल्लेख है। समुद्रगुप्त ने नेपाल प्रदेश को विजित किया था। पाँचवीं सदी से वहाँ वैशाली के लिच्छवि लोगों का राज्य था, जिनके अभिलेख वहाँ से प्राप्त हुए हैं। भारत तथा नेपाल का संबंध अक्षुण्ण बना रहा। उस भू-भाग में बौद्ध मत तथा ब्राह्मण धर्म का प्रचार हुआ, जिसकी कथा वहाँ की इमारतें तथा प्राप्त शिल्प कला के नमूने आज भी सुनाते हैं। नेपाल मे बौद्धमत के साथ

शैवमत की प्रमुखता दीख पड़ती है। वहाँ की नेवार जाति ने सर्वप्रथम बौद्ध-मत स्वीकार किया था। पूर्वमध्य युग से भारत के विद्वान, कलाविद् तथा प्रचारक सदा नेपाल जाते रहे। बौद्धमत के प्रसार के साथ मठ तथा स्तूप भी स्थापित किए गए। ठाकुरी वंश के अंशुवर्मन नामक राजा का नाम ज्ञात है। संभवतः उसके समय ब्राह्मण धर्म का प्रचार नेपाल मे हुआ। ११ वी सदी मे नान्यदेव ने तिरहुत से आक्रमण कर नेपाल पर अधिकार कर लिया। उसी के वंशज वहाँ राज्य करते रहे कि चौदहवी सदी मे हरि सिंह ने वहाँ अपनी सरकार बनायी। नेपाल की चार छोटी रियासतों—भाटगाँव, बनेपा, पाटन तथा काठमांडू—का पृथक्-पृथक् शासन था। इस तरह इन हिंदू नरेशों ने ब्राह्मण मत का विकास किया।

नेपाल मे वास्तविक स्तूप का अभाव है; क्योंकि उनका संबंध भगवान के धातु (शरिर) से नही है। कहा जाता है कि अशोक ने पाटन की यात्रा की थी और वहाँ जो इमारत बनी, उसे चैत्य कहते हैं। नेपाल मे दो स्तूप वर्त्तमान हैं—

१. स्वयंभूनाथ—काठमाडू

२. बोधनाथ—पाटन

इन्हे चैत्य कहने का कारण यह है कि इनके समीप अर्द्धगोलाकार टीला, ईंटो से जुडा है। वह स्तूप के चारो तरफ प्रदक्षिणा-पथ का काम करता है।

स्वयंभूनाथ के स्तूप की योजना मूलत: भारतीय है, किंतु नेवार जाति की कला-कुशलता का भी प्रदर्शन किया गया है। ऊँचे चबूतरे पर अर्द्ध गोलाकार सरचना है, जिसकी तुलना भारतीय स्तूप के अंड से की जा सकती है। ऊपरी भाग में चारकोन की बनावट है, जिसे हरमिका कह सकते हैं। इसकी ऊँचाई अन्य हरमिका से अधिक है। चारों तरफ मनुष्य की आँख की तरह बड़ी आँखे बनी है। इनका उद्देश्य क्या था ? यह कहना कठिन है। स्यात् स्थापत्य शिल्पी ने यह सोचा हो कि स्तूप की आत्मा यानी हरमिका का निवासी देव ससार के उपासकों को देख कर उनके कल्याण की बातें सोच रहा है।

हरमिका के मध्य छत्रयष्टि रहती है, जिसके छत्र मे भारतीय कलाकारो ने तीन छत्र बनाए थे। स्यात् हिंदू मत के तीन लोकों की कल्पना रही हो। सबसे ऊपरी शीर्ष पर छत्रावलि दीख पडती है। किंतु, स्वयंभूनाथ के स्तूप में हरमिका के ऊपरी भाग मे मीनार की बनावट है, जिसमें तेरह पंक्तियाँ निर्मित हैं। नीचे से ऊपर छोटा होता चला गया है। तिब्बत तथा चीन में भी तेरह

मंजिल की लाटमुना संरचना दीख पड़ती है। अंड के निचले भाग में दो फुट चौड़ा चबूतरा है, जिस पर पांच ध्यानी बुद्ध है—

१. अभिताभ,
२. संक्षोम्य,
३. वैरोचन,
४. रत्नसंभव और
५. अमोघसिद्धि।

इनका देवस्थान बना है। सत्तरहवीं सदी में राजा प्रताप मलन ने इनका निर्माण किया था।

काठमांडू से पाँच किलोमीटर दूर बोधनाथ की इमारत है। इसे छठी सदी मे तैयार किया गया था। यह ४५ फुट ऊँचे तीन सीढ़ियों वाले चबूतरे पर बना है, जिसका गुंबज ९० फुट व्यास रखता है। उस उभार की ऊँचाई ४५ फुट है। बोधनाथ मंदिर की योजना तथा सादी बनावट के कारण आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक है। नेपाल के स्तूप के समीपवर्ती अव्यवस्थित बनावट को देख कर प्रकट होता है कि मूलतः स्तूप हजारों वर्ष पहले मिट्टी का बड़ा टीला रहा होगा। अशोककालीन स्तूप की तरह बौद्ध उपासकों तथा भिक्षुओ ने मिट्टी की बनावट आरंभ की। क्रमशः उनमें परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होते गए। आज की रूपरेखा मिश्रित बनावट का फल है, जो स्तूप के पार्श्व मे बढ़ते गए। संभवतः नेवार जाति ने सादेपन को पसंद न किया और नेवार शिल्पी स्तूप को सुंदर बनाते गए।

नेपाल के हिंदू मंदिरों मे शिखर का अनुकरण किया गया है। यह ईंट-प्रस्तर के बने हैं। जो इमारतें (मंदिर आदि) काष्ठ की बनी हैं, उनमे चीनी पगोडा की रीति का समावेश दीख पड़ता है। शिखर अथवा पगोड़ा शैली के मंदिर सामूहिक पूजा के लिए नहीं बनाए गए थे। उनमे केवल देवस्थान या गर्भगृह था, जो इष्टदेव की पूजा निमित्त स्वयं भक्तिभावना के आधार थे। उस देवस्थान के चारों तरफ आँगन बने हैं, जहाँ उपासक एकत्रित होकर पूजा तथा प्रार्थना किया करते थे। मंदिरो मे पगोडा के आकार इमारतो की सहायता बनावट समझे जाते हैं। कुछ अवस्था मे पगोडा इमारत के आवश्यक भाग तथा कला-सौंदर्य को बढाने वाले थे।

नेपाल के मंदिरों का शिखर आर्य शिखर शैली का अनुकरण है, किंतु इसका विभिन्न रूप से प्रयोग किया गया है। गर्भगृह के ऊपर शिखर बना है, जिसमें मंडप का अभाव है। पूरा देवस्थान स्तंभोंयुक्त बरामदा से घिरा हुआ

है। शीर्ष पर उरुश्रृंग तथा आमलक शिला को स्थान दिया गया है। पाटन का कृष्ण मंदिर इसी प्रकार के शिखर का उदाहरण है।

तिब्बत

नेपाल के पड़ोस में हिमालय पर्वतीय प्रदेश मे सब से ऊँचा तिब्बत का पठार है, जिसका इतिहास सातवी सदी के पश्चात् विदित है। नेपाल की राजकुमारी ने तिब्बत मे बौद्धधर्म का प्रचार किया, जिसके पश्चात् वहाँ मठ एवं बौद्धमंदिर बनाए गए। तिब्बत मे बौद्ध भिक्षु (जिसे 'लामा' कहा जाता है) की अधिक संख्या थी, अतएव मठों का भी अधिक निर्माण हुआ। किसी मठ में तो दो-तीन हजार लामा रहा करते थे। अतएव, एकत्रित रहने के लिए लंबे-चौड़े मठ बनाए गए। किसी स्थान मे मठो की स्थिति से नगर बस गए हैं। मठ की इमारतें चहारदीवारी से घिरी हैं और बाहर की ओर व्यापारीगण अथवा दुकानदारों के लिए स्थान बने है। मठों के निर्माण के लिए सुंदर या उर्वरा भूमि को चुना जाता था। चहारदीवार के भीतर आंगन के चारो तरफ कोठरियाँ बनी थी, जिनमे भिक्षु रहा करते थे।

तिब्बत के मंदिर चीनी ढंग के होते थे। ये आयताकार प्रस्तर के इमारत तो थे, किंतु उनकी छतें मिट्टी या खपरैल की बनायी जाती थी। उनमें चित्रकारी की जाती थी। मंदिर की दीवारो मे खिड़कियों का अभाव है। प्रवेशमार्ग से ही रोशनी जाती है। भीतर का भाग उत्तर-दक्षिण दिशा मे स्तंभो से विभक्त है, जो मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी में बंट गए है। पार्श्ववीथी मे छोटे लामाओं के बैठने के लिए गद्दादार स्थान बने है तथा भीतर की दीवारें भित्तिचित्र से विभूषित है। उनके रेशमी वस्त्रो पर जातक प्रदर्शनो के चित्र भी बनाए गए है, जिनके झंडे को मंदिर मे लटकाया जाता था। लासा मे स्थित पोटल नामक मठ दलाई लामा का निवासस्थान है, जो अतीव सुंदर, भव्य तथा शानदार इमारत है। उसके मध्य मे मंदिर, सभामंडप (दर्शक एवं उपासक के निमित्त भवन) तथा लामा का यह चैत्य भी दीख पड़ता है। कहा जाता है कि भारत के नालंदा महाविहार के विद्वान भिक्षु पद्मसंभव ने लासा के समीप संगपो नदी के किनारे मठ की स्थापना की थी।

बर्मा के पगोडा

भारतीय सीमा के बाहर स्तूप की विभिन्न प्रकार की बनावट को पगोडा नाम से व्यक्त किया गया है। भारतीय अभिलेखो मे भगवान बुद्ध के अवशेष

(शरिर) को धातुगर्भ कहते थे। उसी के स्थापित करने पर स्थान का नाम गर्भगृह हो गया, जिसे ब्राह्मणमत में देवस्थान कहते हैं। धातुगर्भ को लंका में दगोवा कहने लगे और उसी से पगोडा शब्द बना। बर्मा में पगोडा कई मंजिल की इमारत है, जिसे बौद्ध मतावलम्बी ने निर्मित किया। स्तूप की तरह इसमें राख रखने का स्थान नही है। पगोडा अवशेष पर नही बना है, किंतु इसे धर्म का स्मारक समझते है। बौद्ध भिक्षु या उपासक उसकी विधिवत् पूजा करते हैं। मूलतः यह मिट्टी का एक टीला था, जिसमें सुधार लाया गया और क्रमशः एक भव्य इमारत के रूप मे परिणत हो गया।

बर्मा में तीन युगों मे इमारतें बनायी गईं (१) प्रारंभिक अवस्था, जहाँ दूसरी सदी से नौवी सदी तक इमारतें बनती रही। खेद है कि उस अवधि की इमारतें वर्त्तमान काल में नही के बराबर हैं। (२) नौवी सदी से तेरहवीं शताब्दी तक का युग स्थापत्य का सर्वोत्तम काल माना जाता है, जिस अवधि मे अनेक इमारतें बनायी गई। वर्मा के मंदिर इसी काल के हैं। (३) तेरहवीं सदी से वर्त्तमान समय तक का काल लोककला के विकास का युग है। इसे 'पगोडाकाल' कह सकते हैं। मुख्यतया इस अवधि में काष्ठ का प्रयोग स्थापत्य मे प्रमुख रूप से किया गया था।

११ वी सदी से मिट्टी के विशाल टीले के रूप मे स्तूप का निर्माण वर्मा मे आरंभ हुआ। इसका ऊपरी भाग शंकु रूप मे है। स्तूप पाँच सीढ़ियों की ऊपरी सतह पर बना है, जो नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः छोटा होता गया है। इसके देखने से पता चलता है कि इसका विचार भारत से आया होगा। पेगन मे एक बौद्ध मंदिर है, जिसका केंद्रीय भाग प्रस्तर का बना है। उसके चारों तरफ स्तंभसहित बरामदा है तथा कोने में ड्योढी बनी है। इन सारी बनावटों के ऊपर एक अधिरचना दीख पड़ती है, जो स्तंभावलि की चिपटी छतवाले बरामदे से ऊपर निर्मित हुआ है। इस तरह बरामदे का ऊपरी अंश मध्य भाग से नीचा है तथा सीढ़ी का काम करता है।

मध्ययुगी वर्मा के मंदिर भारतीय बौद्ध-परंपरा में बने हैं। भारत के प्राचीन मंदिरों के सदृश केंद्रीय भाग आयताकार है, जिस पर भारतीय आर्य शिखर बना है। सामने अंतराल है। ढँकी ड्योढी है। इस प्रकार मंदिर की योजना सर्वथा भारतीय है। वर्मा मे तेरहवी सदी के पश्चात् पेगन में सहस्र पैगोडा से कम निर्मित नही हुए। उनमें अनेक सुंदर रीति तथा विशेष

अनुपात में बने हैं। यद्यपि मध्ययुग (तेरहवी सदी के बाद) के स्तूप तथा मंदिरों से किसी प्रकार के अलौकिक विचार तथा पूजाविधि का लगाव नही है, फिर भी बौद्धमत के अपूर्व उत्साह तथा जनता में श्रद्धा के कारण विशाल पैमाने पर इनका निर्माण हुआ था। विद्वानो का मत है कि बिहार तथा बंगाल से शिल्पकार वर्मा में आमंत्रित किए गए थे, जिन्होंने स्थापत्य का निर्माण किया। इस विचार के स्वीकार करने मे आपत्ति यह है कि वर्मा की इमारतों का वहिरंग दृश्य भारतीय नहीं है। दूसरे वर्मा के जनजीवन में जिस सौंदर्य का प्रचार है, उसका स्थापत्यकला में अभाव है। अस्तु, संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि पेगन की इमारतें मूलतः भारतीय कुल की हैं। पहाड़पुर की योजना का स्वरूप वहाँ देखा जा सकता है, जिन्हें वर्मा की विचारधारा के अनुकूल सँवारा गया। उसी विचार के अनुसार परिस्थितियों को ध्यान में रख कर निर्माण किया गया। वर्मा-स्तूप की बनावट मे दो कार्य-पद्धतियों का समावेश दीख पड़ता है—

(१) भारतीय स्तूप के अंड में बाहरी उभार यानी उन्नतोदर (Convex) रीति।

(२) पूर्वी एशिया की इमारतों की अवतलता (Concavity) का भी समावेश हुआ, जो स्तूप तथा शिखर के भीतर प्रकट होता है। इनमें चीनी पगोडा तथा भारतीय गुंबद का मेल देख सकते है।

उन स्तूपो में हरमिका के स्थान पर अंड के शीर्ष भाग पर लंबा गुंबदी शिखर है। इनमे भारतीय परंपरा का पूर्णतः समावेश है, किंतु बाहरी आकार सुदूर पूर्वी एशिया से लिया गया है।

ई० स० १२७४ मे पेगन नगर मे मंगलाजेई नामक विशाल स्तूप बनाया गया। यह पाँच सीढ़ियो वाले चबूतरे पर निर्मित है, जिसमे सीढियाँ नीचे से ऊपर छोटी होती चली गई है। सीढ़ियों से चबूतरे पर पहुँच कर उपासक प्रदक्षिणा-पथ मे चारो तरफ परिक्रमा करता है और सिर से ऊपरी दिशा मे स्तूप की गोलाकार बनावट को पर्वताकार अनुभव करता है। ऊपरी अंश घंट के आकार सदृश है, सबसे ऊपरी भाग को वर्मा मे हनी कहते है, जो भारतीय कलशों का विकृत रूप है। रंगून नगर में स्थित श्वेडगान पगोडा के विशाल आकार को देखने से वर्मा मे लोगों ने मूल स्तूप-आकार में पर्याप्त परिवर्तन किया।

सीढ़ीदार चबूतरे पर स्तूप निर्मित है, जिसकी परिधि १३५५ फुट है। इसके ऊपरी भाग मे शुंडाकार गुंबज क्रमशः पतला होता जाता है। सबसे ऊपर एक कलशनुमा आकृति है। कहा जाता है कि इसके भस्मपात्र मे गौतम के आठ बाल सुरक्षित है। इस प्रकार भारतीय स्मारक स्तूप के सदृश विचारों सहित वर्मा के स्तूप बने। वर्मा के मांडले नामक नगर में इस प्रकार की समाधि के चारो तरफ मठ बने हैं। कई स्थानों पर मुख्य पगोडा के पार्श्व में पगोडानुमा छोटे आकार बनाए गए है, जो पूजाकार्य में संमिलित किए जाते थे।

दक्षिण पूर्व एशिया में स्तूप-परंपरा

भारत की भौगोलिक सीमा के बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया तथा द्वीपसमूह मे ब्राह्मणधर्म एव बौद्धमत का प्रचार समय-समय पर होता रहा। धार्मिक परंपरा तथा सास्कृतिक विषयो का प्रसार व्यापारियो ने बृहत्तर भारत मे किया। भारतीय धर्म के साथ कला का भी प्रसार एवं प्रचार स्वाभाविक था। इस तरह थाइलैंड, कबुजदेश, सुमात्रा, जावा, वालिद्वीप, मलेशिया तथा हिंदेशिया की कला मे भारतीय रीति का अनुकरण किया गया। इन स्थानों पर समुद्र तथा स्थल के रास्ते (वर्मा होकर) सास्कृतिक बातों का प्रसार हुआ था। उन देशो के अभिलेखो के अध्ययन से सभी बातें स्पष्ट हो जाती है। भारतीय संस्कृति को ले जाकर भारत के लोग उन स्थानो मे बस गए। संभवतः उन स्थानो पर किसी देशज कला का प्रचार रहा हो, किंतु भारतीय स्थापत्य तथा शिल्प की प्रमुखता एव महत्त्व के कारण दक्षिण-पूर्व एशिया मे भारतीय कला का बोलबाला हो गया। जिस रीति से भी भारतीयता का प्रसार उन भू-भागो मे हुआ, किंतु स्थानीय बातो पर भारतीय कला का प्रभुत्व हो गया। कबुजदेश के खमेर तथा जावा के निवासियो पर विशेष प्रभाव पड़ा, जिस कारण स्थापत्य कार्य की गरिमा भारतीय नमूनों से भी बढ़ कर समझी गई है। कंबुजदेश मे बारहवी सदी तक गौरवमय स्थापत्य शिल्प की अभिवृद्धि हुई। किंतु, तेरहवी सदी के पश्चात् थाई लोगों ने उसे ध्वस कर दिया। खमेर राजधानी अंकोर मे मंदिर की योजना अद्वितीय थी। अंकोरवट मंदिर के अध्ययन से उसके सौदर्य का पता चलता है। 'अकोर' शब्द नगर के लिए प्रयुक्त किया गया है तथा वट (थाई शब्द) बौद्ध-इमारत के लिए उल्लिखित है। खमेर के कलाकारों ने मंदिर

की दीवार पर गहरा खोद कर पौराणिक कथानक तथा भारतीय संस्कृति की बातों का प्रदर्शन किया है। प्रथम खंड की दीवार पर देवासुर-संग्राम का दृश्य खुदा है। उसके पूर्व में दानवों का युद्ध, दक्षिण और अमृतमंथन तथा राजा की शोभा यात्रा उत्कीर्ण है। द्वितीय खंड के प्रांगण में महाभारत एवं रामायण की कथाएं प्रदर्शित हैं। कुरुक्षेत्र, रामायण का मारीच-बध, बालि-सुग्रीव संघर्ष, अशोकवाटिका मे हनुमान, लका-युद्ध तथा पुष्पक विमान में भगवान राम की यात्रा आदि प्रदर्शित है। दीवारों पर स्वर्ग-नरक के दृश्य खुदे है। उनका कार्य भारतीय शिल्पियो से घट कर नही है। धर्म की भावना से ओत-प्रोत होकर देवप्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए मंदिरों का निर्माण किया गया है। राजधानी से ५६ किलोमीटर दूर खदान से प्रस्तर लाकर संगतराश का कार्य अधिक दायित्वपूर्ण हो जाता है। यहाँ के इमारतों तथा प्रस्तर कार्यों में 'सूखा' रीति को अपनाया गया। यानी निर्माण-कार्य मे गारा, सूर्खी या सीमेंट का प्रयोग नही किया गया है। प्रस्तर पर प्रस्तर रख कर इमारते खडी की गई है। खमेर इमारतो मे सौंदर्य की भावना की प्रधानता है। १२वीं सदी को खमेर इमारतो के लिए स्वर्णयुग माना जा सकता है। उसी समय अंकोरवट के मंदिर का निर्माण हुआ। कबुजदेश के आदिम निवासी प्रस्तर का प्रयोग नही करते रहे, परंतु कला के विकास मे इसे अपनाया गया। छठी सदी से वहाँ भारतीयकरण का कार्य आरंभ हुआ और खमेर कला मे भारत का प्रभाव बढा। अमरावती कला का प्रभाव पड़ा और सातवीं सदी तक ईंट के सहारे जो इमारतें बनी थी, उनको गहरे खोद कर (निम्न उद्‌भूत) आकृतियाँ बनायी गई थीं। ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध मे सूर्यवर्मन प्रथम नामक शासक के राज्यकाल मे इमारतों का शिलान्यास किया गया।

अंकोरवट चारों तरफ खाई से घिरा है। पश्चिम ओर उस पर सेतु बना है। यह पूर्व-पश्चिम लंबा तथा दक्षिण-उत्तर चौडा है। पश्चिम दिशा से मंदिर मे प्रवेश करते है। इसमें गोपुर बना है, जो काची के मंदिरो के गोपुरम् की याद दिलाता है। अकोर का मंदिर दक्षिण भारतीय मंदिरो से अधिक मिलता है। यह वट तीन खडो मे विभक्त है। भूमि से ग्यारह फुट ऊँचा पहला खंड है तथा दूसरा उससे बाईस फुट ऊँचा। तीसरा खड चौवालीस फुट ऊँचा है। सीढ़ी के सहारे कोई व्यक्ति इन खंडो तक पहुँच पाता है। एक दूसरे पर स्थित खंड आयताकार हैं। सभी खडो में प्रवेशद्वार गोपुरम् के

समान है। तृतीय खंड धरातल से ११५ फुट ऊँचा तथा केंद्रीय अधिष्ठान २१० फुट ऊँचा है। केंद्रीय गर्भगृह मे देवराज की प्रतिमा स्थापित है। अंकोरवट की बनावट में पर्वताकार सुमेरु की कल्पना की गई है। इसका तात्पर्य यह है देवराज (भगवान) प्रलय के पश्चात् क्षीर समुद्र मे सो रहे है। इस योजना से देवराज की ज्योति चारो तरफ प्रकाश फैला रही है।

अंकोरवट के मदिरों मे बने लाट (मीनार) की तुलना भारतीय शिखर से कर सकते हैं। आर्य शिखर के वहिर्रेखा तथा माथा मे खमेर मदिर की मीनार मे समता है, किंतु खमेर मंदिर की सतह के हस्तकौशल का अध्ययन उनकी मूल विशेषता का परिज्ञान करा देता है। उनको सुस्पष्ट विशिष्टता यह है कि वह भारतीय परंपरा से अधिक प्रभावित न होकर भारत के बाहर प्रचलित पगोडा शैली का अनुकरण है। स्थापत्य-शिल्प की दूसरी विशेषता यह है कि मदिर की दीवार पर स्थान-स्थान पर ढलाई मे पुष्पासन बने है, जिसके कारण वहीं इमारत का दूसरी मंजिल का आधार (दासा) स्वतः बन जाता है।

जावा का स्तूप—बोरोबुदूर

दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपसमूहों मे जावा का प्रधानतया उल्लेख भारतीय साहित्य तथा अभिलेखो मे किया गया है। जावा के शैलेंद्र राजाओं से भारत का संबंध सर्वप्रसिद्ध है। भारतीय अभिलेखो के आधार पर अनेक बातो का उल्लेख किया जाता है। नालदा के ताम्रपत्र लेख मे शैलेंद्र वंश के तिलक बालपुत्रदेव का नाम आया है, जिसने नालदा में बौद्ध विहार का निर्माण किया था। बगाल के पालनरेश देवपाल ने उस विहार को पाँच गाँव दान मे दिए थे। इस घटना से प्रकट होता है कि जावा के राजा अपने राज्य के बाहर बौद्ध धर्म के प्रसार मे रुचि रखते थे। जावा का स्तूप बोरोबुदूर उन्ही की देन है। धर्म तथा कला का पारस्परिक घनिष्ठ सबध है। अतएव, जावा के शैलेंद्र नरेश ने उस महान स्तूप का निर्माण किया था। उसकी स्थापना मध्य युग मे हुई थी। जावा के इतिहास से पता चलता है कि सातवी सदी के मध्य तक वास्तुकला का विकास नही हो पाया था। इसके पश्चात् स्तूप की स्थापना उस द्वीप की गौरवगाथा सुनाती है। ई० स० ६२५-९३० तक का काल भारत-जावा के स्थापत्य शिल्प का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। शैलेंद्र वंश

के राजाओं ने बौद्धकला से विशेष प्रेम प्रदर्शित किया। मंदिरों के अतिरिक्त स्तूपों का निर्माण किया। विश्व मे बोरोबुदूर के सदृश स्थापत्य की उच्चतम कुशलता को व्यक्त करने वाला अन्य दृष्टांत नही है। भारत मे मध्य युग में ऐसे स्तूप का निर्माण हुआ था, जिसमें शरिर (धातु) नहीं रखा जाता था। उन स्मारक स्तूपों के लिए कोई निश्चित स्थान न रहा। जावा की कला को "भारतीय-जावा' शैली कह सकते हैं। गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो उनमे किसी-न-किसी रूप मे भारतीयता की छाप दृष्टिगोचर होती है। बोरोबुदूर भी उससे प्रभावित हुआ। बंगाल के पहाड़पुर (उत्तरी बंगाल) के मूलरूप को मध्य जावा में संशोधित तथा विकसित कर अंगीकार किया गया। यह स्तूप मध्य जावा के केडु की समतल भूमि के पार्श्व में छोटे पर्वत पर स्थित है। स्तूप आठ विभिन्न स्तर के चबूतरों के ऊपरी भाग में निर्मित है। नीचे के पाँच चबूतरे चौरस तथा आयताकार हैं, जो क्रमश ऊपर की ओर छोटे होते गए हैं। अंतिम तीन गोलाकार हैं। सबसे ऊपरी स्तर पर समतल भाग के मध्य में बोरोबुदूर का स्तूप स्थित है। वह वर्मा के पगोडा के समान है। यह कहा जा चुका है कि हीनयान के वास्तु मे चैत्य की प्रधानता थी तथा शरिर (भगवान् बुद्ध के शरिर की राख) को स्थापित किया गया था। महायान चैत्य मे बुद्ध-प्रतिमाओं को खोदा गया। सभवतः मध्य जावा मे हीनयान मत का अवसान हो गया था। अतएव, बोरोबुदूर के स्तूप मे अनगिनत बुद्ध-प्रतिमाएँ खोदी गई है। इस आठ मंजिल वाले स्तूप की ऊँचाई एक सौ सोलह फुट है। दूर से यह प्रस्तर का एक टीला मालूम पड़ता है, जो कच्छप के आकार का प्रकट होता है। यह अत्यंत विस्तृत तथा ठोस इमारत है। नीचे के चबूतरे की लंबाई ४०० फुट है। एक खंड से दूसरे खंड पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। उसका प्रवेशद्वार मेहराबदार तथा अलंकृत है। प्रत्येक चबूतरे के चारों तरफ पर्वत काट कर जो बरामदा बना है, उनके पतले स्तंभ हैं। बरामदे की दीवार पर बौद्धधर्म-संबंधी मूर्तियाँ खुदी हैं। इस प्रकार क्रम से ग्यारह उत्कीर्ण चित्रसमूह हैं। प्रवेशमार्ग से ऊपरी बरामदे में जाते समय खुदी मूर्तियाँ दीख पड़ती है। तीसरे चबूतरे से स्तूप की नई योजना आरंभ होती है। ऊपरी गोलाकार चबूतरों पर छोटे आकार के स्तूप बने हैं। अंतिम स्थान पर प्रमुख स्तूप है, जो इस योजना के मुकुट के सदृश दीख पड़ता है। स्तूप की कल्पना का मूल्यांकन करने से ज्ञात होता है कि विश्व के

सृजनात्मक तथा स्थापत्य-शिल्प के उदाहरणों में बोरोबुदूर सर्वोत्कृष्ट एवं उच्चतम शिखर पर रखा जा सकता है। विद्वानों का मत है कि बोरोबुदूर की योजना मे 'पिरामिड के ऊपर स्तूप' निर्माण का विचार काम कर रहा था। ऐसे भवनो का निर्माण अत्यंत कठिन है जो आकार मे विशाल हो, दूर से देखने मे सुंदर तथा प्रभावशाली हो तथा जिसमे चूडान्त शिल्प शैली का प्रयोग किया गया हो। जावा के कलाकारो ने स्तूप को ऐसी मूर्तियों तथा जातक प्रदर्शनों से अलंकृत करना चाहा, जो कला की दृष्टि से सुंदरतम हो तथा अन्य स्तूप उसकी बराबरी न कर सकें। यही कारण है कि बरामदे की दीवारों पर ४३३ बौद्धमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं तथा कथाओं से संबंधित प्रस्तर दीवारों पर पंद्रह सौ दृश्य खोदे गए। अत, ऐसा मालूम पड़ता है कि बोरोबुदूर स्तूप की कल्पना अलौकिक है।

जावा मे हिंदू देवता शिव, विष्णु तथा ब्रह्मा के मंदिर बनाए गए थे। उनकी शैली भारतीय थी। गर्भगृह के अतिरिक्त छोटे देवालय पार्श्व में निर्मित किए गए थे जो बौद्ध मत के छोटे स्मारक स्तूप (Votive Stupa) की योजना के अनुकरण पर बने थे। जावा का कलसन मंदिर चबूतरे पर बना है जो एक मंजिल का है तथा मध्य मे मीनार निर्मित है। कलसन मंदिर के अवशेष यह बतलाते हैं कि यह उच्च कोटि की इमारत थी, जो अनुभव एवं परंपरागत रीति के आधार पर निर्मित हुई थी। ये कंबुज तथा मध्य वर्मा की इमारतो के समकालीन प्रकट होते है।

लंका की इमारतें

सिंहल द्वीप मे बौद्धमत के प्रचार की चर्चा बौद्धग्रंथों मे मिलती है। सम्राट् अशोक ने अपने पुत्र एवं पुत्री को धर्मप्रचार के लिए लंका भेजा था। चौथी सदी मे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने सिंहल पर आक्रमण किया था, जिसका वर्णन प्रयाग-प्रशस्ति मे मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लंका से भारत का संबंध ईसवी-पूर्व सदियों मे हुआ था। उस संपर्क के कारण धर्म के साथ कला का भी विस्तार हुआ। अमरावती शैली का अनुकरण वहाँ तक्षण कला मे मिलता है। भगवान बुद्ध की विशालकाय प्रतिमाएँ अनुराधपुर से प्रकाश मे आई है। दक्षिण के पल्लवनरेशो के स्थापत्य का प्रभाव लंका पर स्पष्ट है।

लंका की प्रमुख इमारतों का अवशेष ही आजकल सामने आया है। अनुराधपुर वहाँ का प्राचीनतम नगर था, जहाँ स्तूप का पता चलता है। भारतीय स्तूप मे धातु (राख) की स्थापना होती रही, अतएव 'धातुगर्भ' शब्द का प्रयोग होने लगा। सिंहली मे उसी धातुगर्भ से 'डागवा' शब्द की उत्पत्ति हुई। अनुराधपुर के स्तूप समकेंद्रिक चबूतरे पर स्थित हैं, जिनका आकार अर्द्ध-गोल है। वहाँ क्रमशः तीन चबूतरे हैं, जिनके ऊपरी टीले पर स्तूप बना है। वहाँ सीढ़ियों के सहारे कोई पहुँच जाता है। अर्द्धगोलाकार अंड के शीर्ष पर वाक्सनुमा कलसी बनी है, जिसे पूजा-सामग्री अर्पित की जाती है। वहाँ बुद्ध के 'दांत' (अवशेष) का पता चलता है। सबसे ऊपर छत्रावलि बनायी गई है। यह स्तूप ठोस बड़ी ईंट का बना है। अनुराधपुर का डागवा (स्तूप) २७० फुट ऊँचा तथा परिधि एक हजार फुट मे विस्तृत है। लंका मे स्तूप के चारों तरफ भिक्षुओं के निवासस्थान बने है। यह भारत मे चैत्य तथा संघाराम की समता करना है। विहार मे ही बुद्ध की प्रतिमा पूजा निमित्त स्थापित की गई। उसी प्रकार अनुराधपुर मे स्तूप तथा संघाराम समीप मे निर्मित हैं। उस स्तूप को 'थूपाराम डागवा' कहा जाता है। यानी थुप (स्तूप) तथा आराम (सघ = निवासस्थान) दोनों मिश्रित है। इसके अतिरिक्त रूवनवेली, अभयगिरीय तथा जेतवनराम के नाम उल्लेखनीय है। जेतवनराम भरहुत मे उत्कीर्ण जेतवन विहार की याद दिलाता है। रूवनवेली का स्तूप आयताकार दो चबूतरे पर बना है, जिसका व्यास २५० फुट है। उसी प्रकार अभयगिरीय २७० फुट ऊँचा रहा होगा। भारतीय स्तूप १५० फुट ऊँचे होते थे। केवल अमरावती १६२ फुट ऊँचा बना था। सिंहल के शिल्पी का विचार था कि स्तूप को बिल्कुल ठोस बनाया जाय अतएव उनकी ऊँचाई बढ़ती गई। बाहरी टीले का सबंध पूर्वी दिशा मे स्तंभसहित कक्ष से था, जो मुख्य प्रवेशमार्ग था। उससे होकर उपासक ऊपरी चबूतरे पर पहुँच जाते। चबूतरे के मध्य मे आधारभूत छोटे चबूतरे पर डागवा स्थित था, जिसकी पूजा की जाती थी। इन तीन आधारभूत चबूतरो के क्रम को भंग करने वाली चार दिशाओं मे गोलाकार इमारते है, जो सिंहल डागवा की विशेषता प्रकट करती है। इनकी योजना दक्षिण भारत के अमरावती स्तूप के आयंक स्तंभ (पूजा योग्य स्तंभ) के सदृश है। संभवतः उन छोटे पूजानालयों को धातुगर्भनुमा (के बृत) माना जा सकता है। इनके शीर्ष पर कलसियाँ बनी हैं, जिन्हे रहस्यमय भावना सहित (Mythi-

cal property) आकार समझा जाता है। इन्हें इस निष्कलंक इमारत के हृदय तथा स्नायुकेंद्र कह सकते हैं। सिंहल स्तूप के ऊपरी भाग के छत्र की तुलना संमानसूचक बौद्धछत्र से करते हैं, किंतु उसमें बौद्ध मत का कुछ भी चिह्न (बुद्ध का प्रतीक) नहीं देखते भारतीय स्तूपों की तरह छत्रयष्टि (छत्रावलि का डंडा) को यहाँ स्थान नहीं दिया गया है। यष्टि का स्थान हरमिका के मध्य में रहता है, किंतु यहाँ आधान को डागबा का धातुस्थान मानते हैं। अतएव, पवित्र स्थान में छत्रयष्टि के कोटर का कोई स्थल दीख नही पड़ता। इस कारण अंड के ईंट प्रकार में छोटा प्रकोष्ट बना कर कठोर प्रस्तर में नौ छिद्र किए गए, जहाँ धातु का स्थान निश्चित किया गया और पूजा-सामग्री वहीं एकत्रित की जाती थी।

अनुराधपुर के लोहप्रासाद के विषय में दो शब्द कहना उचित होगा। इस विहार के भग्नावशेष से इमारत की विशालता का परिचय मिलता है। यह नौ मंजिल का विशाल विहार था, जिसका गुंबजी छत्र कांस्य का बना था। इसे ईसा-पूर्व पहली सदी मे सिंहल के राजा दूतगामिनी ने बनवाया था। इस इमारत के आधार, सीढ़ियाँ तथा ठोस स्तंभों से इसकी विशालता का अनुमान लगाया जाता है।

मध्य एशिया की बौद्ध गुहाएँ

तिब्बत पठार की उत्तर दिशा मे तरीम नदी की घाटी मध्य एशिया के नाम से प्रसिद्ध थी। पहली सदी मे वहाँ कुषाण राज्य विस्तृत था। अतः, महायान के प्रचारक लेह नगर (लद्दाख की राजधानी) तथा कराकोरम के दर्रा होकर वहाँ गए थे। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ भारतीय कला का विस्तार हुआ और भारत के अनुकरण पर स्तूप तथा गुफएँ बनायी गई। आरेलस्टिन ने तरीम घाटी के रेगिस्तान में स्तूपों के भग्नावशेष का पता लगाया है। मध्य एशिया के पूर्वी भाग में लावनार के समीप पर्वत को खोद कर गुफाएँ बनी हैं, जो 'सहस्र बुद्ध गुफा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। तुयेन हांग के समीप में सभी गुफाएँ स्थित हैं, जहाँ अजंता की रीति से भित्तिचित्र खींचे गए हैं। उन चित्रों का मूल उद्देश्य बौद्धमत का प्रचार करना था।

चीनी यात्री यूवान च्वांग ने खोतान के गोमती विहार तथा कूचा के 'आश्चर्य विहार' को उल्लेख किया है। उस बौद्ध यात्री ने बुद्ध के देवयात्रा का भी वर्णन किया है, जो विहारों में मनायी जाती थी। अन्य स्थानों (यारकंद, काशगर, तुरफान आदि) में भी बौद्ध विहार बने थे, जहाँ हजारों भिक्षु रहा करते थे। वहीं से बौद्धमत का विस्तार चीन में हुआ। अतएव, बृहत्तर भारत के इतिहास में मध्य एशिया को भी प्रमुख स्थान दिया गया है।

●

फाहियान तथा ह्वेनसांग वर्णित बौद्ध इमारतें

प्राचीन भारत मे उत्तर-पश्चिम दिशा से ही देश पर आक्रमण होते रहे। ईरानी तथा यूनानी आक्रमण ईसा-पूर्व सदियों में हुआ था। परंतु, ईसवी सन् के प्रारंभ से चीन की पश्चिमी दीवार के समीप निवास करने वाले खानाबदोश शक (भ्रमणशील जाति के रूप में) ने तरीम नदी की घाटी पार कर वलख होते उत्तर-पश्चिम भारत पर अधिकार कर लिया। तिब्बती पठार के उत्तर में तरीम नदी पश्चिम से पूरब की ओर बहती है। उसकी घाटी का अधिकांश भाग बंजर है। तकला मकान का रेगिस्तान भी उसी भूभाग मे पडता है। तरीम की सहायक नदियाँ तिब्बत के पठार मे निकल कर स्थान-स्थान पर तरीम में मिल जाती है, जहाँ नगर बसे हैं। उस मरुद्यान मे कुछ पैदावार हो जाती है और बस्तियाँ भी प्रकाश में आई है। नदियों के नाम पर नगरों का नामकरण हुआ। अतः खोतान, निया, चरचन मीरान और काशगर आदि नगर ऐसे ही बने थे। भारत के लोग उन मरुद्यानों मे जाकर बस गए। वहाँ का इतिहास यह बतलाता है कि कुषाणसम्राट कनिष्क का राज्य मध्य एशिया तक विस्तृत था। तरीम नदी के उत्तर तथा दक्षिण दो प्रसिद्ध मार्ग थे। उत्तर में काशगर कूचा तथा तूरफान के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। दक्षिण का मार्ग मीरान चरचन, निया होकर पूरब दिशा मे जाता था। दोनों मार्ग लावनार के समीप तुयेन ह्वांग नगर के पास मिल जाते थे। वही से भारतवासी चीन जाया करते थे। मध्य एशिया मे प्रवेश करने पर चीन वालों को भारतीय धर्म तथा कला का ज्ञान हुआ। कहा जाता है कि चीन के सैनिकों ने मध्य एशिया पर आक्रमण किया और भारतवासियों को बंदी बनाकर चीन ले गए, जहाँ उन्हें मुक्त कर दिया गया। बौद्धधर्म के प्रचार से चीन के धर्मयात्री भारत आना चाहते थे। भारतवासियों के लिए तो तरीम उपत्यका के दोनों मार्ग प्रशस्त थे, किंतु चीन वालों को दक्षिण का मार्ग सुगम था, जो मरुद्यान होकर पश्चिमी एशिया

तक जाया करता था। रेशम के व्यापार के कारण वह 'रेशम-मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध था। बौद्धधर्म के प्रचार से चीन के बौद्ध धर्मानुयायियों मे पितृदेश (भारत) दर्शन की पिपासा उग्र हो गई। उसकी तृप्ति के लिए चीनी यात्री मध्य एशिया (रेशम-मार्ग) होकर भारत के लिए चल पड़े। उन यात्रियो मे फाहियान (चौथी सदी) ह्वेनसाग (सातवी सदी) तथा इत्सिग का नाम उल्लेखनीय है। ज्ञान की पिपासा से उन्हें कठिन मार्गों की परवाह न हुई और वे भारत मे आ गए। फाहियान तथा ह्वेनसांग ने रेशम-मार्ग से भारत मे प्रवेश किया। फाहियान भारत-भ्रमण कर जलमार्ग से सिहल होकर चीन लौटा, परन्तु ह्वेनसाग ने दोनो यात्रा (भारत आना एवं चीन लौटना) मे स्थलमार्ग की ही शरण ली। उसने मध्य एशिया मे अफगानिस्तान होकर भारत मे प्रवेश किया तथा वर्षों तक यात्रा कर तरीम के कांटे के उत्तरी मार्ग से वह स्वदेश लौटा। उसने पितृदेश भारत मे पैदल यात्रा की तथा लौटते समय प्रतिमा एव धर्मग्रंथ लेता गया।

बौद्ध चीनी यात्रियों मे फाहियान सबसे पहले भारत आया। उसने मध्य एशिया के रेगिस्तान, हिंदूकुश पर्वत होकर उसने भारत मे प्रवेश किया था। उत्तरी भारत मे बौद्ध तीर्थों का भ्रमण कर वह ताम्रलिप्ति पहुँचा। फाहियान ने काशगर मे चार हजार भिक्षुओ को देखा, जो विहार मे निवास करते थे। उसने खोतान के प्रसिद्ध गोमती विहार मे हजारो भिक्षुओ को देखा, जो महायान ग्रंथ का अध्ययन करते थे। कहा जाता है कि फाहियान ने देवयात्रा (रथयात्रा) को भी देखा, जो चौदह विहारो से संबद्ध था। वहाँ से चलकर गाधार की राजधानी तक्षशिला आया। वहाँ कनिष्क ने अत्यत विशाल विहार तथा पगोडा (स्तूप) बनवाया था, जिसका दूसरा सानी न था। वह यात्री पेशावर से नगरहार (हाड़ा) आया, जहाँ एक स्तूप मे बुद्ध की अस्थि का टुकड़ा रखा था। वहाँ का शासक नित्य ही उस स्मृति-अवशेष की पूजा किया करता था। पजाब पार कर फाहियान मथुरा पहुँचा, जहाँ विशाल संघाराम बने थे और हजारो भिक्षु निवास करते थे। उसने सर्वत्र अहिंसा का प्रचार देखा और सकिसा, कान्यकुब्ज, साकेत, श्रावस्ती, नालंदा, गया आदि बौद्ध-तीर्थों का भ्रमण किया। फाहियानने वाराणसी होकर कौशांबी के 'घोषिताराम' मे भी भिक्षुओ को देखा। वह पाटलिपुत्र होकर चम्पा तथा तामलुक गया।

फाहियान की यात्रा सुखपूर्वक व्यतीत हुई। वह सिंहल होकर जलमार्ग से स्वदेश (चीन) लौटा था।

भारत मे चौथी सदी के विहारों की वास्तविक परिस्थिति का वर्णन फाहियान के उल्लेखो से मिलता है। उसके कथनानुसार पर्वत काटकर संघाराम बने थे। उन स्थानो पर सैकड़ों गुहागृह थे, जिनमें कोठरियाँ बनी थी। पश्चिमोतर भाग मे ५०० संघाराम का उल्लेख किया है। उस भाग मे सात हजार भिक्षु रहा करते थे। फाहियान को ऐसे भी विहार मिले, जिनमे लाखों भिक्षुगण रहते थे। उसका कथन है कि सभी जनपदों में राजा, सेठ तथा अन्य व्यक्तियों ने भिक्षुओं के निवास हेतु विहार बनवाए। खेत, घर वन आराम संबंधित थे। विहारो मे पेय, भोजन, वस्त्र एव औषधि मिला करती थी। वर्षावास मे भी भिक्षुओ को सब सुविधाएँ उपलब्ध थी। फाहियान ने भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करते समय विहारों का वर्णन किया है।

सातवी सदी मे ह्वेनसाग ने शासक से भारत-भ्रमण की आज्ञा मांगी, तो राजा ने उसे अस्वीकार कर दिया। वह वहाँ से चुपके निकल भागा और रात-दिन यात्रा कर मध्य एशिया पहुँचा। गोबी के रेगिस्तान मे उसे कोई सहायक न मिला। तुरफान के राजा के निमंत्रण पर वह दरबार में पहुँचा। इस बौद्ध यात्री को तुरफान का शासक अपने समीप रखना चाहता था, किंतु ह्वेनसाग राजी न हुआ। एक मास के बाद वह यात्रा पर चल पड़ा। उस समय वह शासक से अनुमोदित चीनी यात्री था। तुरफान से कूचा पहुँचा। उस समय कूचा मध्य एशिया का सबसे प्रमुख नगर था। उस भू-भाग में पांच हजार भिक्षु रहा करते थे। रास्ते मे उसे पश्चिमी तुर्क लोगों के शासक खान से भेंट हुई, जिसने ह्वेनसांग की पर्याप्त सहायता की और पामीर पठार एवं बल्ख की यात्रा समाप्त कर भारत तक पहुँचाया। समरकंद तथा बल्ख का भू-भाग बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुका था। बल्ख मे कई संघाराम बने थे। हिंदुकुश के पार बामियान आया, जो मध्य एशिया तथा भारत के मार्ग पर स्थित था। ह्वेनसांग ने बामियान विहार का वर्णन किया है, जहाँ हजारो भिक्षु निवास करते थे। चीनी यात्री ने काबुल के उत्तर कपिसा (वर्त्तमान बेग्राम) नामक स्थान को देखा, जहाँ महायान धर्म के अनुयायी अधिक सख्या में निवास करते थे। वह अनभिज्ञ यात्री न था। जिस समय कूचा पहुँचा, उसने पांच हजार भिक्षुओं को देखा। समरकद

मे सातवीं सदी का एक सुंदर नगर था, जहां ह्वेनसांग ने रास्ते में निवास किया। इस स्थान तक भारत से कारवान आया करते थे। मध्य एशिया के पश्चिमी भाग से होकर चीनी यात्री बल्ख पहुँचा। वहाँ अशोक के समय से ही बौद्धमत का प्रचार हो गया था, इस कारण शासक ने ह्वेनसांग का स्वागत किया। बल्ख मे अधिक संघाराम बने थे, जिसे पाँचवी सदी में हूण लोगो ने ध्वस्त कर दिया। उस भग्नावशेष से विहार के निर्माण का अनुमान लगाया जाता है। चीनी यात्री ने उसका विवरण दिया है। वह उस स्थान को पार कर हिंदूकुश होते बामियान पहुँचा, जो मध्य एशिया तथा भारत के मध्य प्रमुख स्थान माना जाता है। चीनी यात्री लिखता है कि बामियान में अनेक संघाराम थे, जिनमे हजारों भिक्षु रहा करते थे। वह उस स्थान से कपिसा आया, जो काबुल से दक्षिण स्थित था। वहाँ से वह गांधार आया। उसने इसकी राजधानी तक्षशिला मे निर्मित अनेक विहारो का वर्णन किया है, जहाँ बीस हजार भिक्षुगण रहा करते थे। उनमे अधिकतर महायान के अनुयायी थे। कश्मीर मे स्थित संघारामों का विवरण उसके यात्रा-विवरण मे पाया जाता है। उत्तरी भारत के नगरो की यात्रा करते ह्वेनसांग ने हर्षवर्द्धन की राजधानी कान्यकुब्ज मे भी प्रवेश किया, जिसके दरबार का सजीव वर्णन मिलता है। उसने श्रावस्ती, कपिलवस्तु लुंबिनी, रामग्राम तथा कुशीनगर की यात्रा समाप्त की। इस चीनी यात्री ने कुशीनगर का निम्न रूप मे वर्णन किया है। उसका कथन है कि नगर के अवशेष दीख पड़ते है। ईंट का प्रयोग इमारतो के लिए किया गया है। कुशीनारा की उत्तर-पूर्व दिशा मे स्तूप बनाया गया था। उसी के समीप मे ईंट का बना बडा विहार था, जिसमे तथागत की प्रतिमा स्थापित थी। यह बीस फुट ऊँचा रहा होगा। उसने लिखा है कि विहार के पार्श्व मे दूसरे स्तूप के अवशेष दीख पडे, जहाँ बोधिसत्व ने राजा को उपदेश दिया था। इस तरह ह्वेनसांग ने कुशीनारा के अनेक स्तूपों एवं विहारों का विवरण उपस्थित किया है।

चीनी यात्री ने सारनाथ की यात्रा की, जहाँ भगवान बुद्ध ने प्रथम धर्मचक्र परिवर्तन किया था। इस स्थान को छोड़ कर वैशाली तथा पाटलिपुत्र होते ह्वेनसांग नालंदा पहुँचा, जहाँ महाविहार मे अध्ययन-अध्यापन का कार्य हो रहा था। उस यात्री ने नालंदा के अंतर्राष्ट्रीय महाविहार का सुंदर तथा सटीक वर्णन किया है। उस भू-भाग मे दस विशाल महाविहार थे, जहाँ दस सहस्र विद्यार्थी-

गण विद्याभ्यास करते थे। कई मास तक ह्वेनसांग ने शीलभद्र से दर्शन शास्त्र का अभ्यास किया। महायान दर्शन का अध्ययन कर उसने चंपा तथा पूर्व में ताम्रलिप्ति में एक वर्ष व्यतीत किया। वहाँ से जलमार्ग का अनुगमन न कर वह स्थलमार्ग से उड़ीसा होते कांचीपुरम् पहुँचा। वह सिंहल न जा सका, इस कारण उसने पश्चिम भारत होकर भरौच तथा बलभी की यात्रा की। चीनी यात्री की पिपासा शांत नही हुई, अतएव ज्ञानलाभ के वह लिए पुनः नालंदा आया। असम के राजा भास्कर वर्मन के निमंत्रण पर असम गया। उसने हर्षवर्द्धन द्वारा आयोजित प्रयाग तथा कन्नौज की सभाओं में भाग लिया था। वर्षा के दो मास व्यतीत कर वह पंजाब की ओर चला तथा जालंधर और तक्षशिला में निवास कर स्वदेश लौटा। ह्वेनसाग ने पंजाब में नगरहार नामक विहार का उल्लेख किया है। इस प्रकार भारत-भ्रमण कर मध्य एशिया होते यारकंद, बोरबारा, खोतान एवं कूचा आदि स्थानों को पार कर चीन वापस गया।

ह्वेनसाग का अधिक समय मगध के भू-भाग मे व्यतीत हुआ। अतएव, इसके यात्रा-विवरण मे राजगृह तथा नालंदा का अधिक विवरण पाया जाता है। उसने राजगृह के समीप के स्तूपो का विशेषतया वर्णन किया है। उसने पर्वत पर स्थित ईट के बने बिहार का उल्लेख किया है, जहाँ तथागत रहा करते थे। इस प्रकार के वर्णन से मगध मे स्थित स्तूप एवं बिहार का सजीव विवरण मिलता है।

ह्वेनसांग के यात्रा-विवरण का समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय, तो प्रकट होता है कि उसने छह हजार विहारों का वर्णन किया है। विहारो की रचना वास्तुकला की दृष्टि से उच्च कोटि की थी। भवनो का विन्यास कलात्मक ढग से किया गया था। बिहार प्रदेश मे नालंदा के भू-भाग का अधिक विवरण मिलता है। नालंदा का महाविहार अतिशय विशाल था, जहाँ के सघन कुंजों तथा उपवनो मे ह्वेनसांग का मन रमता था। प्रधान विहार में सात कक्ष थे। तीन सौ बड़े कमरे व्याख्यान देने के लिए निर्मित थे। सबसे बड़ा विहार २०३ फुट लंबा तथा १६८ फुट चौड़ा था। विहार की कोठरियाँ भी ९ × १२ वर्ग-फुट क्षेत्रफल में बनी थी।

नालंदा से पूर्व बलभि का बौद्ध महाविहार पश्चिमी भारत (काठियावाड) भी प्रसिद्ध रहा। बलभि के विहार शासकों द्वारा निर्मित हुए थे। उस प्रदेश में विहारों की संख्या दिन-पर-दिन बढती गई। वहाँ सौ से अधिक विहार थे, जिनमे ६०० से अधिक विद्यार्थी रहते रहे। यही रह कर

गुणमति तथा स्थिरमति ने बौद्ध धर्मग्रंथों की रचना की, जिनका समाज में विशेष आदर था। नालंदा की भाँति बलभि भी महाविहार का काम करता था। बलभि के आचार्यों को अतिशय प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इस विश्वविद्यालय को धनीमानी व्यक्तियों द्वारा आर्थिक सहायता मिलती थी। इसके अभ्युदय मे मैत्रक नरेशो ने योगदान दिया था। ह्वेनसाग ने विक्रमशिला अंतिचक, जिला भागलपुर, (बिहार प्रदेश) का भी विशद् वर्णन किया है। धर्मपाल द्वारा जो विहार बने, सभी सुदृढ दीवार के थे। सभी पाल राजाओं ने समय-समय पर विक्रमशिला विहार को दान दिया था। इस महाविहार मे दूर-दूर से विद्यार्थी गण ज्ञानपिपासा को शात करने आते रहे। सैंकड़ो आचार्य अध्यापन मे लगे थे और सुव्यवस्था के लिए अन्य पदाधिकारियो की नियुक्ति की गई थी।

ओदंतपुरी (विहार, जिला पटना) का विहार भी अभ्युदयशील रहा। इस विहार मे सौ भिक्षु रहा करते थे। पालनरेशो ने इस विहार के सवर्द्धन मे पूरी सहायता की थी। यहाँ पर ग्रथो का आगार था, जिसे बख्तियार खिलजी ने नष्ट कर दिया।

●

परिशिष्ट ८

संघ की आर्थिक दशा

गत अध्याय में विहारो के दान संबंधी अभिलेखों की चर्चा की गई है। बौद्ध समाज मे आश्रम का विधान न था, अतएव दो प्रकार से व्यक्तियों का बँटवारा था।

(१) भिक्षु—जो संसार से विरक्त होकर विहार मे रहने लगा। उसकी आयु की कोई सीमा न थी। छोटी या बड़ी अवस्था का भिक्षु धर्म-कार्य में लग जाना तथा विहार मे निवास कर विद्योपार्जन करता अथवा उपदेश दिया करता था। भिक्षु के विषय में गौतम बुद्ध ने निर्देश दिया था कि यदि भिक्षु चाहे, तो गाँव मे रहे या नगर के पड़ोस (विहार) मे बसे। वह भिक्षा माँग कर भोजन करे तथा गाँव के उपासकों (गृहस्थो) का निमंत्रण स्वीकार किया करे। चुल्लवग्ग (७, ३, १५) में वर्णन आता है कि गृहस्थो द्वारा प्रदत्त चीथरे (चीवर) को वस्त्र के रूप मे प्रयोग करे। वर्षाकाल मे वृक्ष के नीचे जीवन व्यतीत करे, किन्तु उपासको (गृहस्थो) के साथ न रहें। भिक्षु के लिए नियम था कि वह ज्ञानेंद्रियो पर सयम रखे और सभी सासारिक विषयो के प्रति अनासक्त रहे।

(२) उपासक गृहस्थ—बौद्ध समाज का दूसरा उपविभाग उपासकों का था, जिनके यहाँ भिक्षा माँगने भिक्षु आया करते थे। बौद्ध मत मे उपासक भी बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण लेता था। उनके दिए हुए फटे वस्त्र (चीवर) पर भिक्षुगण निर्वाह करते थे। ऐसा कहा गया है कि उनके घरो मे भिक्षुओं का आना शालीनतापूर्वक होनी चाहिए तथा यह शीघ्र ही जान लेना चाहिए कि वह भिक्षा दे सकता है या नही। बुद्ध ने साघिक जीवन का आदर्श भी प्रस्तुत किया था कि उपासकों के यहाँ भिक्षा माँगते समय पात्र मात्र ही दिखलायी पड़ना चाहिए।

चुल्लवग्ग मे जिस रूप में भिक्षु, भिक्षाटन तथा भिक्षा देने वाले गृहस्थों का वर्णन है, उससे प्रकट होता है कि उपासक, (गृहस्थ) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान

था। ससार में आसक्त थे। समाज मे संमान था तथा बौद्ध भिक्षु नियमित रूप से शिष्ट व्यवहार सहित गाँव मे प्रवेश करता था। ब्राह्मण मत के चार आश्रमो (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) मे बौद्ध धर्म मे साधु तथा उपासक (गृहस्थ) दो ही वर्ग समाज मे स्थित था। बुद्ध गृहस्थो को सदाचार के मार्गगामी बनाने का उपदेश देते रहे। वे गृहस्थो की सभाओं मे भाषण देते। महामंगल की कामना सभी उपासकों के जीवन में अभ्युदय प्रदान करने के लिए थी।

विहार के निवासी भिक्षुओ के लिए निम्न चार प्रकार की आवश्यकताएँ थी :—

(१) भोजन का प्रबध,

(२) वस्त्र की प्राप्ति,

(३) औषधि की व्यवस्था और

(४) पठन-पाठन के लिए धर्म-ग्रथ।

भिक्षुगण ब्राह्मण धर्म के संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों के सदृश भिक्षा माँग कर काम चलाते थे। महावग्ग तथा चुल्लवग्ग मे ऐसे विवरण भी पड़े है कि बुद्ध ने भिक्षुओ का भिक्षा मागने का समुचित माग बतलाया। भिक्षा माँग कर उन्हे विहार मे निवास करने का आदेश था। विहारो मे स्नान की सुव्यवस्था थी। अतएव, स्नानागार बने थे। उन्हे तीन प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करना पड़ता, जिन्हे चीवर कहते थे, (अ) सघाटी (ब) अंतरवासक (स) उत्तरासग तथा सघाटी लुगी थी। अतरवासक कमीजनुमा बनियाइन की तरह उपयोग मे लाया जाता था। विहार मे रुग्ण भिक्षु के लिए दवा का भी प्रबध करना आवश्यक था। बौद्ध विहारो मे प्रवेश करने वाले श्रमण की शिक्षा का प्रबध करना नितात आवश्यक समझा गया, ताकि वह विद्वान होकर धर्मोपदेश कर सके। इन सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करते समय विहार के प्रमुख भिक्षु को यह प्रतीत होने लगा कि उपासको से भिक्षुगण का अधिक सपर्क न होना चाहिए। अत:, इस प्रकार की भिक्षावृत्ति को समाप्त करने के लिए विहार मे सभी वस्तुओं का प्रबध होने लगा। उपासक भिक्षा न देकर दान देने लगे। उस अग्रहार भमि की आय या अन्न अथवा नकद द्रव्य को इन कार्यों के निमित्त व्यय किया जाता था। गुहालेखो मे इस प्रकार के दान का विस्तृत विवरण मिलता है। अशोककाल से मध्ययुग (१२०० ई०) तक के

लेखों मे विविध ढंग से दान का वर्णन किया गया है। उनमे कुछ प्रमुख लेख निम्न नाम से उल्लिखित हैं—

(१) बराबर—बरावर पहाड़ी, गया, बिहार
(२) नासिक – महाराष्ट्र
(३) कार्ले—पूना के समीप
(४) जूनार—वही
(५) साँची लेख- विदिसा, मध्यप्रदेश
(६) अजता—आध्र प्रदेश
(७) इलोरा—औरंगाबाद, आध्र प्रदेश
(८) हाथीगुम्फा—उदयगिरि, भुवनेश्वर, उडीसा
(९) कंहेरी – बंबई के समीप
(१०) नालदा ताम्रपत्र—नालंदा, पटना, बिहार
(११) सारनाथ लेख—गहड़वाल लेख (कुमारदेवी द्वारा)
(१२) कमौली ताम्रपत्र—राजघाट, काशी

इन अभिलेखो मे ग्रामदान का अधिक वर्णन है, जिसकी आय विहार के भिक्षुओ की उपयोगी सामग्री मे व्यय की जाती थी। विहार मे भिक्षुओ की संख्या बढती गई और उस परिस्थिति मे दान का कार्य पीछे न पड़ा। राजा तथा धनीमानी गृहस्थ दान करते ही रहे। संघ को आर्थिक कठिनाइयो का सामना न करना पडता। इन दान से भिक्षुओं को ग्राम में जाने की आवश्यकता न रही। भिक्षा माँगने के कार्य को निरूत्साहित किया गया।

गुहादान से भिक्षुओ के निवासस्थान का प्रश्न सरल हो गया। दानलेखों मे किसी-न-किसी कार्य का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसके अनुसार कार्य किया जाता था। इस प्रकार विहार के दान

(अ) अनुत्पादक (वृद्धिहीन) तथा
(ब) उत्पादक

श्रेणियों मे विभक्त किए जा सकते है। भूमिकर की निश्चित राशि होती थी। उसे ग्रहण कर निश्चित कार्य में व्यय करते रहे। दूसरे वर्ग में नकद द्रव्य तथा उन पशुओ के दान को रखा जायगा, जिसकी आय सर्वदा वृद्धि पर थी। नकद पैसे को श्रेणी बैंक में रखकर सूद लेते तथा पशुधन से दधिघृत की प्राप्ति होती थी। कभी-कभी नकद द्रव्य को विहार की मरम्मत के लिए व्यय करते थे। मध्य युग से विहार मे शिक्षा-निमित्त धन की आवश्यकता प्रमुख हो गई। बौद्ध महाविहारो में हजार आचार्य तथा सहस्र भिक्षुगण रहा करते थे।

अतः उनके व्यय के लिए केवल अग्रहार से ही काम न चलता, बल्कि उपासक भी विद्यालयों को पैसे देते रहें। जातकों मे ऐसा वर्णन आता है कि धनी लोगों के लड़के तक्षशिला या काशी मे शिक्षा ग्रहण करते थे। नालंदा में भी स्यात् उपासक शिक्षा ग्रहण कर वापस चले जाते। ह्वेनसाग ने नालदा में दो सौ ग्रामदान का वर्णन किया है।

नालंदा ताम्रपत्र में पालवंशी राजा देवपाल द्वारा प्रदत्त ग्रामों का उल्लेख है, जिन्हे जावानरेश बालपुत्र देव के आग्रह पर उसने दान दिया था। उसी ताम्रपत्र में भिक्षुओं के लिए भोजन, वस्त्र, आसन तथा औषधि का उल्लेख है (ए० इ० भा० २०, पृष्ठ ४४)

चातुर्दिशाय भिक्षुसंघस्य बलि चरु सत्र चीवरि पिंड पात शयनासन ग्लान प्रत्यय भेषज्याद्यर्थं धर्मरत्नस्य लेखनाद्यर्थं विहारस्य खंड स्फुट समाधानार्थं शासनी कृत्य प्रतिपादित।

इसमें विस्तृत वर्णन है कि भोजन (सत्र) वस्त्र (चीवर) शयनासन (रहने का आसन) दवा (भेषज) तथा धर्मग्रंथ-लेखन के लिए दान दिया गया था। उस समय विद्यालाभ के लिए पाडुलिपियो की नकल कर ही पढने का साधन एकत्रित किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त विहार की मरम्मत (खडस्फुट समाधान) के लिए भी ग्राम की आय को व्यय किया जाता था। इस प्रकार लेखों मे वर्णित विषयो का अनुशीलन इसे प्रमाणित करता है कि भिक्षुगण विहार से बाहर न जाकर सारा कार्य उसी स्थान पर करते थे। इस तरह भिक्षाटन का कार्य समाप्त हो गया। चौथी सदी के बौद्ध चीनी यात्री फाहियान ने लिखा है कि मथुरा विहार मे सघ के भोजन, पान तथा वस्त्र का प्रबंध था। आगन्तुक भिक्षुओ के प्रति स्थानीय भिक्षु समान प्रदर्शित करते थे। योग्यतानुसार रहने का स्थान दिया जाता तथा यथानियम व्यवहार किया जाता था। बौद्ध गृहस्थ सघ सेवा के लिए दान देते थे और शारीरिक श्रम से भी सघ को लाभ पहुँचाते थे। रोगी भिक्षुओं के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते थे। बौद्ध ग्रंथो मे भी ऐसे वर्णन आते हैं, जब गृहस्थ भिक्षु की सेवाशुश्रुषा किया करता था। महावग्ग (६, २२, ३) में उल्लेख है कि सुप्रिया नामक गृहपत्नी ने रोगी की सेवा की। उस युग में लोगों मे यह धारणा थी कि सघ के आतिथ्य से लोक-परलोक मे अभ्युदय मिलता है।

•

परिशिष्ट ९

गोष्ठी तथा सत्र

शासक मंदिर-निर्माण कर उसके समुचित प्रबध के लिए एक समिति बनाया करता था, जो मदिर का प्रबंध सुचारू रूप से कर सके। उस शासन-समिति को 'गोष्ठी' कहते थे। मध्ययुगी लेखो मे इस विषय का वर्णन मिलता है। सातवी सदी के पश्चात् मंदिर की प्रबध समिति को सारा भार सौप दिया जाता। उस समिति के सदस्य 'गोष्ठिक' कहे जाते थे। अभिलेखो मे निम्न प्रकार का विवरण उपलब्ध है —

(१) **तत्सर्व गोष्ठिभिः कुंकुंमधूपदीपक पुष्प ध्वजाधबलायन खंड स्फुरित समरचनादिषु धर्मोपयोग्य कर्त्तव्यम्।**

(ए० इ० भा० ११, पृष्ठ ६२)

(२) **गोष्ठी जन या गोष्ठिक—प्रबध समिति का सदस्य।**

(ए० इ० भा० १, पृष्ठ २८२)

कहने का तात्पर्य यह है कि शासक मदिरो मे पूजन सामग्री—गंध-पुष्प-दीप तथा मंदिर की मरम्मत (समरचना) के लिए पर्याप्त दान देना रहा। इसका प्रबंध समिति (गोष्ठी)के सदस्य किया करते थे। मथुरा के लेख मे उन समस्त लोगो (गोष्ठीजन) को संबोधित कर कहा गया है कि मदिर का समुचित प्रबध करना चाहिए। उनका कर्त्तव्य था कि मंदिर की संपत्ति (भूमिदान या द्रव्यदान) की देखभाल करे। भूमिदान की दशा मे भूमिकर की वसूली उन्ही को करनी पडती थी। द्रव्य को श्रेणी बैंक मे रखकर सूद का प्रयोग करते रहें। इतना ही नही, उनको यह भी निश्चित करना पडता कि आय का कौन-सा अंश किस कार्य मे व्यय किया जाए। अभिलेख का वर्णन पठनीय है

(३) **गोष्ठिक समुदाय समन्वितेन शेष जनानां वसतां साधुभिः गोष्ठिकैः सारकार्या।**

(ए० इ० भा० ११, पृष्ठ ५२)

वहमान लेख में पूजाविधि का भी वर्णन है। पूजन-सामग्री एकत्रित कर प्रबंध समिति (गोष्ठी) अन्य कार्यों को भी देखती थी। उसी राजवश के दूसरे लेख मे समान रूप से बातो की चर्चा की गई है।

(४) **यथोद्दिष्ट स्थित्या गोष्ठिकैः सद्भि. स्वत. परतश्च निर्व्वाह कर्त्तव्य**
ऐते च भागा यथोद्दिष्ट स्थित्या गोष्ठिकै. कल्पयितव्या।
(ए० इ० भा० १, पृष्ठ १८८)

उस प्रबंध समिति (गोष्ठी) के सदस्यो की सख्या के विषय मे कोई निश्चित बात नही कही जा सकती। मथुरा के एक लेख (ए० इ० भा० १, पृष्ठ २९२) मे ग्यारह सदस्यो की गोष्ठी का वर्णन मिलता है, किंतु मेवार के लेख मे सात सदस्यो के नाम उल्लिखित हैं। उसमे हूण जाति के एक व्यक्ति का नाम भी वर्णित है—

(५) **हूणाश्च कृषु राजोन्यः सर्वदेवापि गोष्ठिक।**
(ए० इ० भा० ५८, पृष्ठ १६१)

इसलिए यह कहना सर्वथा युक्तिसगत होगा कि गोष्ठी की सदस्यता ब्राह्मण तथा पुरोहित तक ही सीमित न थी, बल्कि अन्य लोग भी प्रबध समिति के सदस्य (गोष्ठिक) हो सकते थे, जो मदिर को दान दिया करते थे। यहाँ तक कि विदेशी हूण जाति के लोग भी सदस्य चुने गए थे। किसी समय योग्य व्यक्ति के ऊपर अकेले सारा बोझ डाल दिया जाता था। राजपूताना के लेख मे (ए० इ० भा० ३, पृष्ठ २६४) प्रमुदितदेव के मठ का सारा कार्य शिवाचार्य नामक व्यक्ति को सौपा गया था, जिसने बड़ी योग्यता के साथ उसका सपादन किया था। इस लेख मे गोष्ठी शब्द का प्रयोग नही मिलता, क्योकि समिति का गठन नही हो पाया था। अकेले शिवाचार्य सक्षम थे। वह मठ का सपूर्ण अधिकार रखते थे। इस तरह का विवरण प्रतिहार राजा महेंद्रपाल के लेख में मिलता है। हरिश्वर मठाधीश दुर्गा मदिर का प्रबधक था। (ए० इ० भा० १४, पृष्ठ १७७)।

दशपुर चातुर्वेद्य हरिश्वेश्वर मठ सवध्यमान श्री वटयक्षिणी देव्यै शासनत्वेन प्रतिपादितः।

इस प्रकार के कई लेखो मे एक योग्य व्यक्ति के हाथों मदिर का प्रबंध सौपने का वर्णन आया है। निम्न पक्ति मे लाट देश (गुजरात) से आए हुए पाशुपत साधु को प्रबधक निश्चित करने का उल्लेख है—

लाटान्वय. पाशुपत तपस्वी श्री रुद्रराशि बिधिवत् व्यधताम्।
स्थानस्य रक्षा विधिमस्य तावत् यावत् मिमिते भुवनानि शंभुः॥
(ए० इ० भा० २, पृष्ठ १३, पद्य ३१)

परमारनरेश भोज की प्रशस्ति मे (तिलकवाड़ा दानपत्र) एक साधु की नियुक्ति का उल्लेख है, जो शिवमंदिर का सारा प्रबंध न्यासी के रूप में देखता था। (ओरियेंटल कांफरेन्स, पूना १९१९, पृष्ठ ३१९) कल्हण ने राजतरंगिणी में मंदिर के प्रबंधक का उल्लेख किया है। वह व्यक्ति नायक चार वेदों का ज्ञाता था और दो शिवमंदिरों का शासक था। (राजतरंग ५/१५९) मध्ययुगी लेख मे शिवमंदिर से संबद्ध अध्ययन-कक्ष के निर्माण का वर्णन है। राजपुताना में इस प्रकार के विवरण मिलते हैं। तात्पर्य यह है कि मंदिर के समस्त प्रबंध का भार गोष्ठी पर रहता था, किंतु आपत्तकाल में एक व्यक्ति ही सारा कार्य करता रहा।

सत्र की स्थापना

उत्तर गुप्तकालीन प्रशस्तियो मे एक विशेष संस्था का उल्लेख मिलता है, जिसे 'सत्र' कहा गया है। इस स्थान पर विद्यार्थी, साधु, निर्धन व्यक्ति को बिना मूल्य भोजन वितरण किया जाता था। दानपत्रो मे इस सत्र का उल्लेख विभिन्न रूप मे पाया जाता है—

(१) धर्मसत्र —गुप्तलेखो मे

(२) सत्र—मध्ययुगी अभिलेखो मे

(३) अन्नसत्र—राजपुताने के दानपत्रों मे।

गुप्तनरेश कुमारगुप्त प्रथम के भिलसद लेख मे निम्न प्रकार का उल्लेख है—

प्रासादाग्रमिरूप गुणवर भवनं धर्मसत्रं यथावत्।

नौवीं से बारहवीं सदी तक के अभिलेखो मे यह शब्द वलि तथा चरु के साथ उल्लिखित मिलता है। दान की सपत्ति पूजा (वलि) अर्चा (चरु) तथा भोजन (सत्र) के वितरण निमित्त व्यय की जाती थी —

वलिचरु नैवेद्य सत्रोपकरण हेतो पृथग्दत्त।

(ए० इ० भा० ११, पृष्ठ १९१)

असमनरेश वल्लभदेव के एक लेख मे स्पष्टतया वर्णन आता है कि महादेव मंदिर मे सत्र की स्थापना हुई थी—

भक्त शाला (= सत्र) क्षुधार्थानां महादेवस्य संनिधौ।

(ए० इ० भा० ५, पृष्ठ १८)

जितना दान किया जाता था, उसका एक भाग सत्र के लिए पृथक् कर दिया जाता, ताकि भोजन-वितरण मे कठिनाई न आ सके। मध्यप्रदेश के कलचुरि लेख मे ऐसा ही उल्लेख है—

एसां मागास्त्रय. सत्रे खंड स्फुटित संस्कृतौ

उस स्थान में स्वादिष्ट भोजन देने का उल्लेख किया गया है—

मिष्ठान्न पान संपन्ना सर्व सत्री ।

अन्य राजवंशों के लेखो मे (प्रतिहार एवं चाहमान लेख) ऐसा ही वर्णन उपलब्ध है—

सततमुचितं वृत्तिः कल्पयित्वान्न सत्रम् ।

(ए० इ० भा० १३, पृष्ठ २९०)

पालनरेश देवपाल के नालंदा ताम्रपत्र लेख मे यह वर्णित है कि वलिचरु के साथ 'सत्र' के लिए भी ग्रामदान दिया गया था। सत्र में स्वादिष्ट भोजन मिलता था—

चातुर्दिश्शाय भिक्षु सघस्य वलिचरु सत्र

चीवर · · · शासनी कृत्य

प्रतिपादित (ए० इ० भा० १७)

घृतदुग्धैः व्यजनं भिक्षुभ्य चतुर्भ्यो नित्यं तोय सत्रे विभक्त विमलं भिक्षुसंघाय दत्तम । वही ।

उसी स्थान मे प्राप्त विपुल श्री मित्र का लेख यह बतलाता है कि सत्र मे ही उसने चार प्रतिमाएँ दान की थी—

येन भ्रमत्यविरतं प्रतिमाश्चम

सत्रेषु पर्व्वणि समर्प्पयतिस्म यश्च

(ए० इ० भा० २१, पृष्ठ ९९)

चहमान राजा के लेख मे सत्र-स्थापना का विवरण है, जिसे शासक ने राजमार्ग—(मभर से सोमनाथ) पर निर्मित किया था। मध्ययुगी लेखो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मदिर या शिक्षा संस्था के साथ सत्र स्थापित करने की परिपाटी थी। डॉ० आचार्य ने इस प्रकार की इमारत का वर्णन किया है (डॉ० आचार्य—डिक्शनरी ऑफ हिंदू आर्किटेक्चर, पृष्ठ ६१५)।

अजनेरी लेख मे व्यापारी वर्ग द्वारा सत्र-स्थापना का विवरण है (का० ए० इ० भा० ४, पृष्ठ १५०), मदिर की प्रबंध समिति को सत्र का कार्य देखना पड़ता था। मध्ययुग मे वाराणसी के प्रत्येक मदिर मे सत्र की स्थापना हुई थी, जिसे आजकल 'छत्र' कहा जाता है।

●

परिशिष्ट १०

मंदिरों की आर्थिक व्यवस्था

मानव ने वास्तु का आरंभ किस काल में किया, यह जान लेना कठिन काम है। वास्तु बनाने के उपादानों की विविधता अवश्य दर्शनीय होती है तथा उसके परिज्ञान से स्थापत्य के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रायः संसार मे लोकोपयोगिता की ओर जनता का विशेष ध्यान रहता है। वस्तुओं की उपयोगिता के कारण ही लोकप्रियता बढती है। मूर्तियों के धार्मिक तथा रसात्मक उपयोगों के निमित्त मंदिर का निर्माण अवश्यभावी हो गया। अतएव, प्रस्तर तथा ईंट का उपयोग कर मंदिरो की रचना होने लगी। विविध द्रव्यो के संमिश्रण से मदिरो की जुडाई दृढ की गई और गहराई तक खोद कर नीव भरते रहे। मदिर का वास्तु सदा साधारण जन के आवास से भिन्न होना था, अपितु उस द्वारा वातावरण प्रभावित हो जाता था।

संक्षेप मे यह कहना उचित होगा कि मदिर के स्थापत्य एवं शिल्प मे जीवन के प्रति अनास्था न होकर गहरी आस्था रहती थी। शिल्पी परपरागत भावों का आश्रय लेकर मदिर की योजना तैयार करता, जिसमे अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करता था, न कि नाम की ख्याति के लिए। यही कारण है कि रचयिता का नाम अज्ञात है। मंदिर-निर्माण केवल आध्यात्मिक साधना तथा धार्मिक भावना का मूर्तरूप ही न था, बल्कि सामाजिक जीवन का केंद्र भी था।

आध्यात्मिक विषयो की चर्चा न कर मंदिरो की आर्थिक व्यवस्था पर विचार करना उचित होगा। मदिर-निर्माण के लिए राजाओ, धनी-मानी व्यक्तियो अथवा सामान्य जन द्वारा दान दिया जाता था अथवा स्थानीय जनता से विशेष प्रकार का कर या ऋण लेकर भी मदिर-निर्माण में सहायता पहुँचायी जाती थी। इस प्रकार मदिर में प्रचुर धन इकट्ठा हो जाता, जिस द्रव्य से सारे कार्य संपन्न किए जाते थे। मंदिरों से संबद्ध अनेक धार्मिक कृत्यो मे जनता का सहयोग रहता तथा मदिर के दान का व्यय भी उन कार्यों मे होना अनिवार्य था। मंदिर के निर्माता शिल्पी को दैनिक कार्यों के निमित्त धन दिया जाता,

ताकि वह अपनी आर्थिक दशा ठीक कर रचना में लग जाता। यद्यपि उस निर्माण मे शिल्पी आय की कामना न करता, तथापि उसके दैनिक जीवन की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति आवश्यक थी। मंदिरों मे पुजारी का कार्य सबसे प्रधान माना गया है। पूजाकार्य तथा रागभोग के लिए धन संग्रह करना प्रशंसनीय कार्य था। मूर्ति के अंगराग तथा वस्त्राभूषण का भी प्रबंध करना पुजारी का कर्त्तव्य था। इस कारण धन की माँग जनता से की जाती, जो धन सामग्री के रूप मे मिला करता था। कभी मंदिर की आय को महाजन को ऋण के रूप मे दे दिया जाता, जिसके सूद से दैनिक कार्य संपन्न होते रहे।

मंदिरो के प्रबंध में कीर्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान न था। उपासकों की धार्मिक भावना को जागृत तथा भगवान के अलौकिक एवं आध्यात्मिक गुणो पर ध्यान आकर्षित करने के निमित्त मंदिरो मे गान (कीर्तन) का आयोजन किया जाता था। साधारण जनता को देवो-देवताओ के दिव्य कार्यों का दिग्दर्शन कराना भी पुजारी का काम था। अतएव, कथावाचक तथा कीर्तन करने वाले मंदिरो के वैतनिक कार्यकर्त्ता बनाए जाते, ताकि उन्हे समय-समय पर कार्यरत किया जा सके। यही कारण था कि उत्तरी भारत के मंदिरो में जनता के एकत्रित होने तथा कीर्तन करने का स्थान सुनिश्चित किया गया। सभामंडप तथा नटमंडप (नृत्य-कक्ष) उन्ही कार्यो के लिए निर्मित किए गए। भुवनेश्वर के मंदिरो के विकास मे नटमंडप को कालांतर मे जोड़ा गया। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर उसका ज्वलंत उदाहरण है। खजुराहो शैली मे भी जगमोहन सभामंडप का काम करता था। उस कार्य की पूर्ति के लिए नर्तकियो तथा देवदासियो की नियुक्ति की जाती थी। संगीतज्ञ भी यदा-कदा निमंत्रण पर कार्य करते रहे। वाराणसी के मंदिरो मे ऐसी परंपरा है कि अमुक तिथि पर गायिकाएँ स्वयं मंदिर के इष्टदेव के समुख गान किया करती है।

मंदिरो मे संबद्ध कार्यों से अनेक व्यक्तियो की जीविका चलती थी। मंदिरो मे पूजार्थ मे पुष्प, दीप, धूप, गंध आदि वस्तुएँ समीप मे ही बिकती है। उपासक पूजा-निमित्त उनका क्रय करते है तथा देवता को अर्पित करते हैं। उत्सवो, पर्वो तथा विशेष तिथियो पर मंदिरो मे जनसमुद्र उमड़ पड़ता है तथा सभी पुष्पमाला, धूप, दीप लेकर प्रतिमा पर चढाते है। इस तरह पुष्प आदि के विक्रेता पर्याप्त संख्या मे धनोपार्जन करते हैं। कभी-कभी तो मंदिरो के समीप मेले भी लगाए जाते हैं। गंडकी तथा गंगा नदियो के संगम पर हरिहर

क्षेत्र का मेला उसका एक उदाहरण है। महाशिवरात्रि अथवा एकादशी की पुण्य तिथियों पर भी मेले लगते हैं। व्यापारीगण उन अवसरों पर सामग्रियों के विक्रय से अनगिनत पैसे प्राप्त कर अपनी आय की वृद्धि करते हैं। यद्यपि इन कार्यों का सीधा संबंध मदिरो से नही है, तथापि उसी से संबद्ध विविध कार्यकलापों द्वारा जनसाधारण का मनोविनोद तथा व्यापारियों का द्रव्य-अर्जन होता है। इस प्रकार मंदिरों से संबद्ध आर्थिक कार्यों के दो पहलू हो सकते हैं—

(१) देवी-देवता-संबधी पूजन-व्यय और

(२) मंदिरों से संबद्ध गौण आर्थिक कार्य।

प्रथम श्रेणी मे पूजन-व्यय के साथ कीर्तन, संगीत, नृत्य आदि की गणना करना स्वाभाविक है। इसमें सहायता करनेवाले वेतनभोगी होने के कारण मदिरो के कर्मचारी समझे जाते हैं। पूजा-सामग्री का क्रय भी उसी में संमिलित किया जाता है। अन्य कार्य द्वितीय श्रेणी मे वर्णित हो चुके हैं। मंदिरों की अर्थसंबंधी चर्चा के प्रसंग मे 'सत्र' की कार्य-पद्धति से मदिरों की आर्थिक स्थिति पर बोझ पडता है। इसकी परपरा कहाँ से आरंभ हुई तथा किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मंदिरों से संबद्ध किया गया, यह एक-रहस्यपूर्ण विषय है। इसका विवरण अगले पृष्ठो मे दिया जायगा। मध्य युग मे मंदिरो को दान मे धन तथा भूमि भी दी गई। इस प्रकार धन एवं वैभव के सग्रह से पुजारी का प्रभुत्व बढता गया और वह कई मदिरो का स्वामी बन बैठा।

●

परिशिष्ट ११

मध्ययुगी लेखों में मंदिर-निर्माण की चर्चा

भारत के मंदिरों का निर्माण गुप्तकाल से प्रारंभ हो गया था, परंतु तत्कालीन लेखों में इसकी चर्चा बहुत कम है। छठी शती के पश्चात् भारत के अभिलेखो मे इस विषय की वार्ता अधिक मिलती है। धार्मिक कार्यो में मंदिर-निर्माण एक पुण्यतम कार्य था, जिसका विवरण वैष्णव तंत्र में उपलब्ध है। मध्ययुग में वैष्णव एवं शैव मत का प्रचार हुआ, परंतु वैष्णव जनता मंदिर-निर्माण मे अग्रसर थी। इसी कारण पांचरात्र संहिता में मंदिर-निर्माण तथा देवपूजन का वर्णन किया गया है। उस ग्रंथ में चार पाद है—

(१) ज्ञान,

(२) योग,

(३) क्रिया (मंदिर-निर्माण) तथा

(४) चर्या (दैनिक धार्मिक कार्य)।

क्रिया तथा चर्या के प्रभाव से मध्ययुगी समाज के धार्मिक कृत्य होते रहे। मंदिर को 'आलय' कहा गया है, जिसे प्रतिमा-पूजन का संबध था। यह (आलय) संसार के स्थापत्य का उदाहरण मात्र न था। इसे मानव के शरीर-सदृश निर्मित करते थे। अतएव, धार्मिक जनता मंदिर निर्माण कर उस संस्था को दान देती थी। इस भावना के प्रसार के कारण मध्ययुग (७००-१२०० ई०) के अभिलेखों मे अत्यधिक चर्चा की गई है, जिससे राजा तथा प्रजा के कार्यों की जानकारी हो जाती है और मंदिर उनकी धार्मिक भावना को व्यक्त करते है। ब्राह्मण, बौद्ध या जैन धर्मावलवियो ने दान देकर धार्मिक कार्य को आगे बढाया। गहडवालनरेशो के अभिलेखो एव दानपत्रो में आदिकेशव के मंदिर-निर्माण का विवरण पाया जाता है। गंगा वरुण के संगम पर काशी मे आदिकेशव का मंदिर निर्मित हुआ था। गुर्जर प्रतिहार नरेश भोजदेव ने भगवान विष्णु का मंदिर अपने अंतःपुर में बनवाया था—

राजातेन स्वदेविना यशः पुण्यामि वृद्धये अन्तःपुर पुरनाम्ना व्यधायि नरकद्वीप.।

(ए० इ० भा० १८, पृष्ठ ११०)

उसी परिवार के राजा बाउक ने भी शिवमंदिर का निर्माण किया था—

पुष्करणी कारितायेन त्रेता तीर्थे च पत्तनं
सिद्धेश्वरो महादेव कारितस्तु न मंदिरः ।

(वही, पृष्ठ ९६, श्लोक २०)

मध्य भारत के शासक चंदेल राजाओं तथा उनके मन्त्रियों द्वारा मंदिर-निर्माण की चर्चा अभिलेखों में मिलती है। उस समय धार्मिक सहिष्णुता के कारण राजा भगवान विष्णु के साथ शिवमंदिर का भी निर्माण करता रहा, जिस कारण समस्त प्रजा प्रसन्न रहती थी—

प्रसादो वैष्णवस्तेननिर्मितोन्तर्ध्वन्हहरिम् ।।
नीलकण्ठाधिवासम्

(ए० इ० भा० पृष्ठ १२८)

चंदेलों के खजुराहो लेख में निर्मित मंदिरों का सुंदर वर्णन दिया गया है। उससे यह जानकारी हो जाती है कि राजा ने दैत्यों के शत्रु विष्णु भगवान के आलय को अत्यंत भव्य रूप से तैयार कराया, जो हिमालय के समान ऊँचा था। उसके स्वर्णकलश से आसमान चमकता था और पार्श्व में अनेक तोरण शोभायमान थे—

तेनात च्यारु चामीकर कलस लसद्नाम धाम व्यधायि
भ्राजिष्णु प्रांश वंश ध्वज पटला वौलितां मोजवदम्
वैत्यारातेस्तुषार क्षितिधर शिखर स्वर्द्धिवर्द्धिष्णु रागा।
दृष्टे यात्रासु यत्र त्रिदिव वसतयो विस्मयन्ते समेता

(ए० इ० भा० १, पृष्ठ १२९)

मध्यप्रदेश के भू-भाग में कलचुरिनरेशों का कार्य किसी से पीछे न रहा। ११ वीं सदी में कई स्थानों पर उन्होंने शिवमंदिर का निर्माण कराया। कैलाश के सदृश शिव का मंदिर सफेद चमकता था।

सुधांशुधवल तत्र धूर्जटे धामनिर्मितम्
निर्मित मंदिरं रम्यं कुमार कोट पत्तने ।

(ए० इ० भा० २६, पृ० २६२ श्लोक ३१ एवं ३६)

भेराघाट प्रशस्ति में विवरण मिलता है कि कलचुरि रानी अल्हण देवी ने पशुपति शिव के मंदिर-निर्माण निमित्त आज्ञा प्रदान की थी—

अकारयन्मंदिरमिन्दु मौलेरिदम्मठेना अद्भुतभूमिकेन
सहामुना श्री नरसिंहदेव प्रसूरसावल्हणदेव्युदारा।

(वही, भा० २, पृ० १२३)

राजपुताना के चाहमान नरेशों ने भी मंदिर-निर्माण करा कर भूमि दान मे दी थी।

गुरोराज्ञामयं प्राप्यः प्रतिष्ठासोः शिवालयम्
यथा प्रारब्ध कार्यणामंगीकृत भरोमवत्।

(ए० इ० भा० २, पृठ १२३, श्लोक ३७)

इतना ही नहीं, राजा जनता से चंदा लेकर भी पुण्यकार्य में लग जाता था। चाहमाननरेश हर्ष के विषय मे कहा गया है कि उसने राजकीय धन के अतिरिक्त सर्वसाधारण से द्रव्य ग्रहण कर मंदिर-निर्माण किया था। उस द्रव्य को लेख मे "धर्म्मवित्तैः" शब्द से व्यक्त किया गया है। हर्ष ने जनता के द्रव्य से मंदिर का निर्माण किया था, जैसा निम्न पंक्ति से प्रकट होता है—

आसीद्यो लब्ध जन्मा भवतरणधिया सुबन्धु
स्तेनेदं धर्म्मवृत्तिः सुघटित बिकटं कारितं हर्ष हर्म्यम्।

(वही, श्लोक ३१)

राजपुताने के नंदलई अभिलेख में मंदिर-निर्माण के व्यय का ब्योरा दिया गया है। उसमे वर्णन आता है कि 'भिवदेश्वर शिव' के मंदिर-निर्माण में ३३० द्रव्य (चाँदी का सिक्का) ईंट-प्रस्तर के लिए व्यय किया गया था। यद्यपि संपूर्ण मंदिर-निर्माण के लिए यह राशि पर्याप्त न थी, किन्तु किसी एक मण्डप के निमित्त व्यय करना उचित प्रतीत होता है।

श्री भिनदेश्वर देवस्य मंडप कारापनीयः अक्षसामलायनीय कर्तव्या पाषाण इटकयां घटित चहूटापने द्र (= द्रम) ३३० लागे।

(ए० इ० भा० ११, पृ० ४८)

मालवा के परमार राजाओं ने भी मंदिर-निर्माण कर भूमि दान में दी थी। मंदिर के लिए कर (हाटक) वसूल किया जाता था, ताकि भगवान की पूजा विधिवत् हो सके। पनहेरा अभिलेखों में परमार-नरेशों द्वारा मंदिर तैयार करने का विवरण है। धनिक नामक राजा ने उज्जैन में महाकाल देव के समीप धनेश्वर शिव का मंदिर बनवाया। दूसरे राजा मंडलिक ने भी मंडलेश्वर भगवान का मंदिर तैयार किया था—

श्री महाकालदेवस्य निकटे हिमपांडुरं
श्री धनेश्वर इत्युच्चैः कीर्त्त न यस्य राजते।

(ए० इ० भा० २१, पृष्ठ ४७)

प्रासादमयं माणेयं शिव एव करोति यः

(वही)

परमार राजा सिद्धराज के विषय में उल्लेख आया है कि उसने श्री मंडलेश्वर शिव का आलय निर्मित कराया था, जो अत्यंत भव्य था—

रुचिरंमिमं उदार कारितं धर्म्मधाम त्रिदश गृहमिहं
श्री मंडलेश्वरस्य येन ।

(ए० इ० भा० ११, श्लोक ६६)

बंगाल के शासक पाल तथा सेननरेशों के विषय में भी ऐसी ही बातें उल्लिखित हैं। पालसम्राट् धर्मपाल ने नर-नारायण के मंदिर को ग्राम दान में दिए थे—

सुभरथल्यां देवकुलान् कारित सत्र प्रतिष्ठापित भगवानन्न नारायण भट्टारकाय ।

(ए० इ० भा० ४, पृष्ठ २५०)

इससे अधिक नारायणपाल ने गर्व के साथ अपने को सहस्र शिवमंदिरों का निर्माता कहा है—

महाराजाधिराज श्री नारायणपालदेवेन स्वयं कारित सहस्त्रायतनस्य ।

(इ० ए० भा० १५, पृष्ठ ३०६)

इस वंश की विशेषता यह थी कि शासक बौद्धधर्म के अनुयायी थे। धर्मपाल के खालीमपुर ताम्रपत्र पर बौद्ध चक्र (धर्मचक्र) का चिह्न है तथा राजा परमसौगत पदवी से विभूषित है। उसी ने वैष्णवमंदिर का निर्माण कर दान दिया था। संभवतः यह धार्मिक सहिष्णुता का प्रभाव था कि बौद्ध शासक ने ब्राह्मण मंदिर को दान दिया। पाल के उत्तराधिकारी सेन राजा स्वयं शैव थे। अतएव, उनके द्वारा शिवमंदिर का निर्माण संगत है। देवपारा प्रशस्ति में विजय सेन द्वारा श्री प्रद्युम्नेश्वर के मंदिर-निर्माण की चर्चा है। उस मंदिर का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है —

आलम्बस्तम्भमेकं त्रिभुवनस्यैक शर्म गिरीणां
स प्रद्युम्नेश्वरस्य व्यधित वसुमति वासव: सौधमुच्चै ।

(ए० इ० भा० १, पृ० ३१०)

सीलीमपुर लेख में भी (राजशाही, बंगाल) अमरनाथ स्वामी के मंदिर-निर्माण का सुंदर वर्णन मिलता है। इस भव्य मंदिर के सिरे पर कलश स्थित था तथा मंदिर के साथ सत्र की भी व्यवस्था की गई थी।

(ए० इ० भा० १३, पृष्ठ २९०)

उड़ीसा के मंदिर के विषय में भी ऐसी ही बातें ज्ञात हैं। उड़ीसा के गंगवंशी नरेशों के शासन काल में इमारतें अधिक संख्या में बनी थी।

लिंगराज मंदिर के जगमोहन की दीवार पर एक लेख खुदा है, जिसमे वर्णन है कि राजा अनंत वर्मन चोड गंग (ई० स० १०७८-११५० ई०) ने मंदिर में दीपदान किया था। इससे प्रकट होता है कि लिंगराज मंदिर का निर्माण हो गया था। मंदिर मे जो स्मारक लेख मिले हैं, उनसे मंदिर-निर्माण की तिथि का ज्ञान हो जाता है। सर्वप्रथम 'स्वपनेश्वर' का मंदिर बना, जिसका निर्माण गंगराज अनंग-भीम तृतीय ने किया था। उसी की पुत्री चंद्रादेवी ने अनंत वासुदेव का मंदिर (१२७८ ई०) तैयार कराया। उड़ीसा में वैष्णवमत के प्रचार के पश्चात् कई मंदिर बनाए गए। लिंगराज में हरिहर की मूर्ति उसका ज्वलंत उदाहरण है।

मध्ययुगी अभिलेखों के अतिरिक्त विदेशी यात्रियों का विवरण इस बात की पुष्टि करता है कि मध्ययुग के शासकों ने मंदिरों का निर्माण किया था। सातवीं सदी का चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत मे अनेक मंदिरों तथा मठो को देखा था (वाटरस भा० २, पृष्ठ १८४६)। इस काल के मुसलमान यात्रियों ने स्पष्ट लिखा है कि वाराणसी तथा मथुरा मे अनेक मंदिर बने थे, जिन्हे इस्लामी सेना ने नष्ट कर दिया (इलियट हिस्ट्री, भा०२)। कल्हण ने भी कश्मीर में ललितादित्य द्वारा निर्मित मंदिरों का उल्लेख किया है (राजतरंगिणी, तरंग ५)। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि उत्तरी भारत के अधिक मंदिर नष्ट कर दिए गए। किंतु, दक्षिण मे इनकी पर्याप्त संख्या है।

मंदिर-निर्माण की चर्चा के अतिरिक्त देवालयों की मरम्मत (संस्कार) का भी विवरण लेखों मे भरा पड़ा है। उनमे 'खंड स्फुट संस्कार' शब्दों का प्रयोग इस बात को प्रमाणित करता है कि शासक मंदिरों का जीर्णोद्धार भी पुण्यकार्य मानता था। अतएव, भूमिदान करते समय इसका (संस्कार) स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता, ताकि भूमिकर से यह कार्य संपन्न हो सके।

खंड स्फुट देवगृह जगता समरचनार्थं (इ० ए० भा० १४, पृष्ठ १६०)।
खंड स्फुटित व च हिवपतित संस्कारार्थम् (ए० इ० भा० १३, पृष्ठ ११५)
ऐषा भागास्त्रमः सत्रे खंड स्फुटित संस्कृतौ (ए० इ० भा० ३, पृष्ठ १६४)।
श्वेत वराह स्वामिनो देवकृते खंड स्फुट प्रति संस्कार करणाय (ए० इ० भा० १५, पृष्ठ १४२०)।

खंड स्फुटित संस्कारार्थ (का० इ० इ०, भा० ४, पृष्ठ १५०)।

ऐसे अनेक उद्धरण उपस्थित किये जा सकने हैं, जिनके अध्ययन से यह प्रकट होता है कि मंदिर-निर्माण के अतिरिक्त देवालयो का सस्कार (मरम्मत) भी धार्मिक कार्य माना जाता रहा। राजा, घनी तथा जनसाधारण इन कार्यों से यश एवं पुण्य लाभ करते रहे।

परिशिष्ट १२

प्रधान भिक्षु तथा मठाधीश की परंपरा

प्राचीन भारत के स्मृति-ग्रंथो मे द्विजमात्र को ब्राह्मण आचार्य के घर यानी गुरुकुल मे शिक्षा प्राप्त करने का विधान है। दान भूमि अग्रहार ग्राम में ब्राह्मण गुरु के निवास का समुचित प्रबंध था। गुरुकुल को राजा तथा अन्य धनी व्यक्ति दान दिया करते थे। इसके साथ साथ शिक्षा की अभिवृद्धि के लिए राजा किसी सस्था की भी स्थापना करता था। इस प्रकार की शिक्षा-सस्थाओ के नाम लेखो मे भरे पड़े है। पूर्वी भारत मे नालंदा, विक्रमशिला, सोमपुर, जगद्दल आदि शिक्षा-केंद्रो के नाम विख्यात थे (हिस्ट्री आफ बगाल, भा० १)। ग्यारहवी सदी के कश्मीर मे मठ शिक्षा-केंद्र के लिए सुप्रसिद्ध थे। एक शिलालेख में (ए० इ० भा० २, पृष्ठ ७) रानी अल्हण देवी ने मठ के साथ अध्ययन-कक्ष की भी स्थापना की थी। उत्तर तथा दक्षिण भारत के अभिलेखो मे अनेक उल्लेख मिलता है कि राजा ने शिक्षा सस्था के लिए दान दिया। विक्रमादित्य षष्ट की रानी ने नगर के महाजन के पास धन को जमा कर दिया, जिसकी आय से वैदिक शिक्षा का कार्य संपन्न किया जाता था (ए० इ० भा० २०, पृ० ६७) शिवमदिर के मठ से सबंधित सत्र तथा महाविद्यालय मे धनी लोगों ने दान दिया।

दान देने की परपरा बौद्ध भिक्षुओ के भिक्षाटन को रोकने का एक मार्ग था, जिसके कारण भिक्षु साधु सस्था (मठ) मे रह कर सारा कार्य करने लगे। उन्हे नगर में जाने की आवश्यकता न रही। बुद्ध ने अपने उपदेश मे भिक्षा माँगते समय शालीनता की बातें कही थी। विहार मे रहने वाले भिक्षु गाँवों मे भिक्षा माँगने नित्य जाया करते थे। इसी कारण नगर से आठ-दस किलोमीटर दूर पर विहार तैयार किए गए थे, ताकि भिक्षा माँगने मे कठिनाइयों का सामना न करना पडे। समयातर में इस प्रक्रिया मे दोष आने लगे। भिक्षावृत्ति मे शनै. शनै: बुराइयाँ आने लगीं। बौद्ध मत में भिक्षुगण की सख्या बढ़ने लगी। इनका कार्य ब्राह्मणमत के संन्यासियो के सदृश न रहा। हजारों की संख्या में भिक्षु भिक्षुणी एक साथ निवास करते तथा सामाजिक बुराइयाँ

का विहार केंद्र बनता गया। मध्य युग के दानपत्रों की संख्या पर विचार करने से प्रकट होता है कि समाज में इस भिक्षावृत्ति को हटाने का प्रयत्न हुआ। व्यक्तिविशेष ने भिक्षा न देकर संस्था को दान दिया गया, जिसकी आय से सभी कार्य संपन्न होने लगे। 'सत्र' की स्थापना के विषय में कहा जा चुका है। भूमिदान के अतिरिक्त नकद द्रव्य देने का भी वर्णन लेखों में मिलता है। वह धन कार्यविशेष के लिए खर्च किया जाता था। दानपत्र अभिलेख में विशिष्ट उल्लेख किया गया है कि शिक्षा संस्था मे ब्राह्मण भोजन (सत्र का स्थान) तथा भिक्षुओं की आवश्यकताओं के लिए धन व्यय किया जाय। उत्तरी भारत के लेखों में 'सत्र' स्थापना के अनेक उदाहरण मिलते हैं (ए० इ० भा० ११ पृष्ठ १९२, भा० १३ पृष्ठ २९०, भा० ११ पृष्ठ ९९)।

मध्य युग की बौद्ध संस्थाओं को अनेक ग्राम दान में दिए गए थे। ह्वेनसांग ने लिखा है कि नालंदा महाविहार को दो सौ ग्राम दान में मिले थे। इस तरह के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। बौद्ध मत के तीसरे यान मंत्रयान मे महासुख की कल्पना आई, जो शाक्तमत से मिलती है। इस कारण शाक्त तथा मंत्र या तंत्रयान में विभेद जाता रहा। शिव-शक्ति के मिलन की भावना सर्वत्र फैल गई। इस दार्शनिक विचार का लौकिक रूप बौद्धों के गुह्य समाज में पाते हैं। अतः, शाक्तमत की प्रधानता के कारण सभी विहार के निवासी प्रमुख भिक्षुगण आध्यात्मिक तथा शैक्षिक विषयों को छोड़ सामाजिक विषयों में लीन हो गए। विहार को दान दी गई अग्रहार भूमि को उन्होंने अपने अधिकार मे कर लिया। यद्यपि पहले से ही उन व्यक्तियों को भूमि का प्रबंध करना था और मठ के संबंध में सारा कार्य-भार उन लोगों के सिर पर था। किंतु, कालांतर मे स्थिति बदल गई। व्यक्तिगत पद का लाभ उठाकर समस्त धन (भूमि या नकद) को अपने हाथ में कर विहार (मठ) के स्वामी बन बैठे। मठ की प्रबंध समिति के प्रमुख पदाधिकारी होने के नाते सभी स्थानों तथा लोगों अथवा भिक्षुओं पर उनका दबदबा था। अतएव, स्वामी बन जाने पर किसी रूप में विरोध न हो सका। इस कार्य मे शताब्दियाँ लग गई। बौद्ध महाविहार मुसलमानों के हाथों नष्ट कर दिए गए, परंतु उनसे संबद्ध संपत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। प्रधान अधिकारी उसे अपनी संपत्ति मान-कर (नाममात्र का प्रबंधक कहला कर) मठाधीश के रूप में कार्य करने लगा। वही बौद्ध कार्यपद्धति ब्राह्मण साधुओं के लिए लाभकारी सिद्ध हुई। तंत्रयान, शाक्तमत या शैवमत ऐसा मिश्रित धर्म बन गया, जिसमें विभेद करना कठिन हो गया। शैव साधु तथा तंत्रयानी भिक्षुओं में अंतर जाता रहा। आज भी

नेपाल में शैव तथा बौद्ध सभी आपस की पूजा-पद्धति में समानता रखते हैं।

मठ का प्रमुख मठाधीश या महंथ कहलाया। बोधगया के महंथ भी उसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। अधिकतर शिक्षा विद्यालयों में भिक्षुगण के भोजनादि का प्रबंध था। सत्र की स्थापना हो चुकी थी, उसी रीति से मठ भी काम करने लगे। मठाधीश संस्कृत पाठशाला में ब्रह्मचारियों को शिक्षा देता है। सत्र में साधुगण भोजन पाते तथा निवास करते हैं। बिहार प्रदेश का नाम ही बौद्ध विहारों के कारण पड़ा। इसलिए मठों की संख्या इस भू-भाग में अधिक है। वही प्रणाली मंदिरों के संबंध में भी काम करती रही। मंदिर में दान देना स्वर्गप्राप्ति का मार्ग था। मंदिर का प्रधान पुजारी सारी संपत्ति का स्वामी है तथा पूजन आदि का प्रबंध करता है। मंदिर के महंथ तथा मठ के महंथ या मठाधीश में कोई अंतर नहीं है। शिक्षा के लिए दान या मंदिर के देवता के लिए दान भूमि का स्वामी महंथ ही समझा जाता है। महंथ शब्द महंत का अपभ्रंश है। उसका अर्थ है (मह् + झच्) किसी पद का मुख्याधिष्ठाता। महंथ या मठाधीश एक ही भाव के दो समानार्थक शब्द हैं। भारत में बौद्ध परंपरा के दोष मध्ययुग के पश्चात् स्पष्ट हो गए। वर्तमान काल में मठाधीश (महंथ) शैवमतानुयायी माने जाते हैं; क्योंकि तत्रयान शैव (शाक्त) मत में विलीन हो गया। शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त कर मठों की स्थापना की। उस विचारधारा के कारण समस्त प्राचीन विहार यानी मठ शैवमतानुयायियों के अधिकार में आ गए।

●

प्राचीन इमारतों की तालिका

भारत मे पुरातत्व विभाग के कार्यों के प्रसग मे जो खोज होती रही, उससे इमारतों (Monument and Structural Buildings) का पता लगता रहा। जितनी इमारतों का परिज्ञान हुआ है, उनको दो विभागों मे बांटा जा सकता है —

(अ) पर्वतों को खोद कर (Excavated) इमारतें तैयार की गई थी, जिन्हें गुहा का नाम दिया गया है। गुहा को (१)विहार (२) चैत्य का नामकरण कार्यों के अनुसार किया गया है। उनकी अभी तक पर्याप्त रूप से सुरक्षा हो सकी है। बबई के समीप एलिफेन्टा नामक गुहा को पुर्तगाली लोगों ने थोडा नुकसान पहुँचाया था।

(ब) वे इमारतें जो विभिन्न प्रकार की सामग्रियो (मिट्टी, ईंट, प्रस्तर लकड़ी) को जोड़कर (Structural form) बनायी गई। उनमे प्राचीन स्तूप, मध्यकालीन विहार तथा मंदिरो की गणना होती हैं। इन इमारतो की दशा बहुत अच्छी नही है। भौगोलिक परिस्थिति के कारण जलवायु का हानिकारक प्रभाव पड़ता रहा है। महाबलिपुरम् का तट मंदिर (Shore temple) सामुद्रिक हवा के कारण नष्ट हो रहा है। वास्तविक स्वरूप का अनुमान करना कठिन हैं। कश्मीर के मार्तण्ड मंदिर का खाका तथा कोणार्क सूर्यमंदिर की योजना पूर्णतः (समझना कठिन है) दृष्टिगत नहीं है। दूसरा प्रमुख कारण यह था कि इस्लामी आक्रमणों के कारण इमारतें नष्ट होती गई। उसका प्रभाव उत्तरी भाग मे अधिक हुआ। इस कारण भारत के उत्तरी भाग में प्राचीन मंदिरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं। दक्षिण भारत के मंदिर सुरक्षित हैं। ईंट-प्रस्तर जोड़ कर जो विहार बनाए गए थे, सभी प्रायः मलबे के भीतर से निकाले गए हैं। तक्षशिला, सारनाथ, सोमपुर तथा नालंदा विहारों के नाम लिए जा सकते है। समतल भूमि पर निर्मित स्तूप भी राजनैतिक कारणों से भग्न अवस्था मे देखे जाते हैं। धर्मराजिका स्तूप (सारनाथ) के कुछ अवशेष प्रकाश में आए हैं। उसी स्थान पर धमेक स्तूप, आज भी स्थित है।

भारत में दो प्रकार की इमारतें बनने का धार्मिक कारण था। वैदिक-कालीन इमारतें तो प्रकाश में नहीं आई हैं, अतएव उनके संबंध में कहना कठिन है। बौद्धयुग के आरंभ में भिक्षुओं के स्थायी निवास के लिए पर्वत खोदकर गुहा बनाए गए, जहाँ भिक्षु अध्ययन-अध्यापन करता तथा समीप के ग्रामों में भिक्षा माँग कर वापस चला आता था। नगर से दूर शांत वातावरण के लिए गुहा उपयुक्त थे। लेकिन, यह सदा के लिए उपयोगी न रह सका। गुप्तकाल से समतल भूमि पर निवास के लिए विहार निर्मित हुए। नालंदा के महाविहार के भग्न होने पर भी उसके नमूने दीख पड़ते हैं। मध्ययुग के शासक इमारतों की मरम्मत के लिए धन देते रहे। अतएव, दानपत्रों में खंडस्फुट समरचनार्थं वाक्य का प्रयोग हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन काल से मध्ययुग तक जितनी इमारतें बनी या खोदी गईं, उनका ज्ञान किसी-न-किसी अंश में है। अतएव पाठकों की जानकारी के लिए उनकी तालिका उपस्थित की जा रही है—

नाम	स्थान
अंकोरवट मंदिर	कंबुजदेश
अथेरा मंदिर	विदिसा, मध्य प्रदेश
अर्जुन रथ	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
अम्रनाथ मंदिर	थाना, बंबई
अमृतेश्वर	अहमदनगर, आंध्र प्रदेश
अवंतिस्वामी मंदिर	कश्मीर
अशलगढ़ मंदिर	राजस्थान
आदिनाथ मंदिर	दिलवारा, राजस्थान
आश्चर्य विहार	कूचा, मध्य एशिया
ओसिया जैनमंदिर	जोधपुर, राजस्थान
उदयगिरी गुहा मंदिर	विदिसा, मध्य प्रदेश
उदयेश्वर मंदिर	उदयपुर, राजस्थान
ऋषभदेव मंदिर	जोधपुर
एकाम्रनाथ मंदिर	कांची, तामिलनाडु
एकलिंग महादेव	उदयपुर, राजस्थान
ऐरावतेश्वर	दारासुरम्, मैसूर
ऐहोल मंदिर	बीजापुर, मैसूर

कडर मंदिर	काठियावाड़
कलसन मंदिर	जावा, द्वीप
कंदरिया महादेव	खजुराहो, मध्य प्रदेश
कांगरा मंदिर	उत्तर प्रदेश
कारंगनाथ मंदिर	त्रिचनापल्ली, तामिलनाडु
कामाक्षी मंदिर	कांची, तामिलनाडु
कालेश्वर मंदिर	हैदराबाद, आन्ध्र प्रदेश
कालिका मंदिर	चितौड़गढ़ राजस्थान
काशी विश्वनाथ	बीजापुरम्, आंध्र प्रदेश
काशी विश्वेसर	लुकडी, मैसूर
कुंभकोनम्	केरल
कुरुवट्टी मंदिर	धारवार, मैसूर
कृष्णमंदिर	पाटना, नेपाल
कृष्णमंडप	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
केदारेश्वर मंदिर	मैसूर
केशवमंदिर	सोमनाथपुर, मैसूर
केशवमंदिर	मैसूर
केशवनारायण	अमरकंटक, मध्य प्रदेश
केदारनाथ	कांगड़ा, उत्तर प्रदेश
कोमेलीपुरम्	तामिलनाडु
कोटेश्वर मंदिर	पथरी, राजस्थान
खंबा बाबा (ध्वंस)	विदिसा, मध्य प्रदेश
गडग मंदिर	मैसूर
गणेश रथ	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
गलगनाथ	बीजापुर
गोप मंदिर	काठियावाड़
गोपीनाथ	वृंदावन
गोमती विहार	खोतान, मध्य एशिया
गोविंद देवी	वृंदाबन
गौंडेश्वर मंदिर	नासिक, महाराष्ट्र
चतुर्भुज मंदिर	खजुराहो, मध्य प्रदेश

चंद्रनाथ मंदिर	केरल
चन्नकेशव मंदिर	मैसूर
चिदंबरम् मंदिर	केरल
चेना मंदिर	बेलूर, बंगाल
चैतन्य मंदिर	गुहापारा, बंगाल
चैमुख मंदिर	काठियावाड़
चौमुखी मंदिर	जोधपुर
चौसठ योगिनी मंदिर	भरोघाट, जबलपुर
चौसठ योगिनी	ललितपुर, उत्तर प्रदेश
चौंसठ योगिनी	खजुराहो, मध्य प्रदेश
जगदंबा मंदिर	उदयपुर, राजस्थान
जंबूलिंग मंदिर	बीजापुर, मैसूर
जंबूकेश्वर मंदिर	श्रीरंगम् (त्रिची)
जागेश्वर मंदिर	जोधपुर
जीवनाथ मंदिर	खजुराहो, मध्य प्रदेश
जुगलकिशोर मंदिर	वृंदावन, उत्तर प्रदेश
जैनमंदिर	बीजापुर
जैनमंदिर (लोकिगुंडी)	धारवार
डामर मंदिर	झालरापटन, राजस्थान
डोडा बासप्पा मंदिर	उत्तर मैसूर
तटमंदिर	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
ताडपत्री	तामिलनाडु
त्रिपरियार मंदिर	त्रिचूर
त्रिविक्रमंगलम्	केरल
तिरुवेनकट स्वामी	वहीं
तुलजा लेण	जूनार, पूना
तेलकुपी	मानभूमि, विहार
तेजपाल	आबू पर्वत, राजस्थान
तेली का मंदिर	ग्वालियर
त्रैलोकेश्वर	पट्टाडकल, मैसूर
दिमल मंदिर	गुजरात
दिलवाड़ा मंदिर	गुजरात

दुर्गामंदिर	अलमोड़ा
देवी जगदंबा	खजुराहो, मध्य प्रदेश
देवी दुर्गा मंदिर	नेपाल
दैत्य सुंदर	बरार, आंध्र प्रदेश
द्रौपदी रथ	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
धर्मराज मंडप	वही
धर्मराज रथ	वही
नकुल-सहदेव रथ	वही
नवलखा मंदिर	काठियावाड़
नटराजमंदिर	चिदंबरम्, अरकाट, तामिलनाडु
नरसिंह मंदिर	एरण, सागर, मध्य प्रदेश
नाथनाथ मंदिर	हैदराबाद, आंध्र प्रदेश
नीलकंठेश्वर मंदिर	ग्वालियर
वही	खानदेश
नीलकंठेश्वर महादेव	जोधपुर
नेमिनाथ मंदिर	आबू, राजस्थान
वही	कुंभरिया, राजस्थान
पंड्रेथन मंदिर	कश्मीर
पंचपांडव	महाबलिपुरम् तामिलनाडु
पतन का शिवमंदिर	कश्मीर
पद्मनाभ स्वामी	त्रिवेंद्रम्, केरल
परशुरामेश्वरम्	गुड्डीमलम्
परिहासपुर	श्रीनगर, कश्मीर
पहाड़पुर मंदिर	राजशाही, बंगाल
पशुपतिनाथ	नेपाल
पाटलेश्वर	रीवा, मध्य प्रदेश
पापनाथ	बीजापुर
पार्श्वनाथ	कुंभरिया, राजस्थान
वही	खजुहारो, मध्य प्रदेश
वही	आबू, पर्वत
पिपलिया	विदिसा, मध्य प्रदेश
पीपलादेवी	जोधपुर
पेंगन	बर्मा

बेहुलारा	बांकुड़ा, बंगाल
बोधनाथ	नेपाल
भीमेश्वर मंदिर	गजाम, उड़ीसा
मच्छेन्द्रनाथ मंदिर	नर्मदा तट, मध्य प्रदेश
मदनमोहन	वृंदावन, उत्तर प्रदेश
मनकेश्वर मंदिर	नासिक, महाराष्ट्र
मल्लिकार्जुन मंदिर	बीजापुर
महाकूटेश्वर मंदिर	बादामी
महादेव मंदिर	कुलुघाटी, काश्मीर
वही	हैदराबाद
महादेव मंदिर	थाना, बंबई
वही	नासिक महाराष्ट्र
महावीर मंदिर	ओसिया, राजस्थान
महिषासुर मंडप	महाबलिपुरम्, तामिलनाडु
महेश्वर मंदिर	खानदेश
मृत्युंजय मंदिर	खजुराहो, मध्यप्रदेश
मातंगेश्वर मंदिर	कांची, तामिलनाडु
मार्तंड मंदिर	कश्मीर
मानकेश्वर	नासिक, महाराष्ट्र
मीनाक्षी मंदिर	मदुरै, तामिलनाडु
मुक्तेश्वर मंदिर	कांची, तामिलनाडु
वही	धारवाड़
वही	चंदधामपुर, मैसूर
मेगुती	ऐहोल, मैसूर
मुखलिंगेश्वर मंदिर	गजाम, उडीसा
राधावल्लभ मंदिर	वृंदावन उत्तर प्रदेश
रामानुज मंडप	महाबलिपुरम्
रामेश्वर गुहा	अजंता, आंध्र प्रदेश
रामेश्वम् मंदिर	तामिलनाडु
रुद्रमल्ल मंदिर	गुजरात
लक्ष्मीदेवी मंदिर	मैसूर
लक्ष्मण मंदिर	सिरपुट

बंददेवल	रामपुर, मध्य प्रदेश
बदरीनाथ मंदिर	कांगड़ा, उत्तर प्रदेश
बराह मंडप	महाबलिपुरम्
बराहमंदिर	एरण, मध्य प्रदेश
वही	कड़वार, गुजरात
बराकर मंदिर	वर्दवान, बंगाल
वृहदेश्वर मंदिर	तंजौर
ब्रह्मा मंदिर	खजुराहो मध्य प्रदेश
वामन मंदिर	वही
वानगढ़ मंदिर	कश्मीर
विट्ठलदेव मंदिर	भुवनेश्वर, उड़ीसा
वही	हम्पी
विजयेश्वर मंदिर	मैसूर
विजयालय	तामिलनाडु
विमलशाह मंदिर	दिलवाड़ा, राजस्थान
विराटेश्वर मंदिर	रीवा, मध्य प्रदेश
विरुपाक्ष मंदिर	बीजापुर
विरंजापुरम् मंदिर	तामिलनाडु
विलेश्वर मंदिर	काठियावाड़
विश्वनाथ मंदिर	रीवा, मध्य प्रदेश
वही	खजुराहो, मध्य प्रदेश
विष्णु मंदिर	बाकुड़ा, बंगाल
वही	बरार, आंध्र प्रदेश
वही	एरण, मध्य प्रदेश
बुचेश्वर मंदिर	मैसूर
बेलोर मंदिर	तामिलनाडु
बैकुंठ पेरुमल्लमंदिर	कांची, तामिलनाडु
वैजनाथ मंदिर	कांगड़ा, उत्तर प्रदेश
वैजनाथ ,,	रीवा, मध्य प्रदेश
बोरोबुदूर (स्तूप)	जावा द्वीप
संगेश्वर मंदिर	बीजापुर, मैसूर
सचिय माता	जोधपुर

सचदेवालिया मंदिर	बर्दवान, बंगाल
सतधारा	सांची, मध्य प्रदेश
सहस्रबुद्ध गुफा	तुयेनह्वाग, मध्य एशिया
सासबहू का मंदिर	ग्वालियर
स्वयंभूनाथ	नेपाल
सिद्धेश्वर मंदिर	धारवार
सिद्धेश्वर	बाकुड़ा, बंगाल
सिंहचलम्	वाल्टेयर, आंध्र प्रदेश
श्रीरंगम्	त्रिची, तामिलनाडु
सुंदरेश्वर मंदिर	मदुरै, तामिलनाडु
सुमेश्वर मंदिर	बीजापुर
सूर्यमंदिर	ओसिया, राजस्थान
वही	बरौदा
सुगढ सूर्यमंदिर	मधेरा, गुजरात
सोनारी स्तंभ	साची (मध्य प्रदेश)
सोमनाथ मंदिर	गुजरात
सोमेश्वर मंदिर	धारवार
सोमेश्वर मंदिर	जोधपुर
शंकराचार्य मंदिर	कश्मीर
शचीद्रम् मंदिर	केरल
हजाराराम मंदिर	विजयनगर, हम्पी
हरिहर मंदिर	ओसिया, राजस्थान
होयसलेश्वर मंदिर	हेलबिद, मैसूर

परिशिष्ट १४

हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली

अग्रभाग	Fccade
अंगशिखर	Miniature Tower
अंड	Spherical part of Stupa
अंतराल	Antichamber
अतिमानवीय	Super Human
अधिष्ठान	Base
अर्द्धमंडप	Hall before Shrine
अर्द्धस्तंभ	Pilaster
अर्द्धवृत्ताकार	Apsidal
अधिरचना	Super Structure
अयथार्थ गुहा	False Cave
अश्व नालाकार	Horse-shoe Shape
अष्टभद्र	Stellate or Star Shape
अष्टदिक्पाल	Guardians of 8 Directions
आदमकद	Life-size
आदर्श रचना	Pattern
आधारभूत	Basal
आमलकशिला	Amalaka
आयताकार	Oblong
आर्यक	Worshipful
उरुशृंग	Half Turrent
एकाश्म	Monolith
कलसी	Finial
कणाश्म	Granite

कक्ष	Zone
कपोत	Cornice
कोटर	Socket
कोठरी	Cell
कुडु	Ornamental Arch
खराद	Lathe
खांचा	Chases
खेमा	Tubernacle
गलियारा	Vestibule, Corridor
गढ़ना	Moulding
गुंबद	Dome
गूढ़ मंडप	Vestibule
गृहशिखर	Gable
गोपुरम्	Monumental gateway
ठोस पाद	Stereobate
ड्योढ़ी	Porch
डंडा	Shaft
ढलाई	Moulding
चंक्रम	Walking Place of he Buddha
चित्रवल्लरी	Frieze
चेतिय	Stupa
चैत्य	Hall with Stupa
छत्र	Buddhist Umbrella
जगमोहन	Audience Hall
जयस्तंभ	Tower of Victory
जरदोजी	Cloister
जैविक	Biological
ताख	Recess
तारा आकार	Stellate
तारा प्रकार	Cruciform
त्रिरथ	Structure having three pilasters
तोरण	Gateway
दगोबा	Stupa

देवल	Temple
दासा	Stylobate
दीर्घा	Gallery
दीवारगीर	Bracket
द्वारमंडप	Porch
धातु-गर्भ	Relic Chamber
नटमंडप	Dancing Hall
नंदीमंडप	Pavellion over Sacred Bull
नतोदर	Concave
निधानपात्र	Recepticle
निम्न उद्भृत	Base Relief
न्यासी	Trustee
नवग्रह	Nine planets
पैगोडा	Tall structure in several s ories
पट्टी	Band
परिष्कृत	Sophisticated
परिरेखा	Contour
पंक्ति	Tier
पंचायतन	Five Shrines
प्रक्षेपण	Projection
प्रदक्षिणा-पथ	Ambulatory
प्रकारम्	Open Court-yard
पाद	Foot of Temple
पाया	Pier
पार्थिव	Temporal
प्राकृत आकार	Life-size
पादांग अथवा बंडेरी	Architrave
पार्श्ववीथी	Aisles
पीठिका	Pedestal
पुरावशेष	Ar.ifact
पुष्पासन	Torus
पुश्ता	Buttress
पूर्णकलश	Pot and foliaze

बरसा	Shaft
ब्यास	Gryphone
बलिमंडप	Hall (Chalukyan)
बहिरेंखा	Out line
बुर्ज	Tower
बेलनाकार	Cylinder
भद्र	Flat face of Shikhar
भट्टवृत्ति	Maintenance
भित्तिचित्र	Fresco or Mural Painting
भित्तिस्तंभ	Pilaster
भोगमडप	Worshiful hall
मठ	Monastery
मंडप	Pillared Chamber
मध्यबीथी	Nave
मानवाकृति	Anthropomorphic form
मीनार	Tower
मुंडेरा	Parapet
मूलभाव	Key note
मूलरूप	Prototype
मेधि	Terrace
मेहरावदार	Vaulted
यष्टि—बौद्ध	Shaft, Stick Pole
यक्ष	Semi—divine being
रचना	Composition
रथ	Monolithic shrine
रथ	Projection of temple
राहपग	Central projection
रेखा	Curvillinear portion of Shikhar
रूपरेखा	Out line-Design
रेखा देवल	Towered Sanctuary
लबी धारी	Fluted design
वलभि	Gable form
विमान	Tower over Shrine

विहार (मठ)	Cloister
वेदिका	Railing of Stupa
शवकक्ष	Arched Roof
शंकुरूप	Conical
शार्दूल	Gryphone
शिखर	Tower
शिरस	Capital
शुंडाकार	Pyramidal
शृंग	Cupola
शृंग	Quarter Sikhar
श्रेणी	Guild
शोभायात्रा	Pageant
संग्रथित	Composite
संघाराम	Monastry
स्तंभावलि	Colonaded
स्तूप	Tumulus
स्तूपिका	Finial
सप्तरथ	Structure with Seven Pilasters
सभामंडप	Assembly Hall
समाधि	Shrine
स्मारक	Relic
समाकृति	Configuration
सलिलांतर	Recesses
स्वस्तिकाकार	Cruciform
सामना	Facade
शिखात	Finial
सिंहस्तंभ	Lion Pillar
सुच्याकार	Pyramidal
सूची	Cross Bar
हरमिका	Flat roof of Stupa

*
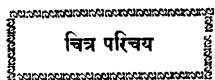
चित्र परिचय

चित्र-परिचय

फलक १ तथा फलक २

दीघनिकाय के महापरिनिर्वाण सूत्त में भगवान बुद्ध के जीवन की अंतिम घटनाओं का विशद् वर्णन मिलता है। उसमे चार विभिन्न बातों पर जोर दिया गया है—

(१) भगवान बुद्ध तथा आनंद का वार्तालाप,

(२) कुशीनारा के मल्लो का आगमन

(३) आनंद तथा अनिरुद्ध के कथनोपकथन और

(४) निर्वाण, दाह-संस्कार तथा भस्म का बँटबारा।

भगवान बुद्ध कुशीनारा पहुँच कर आनद से वार्तालाप करने लगे तथा आनंद के पूछने पर उन्होंने चक्रवर्ती राजाओं के दाह-संस्कार के विषय में बतलाया। बुद्ध ने बतलाया कि चक्रवर्ती के मरने पर शव को नए वस्त्र में लपेट कर ऊनी कपड़ से ढँक देते हैं। इस प्रकार पचास बार नए वस्त्र में उस मृत शरीर को लपेटते चले जाते है। तत्पश्चात् चक्रवर्ती राजा के शव को लोहे के तेल भरे बर्तन में डुबो देते हैं। दाह-संस्कार के निमित्त सुगंधित द्रव्यों सहित लकड़ी की चिता बना कर जलाते है। उस महान राजा के अतिम अवशेष (राख) को चौराहे पर स्मारक बनाकर सुरक्षित रखते हैं। आनंद को भगवान ने बतलाया कि इसी तरह तथागत के भस्म का भी प्रबंध करना चाहिए। इन बातों को सुन कर तथा भगवान के परिनिर्वाण की घटना को सोच कर आनंद अत्यंत दुखी हुए। उन्होने समीप के विहार मे जा कर सभी बातें कह सुनायीं। विहार के भिक्षुगण मृत्यु या निर्वाण को अवश्यभावी समझ कर पारस्परिक रूप में समझाने लगे। बुद्ध ने आनंद को शरीर के नष्ट होने की बातें बतलायी तथा दुखी न होने को कहा। कहने लगे कि आनंद तुम्हे सभी भिक्षु-भिक्षुणी को उपदेश देना चाहिए। भारत के प्रसिद्ध स्थानो—चंपा, राजगीर, श्रावस्ती, साकेत, कोशांबी तथा वाराणसी में कही तथागत का परिनिर्वाण होगा। प्रश्न यह था कि कौन तथागत के अवशेष का स्वागत कर सकेगा तथा उसकी प्रतिष्ठा करेगा?

महासुदासन नाम के सम्राट् की प्रसिद्ध नगरी कुशीनारा थी। अतः, इसी स्थान को परिनिर्वाण का स्थान चुना गया।

आनंद ने कुशीनारा जाकर मल्लों को रात्रि मे भगवान के निर्वाण होने की घटना की जानकारी दी। उन्होने मल्लों की सभा में जाकर यह बतलाया और सभी बाल-बच्चे, स्त्री-पुरुष तथागत के समीप आए। इतनी बड़ी संख्या में लोगो ने भगवान का दर्शन करना चाहा। आनंद ने एक परिवार के पश्चात् दूसरे, तीसरे परिवार को बुद्ध के संमुख उपस्थित किया। सभी ने उनकी वंदना की। भगवान ने उपदेश किया और कहा कि कोई मन की शंका हो, तो प्रश्न करो। सभी चुप रहे। बारंबार पूछने पर किसी ने कोई प्रश्न नहीं किया, तो आनद ने बतलाया कि सभी को तथागत में पूरी आस्था है। उपदेशो मे विश्वास है। भगवान ने अंत में कहा—शरीर नश्वर है तथा इसके तत्त्व विनष्ट हो जाते हैं। सभी को निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

तथागत की मृत्यु के अवसर पर भयंकर आवाज हुई, पृथ्वी डोलने लगी तथा बिजली कड़कने लगी। आनद ने अनिरुद्ध से पूछा, क्या होना चाहिए? अनिरुद्ध ने विहार के भिक्षुगण को शांत किया। रोने के लिए मना किया। रुदन से तथागत की आत्मा को दुःख होगा, ऐसी बातें अनिरुद्ध से कह सुनायी। परिनिर्वाण के पश्चात् पूरी रात आनंद तथा अनिरुद्ध धार्मिक प्रवचन करते रहे। सुबह कुशीनारा के मल्ल की सभा मे इस घटना को सुनाया गया। वे लोग सुगंधित सामग्री, पुष्प लेकर सालबन मे गए, जहाँ तथागत मृत्युशय्या पर पड़े थे। सभी ने श्रद्धांजलि अर्पित की। सुगंधी, माला तथा संगीत के साथ दूसरे दिन शव का दाह-संस्कार किया गया। महान चक्रवर्ती की मृत्यु के समान मंत्रो का पाठ, सगीत, प्रदर्शन और सजावट आदि संपन्न कर शव को जलाया। महापरिनिर्वाण सुत्त मे कहा गया है कि दक्षिण दिशा से शव को ले जाने पर चिता में आग जल न सकी। अनिरुद्ध के कहने पर उत्तर तथा पूर्वी मार्ग से तथागत के शव को ले जाने एव भिक्षु महाकस्यप की उपस्थिति से चिता जल उठी। इससे पूर्व भगवान ने जैसा बतलाया था, उसी प्रकार वस्त्रो से लपेट कर तेल मे रख कर दाह-संस्कार किया गया।

बुद्ध के अंतिम अवशेष को मल्लो ने कुशीनारा के सभामंडप मे सात दिनों तक पूजा-प्रतिष्ठा की। उस अवधि मे खुशियाँ मनाते रहे तथा श्रद्धाजलि

अर्पित करते रहे। इस घटना की खबर राजगीर पहुँची। मगध के सम्राट अजातशत्रु ने कुशीनारा के मल्लों के पास संदेश भेजा कि भगवान क्षत्रिय थे, वह भी क्षत्रिय हैं। अतएव, अवशेष का भाग अजातशत्रु को भी मिलना चाहिए। उसी प्रकार लिच्छवि तथा अन्य शासकों ने भी कुशीनारा के मल्लों के पास एक ही तरह की खबर भिजवायी। उनके नाम है—

(१) राजगीर का अजातशत्रु,
(२) वैशाली के लिच्छवि,
(३) कपिलवस्तु के शाक्य,
(४) अलनकप्प के बुलि,
(५) रामग्राम के कोलिया,
(६) वेट्टदीप के ब्राह्मण,
(७) पावा के मल्ल और
(८) पिप्पलिवन के मोरिय।

सभी शासको का दावा था कि बुद्ध के अंतिम अवशेष उसे मिलना चाहिए। इसी कारण समस्त राजघरानो मे झगडा खडा हो गया। इस झगड़े का प्रदर्शन साची के पश्चिमी तथा दक्षिणी तोरण की बंडेरियों पर किया गया है। फलक १ के मध्य मे कुशीनारा का राजमहल है, जिस पर अन्य राजाओ ने सेना के साथ आक्रमण कर युद्ध आरंभ कर दिया है। बायी तथा दाहिनी ओर निचले भाग में हाथी, घोडे, रथ तथा पैदल सैनिक तीर चला रहे हैं और महल के ऊपरी भाग से भी उत्तर मे तीर फेंका जा रहा है। इसी फलक के ऊपरी भाग मे हाथियों के सिर पर छोटा बाक्स रखा है, जिस पर छत्र दीख पड़ता है। यानी बाक्स किसी चक्रवर्ती नरेश या महान व्यक्ति से संबंध रखता है। छत्रधारण किए पीलवान जा रहा है। इसका भाव यह है कि भस्म के लिए आठ शासको मे जो झगड़ा खड़ा हुआ था, वह शांत हो गया। उसका आठ भागो मे बँटबारा हो गया। हाथी उसी भस्म पात्र को लेकर जा रहे हैं। उस पात्र को चंवर से हवा की जा रही है। जिस प्रकार राजा हाथी पर चलते हैं, तो छत्र तथा चँवर लिए नौकर रहते हैं, उसी भाव को लेकर महान योगी तथागत के भस्मपात्र को छत्र के नीचे तथा चँवर सहित पीलवान ले जा रहा है। पहले फलक तथा दूसरे फलक का एक साथ ही अध्ययन करना चाहिए। फलक दो के बायी ओर कुशीनारा का राजमहल है तथा उसी के दाहिने वृक्ष (बोधिवृक्ष) की आकृति बनी है। वृक्ष भगवान बुद्ध का प्रतीक है। उसकी स्थिति यह बतलाती है कि कुशीनारा मे

तथागत का निर्वाण हुआ, जिसकी राख (शरिर) के लिए युद्ध आरंभ हो गया था। इसके निचले भाग में भी अश्व, हाथी और पैदल सेनानी दीख पड़ते हैं। ऊपरी भाग में हाथियों के सिरे पर छत्र चँवर सहित भस्मपात्र दिखलायी पड़ता है। चक्रवर्ती बुद्ध के अवशेष की जो कथा महापरिनिर्वाण सूत्त में कही गई है, उसी का प्रत्यक्ष प्रदर्शन इन फलकों में किया गया है। ऐसा प्रदर्शन अन्यत्र नहीं मिलता।

विद्वानों का मत है कि दक्षिणी तोरण पर पहले भस्मपात्र के युद्ध का प्रदर्शन किया गया था। जिस कलाकार ने उसे खोदा, वह पश्चिमी तोरण के प्रदर्शन के समय मौजूद न था। दक्षिणी तोरण की बड़ेरियों पर सैनिकों में जीवनशक्ति तथा बल का संचार ज्ञात होता है। पश्चिमी तोरण पर सैनिकों के चेहरों पर नारीत्व भाव प्रकट हो रहे हैं। उनमें बल, तेज तथा उत्साह का अभाव-सा है। तात्पर्य यह है कि दोनों तोरण विभिन्न समय पर तथा विभिन्न हाथों द्वारा खोदे गए थे। इन फलकों में युद्ध तथा शांति के वातावरण दिखलाए गए हैं।

फलक ३

महापरिनिर्वाण सूत्त में जिन आठ शासकों ने तथागत के अवशेष (भस्म) के लिए दावा किया था, उनमें वैशाली के लिच्छवि का भी नामोल्लेख है। इनका कथन था कि भगवान बुद्ध क्षत्रिय थे तथा लिच्छवि क्षत्रिय है, अतएव शव के भस्म का भाग उन्हें मिलना चाहिए। जैसा फलक एक तथा दो में दिखलाया गया है, शासकों को उसका भाग मिला। सभी ने उस भस्मपात्र के ऊपर स्मारक स्तूप बनवाया। वैशाली में भी स्तूप बना, ऐसी धारणा है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने वर्णन किया है कि उन सभी स्तूपों को अशोक ने खुदवा डाला और उनमें से धातु के कुछ अंश को लेकर चौरासी हजार स्तूप बनवाए। ह्वेनसांग ने वैशाली स्तूप के विषय में लिखा था कि वह राजा विशाल के गढ़ (दुर्ग) से उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित था। डॉ० अलतेकर ने उसी आधार पर एक टीले की खुदाई करायी, जिसके भीतर अवशेष की डिबिया मिली। फलक तीन में डिबिया के दोनों भाग स्पष्ट है। एक में राख अल्प मात्रा में (नाममात्र) प्राप्त हुआ है। उसके परीक्षण (कारबन १४ डेटिंग) के लिए न भेजा जा सका; क्योंकि अल्पमात्रा में वह कार्य संभव न था। परंतु उस अवशेष को तथागत के मूल राख का अंश मानने में संदेह नहीं किया जा सकता।

फलक ४

बुद्ध की धातु को डिबिया मे रखकर स्तूप बनाए गए थे। चीनी यात्री के कथनानुसार अशोक ने उनका अल्प अंश ग्रहण कर हजारों स्तूपों का निर्माण किया था। उसके पश्चात् जितने स्तूप बनाए गए, सभी में धातु का भाग है, यह संदेहात्मक है। वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। अभिलेखों में वर्णन आता है, परंतु वह विवादास्पद विषय हैं। फलक चार के मध्य मे साची का स्तूप है। परंतु, कालातर मे उपासकों ने मनौती स्तूप बनाना आरंभ किया, जो मुख्य स्तूप के चारो तरफ बनाए जाते थे। इनमें भी मध्य स्तूप के चारो तरफ स्तूपाकार बनावट छोटे चबूतरो पर बनी दीख पडती है। सभी मनौती या पूजास्तूप (Votive Stupa) है। इसका अर्थ यह है कि उपासक मनोवांछित फल प्राप्ति के लिए पूजास्तूप बनाने लगे। ब्राह्मण मतों मे भी इसका अनुकरण किया गया और शिवमंदिर के पार्श्व मे हजारों लिंगमूर्तियाँ स्थापित दृष्टिगत होती है।

फलक ५

इस चित्र मे सांची के तोरण का वास्तविक रूप दिखलाया गया है। यह विदित है कि तोरण के चार विभाग थे—

(१) स्तंभ (Pillar post)
(२) अयथार्थ शीर्ष (False Capital)
(३) बंडेरियाँ (Architrava) और
(४) चक्र तथा त्रिरत्न की आकृतियाँ।

तोरण के स्तंभ उत्तर-मौर्यकालीन माने जाते हैं; क्योंकि मौर्य स्तभ सदा एकाश्म गोलाकार एवं लेप सहित (Polished) होता था। जैसा सारनाथ तथा कौशाबी या चपारन के स्तंभ। सांची तोरण के समीप मे ही अशोकस्तंभ भी स्थित है, जिसके परीक्षण से सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। चौपहल स्तंभ शुंगकाल से प्रारंभ हुआ तथा सांची के समीप मे खबा बाबा (विदिसा, बेसनगर गरुड़स्तंभ) का स्तंभ कोणयुक्त है (गोलाकार नही)। इस स्तंभ की आकृति से उसकी तिथि ज्ञात हो जाती है। साची के तोरण ईसापूर्व द्वितीय शती मे निर्मित हुए और वह भी एक साथ नही। स्तंभ से बेष्टनी का कोई लगाव नही है, जिसके देखने से यह धारणा हो जाती है कि तोरण वेदिका के बाद बनाए गए थे। प्रत्येक तोरण खुदाई के कारण कई उपविभाग में बँटा है। उत्तरी तोरण के पूर्वी स्तंभ तथा पश्चिमी स्तंभ पर भिन्न-भिन्न

चित्र प्रदर्शित है। प्रत्येक स्तंभ चार खंडों में विभाजित है, जिनमें बुद्ध के जीवन की पृथक्-पृथक् घटनाओं को गहराई में खोदा गया है। यदि प्रस्तर-खंड को कागज मान लें, तो पूरे प्रदर्शन गोल मोड़कर चीरक (Scroll) बनाया जा सकता है। इसी कारण इन स्तंभ-प्रदर्शनों को 'चरण चित्र' कहा गया है। पूर्वी स्तंभ मे निम्न चार प्रदर्शन हैं। नीचे से ऊपर की ओर—

(१) तुषितस्वर्ग मे आमोद-प्रमोद,

(२) राजकीय समारोह, पूजानिमित्त यात्रा,

(३) जेतबन का दृश्य और

(४) बोधिवृक्ष का पूजा।

पश्चिमी स्तंभ पर देखिए नीचे से ऊपर—

(१) सादा प्रस्तर,

(२) बुद्ध शाक्यो को उपदेश दे रहे है। मध्य मे बुद्ध (बोधिवृक्ष के रूप) बैठे हैं तथा चारों तरफ शाक्य लोग गोलाई मे बैठकर प्रवचन सुन रहे है,

(३) बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण—प्रतीक अश्व के रूप मे बुद्ध और

(४) संकिसा का चमत्कार।

इसे ध्यानपूर्वक देखने से प्रदर्शित चित्र के मध्य सीढ़ी दीख पड़ती है। दोनो तरफ (ऊपर एवं नीचे) वृक्ष की आकृतियाँ हैं यानी बुद्ध ऊपर तुषित स्वर्ग में मायादेवी को आर्यसत्य की शिक्षा देने गए थे। वहाँ से संकिसा (जिला फरुखाबाद, उत्तर प्रदेश) सीढ़ी से उतरे। नीचे भी वृक्ष है, जो प्रतीकात्मक बुद्ध का प्रदर्शन है। ऊपरी भाग मे देवतागण खड़े हैं तथा निचले भाग मे मनुष्य, जिससे देवलोक तथा मृत्युलोक की कल्पना की जाती है। भरहुत में इस प्रदर्शन मे वृक्ष के स्थान पर बुद्ध के पदचिह्न खुदे है।

पूर्वी स्तंभ	पश्चिमी स्तंभ
वृक्ष का चमत्कार	संकिसा का अवतरण
जेनवन	महाभिनि-ष्क्रमण
राजकीय समारोह	शाक्यों को उपदेश
आमोद	सादा

स्तंभों की चौकियों (Abacus) पर पीलवान सहित चार हस्तियों की आकृतियाँ बनी है। उनसे संबद्ध निचली बंडेरी के निम्न भाग में शालभंजिका की आकृतियाँ दीख पड़ती है। ऐसी छोटी शालभंजिका ऊपरी बंडेरियों के मध्य यानी बंडेरियो के बीच खाली जगहो मे भी बनी हैं। इसे अयथार्थ शीर्ष कहते हैं। यह कल्पना अशोक के स्तंभों से ली गई, जिनमे जानवर को शीर्ष पर स्थान दिया गया है—

रमपुरवा—बैल

लौरिया—सिंह

सारनाथ—चार सिंह पीठ-से-पीठ जुडे।

यही कल्पना साची के तोरण पर दीख पड़ती है। पीठ-से-पीठ जुडे चार हाथी, चार सिंह या चार बौने खुडे है। यही अपने सिरे पर तीन बक्र बंडेरियों को उठाए हुए है। प्रत्येक बंडेरी के मध्य मे स्तंभ की सीध मे अयथार्थ शीर्ष प्रस्तर रखे गए है। इस कारण बंडेरियाँ पृथक् हो जाती है। तीन बंडेरियो की समस्त ऊँचाई २६ फुट है। बंडेरियो के बीच खाली जगहों में हाथियों तथा घोड़ो पर सवार मनुष्य बने हैं। बंडेरियों के कुंडलाकार सिरों पर हाथी या शेर की मूर्तियाँ खड़ी हैं।

तीन बंडेरियो पर नीचे से ऊपर निम्न प्रदर्शन देखे जाते है—

(१) बेसतर जातक, इसके निचले भाग मे राजा महल से निकल रहा है। ऊपर केवल रथ लौट रहा है यानी जंगल मे वेसंतर को छोड़ सवारी का रथ लौटा लिया गया।

(२) मानुषी बुद्ध—इनकी संख्या सात है तथा बोधिवृक्ष तथा स्तूप से यह संख्या पूरी होती है।

(३) बोधिवृक्ष तथा स्तूप (मानुषी बुद्ध)।

तोरण के पूर्वी भाग में बने अयथार्थ शीर्ष मे बुद्ध के जन्म का प्रदर्शन है। इसमे गजलक्ष्मी का दृश्य खोदा गया है। इसी तरह पश्चिमी भाग के शीर्षों पर चक्र की आकृति से बुद्ध के प्रथम धर्मचक्र परिवर्तन की घटना बतलायी गई है। सबसे ऊपरी भाग मे चक्र तथा त्रिरत्न बनाया गया है। साची के प्रत्येक तोरण की यह प्रक्रिया है। उन पर पृथक्-पृथक् घटनाएँ प्रदर्शित है।

उत्तरी तोरण की बंडेरियाँ

सामने का माथा	पीछे का माथा
१. मानुषी बुद्ध	१ षड्दत जातक
२. बोधिवृक्ष तथा स्तूप	२. सुजाता की भेंट
३. बेसंतर जातक	३. बेसतर जातक का शेष भाग

अन्य बंडेरियों पर भी ऐसी ही घटनाएँ खुदी हैं। जैसे महाभिनिष्क्रमण, अशोक की यात्रा, पशुओं द्वारा बुद्धपूजा और रामग्राम का स्तूप आदि प्रदर्शन दीख पड़ते हैं।

फलक ६

जैसा कहा गया है कि सांची-तोरण की बंडेरियो पर नाना प्रकार के प्रदर्शन हैं। इस चित्र मे पशुओ द्वारा बुद्ध की पूजा दिखलायी गई है। सांची का प्रदर्शन हीनयान मत से संबंध रखता है, अतएव यह प्रतीकात्मक है। इसी वृक्ष की आकृति बनी है। बोधिवृक्ष भगवान बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति का बोधक है। बायी ओर तालाब मे कमलपुष्प खिले दिखलाए गए हैं। उसमे हाथी भी खड़े हैं। वहाँ से चल कर मध्य भाग मे वृक्ष के चारों तरफ जानवर एकत्रित हैं यानी पूजा कर रहे है। हाथी सूढ़ उठाए बुद्ध को माला अर्पित कर रहे है। यह चित्र पश्चिमी तोरण पर खुदा है।

फलक ७

हीनयान मत में जातकों का प्रदर्शन बौद्धकला का प्रमुख अंग माना गया है। शुंगकालीन जितनी कलात्मक कृतियाँ है, उनमे प्रतीकात्मक स्वरूप प्रधानतया दीख पड़ता है। जातक कथाओ मे षड्दंत जातक भी एक प्रमुख कथानक है। इस फलक पर छदत हाथी का रूप स्थान-स्थान पर दिखाया गया है, जिसके कारण कहानी में गतिशीलता प्रकट होती है। मुख्य पात्र को कई स्थानों पर एक ही रूप मे दिखाना। किसी जन्म मे बुद्ध छह दाँतो वाला हाथी था। वह हिमालय मे दो रानियो महासुभद्रा तथा चुल्लसुभद्रा के साथ रहा करता था। चुल्लसुभद्रा सौत से प्रेम करने के कारण पति से द्वेष करने लगी। उसने ऐसी प्रार्थना की कि अगले जन्म में वह काशीराज की रानी के रूप मे पैदा हो, ताकि बोधिसत्व से बदला ले सके। ऐसा ही हुआ। राजा से उसने छह दातो को कटवाने को कहा। ऐसा ही हुआ। जब व्याधा हाथी के दाँत ले आया, तो रानी बेहोश हो गई। साची तोरण पर मानसरोवर मे खड़ा षड्दंत हाथी (बायी ओर) दिखाया गया है। वहाँ कमल खिले हैं। हाथी के सिरे पर छत्र है तथा मध्य में वृक्ष। यह बुद्ध का प्रतीक है। षड्दंत बोधिसत्व है। वह सरोवर से बाहर निकल कर पेड़ के समीप (दाहिनी ओर) खड़ा है। पेड़ की आड़ मे शिकारी वाण चला रहा है। यहाँ तक प्रदर्शन है। दाँत काटना

या चुल्लसुभद्रा के पास ले जाना प्रदर्शित नहीं है। अजंता के भित्तिचित्र में टोकरी में छह दाँत रखे हैं, जिन्हें देख रानी बेहोश हो जाती है।

फलक ८

सांची के उत्तरी तोरण की तीनों बडेरियों पर चित्रों को प्रदर्शित किया गया है। ऊपर से नीचे बडेरियों पर तीन घटनाएँ खुदी हैं—

(१) षड्दंत जातक,

(२) सुजाता की भेंट तथा (३) मार-विजय।

यह प्रदर्शन बोधगया से संबद्ध है। सिद्धार्थ गौतम राजगीर त्याग कर ऊरुबेला (गया के समीप) नामक स्थान पर तपस्या करने लगे। वहाँ पाँच साधुओं के साथ निराहार तपस्या करते, गौतम को यह समझ पड़ा कि हठयोग से ज्ञान की प्राप्ति न होगी। अतएव, ऊरुबेला को छोड़ निरंजना (वर्तमान फलगु नदी, गया) के किनारे आम्रवृक्ष के नीचे बैठ गए। उस दिन (जिस दिन ज्ञान प्राप्त हुआ यानी संबोधि मिली) ऊरुबेला गाँव के मुखिया की पुत्री सुजाता ने गौतम के सामने खीर (क्षीरोदन) का पात्र रखा। यह कहा जाता है कि सुजाता को वर था कि वृक्ष देवता को खीर खिलाने से संतान की उत्पत्ति होगी। मुखिया की दासी ने गौतम को वृक्ष के नीचे देख सुजाता को खबर दी कि वृक्षदेवता प्रकट हुए हैं। अतएव, सुजाता ने खीर अर्पित की। बुद्ध ने उसे ग्रहण किया और नदी पार पीपल-वृक्ष (जो बोधिवृक्ष कहलाया) के नीचे जा बैठे। वहीं ज्ञान प्राप्त हुआ। इसी घटना का विस्तृत प्रदर्शन मध्य बडेरी पर किया गया है। खुदे चित्र की बायीं तरफ बुद्ध (वृक्ष के रूप में) बैठे हैं तथा सुजाता भोजनपात्र एवं जल लेकर समीप में खड़ी है। दाहिनी ओर मार-विजय का प्रदर्शन है। मार यानी विषय-वासनाओं ने गौतम को आक्रांत करना चाहा तथा मार के राजा ने गौतम को आदर्श मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न किया। अंत में गौतम ने इस मार की सेना (विषय-वासनाओं) को परास्त कर ज्ञान की प्राप्ति की। ज्ञान के कारण बुद्ध नाम पड़ा। दाहिनी ओर मार के राजा तथा सेना का सजीव प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है।

फलक ९ (माया का सपना)

बुद्ध के चार चमत्कारों में माया के सपने (यानी बुद्ध का जन्म) की भी गणना होती है। पौराणिक कथाओं की तरह बोधिसत्व तुषित स्वर्ग में आमोद-प्रमोद कर रहे थे। अप्सराएँ नाच रही थीं। सब ने उनसे संसार में आने

के लिए आग्रह किया। भविष्यवाणी हुई कि बोधिसत्व सफेद हाथी के रूप मे गौतम की माता माया देवी (शाक्यवंशी राजा शुद्धोधन की पत्नी) के गर्भ में अवतरित होंगे। यह कथा भरहुत वेष्टनी के फलक पर प्रदर्शित है। माया देवी पलंग पर सोयी है। दासियाँ भी अचेत हैं। माया ने हाथी का सपना देखा। ऊपरी भाग मे हाथी की आकृति उस भविष्यवाणी का बोधक है। गोलाई के ऊपर ब्राह्मी में 'भगवतो रुकदन्त' (भगवान पैदा हुए) लिखा है। रु का अर्थ है—आवाज करना। अमरावती में इसी हाथी को रथ पर बैठा कर प्रदर्शित किया गया है यानी वह श्रेष्ठ हाथी है। साची के तोरण पर कपिल-वस्तु के महल का भी दृश्य है।

फलक १० (सिद्धार्थ का जन्म)

सांची के तोरण पर गौतम बुद्ध के जन्म का प्रदर्शन कई प्रकार से किया गया है। फलक ९ मे माया देवी का सपना इसी प्रसग में प्रदर्शित है। इस चित्र मे माया देवी कमलपुष्प पर खड़ी है। दो परिचारिकाएँ समुख हैं। चारों तरफ कमल खिले है।

फलक ११

अमरावती उष्णीस पर यह चित्र महाभिनिष्क्रमण की घटना को व्यक्त करता है। यह प्रदर्शन ईसवी सन् पहली शती का है, जिस समय अमरावती पर महायान का प्रभाव पड़ चुका था। इसमे बुद्ध की प्रतिमा बनायी गई। घोड़े पर राजकुमार गौतम सवार होकर कपिलवस्तु को छोड़, जंगल को जा रहे हैं। उस राजकुमार के साथ कई व्यक्ति दिखल.ए गए हैं। कपिलवस्तु त्यागने की घटना को महाभिनिष्क्रमण कहते है।

फलक १२

साची तोरण के चौपहल स्तंभ पर अनेक घटनाएँ प्रदर्शित की गई है। इस चित्र में चक्र पा धर्मचक्र की पूजा का प्रदर्शन है। नीचे रथ पर सवार राजा प्रसेनजीत पूजा हेतु जा रहा है। रथ के आगे अन्य राजकीय पदाधिकारी जाते दीख पड़ते हैं। इस स्थान की परिक्रमा कर दाहिने किनारे पूजास्थान पर प्रवेश करने का मार्ग दीख पड़ता है।

फलक १३

भरहुत वेष्टनी की फलक पर अनेक घटनाएँ प्रदर्शित हैं। इस चित्र में तीन बातों को दिखलाया गया है। सर्वप्रथम श्रावस्ती का श्रेष्ठी (सेठ) अनाथपीडिक ने जेत नामक राजा से भूमि माँगी, जिसपे आराम (कुटिया) बनाने की इच्छा थी। राजगीर मे अनाथपीडिक ने भगवान को श्रावस्ती आने

का निमंत्रण दिया था, तो उत्तर मिला कि आराम बनने के पश्चात् तथागत वहाँ जाएँगे। इसी कारण श्रेष्ठी ने जेत से भूमि खरीदी। उस भूमि का मूल्य उतना ही था, जितना सिक्का उस क्षेत्र को ढँक ले। यही कारण है कि बैलगाड़ी से सिक्का (कार्षापण) को उतार कर जमीन पर फैलाया जा रहा है। दायीं ओर नीचे कुटिया बनी दीख पड़ती है। बाएँ ऊपर की ओर अनाथपीडिक जलपात्र लिए उस आराम (कुटिया) को दान कर रहा है। गोलाई के नीचे सादे प्रस्तर पर ब्राह्मी में लिखा है—

जेतवन अनाथपीडिको देति कोटि संथतेन केता

भगवान निमंत्रण स्वीकार कर अनेक भिक्षुओ के साथ श्रावस्ती पधारे और उन्होने उसी आराम मे निवास किया। फलक पर कलाविद ने जेतवन विहार का दृश्य खोदा है तथा अनाथपीडिक की बातें व्यक्त की हैं।

फलक १४

यह चित्र सांची तोरण के चौपहल स्तभ पर खुदा है। भगवान बुद्ध के चार गौड चमत्कारो में से सकिसा का अवतरण एक चमत्कार माना गया है। बुद्ध तुषित स्वर्ग मे अपनी माता माया देवी को धर्मोपदेश देने गए तथा वहाँ से मृत्युलोक मे आए। उसी का प्रदर्शन है। देवलोक तथा ससार दोनो चित्र के मध्य मे सीढी के ऊपर एवं निचले भाग मे दिखलाए गए हैं। बोधिवृक्ष बुद्ध का प्रतीक होने के कारण तथागत की स्थिति का द्योतक है। ऊपर देवता तथा नीचे मनुष्य अंजलिमुद्रा मे दीख पड़ते हैं। सीढ़ी से नीचे उतरने का भाव व्यक्त हो रहा है।

ईसवी-पूर्व शती मे भरहुत वेष्टनी पर सीढी के ऊपर नीचे वृक्ष के स्थान पर 'पदचिन्ह' खुदे हैं। ब्राह्मणधर्म में 'विष्णुपद' की पूजा की जाती है तथा गया में 'विष्णुपद' नामक मदिर है। संभवतः ब्राह्मण मत से पदचिन्ह बौद्ध मत मे लिया गया होगा। बृहत्तर भारत मे भारतीय संस्कृति के विस्तार होने पर देव-प्रतिमाएँ बनीं तथा 'पदचिन्ह' भी बनाया गया। जावा में इस प्रकार के पदचिन्ह की पूजा होती है। सुवर्णद्वीप में पूर्णवर्मा नामक राजा के पद-चिन्ह की भी पूजा होती रही। इसका कारण यह था कि राजा दैवी शक्ति (Divine king)सहित जन्म लेता है। अतएव, दरबार में 'चरणपादुका' रखी जाती है। वोजेल ने विचार प्रकट किया है कि पदचिन्ह प्रभुता का प्रतीक माना जाता था, इस कारण राजा लोगों पर शासन करता है।

फलक १५

बौद्ध जातकों में वेसंतर नामक जातक का कथानक अत्यंत रोचक है। इससे समाजवाद तथा जनतंत्र की भावना व्यक्त होती है। पूर्वी पंजाब का राजा वेसंतर बहुत बड़ा दानी शासक था। उसके पास एक हस्ति था, जिसे यह वर मिला था कि वह जानवर जिस स्थान पर जाएगा, वहीं घनघोर वृष्टि होगी। एक बार उडीसा में अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ा। उड़ीसा से ब्राह्मणों ने वेसंतर के पास आकर निवेदन किया और हाथी को माँगा। दयालु राजा ने उसे दे दिया। इस कार्य का जनता ने विरोध किया और राजा महल छोड़ राज्य त्याग कर जंगल मे चला गया। सांची के तोरण पर विस्तृत रूप से सारी कथा प्रदर्शित है। किंतु, इस फलक पर संक्षेप रूप मे उस कथानक को दिखलाया गया है। अमरावती के उष्णीस पर यह खुदा है। इसमें राजा ब्राह्मण को हाथी दान करते दिखलाई पड़ता है। हाथी सुसज्जित है। सूंढ़ के पास राजा खड़ा है तथा समीप मे ब्राह्मण दीख पड़ता है। मध्म एशिया मे इसी तरह का संक्षिप्त प्रदर्शन मिला है।

फलक १६

भरहुत के फलकों पर जातको का प्रदर्शन मिलता है। यहाँ भी महाकपि जातक का दृश्य दिखलाया गया है। काशीराज ब्रह्मदत्त की रानी को एक मल्लाह ने सुंदर फल भेंट किया। रानी ने उसे चखा और अत्यंत प्रसन्न हुई। उनके मन में यह कुविचार उत्पन्न हुआ कि जो जानवर इस फल को खाता होगा, उसका मासल हृदय कितना मीठा होगा। इसीलिए उसने राजा से आग्रह किया कि उस फल के चखने वाले जानवर का हृदय निकाल कर मँगाया जाए। ब्रह्मदत्त ने ऐसी आज्ञा प्रसारित की और सैनिक नदी के बहाव की विपरीत दिशा मे फलवृक्ष की खोज मे चल पड़े। एक स्थान पर वही फल दीख पड़ा। बदरो का झुंड उसे खा रहा था। बंदरों में महाकपि बोधिसत्व के रूप मे वर्त्तमान थे। उन्होने सारी वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त कर नदी पर अपने शरीर का पुल बना दिया, ताकि सारे बदर इस पार से नदी उस पार चले जाएँ और राजा की सेना उन्हें मार न सके। इस चित्र में वही कथा खुदी है। ऊपरी भाग में नदी के दोनों किनारों पर वृक्ष है। महाकपि ने शरीर फैलाकर पुल बना दिया है और बंदर महाकपि की पीठ से होकर भाग रहे हैं। निचले भाग मे बैठा बंदर (महाकपि) राजा के प्रतिनिधि को समझा रहा है कि हिंसा नहीं करनी चाहिए। उससे ऊपर दो व्यक्ति चादर फैलाए

फल को एकत्रित कर रहे हैं, ब्रह्मदत्त यह सभी सुन कर अहिंसावादी हो गया। फलक के ऊपरी भाग में सादे प्रस्तर पर ब्राह्मी मे लेख अंकित है।

फलक १७

सांची तोरण के चौपहल भाग पर ये दो प्रदर्शन हीनयान मत से संबंधित हैं। नीचे बोधिवृक्ष की पूजा हो रही है। ऊपरी भाग में वृक्ष तथा चारों तरफ मनुष्य एकत्रित हैं। कोने मे विद्याधर हैं। इसमे ऊपर वेदिका का आकार खुदा है, जिसकी उत्तर दिशा में बहती नदी दीख पड़ती है। दोनों तरफ वृक्ष है तथा बंदर दृष्टिगोचर होते हैं। मानव उस लीला (महाकपि) को देख रहा है। संभवतः यह काशीराज ब्रह्मदत्त के सैनिक हैं। फलक सोलह का संक्षिप्त रूप यहाँ वर्तमान है। इस प्रदर्शन के बाएँ कोने मे महाकपि का वृहत् शरीर (नदी इस पार तथा उस पार) देखा जा सकता है।

फलक १८

फलक के इस प्रदर्शन में षड्दंत जातक का कथानक खोदा गया है। सांची की बडेरी पर इसे भी दिखलाया गया है, जिसका छोटा रूप भरहुत की वेष्टनी पर देखते है। इस गोलाकार खुदाई के ऊपर 'षड्दंत जातकम' वाक्य ब्राह्मी मे अंकित है। अतएव, इसे छह दाँत वाले हाथी की कथा समझते है। इस कथा का वर्णन बौद्ध ग्रंथों मे एक-सा नही मिलता। ह्वेनसांग ने इसे सारनाथ से सबद्ध किया है। इस चित्र में पिछले हाथी के छह दाँत ज्ञात होते हैं। उसके आगे व्याधा दाँत लिए खडा है। बोधिसत्व ने व्याधे से कहा था कि मृत्यु के पश्चात् तुम दाँत को आरी से काट लेना। शिकारी ने वैसा ही किया और ब्रह्मदत्त की रानी के सामने ले गया।

फलक १९

साँची तोरण के स्तंभ पर यह दृश्य दिखलाया गया है कि बुद्ध को (बोधि-वृक्ष के रूप मे) वानर के प्रमुख नायक भगवान को पात्र भर कर मधु अर्पित कर रहा है। दो बंदर हैं तथा अन्य नर-नारी पूजा कर रहे हैं।

फलक २०

भगवान बुद्ध अलौकिक व्यक्ति थे। अतएव, सभी के वश थे। पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता सभी उनकी पूजा करते थे। इस प्रदर्शन मे भरहुत के स्तंभ पर

इलापट्रा नामक नागराज द्वारा पूजा का दृश्य है। इस दृश्य मे नाग को तीन रूपो मे दर्शाया गया है—

(१) जानवर नाग के रूप में (वृक्ष के समीप मे),

(२) मिश्रित रूप (नाग + मनुष्य) ऊपरी भाग मे सिर मनुष्य का। पैर का भाग नाग का है।

(३) मानवरूप में नागराज—बोधिवृक्ष के दाहिने नागराज तथा रानी वृक्ष की पूजा कर रहे हैं। व्यक्ति के सिरे पर नागछत्र वर्त्तमान है। वही नागराज है।

विद्वानो का मत है कि नाग की स्थिति अनार्यमत मे स्वीकृत थी। बौद्ध मत मे मुचलिंद नाग (बोधगया में) तथा इलापट्रा नाग (भरहुत मे) प्रदर्शित हैं। यानी नाग की कल्पना बुद्धमत में भी की गई।

फलक २१

इस फलक में भरहुत-वेदिका तथा तोरण का स्वरूप प्रदर्शित है। इसमें वेदिका के चारो भाग स्पष्ट हैं—

(१) आलंबन,

(२) स्तंभ,

(३) सूची और

(४) उष्णीस।

इन सभी पर अधिकतर जातको का प्रदर्शन है। तोरण भी साची से मिलता है। वेष्टनी की खुदाई इसकी विशेषता है।

फलक २२

साची के मुख्य स्तूप का चित्र। स्तूप के अंड के निचले भाग में मेधि दीख पड़ती है। ऊपर हरमिका तथा छत्र है। चारों तोरण की स्थिति भी स्पष्ट है। साथ मे अशोक का स्तंभ स्थित है, जिसके शीर्ष पर चार सिंह तथा सबसे ऊपर धर्मचक्र की आकृति है। स्तूप की वेदिका अनलंकृत है। इसके देखने से सारी विस्तृत योजना समक्ष मे आ जाती है। प्रदक्षिणा-पथ से मेधि तक पहुँचने के लिए सीढ़ी बनी है। मेधि तथा वेदिका की बनावट मे अधिक अंतर नही है। यह स्तूप पहाड़ी पर स्थित है। इसी के समीप अन्य गौड स्तूप, मदिर तथा विहार बनाए गए थे।

फलक २३

इस चित्र में अमरावती स्तूप का प्रदर्शन है। यह संगमरमर का बना था। अब तो इसके अवशेष वहाँ नही है, किंतु मद्रास संग्रहालय में टुकड़ों को जोड़ कर

पूरा आकार तैयार किया गया। इसकी विशेषता यह है कि अमरावती स्तूप का प्रत्येक भाग अलंकृत है। ऊपर हरमिका तथा छत्र दीख पड़ते हैं। उससे नीचे खुदाई का भाग स्पष्ट है। अंड का अलंकरण अमरावती को छोड़ कर अन्यत्र नहीं मिलता। अंड का निचला भाग बुद्ध की प्रतिमाओं से भरा पड़ा है। मेधि का ऊपरी प्रदक्षिणा मार्ग भी वेष्टनी से घिरा है, जिसमें चार दिशाओं में पाँच-पांच आयक स्तंभ दीख पड़ते हैं। आयकस्तंभ के सामने बाहरी फाटक है। लेकिन, निचले प्रदक्षिणा-पथ की तरह स्तूप का चबूतरा प्रतीकों तथा मूर्तियो से भरा पड़ा है। इसमे सांची की तरह तोरण नही है। परंतु, बहिर्मार्ग बना है। उस रास्ते से घुसते ही उपासक बुद्धमूर्ति को देखता है। आयकस्तंभ के पार्श्व मे सीढियाँ बनी है। इसमें ऊपरी तथा निचले प्रदक्षिणा मार्ग से दर्शक बृंद परिक्रमा करते समय भव्य एवं सुंदर प्रदर्शनों को देखकर विभोर हो जाता है। अमरावती की खुदाई अद्वितीय है।

फलक २४

सारनाथ में धमेक स्तूप आज भी दर्शकों को बौद्ध स्तूप की विशालता की याद दिलाता है। छोटे चबूतरे पर ईंट का बना स्तूप है। निचले भाग मे चौथी सदी में प्रस्तर का आवरण लगाया गया, जिस पर विभिन्न तरह की खुदाई है। इसमे स्तूप की विशिष्टताओ का अभाव है। अतएव, सांची और अमरावती के सामने इसे स्तूप की सज्ञा नही दी जा सकती। हरमिका, छत्र और वेष्टनी का अभाव है।

फलक २५

नालंदा का मुख्य स्तूप विहारों की पंक्ति को पश्चिम-दक्षिण दिशा मे स्थित है। इसका कई बार संस्कार किया गया था। बाहरी सीढी ऊपरी स्तर को बतला रही है। बायी ओर के आकार पूजास्तूप है, जो खुदाई से निकले हैं। सभी मलवे मे बद थे। सभी को देखने से नालदास्तूप का भग्नावशेष क्रमिक वृद्धि की याद दिलाता है। उसके मूलरूप का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

फलक २६

भारतवर्ष के इमारतों में मौर्य युगी गुफाए प्राचीनतम मानी हुई है। अशोक बौद्धधर्म का मानने वाला था, इस कारण धर्मप्रचार के लिए उसने अनेक कार्य किए। स्तूप का निर्माण भी उसका महत्त्वपूर्ण कार्य था। उसने अनेक धर्मशासन प्रस्तर तथा स्तंभ पर खुदवाए। बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। सांची,

सारनाथ तथा कौशांबी के लेखों में उसने संघ मे विभेद डालने वालों को दंड का आदेश दिया है। इससे पता चलता है कि संघ की स्थापना हो गई थी। आश्चर्य तो यह है कि उस सम्राट ने भिक्षुओं के लिए बिहार का निर्माण न किया। गया जिला (बिहार प्रदेश) में बेला रेलवे स्टेशन के समीप बराबर की पहाड़ियाँ हैं, उसमें अशोक ने आजीविक साधुओं के लिए गुहा खुदवायी। उस स्थान का चुनाव इस कारण किया गया कि गया की सख्त पहाड़ियाँ गुहा के लिए उपयोगी थीं। उस गुहा पर लेख खुदा है, जिसमें राज्याभिषेक के १२ वें वर्ष में गुहा-निर्माण का वर्णन मिलता है। तीसरी गुहा १९ वें वर्ष मे निर्मित हुई यानी ईसा-पूर्व २५१ वर्ष मे खोदी गई थी—

लाजा पियदशि एकुननी
सतिवसाभिसितेन जलघो
मे इयं कुभा
सुपियं खलतिक पवतसि दिना।

अशोक ने पहले लेख मे आजीविक नाम का उल्लेख किया है। बौद्ध भिक्षुओ के लिए गुहादान न होने पर भी यह गुफा वास्तुकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह लोमश ऋषि गुहा के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय कलाविद् ग्राम की झोपड़ी के अनुकरण पर गुहा की योजना तैयार करते थे। इस गुहा का द्वार प्रायः अर्द्ध गोलाकार है। गोलाई के नीचे प्रस्तर के छोटे शहतीर दीख पड़ते हैं। झोपड़ी के देखने से इसकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। झोपड़ी के बाँस लबे तथा चौड़े आकार मे रहते है, जिन पर फूस बाँधा जाता है। यह गोलाई के नीचे प्रस्तर ढाँचा की याद दिलाते हैं कि अदर की झोपड़ी गोलाई मे है। वास्तव में अंदर पहुँचने पर छत गोलाई में बनी है, जिस रूप में झोपड़ी का ऊपरी भाग होता है। अंदर के लेप मौर्य स्तंभ से मिलते हैं। बाहर की ओर दरवाजे के ऊपर मध्य में स्तूप की आकृति है तथा हाथी पंक्तिबद्ध होकर खड़े हैं। उससे ऊपर जालीदार बातायन बना है। इस प्रकार लोमश ऋषि गुहा ग्रामीण झोपड़ी के आकार का प्रस्तर (में वास्तविक) स्वरूप संमुख उपस्थित करता है। तात्पर्य यह है कि ग्रामीण इमारतों की परिकल्पना पर ही प्रस्तर मे इमारतें गुहा आदि तैयार की गई।

फलक २७

मौर्य युग के पश्चात् जो भी बौद्ध इमारतें बनी, वे पश्चिमी भारत के सहयाद्रि पर्वत में खोदी गई; क्योंकि स्थानीय काले ठोस प्रस्तर गुहा आदि के

लिए उपयोगी था। उसमें स्थायी निवासस्थान बन सका। फलक में पर्वत के माथे को सुंदर बना कर गुहा खोदने का कार्य दिखलायी पड़ता है। एक ही स्थान पर पहाड़ी के निचले भाग से खुदाई शुरू कर शनै:-शनै: गहराई में चले जाते थे। गुहा-निर्माण के पश्चात् माथे को अलंकृत करना आवश्यक था। उसी को देख कर दूर से भिक्षु वहाँ पहुँच सकते थे। अन्यथा गुहाद्वार का दिखलायी पड़ना संभव न था। माथे को किस रूप से अलंकृत करें, यह भी प्रश्न था। उस समय के संगतराशों के विचार में विविध कल्पनाएँ न थी। गुहा के सिरोभाग की खुदाई झोपड़ी की नकल पर थी। वही अर्द्ध गोलाकार रूप द्वार के ऊपर हवा के लिए परमोपयोगी था। उस वातायन की बनावट को ही स्थापत्य में अपनाया और माथे को वातायन के आकार में काट कर सुंदर रुप दिया। यह माथा पूना के समीप भाजा गुहा का है। इसमें गुहा का द्वार सामने है। ऊपरी भाग में लोमश ऋषि गुहा के द्वार सदृश अर्द्ध गोलाकार सिरा बना है। इस द्वार के पार्श्व में पर्वत के माथे को खोदकर अनेक वातायन बने हैं। कहीं-कहीं वेष्टनी का रूप भी दीख पड़ता है।

फलक २८

बौद्धधर्म की वृद्धि के साथ भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी। अतः, उनके स्थायी निवास के लिए पर्वतों मे गुहाएँ खोदी गई। पर्वत मे खुदे भिक्षु-निवास को 'विहार' कहते थे। पश्चिमी पर्वतमाला में अनेक विहार खोदे गए। फलक मे नासिक का गुहा दिखलायी पड़ता है।

महाराष्ट्र प्रदेश मे नासिक नगर से दस किलोमीटर दूर पहाड़ में गुफाएँ खुदी है, जो स्थानीय भाषा मे 'पांडलेन' कही जाती हैं। पश्चिम भारत मे सर्व-प्रथम भाजा में गुफाएँ बनी, जिनके पश्चात् नासिक में। भाजा गुहा के स्तंभ सादे है। सर्वप्रथम ग्रामीण आँगन तथा कमरों को ध्यान में रखकर विहार तैयार किए गए थे। फलक मे गुहा के द्वार तथा स्तंभसहित बरामदा दीख पड़ता है। द्वार से घुस कर अंदर ढँका आँगन है। ऊपर पर्वत की छत है। आसमान दीख नहीं सकता। आँगन के चारो तरफ कोठरियाँ (Cells) बनी हैं, जिनमें भिक्षु रहा करते थे। नासिक गुहा की विशेषता स्तंभों का अलंकरण है। विहार के बरामदे में कई स्तंभ खड़े हैं। प्रत्येक के मूल में सीढ़ीनुमा कटान है। उसके ऊपर कलशनुमा बनावट है। स्तंभ कलश के मुख में स्थित दीख पड़ता है। बरामदा ऊँचाई पर बनाया गया है, जिस तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ हैं। ऊपर माथा वेष्टनी के रूप में कटा है।

अशोककालीन स्तंभ एकादम तथा चिकने पालिशदार गोल प्रस्तर के बनते थे। किंतु, कालांतर में स्तंभ कोणयुक्त बनने लगे। पालिश (लेप) का नाम तक न था। किंतु, कुछ अलंकरण प्रारंभ हो गया। नासिक में स्तंभ-अलंकरण का आरंभ हुआ। स्तंभ की पीठिका पर कलश की आकृति है, जिसे घट-आकार कहते हैं।

फलक २९

जैसा कहा गया है, गुहा-निर्माण में पर्वत के माथा की खुदाई अनिवार्य थी। दूर से ही दर्शक को आकृष्ट करना था। पूना के समीप कोनदने गुहा का माथा दिखलाया गया है, जो वातायन आकार से सुसज्जित है। यह हीन-यान युग की कल्पना थी। उस काल मे प्रतीक का ही प्रमुख स्थान था। किसी प्रकार की मूर्ति खोदी नही जा सकती थी। अतएव, हीनयान स्थापत्य में चैत्य के वातायन को गुहा के माथे पर खोद कर सारी परिस्थिति को सुंदर बनाया जाता। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे सुंदरता से प्रेम है। भिक्षुगण भी गुहा को सजाते थे। पर्वत के माथे को खोदकर वातावरण रसमय हो जाता तथा सुख का अनुभव करते रहे। इस फलक मे गुहा की बाहरी दीवार को सुंदर बनाने की प्रक्रिया दीख पड़ती है।

फलक ३०

आंध्र प्रदेश के औरंगाबाद नामक स्थान से ६० किलोमीटर पर अजंता ग्राम के समीप तीस गुफाएँ अर्द्ध वृत्ताकार पहाड़ी में खुदी हैं। नीचे नदी बहती है। पुरातत्व विभाग ने गुफाओ के निरीक्षण के लिए सुंदर मार्ग बना दिया है। यों तो गुफाएँ क्रम से नही खोदी गई थीं। गुहा संख्या ९ का काल पहली गुहा से पूर्व का है। परंतु, स्थिति के अनुसार (जिस क्रम में दर्शक देखने लगता है) सर्वप्रथम गुहा को पहली गुफा कहते हैं। इसी प्रकार क्रम से दो, तीन, चार आदि। वर्त्तमान फलक में पहली गुहा का भीतरी बरामदा दीख पड़ता है। स्तंभसहित बरामदे में कोठरियों के प्रवेशद्वार बने हैं, जिनसे कोठरी के अंदर घुस जाते हैं। इन स्तंभों की बनावट नासिक से भी परिष्कृत है। चौपहल, आठकोण, सोलह आदि-आदि रूप के स्तंभ कटे हैं। ऊपरी भाग में ब्रैकेट हैं, जिनमें वामन-आकृति बनी है या जानवर के चित्र हैं। ब्रैकेट पूर्ण रूप से खुदे हैं। ऐसी खुदाई अन्यत्र दीख नहीं पड़ती। गुहाओ के स्तंभों का विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन किया जाए, तो पता चलता है कि भाजा के स्तंभ सादे (अनलंकृत) हैं। नासिक में सीढ़ीनुमा कटाव तथा

घट आधार है। उसके पश्चात् अजंता के स्तंभ अधिक अलंकृत हैं। सिरे पर ब्रॅकेट की खुदाई दर्शनीय है। एक स्तंभ के सिरे पर चार हिरन खुदे हैं। जिनका चार शरीर हैं, किंतु सिर एक ही है, बरामदे की छत चित्रों से अलंकृत है।

फलक ३१

बौद्ध गुफाओं का अनुकरण ब्राह्मण स्थापत्य में भी किया गया। औरंगाबाद के समीप तीस किलोमीटर दूर एलोरा नामक गुफाएँ हैं, जहाँ बौद्ध, बीच में ब्राह्मण तथा अंत मे जैन गुफाएँ एक सीध से खुदी हैं। फलक मे एलोरा की गुहा सख्या २९ का भीतरी दृश्य दिखलाया गया है। इसे सीता का नहान या डुमर लेन (गुहा) कहते हैं। भगवान राम का इससे कोई संबंध नही है या सीता की आकृति भी नही है। यह शैव गुफा है। एलिफेंटा की तरह भीतरी बरामदे की दीवार पर शिव के अलौकिक कार्यो का प्रदर्शन है। मध्यवीथी के संमुख शिवलिंग स्थापित है। पार्श्ववीथी के चारो तरफ दीवार खुदी है जिसमें शिव नटराज, शिव लकुलीश, उमामहेश्वर और गंगावतरण आदि पौराणिक कथानक प्रदर्शित है। वर्त्तमान फलक में शिवपार्वती खड़ी है। कल्याण सुंदरमूर्ति का प्रदर्शन है। सामने स्तंभ नीचे चौपहल है। ऊपर अनेक कोण बन गए हैं। शीर्ष पर तकियानुमा आकार बनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि बौद्ध विहार के परिवर्तित रूप को ब्राह्मणों ने अपनाया। महायान विहार मे बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की जाती तथा बरामदे की ताख में अन्य प्रतिमाएँ खुदी दीख पड़ती हैं। ब्राह्मण स्थापत्य कला मे महायान गुफा का अनुकरण किया गया। मध्य मे शिवलिंग स्थापित कर चारों तरफ प्रदक्षिणापथ के पार्श्व में ताख पर ब्राह्मण देवी-देवताओ के स्वरूप को प्रदर्शित किया गया। आठवी सदी से इस प्रकार का अनुकरण दक्षिण में होने लगा। एलोरा गुफाएँ राष्ट्रकूट शासन में तैयार की गई थी।

फलक ३२

एलौरा में जितने बौद्ध विहार हैं उनमे गुहा संख्या १२ तथा १३ कई मंजिल के हैं। बारह गुफाओ मे ग्यारह विहार (भिक्षु के निवास-स्थान) हैं। संख्या ५ विहार बहुत अधिक गहराई में खोदा गया है, जो ११७ फुट गहरा और करीब ६० फुट चौड़ा है। परंतु, विहार सख्या १२ तीन मंजिल का है, जिसके सामने बहुत बड़ा आँगन है। विहार की बाहरी दीवार सर्वथा सादी है तथा संयम रीति से निर्मित है। विहार के भीतर दीवार नाना प्रकार से खुदी हैं, और गहराई मे खुदी है। पहली मंजिल का बरामदा ११२

फुट लंबा है। भीतरी भाग स्तंभावलि से तीन वीथियों में विभाजित है। मुख्य कक्ष ३५ फुट तथा १५ फुट क्षेत्रफल मे विस्तृत हैं। इसमें १२ कोठरियाँ हैं। बुद्धप्रतिमा के निमित्त केंद्रीय देवतागृह २३ × १५ फुट के विस्तार में बना है। दूसरी मंजिल का बड़ा कक्ष ११२ फुट लंबा तथा ७२ फुट गहरा है। पाँच स्तंभ पक्तियों के कारण यह पांच वीथियो मे विभाजित हो गया है। तीसरी मंजिल मे छत को आठ स्तंभ संभाल रहे हैं। एक किनारे देव-गृह निर्मित है। इस मठ के स्तंभ साधारण रीति के है। महायान विहारो मे जिस प्रकार का अलंकरण अजंता मे दीख पडता है, वह एलोरा में अनुपस्थित है। फलक में वही तीन मंजिल का मठ है, जो अपनी तरह का एकाकी मालूम पड़ता है। मंजिल के बायीं ओर ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं।

फलक ३३

जैसा कहा गया है, विहार के मुख्य कक्ष के सामने केंद्रीय देवगृह (Shrine) बना है, जिसमे बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सातवी सदी के पश्चात् चैत्य तथा विहार (मठ) का सम्मिश्रण हो गया। पूजास्थान विहार के केंद्रीय स्थान में स्थिर किया गया। फलक मे एलोरा भी तीन ताल के विहार का केंद्रीय भाग दीख पड़ता है। सामने बुद्धप्रतिमा धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा मे आसीन है दाहिनी ओर सातमानुषी बुद्ध की मनुष्य के रूप में अवतरित बुद्धमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो ऊंचे चबूतरे पर खोदी गई हैं। इससे बुद्ध-प्रतिमा की प्रतिष्ठा तथा विहार देवता का स्थान ज्ञात हो जाता है।

फलक ३४

साहित्य में भगवान बुद्ध के आठ चमत्कारो का वर्णन मिलता है, जिसका प्रदर्शन कला मे दीख पडता है। निम्न चार प्रमुख चमत्कार हैं—

(१) जन्म,

(२) ज्ञान,

(३) धर्मचक्र परिवर्तन और

(४) महापरिनिर्वाण।

गौड़ चमत्कारो मे वैशाली का महाप्रदर्शन सबसे महत्वपूर्ण है। भगवान ने एक ही क्षण में अनेक स्वरूप धारण कर लिया, यही प्रदर्शित किया गया है। यह अजंता गुहा संख्या १ मे भित्तिचित्र की दशा में दिखाया गया है। सार-नाथ कला शैली में प्रस्तर पर खुदा है। फलक पर चार पंक्तियों में एक सदृश चित्र बने हैं। सिर के चारों तरफ प्रभामंडल है, अतएव यह चित्र साधारण

व्यक्ति का न होकर अलौकिक देवता बुद्ध का है। यद्यपि दर्शकों के लिए यह पहली गुहा (विहार) है, किंतु भित्ति चित्र की विशिष्टता के आधार पर पाँचवी सदी में यह चित्र तैयार किया गया होगा। महायान मत के प्रभाव के कारण ही भितिचित्रो में बुद्ध को स्थान मिल पाया। कहा जाता है कि वैशाली के छह साधुओं ने बुद्ध की श्रेष्ठता का विरोध किया। उनका कथन था कि विना चमत्कार देखे वे उनकी वरीयता पर संदेह करेंगे। इस कारण बुद्ध ने हवा मे कुद कर महाप्रदर्शन दिखलाया था।

फलक ३५

अजंता गुहा के भित्तिचित्रों को कई श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

(१) धार्मिक चित्र (बौद्धमत-संबंधी),

(२) सामाजिक प्रदर्शन,

(३) ऐतिहासिक वार्ता का चित्रण और

(४) आलंकारिक चित्र।

वर्तमान फलक पर चैत्य संख्या १९ की दीवार पर चित्रित जानवरों का झुंड दिखाया गया है। अजता मे अधिकतर विहार संख्या १, २, १६ तथा १७ चित्रित हैं। किंतु, चैत्य सख्या १९ मे भी भित्तिचित्र हैं। अनेक प्रकार के चित्रों मे बुद्ध तथा यशोधरा एवं राहुल उल्लेखनीय हैं। चैत्य की मध्यवीथी की छत पर हाथियो के झुंड का चित्र खीचा गया है, जो आलंकारिक हैं। चैत्य के भित्तिचित्र अजंता की विशेषता हैं।

फलक ३६

संसार के चित्रों में अजता के भित्तिचित्र सुप्रसिद्ध हैं। विहार में रहने वाले भिक्षुओं ने दीवार तथा छत को चित्रो से सजाया था। उन भित्तिचित्रो के देखने से नाना प्रकार के चित्रों में वनस्पति तथा पशु-जीवन का परिज्ञान हो जाता है। चित्रकार को विभिन्न पुष्पों का ज्ञान था, जिसका प्रमाण वर्तमान फलक मे मिलता है। गुहा संख्या १ की छत को सुंदर वर्गाकार चित्रित दिलहा से सुसज्जित किया गया है। इसमें अनेक प्रकार के पुष्प तथा फल के चित्र हैं। हाथी का भी चित्र है। कई मिथुन आकृतियाँ चित्रित हैं। इनमें पुष्पों का चयन तथा रंगीन चित्रण उच्च कोटि की कुशलता का द्योतक है। पुष्पलता दर्शनीय तथा मोहक हैं।

फलक ३७

बौद्ध कला में जातक प्रदर्शन की बहुलता है। गौतम बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन के अतिरिक्त पूर्वजन्म की कथाओ (जात = जन्म: क = कथा) को तक्षण,

मूर्ति तथा चित्रकला में दिखलाया गया है। हीनयान युग में तो प्रतीक के अतिरिक्त जातक प्रदर्शन ही प्रमुखता रखता है। अजंता के भित्तिचित्रों में भी अनेक जातको को चित्रित किया गया है। वर्त्तमान फलक पर 'महाजनक' जातक का चित्र है। महाजनक नामक नवयुवक राजा संसार से विरक्त होकर साधु बनना चाहता था। इसी को गुहा संख्या १ के कई चित्रों के दिलहा (Panels) पर प्रदर्शित देखते हैं। पहले दिलहा पर राजा की माता शिवलि महाजनक को समझा रही है कि संसार को न त्यागो। दूसरे में कई सौ नर्तकियां राजा मे आसक्ति पैदा करने का प्रयत्न कर रही हैं। तीसरे प्रदर्शन मे राजा-रानी बैठ कर विवाद कर रहे हैं। महाजनक अपने विचार पर पक्का है। उस इरादे को रानी तक पहुँचा रहा है। विचारो में हेरफेर होते न देख रानी विरक्ति के विरोध मे बातें कर रही हैं। इस फलक में राजा-रानी बैठे हैं। सिर पर ताज है। गले मे हार पहने है। हाथ उठा कर अपने संकल्प (संसार-त्याग) की उपयोगिता को स्वीकार करना चाहता है। दाहिनी ओर रानी विवाद में उलझी है। हाथ उठा कर राजा के संकल्प को अस्वीकार कर रही है। दोनों के चेहरे पर मलिनता है। उदासी छाई है। राजा की पीठ पर एक सुंदर युवती आभूषण धारण किए खड़ी है। कोने में राजमाता शिवलि का चित्र है। इस प्रकार चित्रकार महाजनक जातक का कई दिलहों (Panels) मे सजीव प्रदर्शन किया है। अजंता के चित्रों की यही विशेषता है।

फलक ३८

हीनयान की बौद्ध कला में जातक प्रदर्शन की प्रमुखता के विषय में कहा गया है। विस्वंतर जातक एक प्रधान कथानक है, जिसका प्रदर्शन सांची-तोरण तथा अमरावती में किया गया है। अजंता भित्तिचित्र में भी इसका चित्रण है। कथानक मे वर्णन आता है कि दान के कारण विस्वंतर को मारा कष्ट उठाना पड़ा, जैसा हरिश्चंद्र की पौराणिक कथा से सब बातें विदित हैं। विस्वंतर महल से रथ पर सवार हो जंगल को गया। इसका कारण यह था कि उसके पिता संजय के पास एक सफेद हाथी था। वह जहाँ कहीं भी जाता, वृष्टि हो जाती थी। विस्वंतर ने इसे ब्राह्मणो को दान कर दिया। उसके पिता संजय को बुरा मालूम हुआ। प्रजा ने भी इसका विरोध किया। राजा को राज्य त्यागना पडा। जंगल मे ब्राह्मणो ने उसकी पत्नी तथा बच्चो को मांग लिया और विस्वंतर ने उन्हें दान कर दिया। इंद्र को यह देख आश्चर्य हुआ और उसने चाहा कि विस्वतर का राज्य मिल जाए। इस

फलक में स्वर्ग से इंद्रदेवता पृथ्वी पर उतर रहे हैं और साथ में अप्सराएं भी हैं। इस रंगीन भित्तिचित्र में सफेद बादल दिखलाए गए हैं। उसी मार्ग से इंद्र उतर रहा है। सिर पर ताज है तथा गले, बांह में आभूषण हैं। दाहिनी ओर अप्सरा हैं।

फलक ३९

भगवान बुद्ध ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् सर्वत्र भ्रमण कर उपदेश देते रहे। वर्षावास में अनेक भिक्षु साथ में रहा करते थे, किंतु उनमें आनद नामक भिक्षु सबसे प्रमुख था, जिसकी सलाह से भगवान अनेक निर्णय लेते रहे। महा-प्रजापति को संघ में प्रवेश कराने की आज्ञा आनद के कहने से बुद्ध ने दी। यानी आनंद बुद्ध के मानस का काम करते थे। महावग्ग में बुद्ध तथा आनंद की वार्ता का विशेष विवरण मिलता है। इस फलक में बुद्ध आसन पर बैठे है। उनके सिर के चारों तरफ प्रभामंडल दीख पड़ता है। उनके हाथ व्याख्यान-मुद्रा मे हैं। आनंद संमुख खड़े हैं। चीवर धारण किए हैं। चेहरे से व्यग्रता टपकती है।

फलक ४०

अजंता के भित्तिचित्रों मे सामाजिक चित्रों का भी प्रदर्शन है। शृंगारिक विषयों को भी दिखलाया गया है। आश्चर्यमय प्रश्न होता है कि मठों में भिक्षुओं के निवासस्थान में सांसारिक विषयों का प्रदर्शन क्यों कर किया गया? इसका एक ही उत्तर है कि कलाकारों ने बुद्ध के जीवन की प्रत्येक दशा को चित्र में दिखलाया है। बुद्ध राजकुमार के रूप मे महल मे स्त्री के साथ रहा करते थे। उसी का चित्रण इस फलक पर है। महल के भीतर राजा रानी के साथ आलिंगन-मुद्रा मे है तथा दासियां आसपास बैठी हैं। बायीं ओर वस्त्रालंकार से सुसज्जित रानी छत्र के नीचे बैठी है। कुछ लोग इसे विस्वंतर तथा उसकी रानी माद्री का चित्रण समझते हैं। बायीं ओर ऊपर दो स्त्रियां महल मे झांक रही हैं। यह राजमहल का दृश्य है। तात्पर्य यह है कि अजंता चित्रों में सामाजिक, शृंगारिक तथा प्रमोद की बातें भी प्रदर्शित हैं। यानी मठों की दीवारों को नाना प्रकार से सजाया गया था।

फलक ४१

ईसा-पूर्व सदियों में गुहा-निर्माण का कार्य आरंभ हुआ और दो प्रकार की गुहाएँ खोदी गईं—

(१) चैत्य-पूजास्थान और

(२) विहार-निवासस्थान यानी मठ।

बौद्ध भिक्षुओं की संख्या बढ़ने से विहार तैयार किए गए। उन सभी के पूजानिमित्त स्थान को निश्चित करना भी आवश्यक था। अतएव, मठ के समीप मे 'चैत्य' खोदे गए हैं। उनका मूलरूप ग्राम की झोपडी से नकल किया गया। वर्त्तमान फलक मे चैत्य का दृश्य है, जो पूना के समीप भाजा नामक ग्राम के पार्श्व मे है। कठोर पर्वत की तलहटी से शिलाखंड खोद कर गुफाएँ बनायी गईं। चूंकि यह पूजा का स्थान था, अतएव किसी प्रतीक का रहना परमावश्यक था। हीनयान के चार प्रतीको का शुंगकाल मे स्थान दिया गया—

(१) हाथी—जन्म का प्रतीक,

(२) वृक्ष—ज्ञान का प्रतीक,

(३) चक्र—उपदेश का प्रतीक और

(४) स्तूप—निर्वाण का प्रतीक।

अशोक ने चौरासी हजार स्तूप बनवाकर स्तूप पूजा का प्रचार किया। उसी परंपरा मे चैत्य मे भी स्तूप बनाए गए थे। यह भी समझते हैं कि पर्वत मे स्तूप आकार बनना सरल था, अत स्थापत्यकला में स्तूप को ले लिया गया। वर्त्तमान फलक में सामने स्तूप का आकार है। पार्श्व मे सादे (अनलंकृत) स्तंभ हैं, जो ऊपरी भाग को सहारा दे रहे हैं। मेहराबदार भाग में लकड़ी की पंसलियां बनाई गई हैं, जो झोपड़ी के ऊपरी कड़ियो की याद दिलाती है। उसी ढांचे पर फूस रखकर झोपड़ी बनती रही। यहाँ लकडी की कड़ियाँ बाहर की ओर निकली है। ये गोलाई में रखी गई हैं, क्योकि चैत्य का ऊपरी भाग अर्द्ध गोलाकार बनाया जाता था। स्तूप के संमुख रिक्तस्थान (स्तंभों के मध्य में) पुजारी के लिए है। उसे मध्यवीथी कहते हैं। स्तंभावलि तथा पर्वत की दीवार के मध्यस्थ भाग को पार्श्ववीथी कहते है। उसे प्रदक्षिणापथ भी कहा जा सकता है। आश्चर्य यह है कि स्तंभ प्रस्तर के होकर अर्द्ध गोलाकार छत मे लकड़ी का क्यों प्रयोग किया गया? लकड़ी का छत में प्रयोग उस गुहा की प्राचीनता का द्योतक है। स्तंभों का भीतरी मोड़ भी प्राचीनता की बातें बतलाता है। ब्राउन का मत है कि छत के भाग को सर्वप्रथम तैयार कर उसी क्रम से नीचे उतरते थे। माथे को सुशोभित करने के कार्य को प्राथमिकता दी जाती थी। इसमे छत का अभाव है।

फलक ४२ तथा ४३

भाजा के समीप बेदसा नामक स्थान पर दूसरा चैत्य मंडप बने हैं, जो भाजा से कुछ विकसित रूप प्रकट करते हैं। स्तूप का निचला भाग चबूतरे का रूप बतलाता है। उसके ऊपर बेष्टनी का आकार खोदा गया है, जिसके ऊपर अंड है तथा हरमिका चौकोर है। शीर्ष पर सीढ़ीनुमा कटान ऊपर की ओर बड़ा होता गया है। अन्य खुद भाग स्तंभ आदि भाजा से चैत्य से मिलते-जुलते हैं। बराबर पर्वत में खुदी लोमश ऋषि गुहा का सिरोभाग मेहराबदार वातायन का स्वरूप लेकर पर्वत के माथे पर खोदा जाने लगा। बेदसा चैत्य मंडप के बाहर दक्षिण पश्चिम भाग में छोटी कोठरियाँ बनाई गई है, जो बिहार का काम करती थी। उनके माथे पर चैत्य वातायननुमा बहुत आकार खुदे हैं, जो पर्वत के सिरे को सुंदर बनाते हैं तथा दूर से दर्शकों को आकृष्ट करते हैं। फलक ४३ में कोठरियाँ तथा सामने के शिखाखंड में वातायननुमा आकार दीख पड़ते हैं।

फलक ४४ तथा ४५

हीनयान स्थापत्य कला में चैत्यों का प्रधान स्थान है। चैत्यों की खुदाई मे कुशलता का परिचय मिलता है। पर्वत के माथे को सुंदर बना वनस्पति को हटा कर उभरे हुए तरीके से वातायन बने हैं। उस सुसज्जित भाग के मध्य चैत्य-निर्माण का कार्य आरंभ किया जाता था। फलक ४४ मे कोनदने चैत्य का माथा तथा सिरोभाग खोदा गया है। फलक ४५ मे चैत्यद्वार का दृश्य है। मुख्य द्वार से ऊपरी भाग में रोशनी तथा वायु के प्रवेश के लिए अर्द्धगोलाकार जालीनुमा खुदाई करते थे। बाहरी भाग अश्वनालाकार था, जिसमें झोपड़ी के ढांचे की कड़ियों को प्रस्तर का रूप दे दिया गया है। बाँस का ढाँचा स्पष्ट दिखलाई पडता है। चूँकि झोपड़ी के अनुकरण पर चैत्य बने थे, अतएव प्रवेश-द्वार के ऊपरी भाग मे कड़ियों के स्थान वैसे ही प्रस्तर मे बनावट आवश्यक समझी गई। उसी को वातायन कहने लगे। प्रस्तर के सामने पहाड़ काट कर नीचे वेदिका तथा ऊपर वातायन का रूप तैयार किया जाता था। पश्चिमी घाट मे स्थित चैत्य स्थानो मे ऐसी ही बनावट सर्वत्र दीख पड़ती है। वेदसा से आरंभ होकर समस्त गुहा-निर्माण-कार्य मे वातायन का रूप सुंदरता के लिए खोदा गया था, अन्यथा माथे पर उनका कोई प्रयोजन न था।

फलक ४६

महाराष्ट्र मे नासिक की पहाड़ियो को काट कर गुहाए बनी हैं, जिन्हें स्थानीय जनता पांडुलेन कहती है। माथे पर चैत्य वातायन को देख कर तुरंत

कहा जाता है कि अमुक गुहा चैत्य मंडप है। फलक में नासिक के एक चैत्य का बाहरी दृश्य है। तलहटी में द्वार बना है। उसके ऊपर वेष्टनी का आकार खोद कर तैयार किया गया है। माथे पर चैत्य वातायन है, जिसमें जाली नहीं दीख पड़ती। खुला भाग है। हवा तथा रोशनी के लिए पर्वत के माथे पर वातायननुमा आकार बने हैं।

फलक ४७ तथा ४८

हीनमान चैत्य डपो में पूना के समीप कार्ले की गुहाएँ उत्तम यानी श्रेष्ठतर समझ जाती हैं। बंबई-पूना रेलवे मार्ग मे मल्लवली स्टेशन से ३ किलोमीटर पश्चिम ओर पहाड़ी के सिरे पर कार्ले की गुफाएँ बनी हैं। यों तो सभी चैत्य मंडप ऊँची पहाड़ी पर तैयार किए गए थे, किंतु कार्ले सैकड़ों फीट ऊँची चोटी पर स्थित है। चैत्य-निर्माण के क्रम मे इसे श्रेष्ठतर इसलिए कहा जाता है कि अलंकरण की मात्रा अधिक है तथा खुदाई मनोरम है। भाजा वेदसा के चैत्य स्तंभ सादे थे, जिसमें घट का आरंभ नासिक में हुआ। कार्ले में घटपीठ के अतिरिक्त स्तंभशीर्ष भी पूर्णरूपेण अलंकृत है। फलक ४७ के मध्य मे स्तूप वर्त्तमान है, जिसके चबूतरे पर अड (मेधिसहित) तथा सीढ़ी-नुमा हरमिका है। ऊपरी भाग में लकड़ी का छत्र है। मंडप का ऊपरी भाग अर्द्धगोलाकार है, जिसमे लकडी का ढाँचा है। स्तंभ के आधार में घट का आकार है, जिससे स्तंभ निकलता दीख पड़ता है। शीर्ष के तीन विभाग हैं, जो अशोक स्तभ के विभाजन के समान हैं—

(१) उलटा कमलपुष्प की बनावट,

(२) सीढीनुमा चौकी (आधार) और

(३) शीर्षस्थ दपतिसहित चार जानवर की आकृतियाँ।

अशोक के कमलपुष्प की तरह पखुड़ियाँ नहीं हैं, किंतु लहरदार कटान है। उससे उलटे पुष्प का अनुमान लगाया जाता है। चौकी पर जानवर की आकृतियाँ हैं, जिनकी पीठ पर मिथुन बैठे है।

कुछ लोगों का अनुमान है कि स्तूप-पूजा को देखने के लिए राजा-रानी (दंपत्ति) का चित्र मौजूद हैं। उनका चित्र जानवरों की पीठ पर खोदा गया है तथा सब की आँखें स्तूप की ओर है। फलक ४८ मे उसी चैत्य के एक भाग का विस्तृत दृश्य है। जानवरो मे हाथी, वृषभ तथा अश्व देखे जाते हैं। मध्य-वीथी के सामने हाथी है तथा पार्श्ववीथी की ओर अश्व या बैल हैं। इस फलक में स्तूप के पीछे स्तभो को सादा रूप (अनलंकृत) दिखलायी पड़ता है।

उनमें घटआधार तथा शीर्षस्थ खुदाई आदि आलंकारिक बनावट का अभाव है। संभवतः कलाकारों ने उन स्तंभों की उपयोगिता न समझी तथा स्तूप के पीछे रहने से दर्शकों की आँखों से ओझल भी थे। फलक ४८ में मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी का स्थान स्पष्ट दिखलायी पड़ता है।

फलक ४९

इस फलक में कार्ले चैत्य के बरामदे का दृश्य है। पर्वत काट कर सिंह-स्तंभ बनाकर एक मुख्य प्रवेशमार्ग बनाया गया होगा, जो नष्ट हो गया है। उसके ध्वंस स्तंभ खड़े हैं। बाहरी द्वार के सम्मुख ही चैत्य मंडप के तीन प्रवेश-द्वार बने हैं। ये द्वार एक बरामदे मे खुलते हैं, जिसकी ऊँचाई पचास फीट है। फलक में चैत्य मंडप की मध्यवीथी में प्रवेश करने का द्वार दीख पड़ता है। मंडप की बाहरी दीवार तथा पार्श्व की लंबवत् दीवार पूरी तरह से खुदी है। मंडप के बिचले द्वार के सिरोभाग पर अर्द्धगोलाकार बनावट है, जिसके ऊपर विशाल चैत्य वातायन है। बाहरी दीवार पर वेष्टनी की भी बनावट दीख पड़ती है। नीचे की ताख में बाई ओर दंपति की मूर्तियाँ बनी हैं। उनका स्थूल तथा अनुपातरहित आकार ईसवी-पूर्व की तक्षण कला की याद दिलाता है। पैरो तथा हाथों मे आभूषण वन-जातियों के सदृश है। बरामदे के दोनों पार्श्व की दीवार पर चैत्य वातायननुमा आकार खुदे हैं तथा निचले भाग में दाहिनी ओर हाथी दृष्टिगत हो रहे हैं। इन खुदी आकृतियो के ऊपर बुद्ध की मूर्ति बनी दीख पड़ती है। इसे देखने से पता चलता है कि यह पीछे खोदा गया था। इनके लिए चैत्य की मूल योजना में स्थान न था। हीनयान चैत्य मंडप में प्रतिमा की स्थिति कल्पना के बाहर है। परंतु, महायान कलाकारों ने इनको महायान चैत्य का रूप देने के लिए बाहरी दीवार पर बुद्धमूर्ति को यत्रतत्र खोद कर केवल इच्छापूर्ति की थी। फलक मे बाहरी बरामदे में विशाल वातायन, दंपति की मूर्तियां तथा हाथियों की आकृतियाँ देखने योग्य हैं।

फलक ५०

अजंता गुहा-निर्माण मे चैत्य मंडप तथा विहार को यदा कदा तैयार किया गया। सभी एक व्यक्ति के द्वारा तथा एक समय में तैयार नही किए गए थे। अजंता में चैत्य की बनावट सर्वाधिक उन्नत अवस्था मे दीख पड़ती है। नासिक, बेदसा तथा कार्ले में जो अलंकरण आरंभ हुए, उनका सर्वोत्कृष्ट नमूना अजंता में देख सकते है। इस स्थान का बड़ा ही महत्त्व था, अतः हीनयान तथा महायान कलाकारो का ध्यान वहाँ गया। हीनयान के दो चैत्य (संख्या ९ तथा

१०) बनाए गए, जिनके भीतरी भाग में केवल स्तूप का आकार बना है। भाजा, पितलखोरा कोंडने, नासिक, बेडसा तथा कार्ले में सर्वत्र चैत्य मंडप में स्तूप बने हैं। वर्तमान फलक में अजंता का चैत्य संख्या ९ का बाहरी अलंकृत भाग दिखलाया गया है। इसमे विशेषता यह है कि चैत्यद्वार के सामने चार स्तभों सहित डयोढ़ी बनी है। सभी स्तंभ अलकृत है। ऊपरी भाग में चैत्य-वातायन अर्द्धगोलाकार रूप में बना है। इस गुहा के माथे की विचित्र अवस्था है। भीतरी स्तूप की स्थिति यह बतलाती है कि यह हीनयान चैत्य है, किंतु पार्श्ववर्ती दीवार पर बुद्ध की बैठी या खड़ी प्रतिमा पर्वत काट कर बनायी गई है। देखने से पता चलता है कि मूल योजना मे इनके लिए कोई स्थान न था। कालांतर मे महायान कलाकारों ने इतनी अधिक बुद्धमूर्ति खोद कर महायान चैत्य का रूप बनाने का प्रयत्न किया। फलक की दाहिनी ओर बुद्धप्रतिमाएँ खुदी दिखलायी पड़ती हैं।

फलक ५१

अजंता महायान कलाकारों ने चत्य मंडप तैयार किया, जिसमें स्तूप के साथ बुद्धप्रतिमा बनायी गई। फलक में अजता गुहा १९ चैत्य मडप है। चैत्य शैलोत्कीर्ण बौद्ध वास्तुकला में सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करता है। यह ईसवी सन् पाँचवी सदी की कृति है। मध्य मे स्तूप की कल्पना मात्र को लेकर निर्माण-कार्य किया गया। अन्यथा स्तूप की बनावट सर्वथा भिन्न है। अंदर के स्तंभो के आकार तथा रचना गुहा सख्या १ के समान है। डाटदार छत मे बनी पत्थर की पसलियाँ लकड़ी के कड़ियो की याद दिलाती हैं। स्तंभों के शीर्ष मे बुद्ध की आसीन प्रतिमा उकेरी गई है। छज्जो के कोष्टों मे भी बुद्ध-मूर्ति है तथा पशु एवं मनुष्य की आकृतियों से युक्त है। स्तूप के ऊपरी ढोल के आकार के निचले भाग में बुद्धप्रतिमा खड़ी है। मुकुट के स्थान पर हरमिका बढ़ती गई है, जिसमें तीन छत्रावलि हैं। इस प्रकार महायान स्थापत्य में स्तंभों का अलंकरण तथा शीर्ष एवं स्तूप मे बुद्धप्रतिमा की प्रतिष्ठा विशेष उल्लेखनीय है।

फलक ५२

अजंता गुहा संख्या १९ की बाहरी दीवार की खुदाई स्पष्टतया महायान की देन है। इसमें चैत्यद्वार की पार्श्ववर्ती दीवार पर बुद्धमूर्तियों को नाना रूप मे खुदाई की गई है। प्रायः सभी उकेरी गई हैं।

फलक ५३

इस फलक में अजंता की गुहा संख्या २६ का दृश्य दिखलाया गया है। यह भी महायान चैत्य मंडप का भीतरी दृश्य उपस्थित करता है। मध्य में स्तूप बना है। चबूतरे को काट कर स्तंभसहित ताख मे बुद्ध की बैठी मूर्ति है। ऊपर ढोलनुमा अड है। सबसे ऊपर हरमिका। डाटदार छत की प्रस्तर की पसलियाँ दीख पड़ती हैं। स्तंभो का अलंकरण अद्वितीय है। मेहराब के नीचे चारो तरफ फलक में बुद्धप्रतिमा उकेरी गई हैं। स्तंभ के शीर्ष में भी नाना प्रकार के अलंकरण हैं।

फलक ५४

आंध्र प्रदेश में औरंगाबाद से तीस किलोमीटर दूरी पर एलोरा की गुफाएँ स्थित है। इस स्थान पर बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन लोगो ने गुफाएँ खुदवायी, किंतु तीनों मे बौद्धो ने सर्वप्रथम उस स्थान पर कार्य प्रारंभ किया था। एलोरा में जितनी गुफाएँ बनी है उनमें गुहा संख्या १० चैत्यमंडप है, शेष विहार हैं। इसे विश्वकर्मा गुहा कहते है; क्योंकि कलात्मक दृष्टि से यह कला मे सिरमौर है। कलाकारो की कुशलता की चोटी देखने को मिलती है। यों तो हीनयान मत मे चैत्य मंडप तथा विहार पृथक्-पृथक् बने थे। चैत्य मंडप में स्तूपाकार दीख पडता है। महायान मत के अभ्युदय के पश्चात् बुद्धप्रतिमा सहित चैत्य मे स्तूप खोदे गए। वर्तमान फलक मे स्तूप से संबद्ध बैठी बुद्ध-प्रतिमा दिखलाई गई है। यानी गुहा संख्या १० महायान चैत्य मडप था।

पाँचवी सदी के पश्चात् चैत्य तथा विहार एक ही स्थल पर संयुक्त रूप में बनाए गए। कोनडने तथा पितलखोरा मे भी हीनयान के ऐसे उदाहरण मिलते हैं। एलोरा का यह चैत्य मंडप मठ से जुड़ा है यानी विहार तथा चैत्य संयुक्त रूप में बनाए गए। यह चैत्य मंडप अजंता के चैत्य के समकालीन है, परतु इसमे अलंकरण की प्रचुरता नही है। एलोरा की गुहा क्षेत्रफल मे ८५ फुट × ४४ फुट × ३४ फुट विस्तृत है। इस प्रकार विश्वकर्मा चैत्य मडप विकसित स्वरूप उपस्थित करता है।

विश्वकर्मा चैत्य मंडप काष्ठ की इमारत का अनुकरण है। लकड़ी की कड़ियों के स्थान पर मेहराब में प्रस्तर की पसलियाँ बनी हैं। फलक के ऊपरी भाग मे प्रस्तर की कड़ियाँ दीख पड़ती हैं। यह चैत्य ऊँचे चबूतरे पर स्थित दीख पड़ता है, जिसमें सिंह की आकृतियाँ बनी है। इसके बरामदे में स्तंभो का आधार सादे प्रस्तर का बना है। भाग वर्गाकार है। पाया का ऊपरी भाग अनलं-

कृत है। इन स्तंभों के सिरे पर पूरे भाग में चित्रवल्लरी दीख पड़ती है, जिसमें चलते हाथी, अश्व, हिरन एव घुड़सवार की आकृतियाँ बनी हैं। इसका तात्पर्य यह था कि सभी पशु या मनुष्य बुद्ध के उपदेश सुनने के लिए लालायित थे।

चैत्य मंडप के स्तभों द्वारा मध्यवीथी तथा पार्श्ववीथी पृथक् हो जाती है। मध्यवीथी में स्तूप स्थित है, जिसकी तिथि सातवी सदी मानते है। स्तूप का चबूतरा चारों तरफ से अलंकृत है। मंडप के मुख्य प्रवेशद्वार के संमुख प्रलंपाद आसन में बुद्धप्रतिमा है, जो धर्मचक्र परिवर्त्तन मुद्रा मे बैठी है। दोनों पार्श्व में बोधिसत्व परिचायक के रूप में खुदे हैं। चबूतरे को गहराई में खोद कर बुद्धप्रतिमा बनायी गई है। यह मूर्ति बोधिवृक्ष के नीचे उकेरी है। बायी ओर मैत्रेय तथा दाहिनी ओर पद्मपाणि अवलोकितेश्वर खड़े दिखलायी पड़ते है। सिरे के भाग पर आठ मालाधारी गधर्व की आकृतियाँ खुदी हैं। शिल्पकार ने मुख्य मंडप में इस प्रकार चैत्य वातायन तैयार किया है कि भगवान बुद्ध के चेहरे पर सीधी सूर्य-किरणे पड़ती हैं, जिससे देवता का चेहरा चमकता है। ऐसी प्रतिमा के संमुख भिक्षुगण स्तूप की पूजा किया करते थे। फलक मे बुद्ध-प्रतिमा के सिरोभाग से ऊपर अड दिखलायी पड़ता है, जिस पर लहरदार प्रस्तर की हरमिका दिखलायी पड़ती है।

फलक ५५

बंबई के समीप कृष्णगिरि (कंहेरी) नामक पर्वतमाला है, जिसमें बौद्ध कलाकारों ने सौ से भी अधिक गुहाएं खोदीं। विक्टोरिया स्टेशन से बोरीवली नामक रेलवे स्टेशन से कुछ दूरी पर गुफाएँ स्थित हैं। कहेरी की गुफाएँ हीनयान का अवनति अवस्था के द्योतक है। फलक मे चैत्य मंडप दीख पड़ता है, जिसके मध्य मे सादा स्तूपाकार है। मध्यवीथी के बाएँ-दाएँ कुछ स्तभ अलंकृत हैं, जिनके आधार में घट बना है तथा शीर्ष मे उल्टा पुष्प, चौकी एवं शीर्षस्थ जानवरों की आकृतियाँ हैं। स्तंभों के देखने से कार्य का अधूरापन समझ में आ जाता है। कितने स्तंभों मे कुछ भी अलंकरण नही है।

फलक ५६

इस फलक में गुफा की दीवार पर खुदे चित्र दीख पड़ते हैं। कहेरी गुफा संख्या ९० मे भगवान बुद्ध के चमत्कार को दिखलाया गया है। श्रावस्ती के महाप्रदर्शन का चित्रण अजंता गुफा मे भी है। यहाँ प्रस्तर को अव्यवस्थित ढंग से काट कर बुद्ध की खड़ी या बैठी मूर्तियाँ बनायी गई हैं। फलक के मध्य में बुद्ध प्रलंपाद आसन मे बैठे हैं। धर्मचक्र-परिवर्तन मुद्रा है तथा बोधिसत्व

परिचायक के रूप में खड़े हैं। अन्य प्रतिमाएँ भी चीवर सहित बनी हैं तथा हाथ विभिन्न मुद्रा मे दीख पड़ते हैं।

फलक ५७

केंद्रीय सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने नालंदा की खुदाई कर महाविहार के अवशेषों को संमुख उपस्थित किया है। उस प्रकाश में लोगों ने महाविहार को विश्वविद्यालय का नामकरण किया, जहाँ दस हजार विद्यार्थीगण अध्ययन करते थे। अध्यापक भी हजार की संख्या में थे। खुदाई से दो प्रमुख इमारतों का पता चला है। पश्चिमी भाग में स्तूपों तथा मंदिरों की पंक्तियाँ हैं तथा पूर्वी दिशा में विहार के भग्नावशेष लगातार देखे जा सकते है। फलक मे उन विहारों का दृश्य है। फलक की दाहिनी ओर महाविहार के आँगन तथा कोठरियाँ भग्न अवस्था में हैं। कोठरी की लंबाई-चौड़ाई स्पष्ट है। आँगन मे बरामदे का स्थान चारों तरफ दिखलायी पड़ता है। इस प्रकार नालंदा महाविहार की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है।

फलक ५८

सातवीं सदी के पश्चात् दक्षिण भारत में स्थापत्य कला अधिक विकसित हुई। एक ही स्थान पर अनेक धर्मों के लोग गुहा-निर्माण करने लगे। एलोरा ऐसा स्थान है, जहाँ गुहाएँ नानारूप में बनी हैं। यों तो बौद्ध लोगों ने अपना कार्य सबसे पहले आरंभ किया था, पर ब्राह्मण या जैन कलाकार उनसे पीछे न रहे। एलोरा की गुहाएँ निम्न प्रकार हैं—

(१) गुहा संख्या १-१२ (बौद्ध),

(२) गुहा संख्या १३-२९ (ब्राह्मण) और

(३) गुहा संख्या ३०-३४ (जैन)।

वर्त्तमान फलक में ब्राह्मण गुहा का चित्र दीख पड़ता है। आठवीं सदी के पश्चात् राष्ट्रकूट-राजाओं ने इनका निर्माण किया था। गुहा संख्या १५ की दीवार पर अंकित लेख से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग इस गुहा के निर्माण के पश्चात् एलोरा आया था। एलोरा की ब्राह्मण गुफाओं में गुहा संख्या १५ तथा १६ विशेष उल्लेखनीय हैं। पंद्रहवीं गुहा 'दशावतार गुहा' नाम से प्रसिद्ध है। परंतु, इसमें प्रधानतया शिव के नाना अलौकिक कार्यों का प्रदर्शन है—

(१) उमामहेश्वर प्रदर्शन,

(२) अर्द्धनारीश्वर प्रदर्शन,

(३) अंधकासुरवध मूर्ति,

(४) कल्याण सुंदर मूर्ति,

(५) गंगाधर मूर्ति और

(६) त्रिपुरांतकवध मूर्ति ।

शिव प्रतिमाओं के संमुख इसका दशावतार नाम सार्थक नहीं प्रतीत होता। संभवत: विष्णु भगवान के कुछ अवतारों—

(अ) शेषशायी विष्णु,

(ब) वराहमूर्ति,

(स) त्रिविक्रम प्रतिमा और

(द) नृसिंह अवतार

के प्रदर्शन के कारण उसे 'दशावतार गुहा' कहा जाता है।

फलक में एलोरा की सोलहवी गुफा का चित्रण है, जिसे 'कैलाशनाथ मंदिर' का नाम दिया गया है। ब्राह्मण गुफाओं की खुदाई बौद्ध गुहाओं के अनुकरण पर की गई थी। किंतु, सोलहवीं गुफा स्थापत्य कला में अद्वितीय है। इसकी योजना पर्वत के शिखर काट कर की गई। यो तो गुफाएँ पर्वत की तलहटी से चट्टान काट कर बनायी गई हैं, पर कैलाशनाथ की कल्पना विचित्र थी। कलाकारों ने मानसपटल पर सारी कल्पना रख कर खुदाई शुरू की। इसमें द्राविड़ शैली तथा आर्य शैली का संमिश्रण है। गुफा का अध्ययन यह बतलाता है कि भीतरी भाग को आँख से ओझल करने के लिए प्रस्तर का एक परदा खड़ा कर दिया गया है, जो देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत है।

वर्त्तमान फलक में मंदिर के अंदर की बनावट दीख पड़ती है। एलोरा का कैलाशनाथ मंदिर अपना सानी नही रखता। इसे 'रंगमहल' कहते हैं। मुख्य मंदिर का दृश्य है। ऊँचे चबूतरे पर कैलाशमंदिर का मुख्य मंडप स्थित है। उसमें दो ड्योढियाँ बनी हैं। यह ५७ फुट × ५५ फुट क्षेत्रफल में विस्तृत है। देवालय के भीतर सोलह अलंकृत स्तंभ छत को सँभाले हैं। गर्भगृह की छत में नटराज शिव की प्रतिमा खुदी है। महामंडप के भित्तिस्तंभ चित्रवल्लरी सहित सुशोभित हैं। देवगृह के बाहरी भाग में प्रदक्षिणा-पथ बना है। ऊपर जाने के लिए उत्तर तथा दक्षिण से दो सीढ़ियाँ बनी हैं, जिसके पार्श्व मे रामायण तथा महाभारत की कथाएँ खुदी हैं। रावण कैलाश को सिर पर धारण किए है। अतएव इसे कैलाशनाथ का नाम दिया गया है। फलक में महामंडप

तथा मुख्य देवालय दीख पड़ता है। बायीं ओर कीर्तिस्तंभ है। निचले भाग में पंक्तियों में जानवरो की आकृतियाँ खुदी हैं।

फलक ५९

एलोरा के बीच की गुफाएँ ब्राह्मणधर्म से संबंध रखती हैं। फलक में एलोरा की गुहा संख्या १४ की भीतरी दीवार पर कई चित्र खुदे हैं। बाईं ओर के फलक (Panel) पर विष्णु तथा उनकी भार्या श्री (विष्णु को दो पत्नियाँ हैं—सरस्वती तथा श्री) यानी लक्ष्मी की आकृतियाँ खुदी हैं। विष्णु चतुर्भुजी है। एक हाथ से श्री को पकड़े हैं। बाएँ पैर के समीप लक्ष्मी है। दाहिना अर्द्ध पर्यंक आसन मे है। पार्श्व मे चार परिचारिकाएँ है, जिनके सिर पर जटा मुकुट दीख पडता है। दो के हाथ मे चँवरी है। तीसरे हाथ मे कलश दिखलायी पड़ता है। चौदहवी गुहा आठवीं सदी मे खोदी गई थी, जिसका तात्पर्य यह है कि दक्षिण भारत में मध्ययुग में ब्राह्मण गुफाएँ तैयार की गई। उन्हें बौद्ध गुफा के अनुकरण पर खोदा गया था।

फलक ६०

एलोरा के कैलाशमदिर के भीतरी भाग मे ऐसी इमारतें बनी है, जिन्होने स्वतंत्र रूप मे मदिर का रूप धारण कर लिया है। कैलाश गुहा संख्या १६ के परदे के मध्य द्वार मार्ग से अंदर जाने पर बायीं ओर बरामदा है। उसके बीच से ऊपर जाने का मार्ग है। बरामदे के ऊपरी भाग में सुंदर मंदिर बना है, जो 'लंकेश्वर मंदिर' कहा जाता है। लंकेश्वर मंदिर तो ऊँचे चबूतरे पर है, किंतु उसके पार्श्व मे प्रस्तर के खुदे फलक दीख पड़ते हैं। बायी ओर की दीवार पर विष्णु के नृसिंह अवतार की प्रतिमा है, जो फलक मे दिखलायी पड़ती है। मानवाकार शरीर, किंतु सिंह का चेहरा। देवता का मुँह खुला है। भयावह चेहरा है। क्रोध टपक रहा है। डरावनी आँखे हैं। चतुर्भुजी प्रतिमा है। ऊपरी बाएँ हाथ में शंख वर्त्तमान है। नृसिंह की गोद में हिरण्यकश्यप राक्षस दिखलाया गया है। दाहिने हाथ में तलवार है। बघनख से नृसिंह ने राक्षस के पेट को चीर दिया और अँतड़ियाँ बाहर दीखती हैं। पार्श्व में नारदजी हैं तथा दो स्त्रियों की वामन आकृति है। नृसिंह के दाहिने प्रह्लाद खड़ा है। सारे कथानक को शिल्पी ने सजीवता के साथ प्रस्तर में खोदा है।

फलक ६१ तथा ६२

एलोरा की गुहा संख्या १४ में अनेक देवी-देवताओं के चित्रण हैं। प्रस्तर काट कर दीवारों के फलक पर मूर्तियाँ उकेरी गई हैं। चौदहवीं गुफा

आठवीं सदी में निर्मित हुई। इस गुहा के मध्य मे बारह स्तंभ छत को सँभाले हैं। मुख्य मंडप के बायीं तथा दाहिनी पार्श्ववर्ती दीवार अनेक फलकों (Panels) में विभक्त हैं और सुंदर अलंकृत भित्तिस्तंभो से पृथक् की जाती हैं। दाहिनी दीवार के दूसरे फलक पर शिव की रावणानुग्रह मूर्ति खोदी गई है। उसमें दशानन (रावण) हाथों से कैलाश पर्वत को उठाए है, जिस पर शिव-पार्वती बैठे हैं। शिव की प्रतिमा चतुर्भुजी है। दो हाथों से पार्वती को पकड़े हैं; ताकि कैलाश के हिलने का उनको भय न हो। शिव का एक हाथ विस्मय-मुद्रा में है। पार्श्व में चार परिचारक दीख पड़ते हैं। इस कारण चौदहवीं गुहा 'रावण की खाई' भी कही जाती है।

फलक ६२ में सप्तमातृका की आकृतियाँ हैं। एलोरा की ब्राह्मण गुफाओ संख्या १४, १६ तथा २२ मे सप्त मातृकाओं को स्थान दिया गया है। उनके नाम इस प्रकार है—

(१) ब्रह्माणि,
(२) माहेश्वरी,
(३) कौमारी,
(४) वैष्णवी,
(५) वाराही,
(६) ऐंद्री और
(७) चामुंडा।

गुहा १६ तथा २२ में उनकी संख्या ८ तक दीख पड़ती है, किंतु साहित्य में सप्तमातृका ही उल्लिखित है तथा समाज में आज भी पूजित होती है। एलोरा गुहा संख्या १४ में दाहिनी ओर उनकी संख्या ७ ही है। वहाँ साथ में वीरभद्र (शिव) गणेश तथा काल की भी कल्पित मूर्ति है। वर्त्तमान फलक में सुखासन में बैठी मातृकाएँ गोद में बच्चा लिए हैं, जो माता के भाव का द्योतक है। फलक के निचले भाग में सात मातृकाओं के पतियों (देवताओं) के वाहन (चिह्न) की आकृति खुदी है। उससे मातृका का नामकरण सरल हो जाता है अन्यथा सभी की बनावट, वस्त्र आदि एक-से हैं। निम्न श्लोक द्वारा उनके वाहन का नामोल्लेख हो जाता है—

प्रेतसंस्थातु चामुंडा वाराही महिषासना
ऐंद्री गज समारूढा, वैष्णवी गरुड़ासना
माहेश्वरी वृषारूढा, कौमारी शिखि वाहना

लक्ष्मी पद्मासना देवी, ईश्वरी वृषवाहना
ब्राह्मी हंस समारूढ़ा सर्वाभरण भूषिता।

फलक ६३

भारतवर्ष में वैष्णवमत के प्रचार के कारण भक्तिभावना का विकास हुआ। हीनयान के चैत्यो मे भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्तूप के साथ खोदी गई। अजंता के विहार संख्या १९ और २६ तथा एलोरा के विश्वकर्मा गुहा मे बुद्ध-मूर्ति की स्थापना दीख पड़ती है। एलोरा मे विहार तथा चैत्य की समीक्षा और गुहा ११ तथा १२ में गुहा के मध्यकक्ष मे बुद्धमूर्ति की प्रतिष्ठा वर्णित है। तात्पर्य यह है कि पूजास्थान की आवश्यकता के कारण बौद्ध गुहा मे बुद्ध तथा ब्राह्मण गुफाओं में शिव की प्रतिमाएँ खोदी गई। एलिफेंटा तथा एलोरा कैलाशनाथ मंदिर उसके उदाहरण है। बौद्ध चैत्यों के युग के पश्चात् हिंदू तथा जैन धार्मिक जनता ने मंदिरो का निर्माण किया। विष्णु तथा शिव के हिंदू मंदिरों में तथा जैन देवालयों में तीर्थंकर प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की गई। धार्मिक भावना के साथ भारत के मंदिर तथा शिल्प भारतीय प्रतिभा की उपज है। मंदिर के स्थापत्य तथा शिल्प मे धार्मिक भाव का संचार होता है। इस विचार को शिल्पियों ने मूर्तरूप दिया और मंदिर-निर्माण में आध्यात्मिक भावना तथा साधना का स्पष्टीकरण किया।

मंदिर का वास्तु साधारण जन के आवास से भिन्न था। चैत्य में स्थित राख (शरिर) को धातुगर्भ कहते थे। अतएव, हिंदू मंदिरों मे प्रतिमा-स्थान को गर्भगृह कहा गया। वर्त्तमान फलक मे साची पर्वत पर निर्मित गुप्त मंदिर का मुख्य कक्ष (गर्भगृह) तथा सामने स्तंभों सहित बरामदा है। इसे गुप्त शासन के आरंभ मे बनाया गया था। गुप्त मंदिर की विशेषता यह है कि ऊँचे चबूतरे पर मंदिर का निर्माण होता था। वहाँ तक पहुँचने के लिए सीढियाँ बनती थी। प्रारंभिक दशा मे चिपटी छत बनती रही। गर्भगृह में द्वार रहता, जिसके द्वारा उपासक प्रतिमा-पूजन के लिए प्रवेश करता था। मंदिर के स्तंभ अलंकृत होते थे। इन सभी लक्षणो को इस चित्र मे पाते हैं। सांची के मुख्य स्तूप के पार्श्व मे यह मदिर स्थित है।

फलक ६४

मंदिरों में शिखर सहित गर्भगृह का निर्माण गुप्त स्थापत्य का विकसित रूप है। प्रारंभ मे छतें चिपटी थीं, किंतु उस पर चारों तरफ दीवार बनी, जो क्रमशः ऊपर की ओर घटती गई। एक स्थान पर चारों तरफ

का आकार मिल जाता है। पूरे आकार को 'शिखर' कहने लगे। फलक पर झाँसी के देवगढ़ मंदिर का अवशेष दीख पड़ता है। छत के ऊपर टूटा हुआ शिखर है। इसमे चार द्वार बने है। मुख्य द्वार संमुख है। दाहिनी ओर मंदिर की बाहरी ताख पर देवप्रतिमा स्थित है। मंदिर के चारों तरफ चबूतरे पर प्रदक्षिणा-मार्ग है।

फलक ६५

बौद्धधर्म के चार प्रधान तीर्थों मे बोधगया दूसरा प्रसिद्ध स्थल है, जहाँ कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ को दिव्य ज्ञान (सबोधि) मिला। यह घटना गया के समीप घटित हुई थी, जिसके कारण वह स्थान बोधगया तथा वृक्ष बोधिवृक्ष कहलाया (जिसके नीचे ज्ञान मिला था)। पुरातत्त्व के अन्वेषण से मंदिर के चतुष्कोण का आकार सामने आया, जो लगभग १६० फुट ऊँचा है। केंद्रीय शिखर के चारों कोण एक स्थान पर नही मिलते हैं। ऊपरी भाग समतल है, जिस पर आमलक शिला दीख पड़ती है। आश्चर्य यह है कि स्तूप की तरह पार्श्व में अनेक छोटे स्तूप चारों तरफ बने हैं। चारो कोने पर ऊपरी भाग में बुर्ज बने हैं, जो मुख्य शिखर के सक्षिप्त रूप हैं। विशालता के कारण यह मंदिर दूर तक दिखलायी पडता है। इस मंदिर के चारो तरफ वेष्टनी बनी थी, जिसके अवशेष देखे जा सकते हैं। मंदिर की बाहरी दीवार की ताख पर बौद्धमत की अनेक मूर्तियाँ स्थित की गई हैं। चारो तरफ फैले स्तूप तथा सुंदर मूर्तियों को देख कर जनसमुदाय चकित हो जाता है।

फलक ६६

उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर 'मंदिरों का नगर' कहा जाता है। जितने मंदिर विद्यमान हैं, उससे अधिक ध्वंस हो गए हैं। उत्तरी भारत मे मंदिरो के विकास मे दो शैलियाँ काम करती रहीं। पूर्वी भाग में 'उड़ीसा शैली' की प्रधानता थी। उस पद्धति में जो लक्षण विकसित हुए, उनका आरभ तथा संपूर्णता भुवनेश्वर के मंदिरों में देखी जाती है—

(१) समतल भूमि पर मंदिर का निर्माण,
(२) परकोटा,
(३) गर्भगृह पर विशाल शिखर,
(४) सभामडप,
(५) भोगकक्ष और
(६) नटमंडप।

इन सभी लक्षणों की संपूर्णता क्रमशः पुष्पित तथा फलवती हुई। वर्त्तमान फलक में परशुरामेश्वर मंदिर का चित्र है। इसमे गर्भगृह पर शिखर है, जो रेखा द्वारा अलंकृत है। मंदिर को देखने से प्रकट होता है कि समयांतर मे सभामंडप जोड़ दिया गया है। दोनों की बनावट एक साथ नही हुई थी।

फलक ६७

भुवनेश्वर का मुक्तेश्वर मंदिर कालातर में बनाया गया। इसमें परकोटा दीख पड़ता है। गर्भगृह पर शिखर तथा बडी आमलक शिला एवं कलश स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहे हैं। सभामंडप का शिखर नीचा है तथा भोगमंडप का शिखर मुख्य शिखर से छोटा है। समीप में अन्य कई छोटे-छोटे पूजा निमित्त मंदिरनुमा आकार बने हैं। उड़ीसा के मंदिरों में मुक्तेश्वर मंदिर ही ऐसा देवालय है, जिसके अंदर की दीवार अलंकृत है।

फलक ६८

यद्यपि उड़ीसा के भुबनेश्वर नगर में अनेक प्रकार के मंदिर हैं, तथापि वास्तुकला की दृष्टि से उनमे समानता है। ये आर्य यानी उत्तरी भारत के नागर शैली के सर्वोत्तम नमूने हैं। ७ वी सदी से आरंभ हो कर ग्यारहवी सदी तक चरम सीमा पर पहुँच गया। संक्षेप मे उड़ीसा के सभी मंदिरों की रूप-रेखा एक-सी है। परशुरामेश्वर मंदिर से आरंभ होकर राजारानी मंदिर में उसका विकसित रूप पाते हैं। राजारानी मंदिर मध्य भारत के खजुराहो मंदिर के सदृश है, जिसके देवल तथा शिखर में समानता है। मंदिर में गर्भगृह पर शिखर तथा जगमोहन (सभाकक्ष) पार्श्व मे ही स्थित है। इसकी बनावट मे अन्य उड़ीसा मंदिर से कुछ भिन्नता है। यद्यपि देवल की योजना वर्गाकार थी, परंतु बाहर तथा भीतर ताख की स्थिति के कारण देखने से गोलाकार दीख पड़ता है। फलक पर राजारानी मंदिर की संपूर्ण बनावट को स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है।

फलक ६९

भुवनेश्वर मे मंदिरों की सुंदरता तथा छटा सभी को आकर्षित करती है। आठ हजार मंदिरों मे केवल कई सौ शेष रह गए हैं। फलक मे लिंगराज मंदिर का दृश्य है, जिसमें चारों कक्ष वर्त्तमान हैं। देवल के ऊपरी भाग में शिखर है। पूर्वी भारत के मंदिरों में लिंगराज सर्वोत्कृष्ट है। यह विशाल प्रांगण में बना है। इसके विमान की ऊँचाई १२७ फुट है। कई कक्ष बने हैं, जहाँ

सीढ़ियों से प्रवेश करते हैं। मूलरूप में गर्भगृह तथा जगमोहन बना था। नटमंडप बीच में है तथा भोगकक्ष कालांतर मे जोड़ा गया था। इस मंदिर में विभिन्न कक्ष एक सीध में नहीं हैं। केंद्रस्थ मंदिर के पार्श्व में अनेक छोटे मंदिर बने दीख पड़ते हैं। मंदिर के शिखर के ऊपर विशाल आमलक शिला है तथा सबसे ऊपर कलश बना है। यह मंदिर उड़ीसा की स्थापत्य कला की अमूल्य निधि है।

फलक ७०

उड़ीसा की स्थापत्यकला की सबसे बड़ी उपलब्धि कोणार्क सूर्यमंदिर है, जो पुरी से बत्तीस किलोमीटर दूर स्थित है। फलक में उस मंदिर के अवशेष दीख पड़ते हैं। देवल तथा शिखर, जो २०० फुट ऊँचा था, गिर गया है। वह रथ की शकल में बना है; क्योंकि सूर्य सदा रथ पर भ्रमण करते हैं। फलक मे मंदिर के चबूतरे के भाग पर रथ के पहिए देखे जा सकते हैं। उनकी संख्या बारह हैं। मंदिर के नटमंडप तथा भोगकक्ष दिखलायी पड़ते हैं, जो अतराल से पृथक् हैं। इसके बाहरी दीवार तथा रथ पर शिल्पियों ने शृंगारिक और लोककथाओं के कल्पित अभिप्रायों का प्रयोग किया है। कोणार्क का मंदिर स्थापत्यकला की अनुपम कृति है।

फलक ७१

मध्य प्रदेश की खजुराहो शैली का सर्वोत्तम उदाहरण कंदरिया महादेव का मंदिर है, जो फलक में दिखलायी पड़ता है। चंदेल राजाओं द्वारा ९ वीं से १२ वीं सदी तक जो मंदिर निर्मित हुए हैं, वे नागर शैली के अनुसार तैयार किए गए थे। खजुराहो चंदेल राजधानी होने के कारण मंदिरों का नगर है। मध्य प्रदेश के मंदिरों की विशेषता के कारण तथा खजुराहो के सदृश निर्माण होने से सभी खजुराहो शैली के मंदिर कहे जाते हैं। इसके तीन प्रधान अंग हैं—

(१) गर्भगृह,

(२) मंडप या जगमोहन और

(३) अर्द्धमंडप।

खजुराहो के कंदरिया महादेव मंदिर में विकसित महामंडप भी स्थित है। सभी मंदिर ऊँचे जगतों पर बने हैं। महामंडप के साथ प्रदक्षिणापथ जुड़ा रहता है। फलक मे मंदिर का ऊँचा चबूतरा स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। गर्भगृह के ऊपर शिखर सबसे अधिक ऊँचा है। शेष तीन शिखर क्रमशः छोटे होते गए हैं। मुख्य मीनार के चारों तरफ शिखरनुमा आकार अधिक संख्या में

दीख पड़ते हैं, जिन्हें 'ऊरुशृंग' कहते हैं। यही शैली मध्ययुग तक प्रचलित रही। आजभी यदाकदा खजुराहो शैली के मंदिर बन रहे हैं।

फलक ७२

खजुराहो मंदिर के चबूतरे पर सर्वप्रथम अधिष्ठान है, जिसमें उत्कीर्ण अभिप्रायों का अलंकरण दर्शनीय है।मंदिर के दूसरे भाग या जंघा यानी बाह्य-दीवारें हैं। इनको प्रचुरता से अलंकृत किया गया है। जंघा की तीन पंक्तियों में उत्कीर्ण मूर्तियाँ दीख पडती हैं। फलक मे खजुराहो के मंदिर की बाहरी ताख तथा गवाक्ष मे अतुलनीय सुंदर प्रतिमाएँ खुदी दीख पड़ती है। कोई ऐसा मोड नही है, जिसकी ताख पर मूर्ति खुदी न हो। इसमें अधिकतर कामासक्त शृंगारिक मूर्तियो को स्थान दिया गया है। उस समय लोगो को गुह्यतंत्र में अथवा शाक्तमत मे विश्वास था कि वामाचार की क्रिया से सहज आनंद प्राप्त होता है। अतएव, इन प्रदर्शनों मे अप्सराएँ, सुंदरी नायिकाएं तथा अन्य आकार भी शृंगारिक मुद्रा मे उत्कीर्ण हैं। फलक मे इसी प्रकार की अत्यधिक मूर्तियों को स्थान दिया गया है। कंदरिया महादेव के मंदिर का एक कोना ही दिख-लायी पड़ता है।

फलक ७३

वर्त्तमान फलक पर जैन मंदिर का भीतरी दृश्य दिखलायी पड़ता है। भारत मे जैन शैली का कोई पृथक् स्थान न था, किंतु ब्राह्मण अथवा बौद्ध स्थापत्य के साथ साथ समान पद्धति पर जैन मंदिर भी बनाए गए थे। उदाहरण के लिए एलोरा मे बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन गुफाएँ खोदी गई थी। जैन स्थापत्य में कोई असमानता नही है। पृथक् रीति नहीं है। जैन लोगो ने पर्वत पर ही मंदिर बनाना श्रेयस्कर समझा। पर्वत शिखरों पर जैन मदिरो की अधिकता से वे 'मंदिर के नगर' कहलाए। वे जैनियों के तीर्थस्थल हो गए। उन जैन मंदिरों की विशेषता यह है कि सभी चौमुखी बनाए गए थे। चारों दिशाओ से पूजित होने के लिए चार तीर्थंकर की प्रतिमा पीठ-से-पीठ जुडी स्थापित की गई। इस कारण मंदिरों मे चार द्वार होते थे। राजपुताने के आबू पर्वत के मंदिर उसके उदाहरण हैं। काठियावाड़ मे भी 'मंदिर नगर' के नमूने शत्रुंजय तथा गिरनार पर्वतो पर स्थित है। १०७ फुट ऊँची शत्रुंजय पहाड़ी पर निर्मित पालिताना के समीप भव्य मंदिर बनाए गए, जिन्हें धार्मिक जैन श्रावकों ने निर्मित किया था। ३५० फुट लंबान में एक ही स्थान पर कई सौ मंदिर बने हैं। इनमें चार द्वार हैं तथा प्रतिमा के सामने सभाकक्ष दिखलायी

पड़ता है। फलक में आदिनाथ मंदिर का मुख्य द्वार दीख पड़ता है। सामने का कक्ष अलंकृत स्तंभों पर खड़ा है। इन स्तंभो मे फूल, पत्तियाँ, गायकों तथा नर्तकी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

फलक ७४

वर्त्तमान फलक में कश्मीर के मार्तंड मंदिर का भग्नावशेष दीख पड़ता है। भौगोलिक स्थिति के कारण कश्मीर स्थापत्य की निजी विशेषता है। आठवीं सदी से ललितादित्य के शासनकाल से कश्मीर में मंदिरों का निर्माण आरंभ हुआ और उसने विशाल मंदिर तैयार कराया। मंदिर विशाल पाषाणखंडों द्वारा निर्मित हैं। मार्तंड मंदिर की स्थापत्यकला उच्च कोटि की है। बौद्ध-धर्म के लोप हो जाने पर सूर्य का मंदिर बनाया गया होगा। मंदिर के अहाते के मध्य में देवप्रतिमा के लिए स्थान बना है, जिसके चारो तरफ स्तंभावलि सहित बरामदा है।

फलक ७५

दक्षिण मे चालुक्यनरेश प्रसिद्ध शासक थे, जिनके काल मे मैसूर मे अनेक मंदिर बने, जो चालुक्य शैली की इमारतें कहे जाते हैं। इनमे एहोल, पट्टा-दकल तथा बीजापुर के मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। दक्षिण के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों मे प्रचलित द्राविड़ और चालुक्य शैली के पीछे समान प्रेरणा थी। एक ही आदर्श से अनुप्राणित थे। इन स्थानों पर मिश्रित शैली को कार्यान्वित किया गया था। प्राचीन गुहा शैली का रूप भी देखने को मिलता है। एहोल के दुर्गामंदिर में चैत्य को हिंदू रूप दे दिया गया है। बादामी मे भी प्राचीन गुफा मंदिर बने थे। पहाड़ियों पर स्थित खंभेदार मंडप बने हैं।

बादामी से सोलह किलोमीटर दूर पट्टादकल का स्थान है, जहाँ अनेक नागर शैली के मंदिर स्थित हैं। अन्य द्राविड़ पद्धति के मंदिर देखे जा सकते है। फलक में पट्टादकल के विरूपाक्ष मंदिर का चित्र है, इसकी स्थापत्यकला पर पल्लव प्रभाव है। संभवतः यहाँ दोनों शैलियो के शिल्पियों ने मिल कर काम किया। मध्यवर्ती देवालय के सामने एक पृथक् मंडप है, जिसमें नंदी की प्रतिमा स्थापित है। मंदिर का वर्गाकार शिखर द्राविड़ शैली का है।

फलक ७६

तामिलनाडु तथा आंध्र प्रदेश के कुछ भागों में मंदिर स्थापत्य की एक विभिन्न शैली का विकास हुआ, जिसे द्राविड़ पद्धति कहते हैं। द्राविड़ शैली के प्राचीन-

तम उदाहरण पल्लव राज्य के प्राचीन नगर मामल्लपुरम् (वर्त्तमान महाबलिपुरम्) में पाया जाता है। उस युग मे दो प्रकार के मंदिर तैयार किए गए।

(१) पर्वत के चट्टान को काट कर और

(२) प्रस्तर के टुकड़ों को जोड़ कर।

पहले प्रकार के स्थापत्य नमूनों को 'रथ' के नाम से पुकारते हैं। वर्त्तमान फलक में महाबलिपुरम् मे चट्टान काट कर एक रथ का चित्र है, जिसे अर्जुन रथ कहते हैं। रथ नामकरण का कारण यह है कि ये मंदिर उन रथों के समान है, जिन पर देवता की रथयात्रा संपन्न की जाती थी। एकाश्म रथ बौद्ध विहारो पर आधारित हैं। रूपरेखा मे यह रथ चौकोर है। ऊपर पिरामिड का स्वरूप है। इस फलक मे दो मंजिल का रथ है, जिसकी छत ढोलाकार है। किनारे पर ताख हैं। शिला से गढ़े इन मंदिरों की बाहरी दीवार पर नाना आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें देवता की मूर्तियाँ, बानरों अथवा जंगली जानवरों की आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। अर्जुन रथ मामल्ल शैली का नमूना उपस्थित करता है। उसके बाईं ओर झोपड़ीनुमा द्रौपदी रथ बना है। इस प्रकार पांडवों के नाम पर सभी रथो का नामकरण किया गया था।

फलक ७७

महाबलिपुरम् मे सात रथ विद्यमान हैं, जिनमें समुद्रतट मंदिर का ढाँचा फलक में दीख पड़ता है। सातवी सदी के अंत मे पल्लवनरेश राजसिंह ने नए प्रकार के मंदिर बनवाए, जो प्रस्तर के टुकड़ों को चुनकर बनाए गए थे। तटमंदिर भी उसी युग का उदाहरण है। मंदिर की योजना का अंदाजा देखने से लग जाता है, परंतु भौगोलिक कारणो से यह मंदिर नष्ट हो रहा है, जिसके अनगिनत प्रस्तर के टुकड़े बिखरे दीख पड़ते है। सामने मंदिर का द्वार है। भग्न चाहरदीवारी तथा गर्भगृह के मध्य प्रदक्षिणापथ है। देवालय की बाहरी दीवार पर खुदी सारी आकृतियाँ नष्ट हो रही हैं। शिखर पाँच मंजिल का है तथा शीर्ष पर ढोलनुमा आकार है।

फलक ७८

पल्लवनरेश राजसिंह ने महाबलिपुरम् के अतिरिक्त कांची में भी मंदिरों का निर्माण किया, जो द्राविड़ शैली के सुंदर नमूने हैं। कांची के दो मंदिरो में कैलाशनाथ मंदिर अत्यंत प्रसिद्ध है। इस नगर में आज भी मंदिरों का बाहुल्य है। फलक में कांचीपुरम् के कैलाशनाथ मंदिर का चित्र है। इसमें पल्लव स्थापत्य के सभी अंग विद्यमान हैं। विशेषता यह है कि मुख्य द्वार के ऊपर भी

शिखर का आकार है, जो गोपुरम् का आरंभिक रूप उपस्थित करता है। गर्भगृह के ऊपर शिखर ठोस तथा अधिक विकसित दीख पड़ता है। मंदिर के परकोटे में छोटे कक्ष दीख पड़ते हैं, जिनमें प्रतिमाएँ स्थापित की गई थीं।

फलक ७९

दक्षिण भारत के मैसूर प्रदेश मे चालुक्यनरेशों के स्थान को होयसल राजाओं ने ले लिया, जिनका शासन स्थापत्य के लिए भी प्रसिद्ध है। फलक में मैसूर नगर के समीप चालीस किलोमीटर दूर सोमनाथपुर में केशवमंदिर चित्रित है। इसमें तीन शिखरयुक्त गर्भगृह दीख पड़ते है, जो कोना-कोना संबद्ध है। इस मंदिर के चारो तरफ प्रदक्षिणा-पथ दीख पड़ता है। मंदिर की जगती नीची है, जिस पर जाने के लिए सामने पाँच सीढ़ियाँ बनी हैं। मुख्य गर्भगृह का द्वार सामने है। जगती का भाग स्थान-स्थान पर कोण-आकार का हो जाता है। विमान की पूरी ऊँचाई मे एक के ऊपर दूसरी-तीसरी श्रेणियाँ दीख पड़ती है। उनमे छोटे-छोटे मंदिरों के आकार बने हैं। मंदिर के छज्जों को पूरी तरह खोदा गया है, जिन पट्टियो पर देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

फलक ८०

दक्षिण क्षत्र में मैसूर के आसपास दो शताब्दियों (ई० स० १२५०-१३००) तक होयसल शासन रहा, जिन्होने नई कला को प्रोत्साहित किया। उसे होयसल शैली का नाम दिया गया है। ग्यारहवी सदी मे स्थापत्य की जगह उससे संबद्ध मूर्तिकला पर विशेष ध्यान दिया गया। फलक में होयसल शैली के प्रसिद्ध मंदिर होयसलेश्वर का चित्र है। वह हेलविद मे तैयार किया गया था। मंदिरों की दीवारों पर अनुपम तथा प्रचुरमात्रा में खुदाई दिखलायी पड़ती है। तक्षण कला की सरलता तथा बारीकी के लिए तत्देशीय प्रस्तर प्रयोग हुआ। मंदिर के चबूतरे को कई पंक्तियों में बाँटा गया है तथा सभी पट्टियाँ प्रचुरता के साथ उत्कीर्ण हैं। इन मंदिरो के कटान के कारण तारे के समान आकार दीख पड़ता है। प्रत्येक मोड़ पर दीवार तराशी गई है, जिसमें मानवमूर्तियों के पट्ट-पर-पट्ट हैं। बाहरी दीवार के तल में उत्कीर्ण पट्टियों में गज सिंह की आकृतियाँ दिखलायी पड़ती हैं। रामायण एवं महाभारत के कथानक भी प्रदर्शित हैं। तक्षण कला का यह अद्भुत नमूना है।

फलक ८१

वर्तमान फलक मे एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर का चित्र है। एलोरा की गुफाओं के मध्य में ब्राह्मण गुफाएं हैं, जिनमे कैलाशनाथ (गुहा संख्या १६) अपनी विशेषता के लिए सर्वप्रसिद्ध है। इसकी बनावट अन्य गुफाओं से भिन्न है। गुफाएँ पर्वत की तलहटी से खोदी जाती रही। किंतु, इस मंदिर की योजना पर्वत के ऊपरी भाग से आरंभ होकर निचले भाग मे उत्कीर्ण होती चली आई। मध्य में विशाल चट्टान को रख चारो तरफ तलहटी तक खुदाई संपन्न की गई। तत्पश्चात् मध्य चट्टान को खोद कर कैलाशनाथ का विशाल मंदिर बनाया गया। इसे राष्ट्रकूट राजा कृष्णराय प्रथम के समय में (आठवी सदी) पूरा किया गया। इस मंदिर के निर्माण का सारा भार संगतराशो पर रहा होगा। उन शिल्पियो ने मंदिर के विभिन्न अंगो को चिह्नित कर पूरा मंदिर तैयार किया। फलक मे मंदिर के दो खड दिखलायी पड़ते है। सिंह स्तभ पार्श्व मे खडा है। मंदिर के चबूतरे की दीवार पर रामायण तथा महाभारत की कहानियाँ प्रदर्शित है।

फलक ८२

नौवी सदी के पश्चात् दक्षिण भारत मे चोल शासन करते रहे। दो सौ वर्षों तक चोल राजाओं ने पल्लव के निर्माण-कार्य को अधिक विकसित किया तथा विशाल मंदिर बनवाया। फलक में तजौर में स्थित चोलनरेश राजराजा द्वारा निर्मित वृहदेश्वर मंदिर का चित्र है। गर्भगृह के ऊपर १९० फुट ऊँचा शिखर दीख पड़ता है, इस मंदिर के तीन खंड सामने हैं—

(१) गर्भगृह (विशाल शिखर सहित),

(२) अर्द्धमंडप तथा

(३) स्तंभयुक्त सभा कक्ष (सामने है)।

पूर्वी द्वार पर गोपुरम् है। चारों दिशाओं में छोटे-छोटे मंदिर बने हैं। मंदिर की जगती पचास फुट ऊँची है तथा वर्गाकार है। इसके शिखर में तेरह खंड हैं, जो नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः छोटे होते जाते हैं। शीर्ष पर एकाश्म शृंग है।

फलक ८३

तामिलनाडु प्रदेश के तामिल क्षेत्र में मदुरै नामक शहर को राजधानी बना कर पांड्य नरेशों ने बारहवीं सदी में राज्य किया। इनका राज्य कुमारी

अंतरीप तक विस्तृत था। मदुरै का मीनाक्षी मंदिर भारत में सर्वप्रसिद्ध है। इन्हीं के राज्य में स्थित त्रिचनापल्ली से चार किलोमीटर दूर कावेरी नदी के टापू में रंगनाथ भगवान का मंदिर बनाया गया, जो अपनी विशालता के लिए सर्वप्रसिद्ध है। पांड्य लोगों ने मंदिर के समान ही गोपुरम् को भव्य तथा गौरवमय बनाया। फलक में श्रीरंगम् में निर्मित रंगनाथ मंदिर का विशाल गोपुरम् दिखलाया गया है। यह मंदिर अनेक समकेंद्रित परकोटें से घिरा है, जिसमे १३ गोपुरम् बने हैं। यह द्राविड़ शैली का सबसे प्रमुख तथा विशाल गोपुरम् सहित मंदिर है। सामने सात मंजिल का गोपुरम् स्थित है। निचले प्रवेशमार्ग के ऊपर स्तंभयुक्त द्वार दीख पड़ते है। प्रत्येक मंजिल की दीवार पर देवी-देवता तथा दिक्पाल की आकृतियाँ बनी हैं।

फलक ८४

तामिल देश का दूसरा विख्यात मंदिर रामेश्वरम् का है, जो छोटे टापू में स्थित है। इसे सेतुबंध रामेश्वर कहते हैं। इसमे दो देवालय है, जो एक के भीतर दो या तीन परकोटे से घिरे हैं। बाहरी दीवार प्रायः आठ सौ फुट लंबी तथा करीब सात सौ फुट चौडी है। अतएव अंदर का गलियारा भी उसी पैमाने पर बनाया गया था। फलक में रामेश्वरम् मंदिर का अधिक भव्य खड चार हजार फुट वाला गलियारा दिखलाया गया है। सभी स्तंभ बारह फुट ऊँचे हैं तथा कठोर प्रस्तर (Granite) के बने हैं। समानुपातिक स्तंभ प्रचुर मात्रा मे अलंकृत (खुदे) हैं। हजारों कुशल कारीगरो ने इन्हें तैयार किया होगा। प्रत्येक स्तंभ से राजाओं, मंत्रियों या देवताओं की प्रतिमाएँ जुड़ी है।

फलक ८५

पिछले पृष्ठों मे वृहत्तर भारत में भारतीय संस्कृति की बाते कही गई हैं। नेपाल सदा से भारत का सास्कृतिक अंग रहा। बौद्ध मत का प्रचार होने पर वहाँ भी स्तूप बनाए गए थे। वर्त्तमान फलक में नेपाल के स्वयंभूनाथ का स्तूप दिखलाया गया है। समतल भूमि से एक बड़े तथा ऊपरी छोटे चबूतरे पर स्तूप का आरंभ दीख पड़ता है। छोटे चबूतरे से अंड प्रारंभ होता है, किंतु हरमिका का स्थान विचित्र प्रकार के आकार ने ले लिया है। उस चौकोर बनावट की प्रत्येक दिशा में दो-दो आँखें बनी है। उसके ऊपर चौदह सीढीनुमा आकार सभी दिशाओं में बना है, जो क्रमशः ऊपरी भाग में छोटा होता जाता है। संभव है, उससे चौदह भुवन का बोध होता हो। शीर्ष पर छत्र बना है।

फलक ८६

वर्तमान फलक में कंबुजदेश मे निर्मित अंकोरवट का चित्र है। भारतीय सस्कृति के विस्तार से दक्षिण-पूर्व एशिया के भूभागों में हिंदू देवताओं के मंदिर बनने लगे। सूर्यवर्मन द्वितीय ने १२ वी सदी में इस मंदिर का निर्माण किया था। यह मंदिर भगवान विष्णु के पूजार्थ तैयार किया गया था। देखने से प्रकट होता है कि पूरी इमारत एक टापू के सदृश झील के मध्य निर्मित है। चारो तरफ उसे खाई से घेरा गया है, जो पानी से भरा है। वह परिखा चार किलोमीटर लंबी और ६५० फुट चौड़ी है। फलक मे खाई तथा टापू के सदृश मंदिर दीख पड़ता है। इस मंदिर में प्रवेश निमित्त ३६ फुट चौड़ा मार्ग है, जो विशाल गोपुरम् होकर अंदर जाता है। इसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कई समकेंद्रित आँगन के मध्य में मुख्य मंदिर निर्मित किया गया था। एक आँगन से दूसरा-तीसरा ऊँचा है। सबसे ऊपर बीच के भाग में शिखरयुक्त गर्भगृह दीख पड़ता है। सभी आँगन मे बरामदे हैं, जिनके चार कोने पर चार मीनारें खड़ी हैं। सीढ़ियों के द्वारा दीर्घा पर पहुँचते हैं। निचली गैलरी २६५ गज लंबी तथा २२४ गज चौड़ी है। सभी दीर्घा की दीवारें चित्र-बल्लरी से भरी पड़ी है। उन चित्रों मे रामायण तथा महाभारत के कथानक प्रदर्शित हैं। विशेषता यह है कि स्थान-स्थान पर मानव एवं पशु-जीवन की स्थितियो को दर्शाया गया है। फलक को देखते ही अंकोरवट की विशालता का परिज्ञान हो जाता है।

फलक ८७

वर्तमान फलक मे प्राचीन भारत तथा भारत की भौगोलिक सीमा के बाहर देशों में निर्मित स्तूपो की बनावट को प्रदर्शित किया गया है। फलक में तीन पंक्तियाँ हैं। प्रथम दो मे पाँच-पाँच स्तूप हैं तथा तीसरी पंक्ति में चार। इस प्रकार चौदह स्तूपों की शैलियों का प्रदर्शन किया गया है।

पहली पंक्ति में बाएँ से दाएँ—

(१) मानिक्याला स्तूप (पंजाब) ईसा-पूर्व द्वितीय शती में निर्मित हुआ। उसमें निचले चबूतरे पर प्रदक्षिणा-मार्ग है। ऊपर मेधि तथा अंड दीख पड़ते हैं।

(२) साची (ईसा-पूर्व पहली सदी) का स्तूप तोरण, वेदिका, मेधि, अंड, हरमिका तथा छत्र स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हैं। इसमें स्तूप का विकास तथा वेष्टनी का आरंभ देखा जा सकता है।

(३) अमरावती स्तूप (तीसरी सदी) में वेष्टनी, आयकस्तंभ तथा अलंकरण। इस प्रकार सांची से अलंकरण एवं आयकस्तभ की प्रधानता है।

(४) कार्ले स्तूप—कार्ले (पूना के समीप) चैत्य मंडप में खोदा गया स्तूप। नई बनावट। पृथक् वेष्टनी का अभाव। यों तो मेधि, अंड, हरमिका तथा काष्ट छत्र वर्तमान हैं।

(५) छठी सदी मे अजंता चैत्य मे महायान प्रभाव दीख पड़ता है। पिछले स्तूपों से बुद्धप्रतिमा का कोई संबंध न था। किंतु अजंता के इस गुहा संख्या २६ में भगवान बुद्ध की मूर्ति स्तूप के साथ उकेरी गई है। उत्तरी भारत मे केवल महायान स्तूप में बुद्धप्रतिमा जुडी मिली है।
दूसरी पंक्ति मे बाएँ से दाएँ—

स्तूपों का अध्ययन यह प्रकट करता है कि विदेशो मे स्तूप-परंपरा का स्वागत किया गया। उनके शिल्पियों ने स्तूप का अनुकरण वहाँ के स्थापत्य मे किया था।

(१) दूसरी पंक्ति का पहला स्तूप सिंधप्रदेश के मीरपुर खास में स्थित है। उसका निर्माण छठी शती के आसपास हुआ था। स्तूप की ऊंचाई तथा परकोटे की स्थिति विशेष उल्लेखनीय है।

(२) यह स्तूप पश्चिमी भारत के सरहदी प्रदेश मे स्वात नदी की घाटी मे निर्मित हुआ था। इसमें परकोटा है। ऊपरी भाग (प्रदक्षिणा-पथ) तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी है। अंड ढोलाकार है तथा सात छत्र हैं।

(३) ब्राउन का मत है कि सारनाथ (वाराणसी) का धर्मेक स्तूप आरंभिक अवस्था मे इसी प्रकार का रहा होगा। वह छठी शताब्दी में तैयार हुआ तथा ऊपरी भाग (अंड) में बुद्धप्रतिमा दीख पड़ती है। हरमिका के ऊपर सात छत्र बने हैं।

(४) यह थुपाराम सिंहलद्वीप के अनुराधपुर में स्थित है। कहा जाता है कि यह मौर्य युग में निर्मित किया गया। इस कारण अंड अनलंकृत (सादा) है।

(५) दूसरी पंक्ति का पाँचवाँ चित्र जावा द्वीप के प्रसिद्ध स्तूप बोरोबुदूर का है। यह सातवीं सदी में निर्मित हुआ, जिसमें निचले चार चबूतरे आयताकार हैं, किंतु ऊपरी तीन गोलाकार दीख पड़ते है। सबसे ऊपर स्तूप का आकार बना है। संसार में ऐसा अन्य स्तूप ज्ञात नहीं है।

तीसरी पंक्ति मे बाएँ से दाएँ :

(१) नेपाल के बोधनाथ स्तूप का चित्र है। यह स्वयंभूनाथ के सदृश है। पृथ्वी की सतह से दो चबूतरे हैं, जिस पर स्तूप खड़ा है। मेधि, अंड तथा हरमिका एवं छत्र दर्शनीय हैं और निजी विशेषता रखते हैं। पूर्व मध्य युग से स्तूप विशाल आकार के निर्मित होने लगे। नेपाल के शिल्पियों ने मूल भाव को भारत से ग्रहण कर नया रूप दिया है।

(२) तिब्बत में स्तूप का सर्वथा नया आकार दीख पड़ता है। ऊंचे चौपहल चबूतरे पर समकेंद्रित चार वृत्ताकार पाद बनाए गए, जिन पर अंड तैयार किया गया। उस पर चौदह छत्र संभवतः चौदह भुवन के द्योतक है।

(३) वर्मा मे बौद्धमत के प्रचार के पश्चात् कई सदियों तक स्तूपो का स्यात् निर्माण न हो सका। बारहवी सदी में निर्मित इस स्तूप का विशाल एवं विस्तृत आकार दर्शनीय है। चार आयताकार चबूतरो के ऊपर स्तूप बना है। मेधि, अंड तथा छत्र दीख पडते है।

(४) तीसरी पंक्ति का अंतिम चित्र थाइलैंड के स्तूप का है, जो चौदहवी सदी मे बनाया गया था। संभवतः वर्मा के स्तूप के आकार मे वृद्धि कर इन चबूतरों का जमघट तैयार किया तथा अंड के भाव को ही स्थान दिया। इतने ऊँचे स्तूप-निर्माण का कारण यह था कि दूर से ही उपासको को पूजा-स्थान का परिज्ञान हो जाए। नेपाल तथा वर्मा के स्तूपों की भी वही प्रक्रिया रही होगी। बुद्ध भगवान ससार से विरक्त हो स्वर्ग मे निवास करते हैं। इस भावना को ऊंचे स्तूपों से प्रदर्शित करना स्वाभाविक था। हरमिका को स्वर्ग, देवस्थान मानते हैं तथा छत्र उसके चक्रवर्ती स्वरूप (महान योगी, अलौकिक रूप) को बतलाता है। चक्रवर्ती राजा के सिरोभाग पर छत्र रखते थे। वही मूलभाव यहाँ भी काम कर रहा है। महापरिनिर्वाण सुत्त मे तथागत को चक्रवर्ती समझ कर ही स्तूप-निर्माण की चर्चा की गई है। भारत मे छत्र को इतना बड़ा रूप नही दिया गया, जितना लका, वर्मा, नेपाल तथा थाइलैंड के स्तूपों में देखते हैं।

●

शब्दानुक्रमणिका

फलक १

भस्म के लिए युद्ध

(माची के दक्षिणी तोरण की निचली बड़ेरी)

फलक २

भस्म के लिए युद्ध

(साची के पश्चिमी तोरण की ऊपरी बडेरी)

फलक ३

बुद्ध का भस्म पात्र (URN)
(वैशाली)

फलक ४

मुख्य स्तूप तथा पार्श्व मे पूजा (Votive) स्तूप

साँची तोरण (उत्तरी)

फलक ६
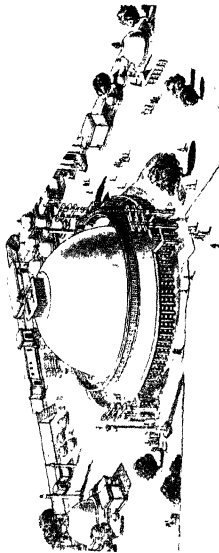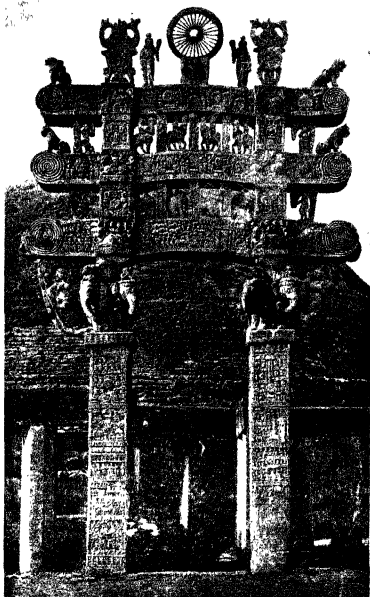
बोधिवृक्ष की पूजा

(पश्चिमी तोरण की निचली बड़ेरी, साँची)

फलक ७

षडदन्त जातक

(दक्षिणी तोरण की मध्य बँडेरी, साँची)
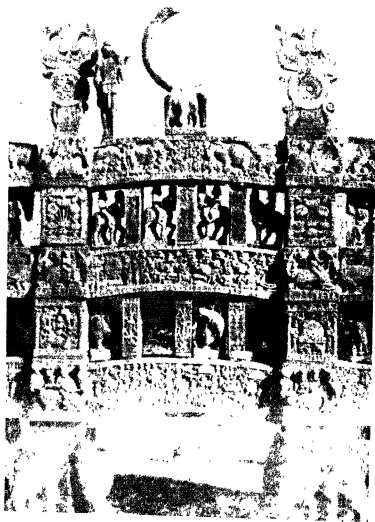
फलक ८

साञ्ची तोरण की बडेरियाँ

फलक ९

माया का सपना

फलक १०

सिद्धार्थ के जन्म संबंधी दृश्य (माया देवी)

फलक ११

अमरावती—महाभिनिष्क्रमण

फलक १२

धर्म चक्र-पूजा (प्रसेनजीत द्वारा)

फलक १३

जेतवन विहार का दृश्य

फलक १४
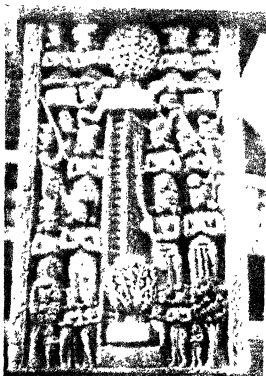
बुद्ध का अवतरण—संकिसा
(साँची प्रदर्शन)

फलक १५

अमरावती—वेसन्तर जातक

फलक १६

महाकपि जातक प्रदर्शन

फलक १७

महाकपि प्रदर्शन

बोधि वृक्ष-पूजा

फलक १९

वानरेंद्र का मधुदान

फलक २०
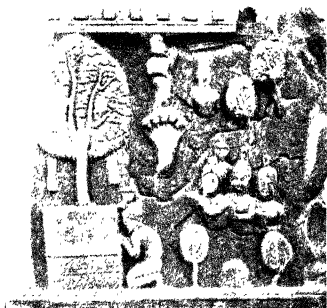
भरहुत प्रदर्शन—इलाहाबाद
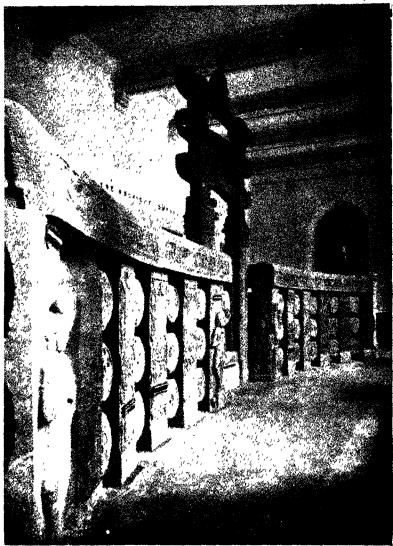
भरहुत-तोरण सहित वेदिका

साची मुख्य स्तूप
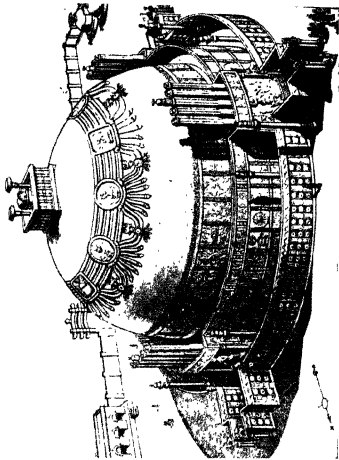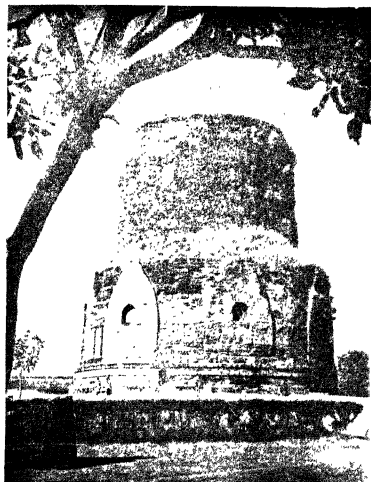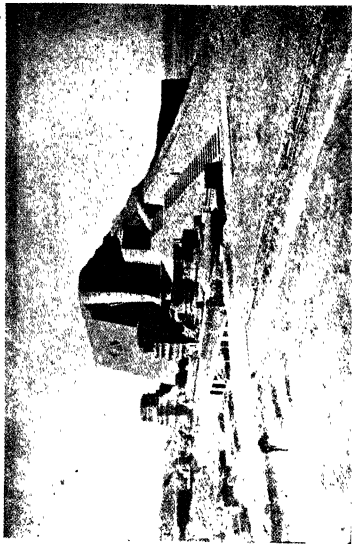
फलक २३

अमरावती स्तूप

फलक २४

धमेक स्तूप (सारनाथ)

फलक २५

नालदा का मुख्य स्तूप

फलक २६

लोमश ऋषि गुहा-बराबर (गया) पर्वत

फलक १७

भाजा चैत्य (माथा)

नासिक गुहा (लेण)

फलक २९

कोनदने गुहा (माथा)

फलक ३०

अजंता विहार संख्या १ (बरामदा)

फलक ३२

गुहा संख्या १२ (तीन ताल) एलोरा

फलक ३३
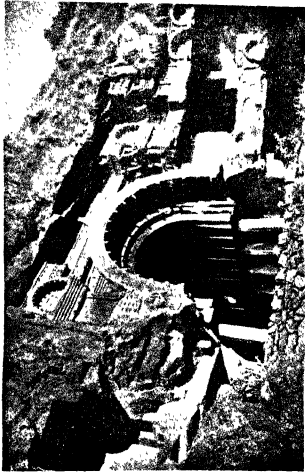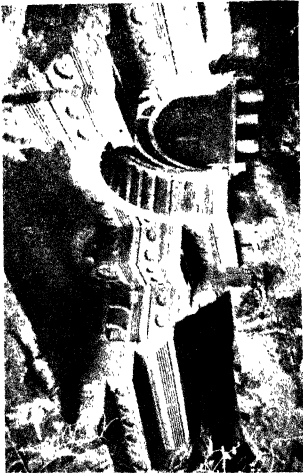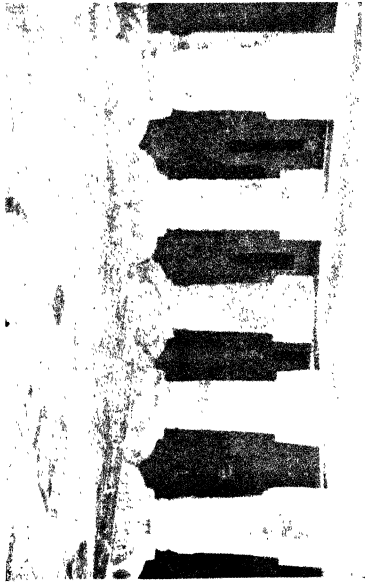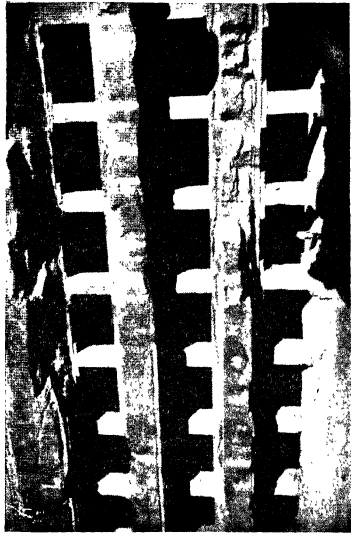
एलोरा-गुहा संख्या १२ (बुद्ध तथा मानुषी बुद्ध)

गुहा सख्या १—अजंता भित्ति-चित्र (महाप्रदर्शन)

फलक ३५

अजना भित्ति पर चित्रित हाथियां

फलक ३६

अजन्ता गुहा संख्या १ के छत का चित्र

फलक ३७

अजता के भित्ति-चित्र गुहा संख्या १
(राजा महाजनक)

फलक २८

अजन्ता के भित्तिचित्र गुहा संख्या १७
(इन्द्र का पृथ्वी पर अवतरण)

फलक ३९

अजंता गुहा संख्या १७ (बुद्ध तथा आनंद)

फलक ४०

अजंता भित्ति-चित्र

गुहा संख्या—१७

फलक ४१

भाजा चैत्य (भीतरी दृश्य)

फलक ४२
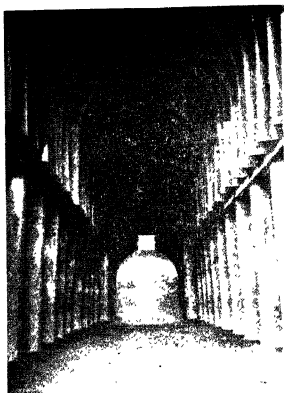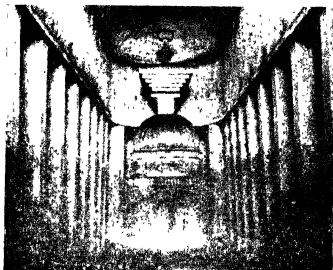
बेदसा चैत्य मंडप

फलक ४३
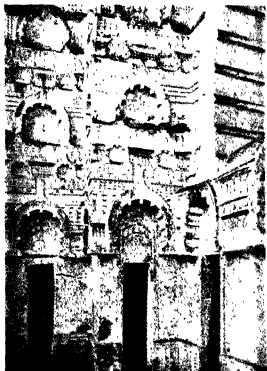
वेदसा चैत्य (दक्षिण पश्चिम किनारा)

फलक ४४

कोनदने गुहा (माथा)

फलक ४५

कोनदने चैत्य का द्वार

फलक ४६
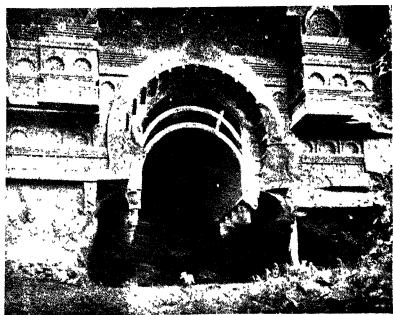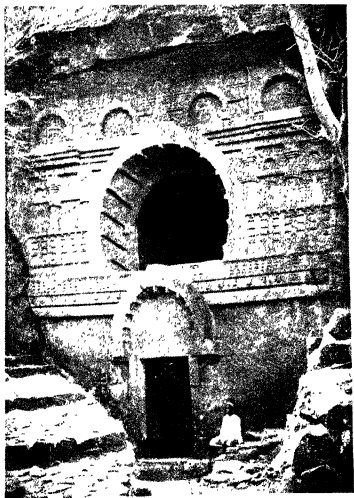
पांडुलेन चैत्य मंडप (नासिक)

फलक ४७

कार्ले चैत्य मंडप

फलक ४८

कार्ले चैत्य (भीतरी दृश्य)

फलक ४९

कार्ले चैत्य-बरामदा

फलक ५०
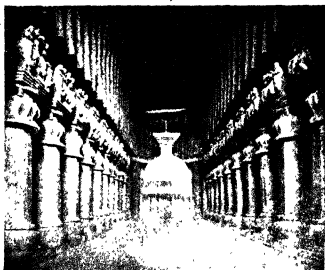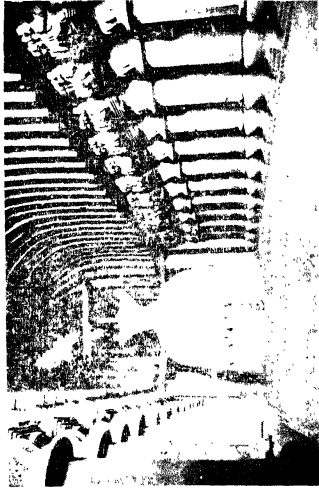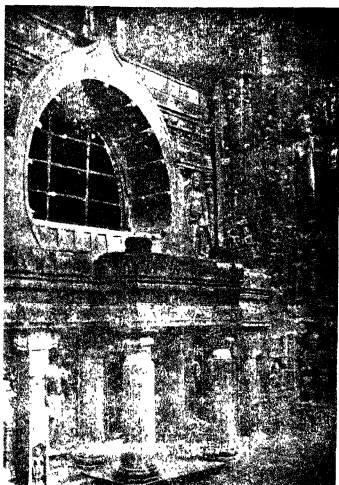
अजता चैत्य वातायन (गुहा सख्या ९)

फलक ५१

अजंता (गुहा संख्या १९) चैत्य

फलक ५२

अजन्ता गुहा १९ (समुख भाग)

फलक ५३

अजंता चैत्य (गुहा संख्या २६)

फलक ५४

एलोरा चैत्य (भीतरी दृश्य)
गुहा सख्या १० विश्वकर्मा

फलक ५५

कन्हेरी (गुहा सख्या ३) _चैत्य

फलक ५६
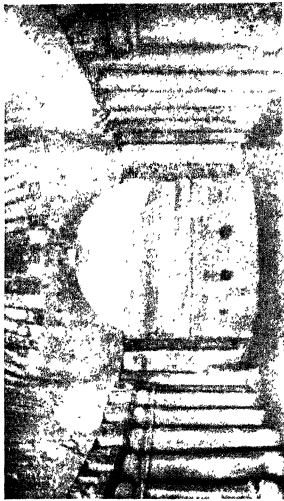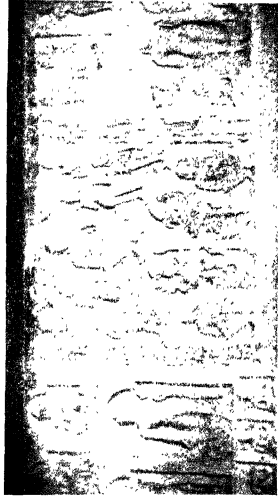
बुद्ध का महाप्रदर्शन (कन्हेरी गुहा संख्या ९०)

फलक ५७

नालंदा महाविहार

फलक ५८
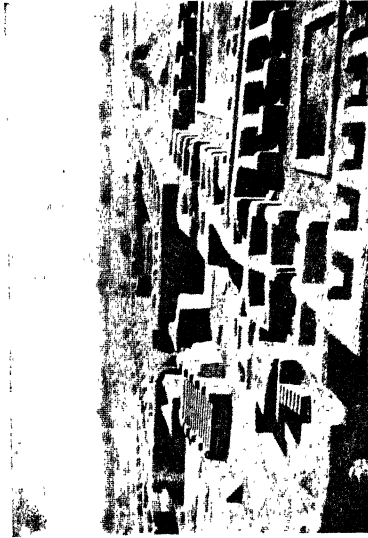
कैलासनाथ मंदिर का भीतरी दृश्य
(गुहा संख्या १६)
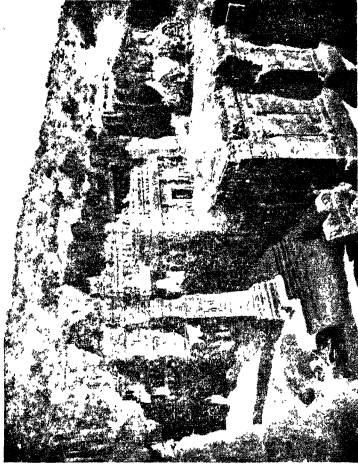
फलक ५९

एलोरा (गुहा सख्या १४)
विष्णु और लक्ष्मी

फलक ६०

नरसिंह—एलोरा (लंकेश्वर)

फलक ६१

रावण कैलाश—एलोरा
(गुहा सख्या—१४)

फलक ८९

सप्त मातृका—एलोरा (गुहा संख्या १४)

फलक ६३

साँची गुप्त मंदिर

फलक ६४

झांसी का देवगढ़ मंदिर

फलक ६५

बोधगया मंदिर
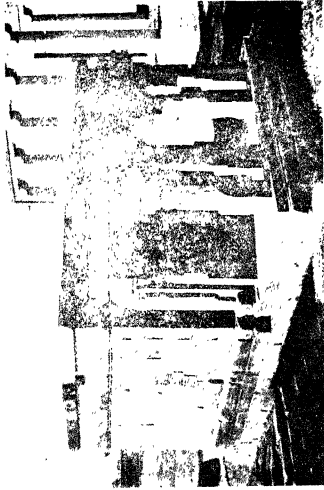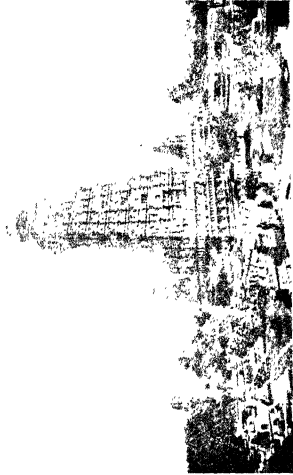
फलक ६६

परशुरामेश्वर मंदिर—भुवनेश्वर

फलक ६७

मुक्तेश्वर मंदिर —भुवनेश्वर
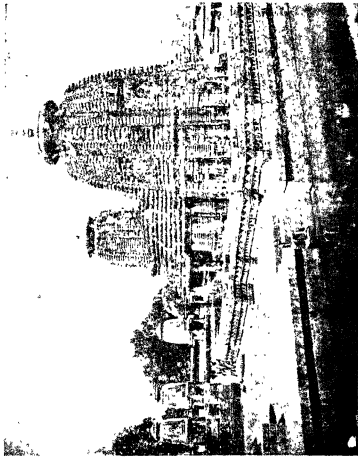
फलक ६८

राजारानी मंदिर—
भुवनेश्वर

फलक ६९
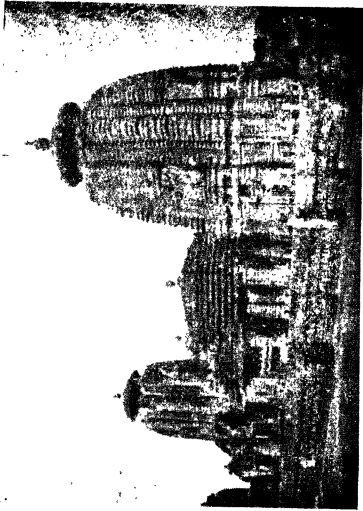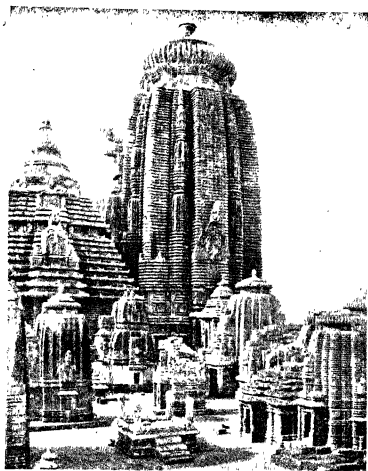
लिंगराज मंदिर—भुवनेश्वर
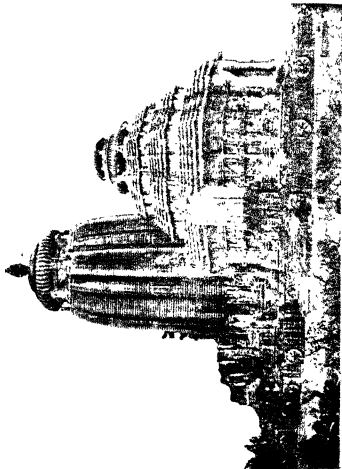
फलक ७०

सूर्य मंदिर—कोणार्क (उड़ीसा)

फलक ७१

कदरिया महादेव मंदिर—खजुराहो

फलक ७२
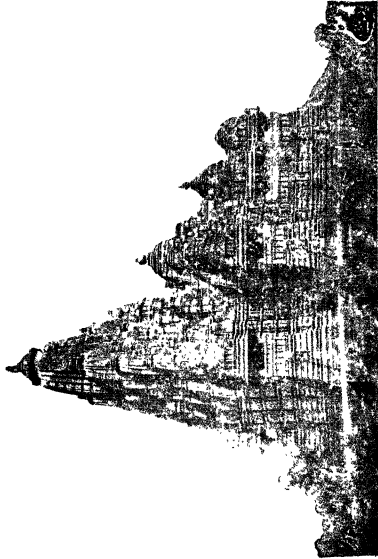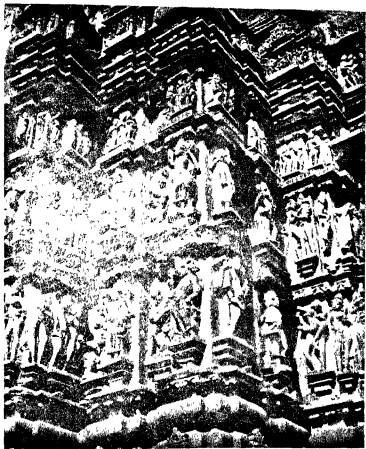
खजुराहो मंदिर—उत्कीर्ण बाहरी दीवार

फलक ७३

पालिताना का जैन मंदिर (भीतरी दृश्य) काठियावाड

फलक ७४

मार्तण्ड मंदिर—काश्मीर

फलक ७५
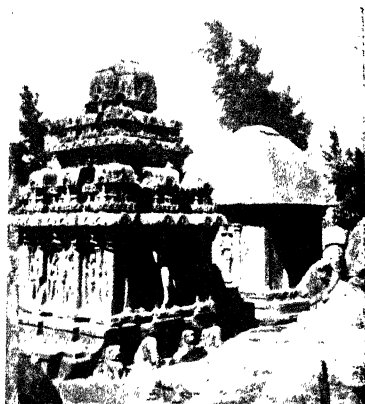
महाबलिपुरम्—अर्जुन रथ एवं द्रौपदी रथ

फलक ७६

महाबलिपुरम्—समुद्रतट मंदिर
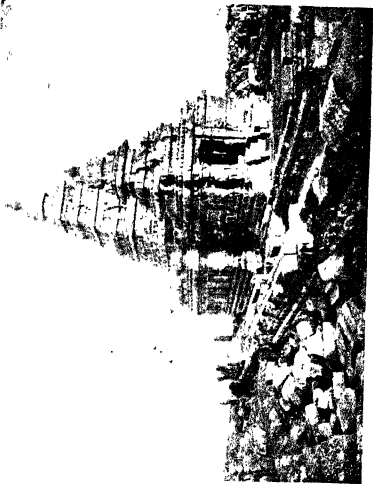
फलक ७७

कैलाश मंदिर—कांचीपुरम्

फलक ७८

विरूपाक्ष मंदिर—पट्टादकल (मैसूर)
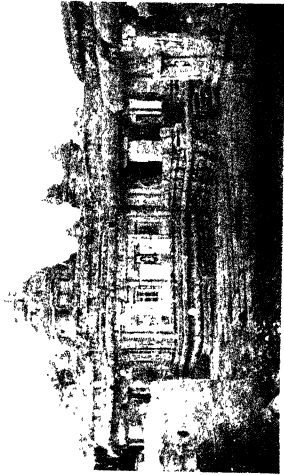
फलक ७९

केशव मंदिर—सोमनाथपुर
(मैसूर)
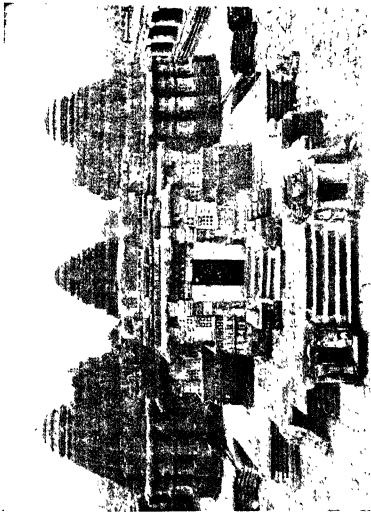
फलक ८०

हेलविदका होयसनेश्वर मदिर—मैसूर (खुदी बाहरी दीवार)

फलक ८१

कैलाशनाथ मंदिर—एलोरा

फलक ८२

तंजौर का बृहदेश्वर मंदिर

फलक ८३
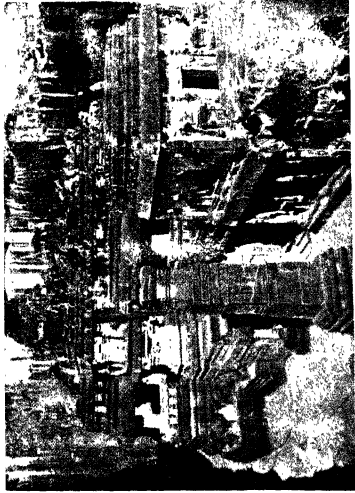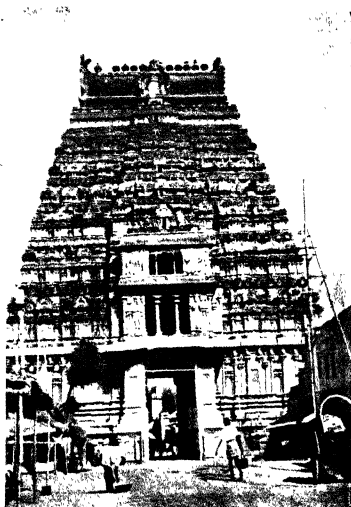
गोपुरम्—श्री रगनाथ मदिर

फलक ८४
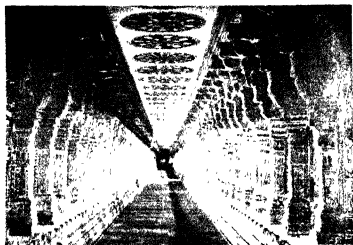
रामेश्वरम् मंदिर का गलियारा

फलक ८५

स्वयंभूनाथ—नेपाल

फलक ८६

कंबुज का अंकोर वट (मंदिर)

फलक ८७
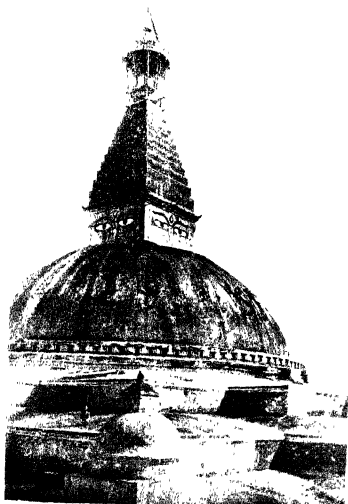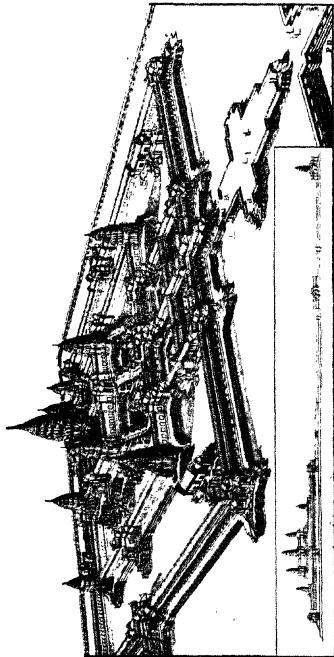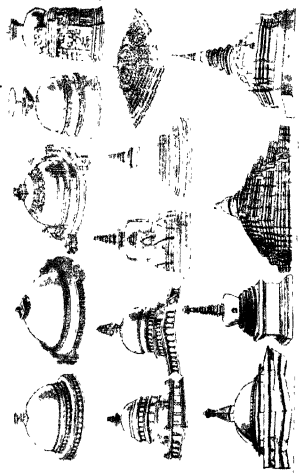
स्तूपों का क्रमिक विकास

फलक ८८

खजुराहो शिखर